कक्षा 11

राजनीति विज्ञान

कक्षा 11
राजनीति विज्ञान

jk t uhfr foKku

[POLITICAL SCIENCE]

कक्षा – 11

माध्यमिक शिक्षा बोर्ड राजस्थान, अजमेर

पाठ्यपुस्तक निर्माण समिति

पुस्तक : राजनीति विज्ञान

कक्षा – 11

संयोजक :–

डॉ० मनरुप सिंह मीना, प्राचार्य
राजकीय कन्या महाविद्यालय, धौलपुर

लेखकगण :–

1. डॉ० मधुमुकुल चतुर्वेदी, विभागाध्यक्ष राजनीति विज्ञान
   शहीद कैप्टन रिपुदमनसिंह राजकीय महाविद्यालय, सवाईमाधोपुर
2. डॉ० मनोज बहरवाल, सह आचार्य (राजनीति विज्ञान)
   सम्राट पृथ्वीराज चौहान राजकीय महाविद्यालय, अजमेर
3. भवशेखर, सहायक आचार्य (राजनीति विज्ञान)
   राजकीय मीरा कन्या महाविद्यालय, उदयपुर
4. प्रवीण कौशिक, प्रधानाचार्य
   राजकीय उच्च माध्यमिक विद्यालय, खरवालिया जिला नागौर
5. सुनील चतुर्वेदी, प्राचार्य
   मास्टर आदित्येन्द्र राजकीय उच्च माध्यमिक विद्यालय, भरतपुर
6. गोपाललाल अग्रवाल, प्रधानाचार्य
   राजकीय उच्च माध्यमिक विद्यालय, रेल्वे स्टेशन, दौसा

पाठ्यक्रम लेखन समिति

पुस्तक : राजनीति विज्ञान

कक्षा – 11

संयोजक :–

डॉ० ईनाक्षी चतुर्वेदी, एसोसिएट प्रोफेसर
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

सदस्यगण :–

1. श्री कर्मवीर सिंह,
राजकीय महाविद्यालय, अलवर

2. श्री उमेश चन्द शर्मा, प्रधानाचार्य
राजकीय उच्च माध्यमिक विद्यालय, गुढ़ासदावर्तिया (बूँदी)

3. श्री जगदीश सिंह खोसा, व्याख्याता (राजनीति विज्ञान)
राजकीय उच्च माध्यमिक विद्यालय, हरिजन बस्ती, श्रीगंगानगर

4. श्री नरेन्द्र कुमार शर्मा, प्राध्यापक
राजकीय संस्कृत शिक्षण प्रशिक्षण विद्यालय, महापुरा, जयपुर

प्राक्कथन

मानव का समाज, राष्ट्र व राज्य के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, और व्यक्ति अपनी प्रगति इनमें रहकर ही कर पाता है। विद्यार्थी जीवन में व्यक्ति, राजनीति विज्ञान के अध्ययन से राज्य, समाज, राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में घटने वाली राजनैतिक व अन्य घटनाओं का अवलोकन, अनुशीलन कर, अपने अभिमत का निर्माण करता है। राजनीति विज्ञान का अध्ययन उसे अपनी स्वयं की विचारधारा विकसित करने में सहायता करता है।

प्रस्तुत पुस्तक में राजनीतिक सिद्धान्तों, उनसे सम्बन्धित विचारधाराओं व अन्य गतिविधियों की जानकारी प्रदान करने का प्रयास किया गया है। राजनीति विज्ञान की आधारभूत जानकारी के साथ, राजनीतिक क्षेत्र से सम्बन्धित सैद्धान्तिक, संस्थागत व व्यवहारिक पहलुओं व उनमें आने वाले त्वरित परिवर्तनों के लिये विद्यार्थियों को समझने हेतु सामग्री दी गयी है। राजनीति विज्ञान, राज्य की उत्पत्ति, कार्य क्षेत्र, शासन के अर्थ, स्वरूप व प्रकारों से सम्बन्धित विविध विचार व अवधारणों को विद्यार्थियों के अध्ययन हेतु प्रस्तुत किया गया है।

हमारा देश एक लोकतांत्रिक देश है और एक लोक कल्याणकारी राज्य बनने के लिये प्रयासरत है। परन्तु इसके विकास के पीछे राष्ट्रीय आन्दोलन व संवैधनिक विकास की पृष्ठभूमि रही है। हजारों देशभक्तों, नौजवानों का त्याग व बलिदान छिपा हुआ है। विविध समाज सुधारकों, महापुरूषों, स्वाधीनता सेनानियों का अविस्मरणीय योगदान भी इसके पीछे छिपा हुआ है, जिसे छात्र समझें, ताकि एक सामर्थ्यवान, राष्ट्रभक्त व जागरूक नेतृत्त्व का विकास हो सके।

मेरे साथी विद्वान लेखकों की यह कोशिश रही है कि पुस्तक की भाषा सरल तथा रुचिकर रहे। प्रत्येक अध्याय के अन्त में स्मरण हेतु बिन्दु दिये गये हैं।

अन्त में इस पुस्तक को तैयार करने में बोर्ड के माननीय अध्यक्ष प्रो. बी.एल. चौधरी जी का विशेष आभारी हूँ जिनकी प्रेरणा एवं मार्गदर्शन से यह विनम्र प्रयास प्रस्तुत हो सका। साथ ही सभी विद्वान लेखकों द्वारा निष्ठापूर्वक समय पर कार्य करने हेतु आभार व्यक्त करता हूँ।

संयोजक

पाठ्यक्रम

राजनीति विज्ञान

समय 3.15 घण्टे | पूर्णांक–100

खण्ड (अ) राजनीति विज्ञान के मूल आधार

इकाई–1 **10**

1. राजनीति विज्ञान– परिचय, परिभाषा, प्रकृति एवं क्षेत्र। 03
2. राजनीति विज्ञान का परम्परागत व आधुनिक दृष्टिकोण। 04
(व्यवहारवाद एवं उत्तर व्यवहारवाद)
3. राजनीति विज्ञान का अन्य सामाजिक विज्ञानों से सम्बंध 03

इकाई–2 **10**

1. राज्य की अवधारणा, आवश्यकता, तत्व, सम्प्रभुता, परिभाषा एवं लक्षण। 03
2. राज्य का भारतीय, उदारवादी एवं मार्क्सवादी दृष्टिकोण। 04
3. राज्य का कार्यक्षेत्र– अहस्तक्षेपवादी, लोक कल्याणकारी व गांधीवादी। 03

इकाई–3 **10**

1. राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त (दैवीय शक्ति, मातृ एवं पितृ सत्तात्मक) । 04
2. सामाजिक समझौता सिद्धान्त एवं विकासवादी सिद्धान्त। 06

इकाई–4 **10**

1. सरकार का अर्थ, स्वरुप– अधिनायक तंत्र, कुलीन तंत्र एवं लोकतंत्र। 04
2. सरकार के रुप 06
   (अ) एकात्मक एवं संघात्मक
   (ब) संसदात्मक एवं अध्यक्षात्मक

इकाई–5 **10**

1. सरकार के अंग 06
   (अ) व्यवस्थापिका
   (ब) कार्यपालिका
   (स) न्यायपालिका
2. शक्ति पृथक्करण तथा अवरोध एवं संतुलन का सिद्धान्त। 04

खण्ड (ब) भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन एवं संवैधानिक विकास

इकाई–6 **10**

1. राष्ट्रीय आन्दोलन के उद्भव के कारण। 04
2. राष्ट्रीय आन्दोलन के उदारवादी (गोपालकृष्ण गोखले), अतिवादी (बाल गंगाधर तिलक) एवं क्रान्तिकारी (सरदार भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद, सुभाषचन्द्र बोस) दर्शन की धाराएं, नीतियां, कार्यक्रम व लक्ष्य। 06

इकाई–7 **10**

1. असहयोग आन्दोलन, सविनय अवज्ञा आन्दोलन तथा भारत छोड़ो आन्दोलन। 05
2. 1857 का स्वतंत्रता संग्राम और राजस्थान पर उसका प्रभाव एवं राजस्थान में क्रांतिकारी, प्रजामण्डल व किसान आन्दोलन। 05

इकाई–8 **10**

1. भारत में संवैधानिक विकास की पृष्ठभूमि (1909 व 1919 के अधिनियम)। 05
2. भारत में संवैधानिक विकास– 1935 का भारत शासन अधिनियम। 05

इकाई–9 **10**

1. भारत में ब्रिटिश शासन के अवसान के कारण। 03
2. 1947 का भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम। 03
3. संविधान सभा का गठन, उद्देश्य व कार्य प्रणाली। 04

इकाई–10 **10**

1. भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रमुख व्यक्तित्व एवं राजनैतिक चिन्तन को उनका योगदान (स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानंद, महर्षि अरविन्द घोष, वी.डी. सावरकर, सरदार पटेल, डॉ. बी.आर. अम्बेडकर, महात्मा गांधी, पं. जवाहरलाल नेहरु एवं पं. दीनदयाल उपाध्याय)।

निर्धारित पुस्तक –

राजनीति विज्ञान – माध्यमिक शिक्षा बोर्ड, राजस्थान, अजमेर।

अनुक्रमणिका

खण्ड (अ) राजनीति विज्ञान के मूल आधार

क्र.सं.	अध्याय	पृष्ठ संख्या
इकाई –1		
1.	राजनीति विज्ञान – परिचय, परिभाषा, प्रकृति एवं क्षेत्र	1–12
2.	व्यवहारवाद एवं उत्तर व्यवहारवाद	13–24
3.	राजनीति विज्ञान का अन्य सामाजिक विज्ञानों से संबंध	25–33
इकाई –2		
4	राज्य की अवधारणा एवं सम्प्रभुता	34–43
5.	राज्य का स्वरूप	44–51
6.	राज्य का कार्यक्षेत्र	52–61
इकाई –3		
7.	राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त (दैवीय, शक्ति, मातृ एवं पितृ सत्तात्मक)	62–65
8.	सामाजिक समझौता सिद्धान्त एवं विकासवादी सिद्धान्त	66–74
इकाई –4		
9.	सरकार का अर्थ, स्वरूप– अधिनायक तंत्र, कुलीन तंत्र एवं लोकतंत्र	75–85
10.	सरकार के रूप (अ) एकात्मक एवं संघात्मक (ब) संसदात्मक एवं अध्यक्षात्मक	86–102
इकाई–5		
11.	सरकार के अंग	103–115
12.	शक्ति पृथक्करण तथा अवरोध एवं संतुलन का सिद्धान्त	116–119

खण्ड (ब) भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन एवं संवैधानिक विकास

क्र.सं.	अध्याय	पृष्ठ संख्या
इकाई –6		
13.	राष्ट्रीय आन्दोलन के उद्भव के कारण	120–125
14.	राष्ट्रीय आन्दोलन के उदारवादी (गोपालकृष्ण गोखले), अतिवादी (बालगंगाधर तिलक) एवं क्रान्तिकारी (सरदार भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद, सुभाषचन्द्र बोस) दर्शन की धाराएं, नीतियाँ, कार्यक्रम व लक्ष्य	126–139
इकाई –7		
15.	असहयोग आन्दोलन, सविनय अवज्ञा आन्दोलन तथा भारत छोड़ो आन्दोलन	140–150
16.	1857 का स्वतंत्रता संग्राम और राजस्थान पर उनका प्रभाव एवं राजस्थान में क्रान्तिकारी, प्रजामण्डल व किसान आन्दोलन	151–161
इकाई –8		
17.	भारत में संवैधानिक विकास की पृष्ठभूमि (1909 व 1919 के अधिनियम)	162–171
18.	भारत में संवैधानिक विकास – 1935 का भारत शासन अधिनियम	172–177
इकाई –9		
19.	भारत में ब्रिटिश शासन के अवसान के कारण	178–183
20.	1947 का भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम	184–187
21.	संविधान सभा का गठन, उद्देश्य व कार्यप्रणाली	188–191
इकाई–10		
22.	भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रमुख व्यक्तित्व एवं राजनैतिक चिन्तन को उनका योगदान	192–208

खण्ड – (अ), इकाई –1
अध्याय – 1
राजनीति विज्ञान : परिभाषा, प्रकृति एवं क्षेत्र
(Political Science : Meaning, Nature and Scope)

''मनुष्य स्वभाव से ही एक राजनैतिक प्राणी है और वह, जो राज्य के बिना रहता है, या तो देवता है अथवा पशु'' – अरस्तू

भारत के प्राचीन चिन्तकों ने विद्याओं को चार भागों में विभक्त किया था। त्रयी, वार्ता, आन्वीक्षिकी और दण्डनीति। मानव समाज में व्यवस्था और शान्ति स्थापित करने को दण्ड नाम दिया जाता था। 'दण्ड' का शास्त्रीय अभिप्राय समाज की व्यवस्था से है। सुव्यवस्थित जन समाज को ही राज्य कहते हैं। जिस जन समुदाय में व्यवस्था या दण्ड स्थापित हो, शासन की सत्ता के कारण मनुष्यों में शासक और शासित का भेद विद्यमान हो, वही राज्य कहलाता है। जो विद्या इस राज्य का और शासन या 'दण्ड' का प्रतिपादन करती है, वह राजनीति शास्त्र कही जाती है।

राजनीति विज्ञान की परिभाषा : परम्परागत दृष्टिकोण
(Definition of Political Science : Traditional Perspective)

''राजनीति'' के अंग्रेजी पर्याय 'Politics' शब्द की उत्पत्ति ग्रीक शब्द ''पोलिस (Polis) से हुई है जिसका अर्थ है – नगर राज्य। अर्थात् नगर राज्य तथा उससे संबंधित जीवन, घटनाओं, क्रियाओं, व्यवहारों एवं समस्याओं का अध्ययन अथवा ज्ञान ही राजनीति है। अरस्तू ने राजनीति शब्द का प्रयोग इन्हीं अर्थों में किया है। आधुनिक अर्थों में राजनीति शब्द को इन व्यापक अर्थों में प्रयुक्त नहीं किया जाता। आधुनिक समय में इसका सम्बन्ध राज्य, सरकार, प्रशासन, व्यवस्था के अंतर्गत समाज के विविध संदर्भों व संबंधों के व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध ज्ञान एवं अध्ययन से है।

परम्परागत दृष्टिकोण में राजनीति शास्त्र को चार अर्थों में परिभाषित किया जाता है–

I राज्य के अध्ययन के रुप में
II सरकार के अध्ययन के रुप में
III. राज्य और सरकार के अध्ययन के रुप में
IV. राज्य, सरकार और व्यक्ति के अध्ययन के रुप में

I. राज्य के अध्ययन के रूप में – ब्लंटशली, गैरिस, गार्नर तथा गैटेल आदि लेखकों ने राजनीति शास्त्र को राज्य के अध्ययन के रुप में परिभाषित किया है।

(1) ब्लंटशली के शब्दों में ''राजनीति शास्त्र वह शास्त्र है जिसका संबंध राज्य से है, जो राज्य की आधारभूत स्थितियों, उसकी प्रकृति तथा विविध स्वरूपों एवं विकास को समझने का प्रयत्न करता है।''

(2) गैरिस के शब्दों में ''राजनीति शास्त्र राज्य को एक शक्ति संस्था के रुप में मानता है जो राज्य के समस्त संबंधों, उसकी उत्पत्ति, उसके स्थान, उसके उद्देश्य उसके नैतिक महत्त्व, उसकी आर्थिक समस्याओं, उसके वित्तीय पहलू आदि का विवेचन करता है।''

(3) गार्नर के अनुसार ''राजनीति शास्त्र का आरम्भ और अन्त राज्य के साथ होता है।''

(4) गैटेल के अनुसार ''राजनीति शास्त्र राज्य के भूत, वर्तमान और भविष्य का, राजनीतिक संगठन तथा राजनीतिक कार्यों का, राजनीतिक संस्थाओं का तथा राजनीतिक सिद्धान्तों का अध्ययन करता है।

II. सरकार के अध्ययन के रूप में – पॉलजैनेट, लिकॉक और सीले जैसे विद्वानों ने राजनीति शास्त्र को सरकार के अध्ययन के रूप में परिभाषित किया है।

(1) पॉलजैनेट के शब्दों में, ''''राजनीति शास्त्र सामाजिक शास्त्र का वह भाग है जिसमें राज्य के आधार तथा शासन के सिद्धान्तों पर विचार किया जाता है।''

(2) लीकॉक के शब्दों में, ''राजनीति शास्त्र सरकार से संबंधित अध्ययन है।''

(3) सीले के शब्दों में ''राजनीति शास्त्र उसी प्रकार शासन के तत्त्वों की खोज करता है जैसे सम्पत्ति शास्त्र सम्पत्ति का, जीव शास्त्र जीव का, बीज गणित अंकों का तथा ज्यॉमितीय शास्त्र स्थान और ऊँचाई का करता है।''

III. राज्य और सरकार के अध्ययन के रुप में – राज्य और सरकार के अध्ययन के रुप में कुछ विद्वानों का मत हैं कि राजनीति विज्ञान राज्य और सरकार दोनों का ही अध्ययन करता है। यह पूर्व

दृष्टिकोणों की अपेक्षा अधिक व्यापक है। केवल राज्य और केवल सरकार के अध्ययन पर आधारित परिभाषाँ एकांगी है। राज्य और सरकार दोनों एक दूसरे के पूरक है और घनिष्ठ रुप से अन्तर्सम्बन्धित हैं। इन दोनों का पृथक–पृथक अध्ययन करना न तो सम्भव है और न वांछनीय है।

आर.एन. गिलक्राइस्ट ने कहा है कि राजनीति विज्ञान का राज्य और सरकार की सामान्य समस्याओं से सम्बंध होता है।

पॉल जैनेट के अनुसार राजनीति विज्ञान समाज विज्ञान का वह भाग है जिसमें राज्य के आधार और सरकार के सिद्धांतों पर विचार किया जाता है।

डिमॉक के अनुसार राजनीति विज्ञान का संबंध राज्य तथा उसके यन्त्र सरकार से है।

IV . राज्य, सरकार और व्यक्ति के अध्ययन के रूप में – लॉस्की तथा हर्मन हेलर आदि लेखकों ने राजनीति शास्त्र को राज्य, सरकार और व्यक्ति के अध्ययन के रूप में परिभाषित किया है। व्यक्ति के अध्ययन के बिना राजनीति शास्त्र का अध्ययन अधूरा है, राजनीतिक संस्थायें व्यक्तिगत संबंधों के संदर्भ में कार्य करती हैं। यदि राजनीतिक संस्थायें व्यक्ति के जीवन, विचारों एवं लक्ष्यों को प्रभावित करती हैं, तो व्यक्ति की भावनाएँ, प्रेरणाएँ तथा समाज के रीति रिवाज एवं परम्पराएँ भी राजनीतिक संस्थाओं को प्रभावित करती हैं।

(1) लॉस्की के शब्दों में ''राजनीति विज्ञान के अध्ययन का संबंध संगठित राज्यों से संबंधित मनुष्य के जीवन से है।''

(2) हर्मन हेलर के शब्दों में ''राजनीति शास्त्र के सर्वांगीण स्वरूप का निर्धारण व्यक्ति संबंधी मूलभूत पूर्व मान्यताओं द्वारा होता है।''

संक्षेप में परम्परावादी विद्वान राजनीति विज्ञान को राज्य सरकार और व्यक्ति का अध्ययन करने वाला विषय मानते हैं। राज्य के बिना सरकार की कल्पना नहीं की जा सकती क्योंकि सरकार राज्य प्रदत्त शक्ति का ही प्रयोग करती है, सरकार के बिना राज्य एक अमूर्त कल्पना मात्र है और व्यक्ति राज्य की प्राथमिक इकाई है। अतः परम्परागत दृष्टिकोण के अनुसार राजनीति शास्त्र के अन्तर्गत राज्य, सरकार एवं व्यक्ति के अन्तः संबंधों का अध्ययन किया जाता है।

राजनीति विज्ञान की परिभाषा : आधुनिक दृष्टिकोण (Definition of Political Science : Modern Perspective)

राजनीति विज्ञान के परम्परागत दृष्टिकोण में राजनीति विज्ञान को राज्य और सरकार का अध्ययन बताया गया। किन्तु आधुनिक राजनीति शास्त्री इसको अपर्याप्त मानते हैं क्योंकि इसमें शासन की रचना और कार्यप्रणाली के अध्ययन पर बल दिया जाता रहा है। इससे राजनीति विज्ञान का अध्ययन केवल औपचारिक बनकर रह गया और उन राजनीतिक शक्तियों के समुचित अध्ययन पर कोई ध्यान नहीं दिया गया जो सरकार की प्रक्रिया पर अपना प्रभाव डालती हैं।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् संयुक्त राज्य अमेरिका और पश्चिमी जगत में राजनीति विज्ञान की धारणा में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आया जिसका प्रेरणा स्रोत शिकागो विश्वविद्यालय था। जिसके विद्वानों ने राजनीति विज्ञान को अधिक से अधिक विज्ञान सम्मत बनाने के लिए प्रयत्न किये। चार्ल्स मेरियम के नेतृत्व में मनोविज्ञान, दर्शन, सांख्यिकी, अर्थशास्त्र एवं मानव शास्त्र जैसे समाज विज्ञानों को निकट लाने का हर संभव प्रयत्न किया गया। परिणामस्वरूप राजनीति विज्ञान में तार्किक प्रत्यक्षवाद, तथ्यात्मकता, व्यवहारवाद तथा समाजशास्त्रीय पद्धतियों का प्रयोग हुआ। आधुनिक राजनीति विज्ञान का दूसरा प्रेरणा स्रोत मनोविज्ञान है। प्रो. रेनसिस लिकर्ट, कुर्त लेविन तथा प्रो. लजार्स फेल्ड के प्रयासों के फलस्वरूप नवीन राजनीति शास्त्र में मनोविज्ञान की शोध तकनीकों का ज्यादा से ज्यादा प्रयोग होने लगा है।

ऐसा माना जाता है कि 1903 में अमेरिकन पॉलिटिकल साईंस एसोसियेशन की स्थापना के साथ और उसके द्वारा राजनीतिक संस्थाओं के संबंध में तथ्यों के संग्रह, संयोजन और वर्गीकरण को दी जाने वाली प्रेरणा के परिणामस्वरूप राजनीति विज्ञान ने अपने विकास के आधुनिक युग में प्रवेश किया। द्वितीय महायुद्ध के बाद से लेकर आज तक राजनीति विज्ञान के विकास को दो भागों में बाँटा जा सकता है, पहला भाग 1945 से 1970 तक राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में व्यवहारवाद की प्रमुखता का युग है जिसमें राजनीतिक सिद्धान्तों के मूल्यों और मानकों के साथ राजनीति विज्ञान को जोड़ने के परम्परागत तरीके को तिलांजलि दे दी गई। दूसरा युग 1970 से प्रारम्भ होता है जिसमें राजनीतिशास्त्रियों ने व्यवहारवादी राजनीति सिद्धान्त की अपर्याप्तता का आभास कर लिया और कुछ सीमा तक मानकों और मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा के विचार को स्वीकार कर लिया। इन दोनों युगों को व्यवहारवाद और उत्तर व्यवहारवाद के नाम से जाना जाता है। जिसकी व्याख्या अगले अध्याय में की गयी है।

राजनीति शास्त्र की नवीन परिभाषाओं के संदर्भ में इसका अध्ययन निम्न रूपों में किया जाता है –

I. राजनीति शास्त्र मानवीय क्रियाओं का अध्ययन है।
II. राजनीति शास्त्र शक्ति का अध्ययन है।
III. राजनीति शास्त्र राजनीतिक व्यवस्था का अध्ययन है।
IV. राजनीति शास्त्र निर्णय प्रक्रिया का अध्ययन है।

I. राजनीति शास्त्र : मानवीय क्रियाओं का अध्ययन – आधुनिक व्यवहारवादी विद्वान राजनीति विज्ञान को मनुष्य के राजनैतिक जीवन और क्रियाकलापों और इसके संदर्भ में मानव

जीवन के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा अन्य पक्षों का अध्ययन करने वाला विज्ञान मानते हैं। केटलिन के अनुसार, ''राजनीति विज्ञान संगठित मानव समाज से संबंधित है किन्तु मुख्य रूप से वह सामुदायिक जीवन के राजनैतिक पहलुओं का अध्ययन करता है।'' बट्रेण्ड डी.जूविनेंल के अनुसार ''हमारा विषय उन राजनीतिक संबंधों का अध्ययन करता है, जो मिल जुल कर रहने वाले व्यक्तियें के बीच स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं।'' राजनीति विज्ञान के व्यवहारवादी विचारकों का यह कहना है कि राजनीति विज्ञान वह विज्ञान है जो मनुष्य के राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन करता है।

II. **राजनीति शास्त्र : शक्ति का अध्ययन** : कुछ राजनीति शास्त्री शक्ति को राजनीति शास्त्र की केन्द्रीय संकल्पना मानते हैं। कैटलिन, लासवेल, मेरियम, मेक्स वेबर, बर्टन्ड रसेल तथा मार्गेन्थो आदि का मानना है कि शक्ति एक ऐसी बुनियादी संकल्पना है जो राजनीति विज्ञान के सभी विभागों को एक सूत्र मे पिरो देती है। कैटलिन ने राजनीति को शक्ति का विज्ञान माना है। गिल्ड तथा पामर यह मानते हैं कि राजनीति, शक्ति एवं सत्ता के संबंधों के रूप में सबसे अच्छी प्रकार समझी जा सकती है। लासवेल के अनुसार ''शक्ति का सिद्धान्त सम्पूर्ण राजनीति विज्ञान में एक बुनियादी सिद्धान्त है, सम्पूर्ण राजनीतिक प्रक्रिया शक्ति के वितरण, प्रयोग एवं प्रभाव का अध्ययन है।''

III. **राजनीति विज्ञान : राजनीतिक व्यवस्था का अध्ययन** – डेविड ईस्टन तथा आमण्ड जैसे आधुनिक राजनीति शास्त्री राजनीति विज्ञान को राजनीतिक व्यवस्था का अध्ययन मानते हैं। राजनीति व्यवस्था की अवधारणा, राज्य, सरकार और संविधान की अवधारणा से व्यापक है। राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत राज्य और सरकार की औपचारिक संरचनाओं के साथ–साथ उनको प्रभावित करने वाले अनौपचारिक तत्त्वों के अध्ययन को भी शामिल कर लिया जाता है। ईस्टन ने राजनीति व्यवस्था को परिभाषित करते हुए कहा है ''किसी समाज में पारस्परिक क्रियाओं की ऐसी व्यवस्था को जिससे उक्त समाज में बाध्यकारी या अधिकारपूर्ण नीति–निर्धारण होते हैं, राजनीति व्यवस्था कहा जाता है।''

डेविड ईस्टन और आमण्ड जैसे आधुनिक राजनीतिक वैज्ञानिकों के अनुसार राजनीति विज्ञान सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था का अध्ययन है। राज्य और शासन शब्दों में जहाँ राजनीतिक जीवन के औपचारिक एवं वैधानिक अध्ययन पर बल दिया जाता है वहीं राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा के अन्तर्गत इस औपचारिक, वैधानिक अध्ययन के मूल में जाकर राजनीतिक यथार्थ का ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा की जाती है।

IV. **राजनीति विज्ञान : निर्णय प्रक्रिया का अध्ययन** – कुछ आधुनिक विद्वान राजनीति विज्ञान को निर्णय निर्माण तथा निर्णय प्रक्रिया का अध्ययन करने वाला विषय मानते हैं, क्योंकि यदि राजनीति विज्ञान सरकार का अध्ययन है, और सरकार का मुख्य कार्य निर्णय निर्माण करना है, तो राजनीति शास्त्र को निर्णय प्रक्रिया का विज्ञान कहा जा सकता है। पिछले कुछ वर्षों में राजनीति शास्त्र में निर्णय निर्माण सिद्धान्त अत्यधिक लोकप्रिय हुआ है। हर्बर्ट साईमन जैसे विचारक राजनीति विज्ञान को निर्णय निर्माण का विज्ञान मानते हैं। लॉसवेल राजनीति विज्ञान को मूलतः एक नीति विज्ञान (Policy Science) मानता है।

उपरोक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि राजनीति विज्ञान की एक सर्वसम्मत परिभाषा देना कठिन है। अधिकांश विचारक यह मानते हैं कि राजनीति विज्ञान में राजनीतिक समाज के अतिरिक्त राजनीतिक प्रक्रियाओं और उनके परिणामों का भी समुचित अध्ययन करना चाहिए।

राजनीति विज्ञान की प्रकृति
(Nature of Political Science)

राजनीति विज्ञान मूलतः समाज विज्ञानों के वर्ग में आता है। अतः यह प्राकृतिक विज्ञानों की तरह मात्र यथार्थवादी वस्तुनिष्ठ व मूल्य निरपेक्ष विज्ञान नहीं है। यद्यपि इसे राजनीति विज्ञान नाम से संबोधित किया गया है लेकिन विद्वान इस प्रश्न पर एकमत नहीं हैं कि क्या इस विषय को एक विज्ञान माना जाये। इस संबंध में गिलक्राईस्ट ने लिखा है कि ''इस विषय (राजनीति विज्ञान) के विश्वस्तरीय, महानतम विद्वान अरस्तू ने राजनीति विज्ञान को सर्वोच्च विज्ञान कहा है।'' किन्तु अनेक आधुनिक विद्वान राजनीति विज्ञान के विज्ञान होने के दावे का विरोध करते हैं। एक ओर बक्ल, काम्टे, मेटलेण्ड, एमास, बीयर्ड, ब्रोजन, बर्क आदि विचारक राजनीति विज्ञान को विज्ञान के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। वहीं दूसरी ओर अरस्तू ने इसे ''सर्वोच्च विज्ञान'' कहा है तथा बोदाँ, हाब्स, मान्टेस्क्यू, ब्राइस, ब्लंटशली, जेलिनेक, डॉ. फाईनर तथा लास्की आदि अन्य विद्वान भी राजनीति विज्ञान को विज्ञान के रूप में स्वीकार करते हैं।

मेटेलेण्ड का कथन है – ''जब मैं 'राजनीति विज्ञान' शीर्षक के अन्तर्गत परीक्षा प्रश्नों को देखता हूँ तो मुझे प्रश्नों के लिए नहीं अपितु शीर्षक के लिए खेद होता है।''

बर्क का कथन है ''जिस प्रकार हम सौन्दर्य शास्त्र को विज्ञान की संज्ञा नहीं दे सकते उसी प्रकार राजनीति शास्त्र को भी विज्ञान नहीं कहा जा सकता।''

वस्तुतः राजनीति विज्ञान सामाजिक विज्ञानों की भाँति ही तथ्यात्मक एवं मूल्यात्मक दोनों ही है। इसमें कला एवं विज्ञान दोनों के ही लक्षण पाये जाते हैं।

राजनीति विज्ञान के विज्ञान होने के विरूद्ध तर्क –

(1) विज्ञान जैसे प्रयोग और पर्यवेक्षण संभव नहीं – प्राकृतिक विज्ञानों में किसी विषय के बारे में पहले पूर्वानुमान किया जाता है और फिर इस पूर्वानुमान की परिकल्पना का परीक्षण करने के लिए प्रयोग एवं पर्यवेक्षण की विधि अपनाई जाती है। किन्तु राजनीति विज्ञान में किसी विषय के बारे में पूर्वानुमान तो किया जा सकता है किन्तु इसकी जाँच के लिए प्रयोग एवं पर्यवेक्षण की विधि नहीं अपनाई जा सकती। एक प्राकृतिक वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला में विभिन्न प्रयोग कर सकता है और प्रयोग के दौरान पदार्थों की क्रियाओं का पर्यवेक्षण कर सकता है। उचित निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए वह अपने प्रयोग को बार–बार दोहरा भी सकता है। किन्तु राजनीति विज्ञान में ऐसी प्रयोगशाला का अभाव है और समाज में किसी राजनीतिक प्रयोग को केवल एक बार किया जा सकता है उसे बार–बार दोहराया नहीं जा सकता है।

(2) कार्य–कारण में सुनिश्चित संबंध का अभाव – प्राकृतिक विज्ञानों में कार्य व कारण के बीच एक सुनिश्चित संबंध होता है जैसे –यदि हम पानी को एक निश्चित तापमान तक गर्म करेंगे तो वह अवश्य ही वाष्प में परिवर्तित हो जायेगा किन्तु राजनीति विज्ञान में किसी भी कार्य अथवा घटना का ऐसा सुनिश्चित कारण दिखाई नहीं पड़ता।

(3) सर्वमान्य सिद्धान्तों का अभाव – प्राकृतिक विज्ञानों में सुनिश्चित और सर्वमान्य सिद्धान्त होते हैं किन्तु राजनीति विज्ञान में नहीं, राजनीति विज्ञान का मूलभूत विषय राज्य है किन्तु उसकी पद्धति के बारे में विद्वानों में अत्यधिक मतभेद हैं। एक ओर आदर्शवादी विद्वान राज्य को समस्त सद्गुणों का स्त्रोत मानते हैं तो दूसरी ओर अराजकतावादी विद्वान राज्य को अनैतिक एवं अन्याय का स्त्रोत मानते हैं और वे राज्य का अन्त करना चाहते हैं।

(4) शुद्ध नाप–तोल का अभाव – विज्ञान में पदार्थ की क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है, जिन्हें पूर्ण शुद्ध रूप से मापने के लिए विज्ञान के पास आधुनिकतम उपकरण होते हैं। किन्तु राजनीति विज्ञान में हम मानव के राजनीतिक विचारों एवं व्यवहारों का अध्ययन करते हैं, जिन्हें विभिन्न प्रकार की भावनायें, आवेग और संवेग प्रभावित करते हैं जिन्हें शुद्ध रूप से मापना संभव नहीं होता है।

(5) अध्ययन सामग्री की प्रकृति में अन्तर – प्राकृतिक विज्ञान की अध्ययन सामग्री जड़ पदार्थ है जिनमें चेतना नहीं होती किन्तु राजनीतिक विज्ञान की अध्ययन सामग्री मानव है, जो चेतनशील है और उसके व्यवहार में पदार्थों जैसी जड़ता और एकरूपता नहीं पाई जाती है।

(6) निश्चित व सटीक भविष्यवाणी का अभाव – विज्ञान के नियम सुनिश्चित होते हैं और उनके आधार पर भविष्य की घटना के बारे में निश्चित व सटीक भविष्यवाणी की जा सकती है। जैसे विज्ञान यह बता सकता है कि सूर्यग्रहण किस समय पड़ेगा एवं वह विश्व के किन–किन भागों में दिखाई देगा, किन्तु राजनीति विज्ञान में इस प्रकार की निश्चित भविष्यवाणी नहीं की जा सकती सिर्फ अनुमान लगाया जा सकता है। जैसे किसी भी आम चुनाव से पहले यह निश्चित तौर पर नहीं कहा जा सकता कि किस राजनीतिक दल को कितने स्थान प्राप्त होंगे। इस संबंध में केवल अनुमान लगाया जा सकता है।

राजनीति विज्ञान के विज्ञान होने के पक्ष में तर्क – राजनीति विज्ञान को विज्ञान मानने वाले विद्वानों का प्रमुख तर्क है कि राजनीति विज्ञान की प्राकृतिक विज्ञानों से तुलना करना अनुचित है, राजनीति विज्ञान मूलतः एक सामाजिक विज्ञान है और इस दृष्टि से विज्ञान होने के सभी प्रमुख लक्षण राजनीति विज्ञान में पाये जाते हैं। किसी भी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए 'विज्ञान' शब्द के वास्तविक अर्थ को समझना आवश्यक है। इस संबंध में गार्नर का यह कहना है ''विज्ञान किसी विषय से संबंधित उस ज्ञान राशि को कहते हैं जो विधिवत् पर्यवेक्षण, अनुभव एवं अध्ययन के आधार पर प्राप्त की गई है और जिसके तथ्य परस्पर, संबद्ध, क्रमबद्ध तथा वर्गीकृत किये गये हैं।''

राजनीति विज्ञान के विज्ञान होने के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं –

(1) क्रमबद्ध व व्यवस्थित ज्ञान – विज्ञान क्रमबद्ध, व्यवस्थित व वर्गीकृत होता है। राजनीति विज्ञान राज्य, सरकार, राजनीतिक संस्थाओं, धारणाओं व विचारधाराओं का ज्ञान इसी रूप में प्रकट करता है। यह राज्य की उत्पत्ति और विकास का क्रमबद्ध विवरण प्रस्तुत करता है और राजनीतिक विचारधाराओं का उनकी प्रकृतियों के आधार पर वर्गीकृत अध्ययन भी प्रस्तुत करता है। इस विषय के अध्ययन में तथ्यों एवं आंकड़ों का भी प्रयोग किया जाता है।

(2) सर्वमान्य सिद्धान्त – राजनीति विज्ञान में अनेक सर्वमान्य सिद्धान्तों का भी अस्तित्व है जैसे लार्ड एक्टन के इस कथन को सर्वसम्मति से स्वीकार किया जाता है कि ''शक्ति भ्रष्ट करती है और सम्पूर्ण शक्ति सम्पूर्ण भ्रष्ट करती है।'' इसी तरह से इस तथ्य को भी स्वीकारा जाता है कि व्यक्ति के सम्पूर्ण विकास के लिए राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ ही आर्थिक स्वतंत्रता भी जरूरी है।

(3) कार्य कारण में पारस्परिक संबंध – यद्यपि प्राकृतिक विज्ञानों की भाँति राजनीति विज्ञान में कार्य–कारण के बीच सुनिश्चित संबंध की स्थापना नहीं की जा सकती किन्तु विशेष घटनाओं के अध्ययन से कुछ सामान्य निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। जैसे – विभिन्न क्रान्तियों के अध्ययन के आधार पर यह

निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि शासकों के दम्भपूर्ण व्यवहार, प्रशासनिक अकुशलता, राजनीतिक व आर्थिक भ्रष्टाचार, सामाजिक भेदभाव आदि से उत्पन्न जन असंतोष के कारण क्रान्तियों का जन्म होता है।

(4) पर्यवेक्षण तथा प्रयोग संभव – राजनीति विज्ञान में पर्यवेक्षण तथा प्रयोग सम्भव है। उदाहरणार्थ प्रयोग के आधार पर ही यह निष्कर्ष निकाला गया है कि नागरिकों के मौलिक अधिकारों की स्थापना के लिए लोकतांत्रिक शासन प्रणाली को अपनाना आवश्यक है। इसी प्रकार विभिन्न राज्यों के कार्यक्षेत्र के आधार पर यह परिणाम निकाला जा सकता है कि राज्य के कार्यक्षेत्र को सीमित रखने के स्थान पर लोक कल्याणकारी राज्य की नीति ही उपयुक्त है। राजनीति विज्ञान में प्रयोग भी किये जा सकते हैं किन्तु ये प्रयोग प्राकृतिक विज्ञानों से भिन्न प्रकार के होते हैं। प्राकृतिक विज्ञान में एक निश्चित प्रयोगशाला होती है। जबकि राजनीति विज्ञान में सम्पूर्ण मानव समाज ही एक प्रयोगशाला होता है। गार्नर का कथन है, ''प्रत्येक नये कानून का निर्माण, प्रत्येक नई संस्था की स्थापना और प्रत्येक नई नीति की शुरूआत एक प्रयोग है क्योंकि उस समय तक उसे एक अस्थाई प्रावधान के रूप में स्वीकारा जाता है जब तक कि उसके परिणाम उसे स्थाई रूप देने के पक्ष में प्रकट न हों।

(5) भविष्यवाणी की क्षमता – यद्यपि अनेक प्राकृतिक विज्ञानों की भाँति राजनीति विज्ञान में एक सुनिश्चित भविष्यवाणी किया जाना संभव नहीं है किन्तु इसमें अनुमान के रूप में ऐसी भविष्यवाणी की जा सकती है जो लगभग सत्य के निकट हो। डॉ. फाईनर के शब्दों में ''हम निश्चितता पूर्ण भविष्यवाणियाँ नहीं कर सकते लेकिन संभावनायें तो व्यक्त कर ही सकते हैं।'' यदि भविष्यवाणी की सत्यता को ही विज्ञान होने की कसौटी माना जाये तो प्रकृति विज्ञान को भी विज्ञान नहीं कहा जा सकता क्योंकि उनके द्वारा मौसम संबंधी की गई भविष्यवाणियाँ अनेक बार गलत सिद्ध होती हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि राजनीति विज्ञान को विज्ञान मानने के संबंध में विद्वानों में मतभेद हैं। डी.डब्ल्यू ब्रोगन का कथन है, ''जब तक राजनीति के क्षेत्र में डार्विन और मेण्डिल जैसे महारथी नहीं होंगे, जो राजनीति के अटल सिद्धान्त प्रस्तुत कर सकें, तब तक हम राजनीति को विज्ञान नहीं कह सकते'' इस मत की आलोचना में सर फ्रेडरिक पोलक का कथन है, ''यदि उनका अभिप्राय यह है कि इसमें ऐसे निश्चित नियम नहीं हैं जिसमें कोई प्रधानमंत्री, बहुमत को सदैव अपनी ओर बनाये रखने के अचूक उपाय जान सके तो उनका ऐसा कहना तथ्यात्मक दृष्टि से तो सही होगा किन्तु इससे यही प्रकट होता है कि वे वास्तविक रूप से यह नहीं जानते हैं कि विज्ञान क्या होता है।''

एक सामाजिक विज्ञान के रूप में राजनीति विज्ञान यथार्थपरक विज्ञान के साथ ही आदर्शपरक विज्ञान भी है। राजनीति विज्ञान के अध्ययन में वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग संभव है और अन्य सामाजिक विज्ञानों की भाँति राजनीति विज्ञान में भी कार्य व कारण के पारस्परिक संबंधों की तर्कपूर्ण व विश्वसनीय व्याख्या संभव है।

राजनीति विज्ञान एक कला के रूप में

कला का अर्थ– कला वह ज्ञान है जो व्यक्ति के जीवन को सुंदर बनाता है इस अर्थ में राजनीति विज्ञान भी एक कला है क्योंकि राजनीति विज्ञान विषय का ज्ञान मनुष्य को अच्छा नागरिक बनाता है।

राजनीति विज्ञान अपनी प्रकृति से एक कला भी है। प्राचीन काल से ही बृहस्पति, मनु, शुक्र, कौटिल्य आदि भारतीय राज शास्त्रियों ने इसे शासन की एक कला के रूप में मान्यता दी है और प्लेटो जैसे प्राचीन यूनानी विद्वान ने भी अपने ग्रंथ ''स्टेट्समेन'' में राजनीति को शासन की एक श्रेष्ठ कला के रूप में चित्रित किया है। किसी भी विद्या को कला होने के लिए उसमें दो लक्षणों को होना आवश्यक है, प्रथम उस विषय के सैद्धान्तिक ज्ञान को व्यवहार में लागू करना संभव हो तथा द्वितीय वह विषय मूल्यात्मक हो ताकि वह जीवन को अधिक सुखमय बना सके। राजनीति विज्ञान में यह दोनों ही लक्षण पाये जाते हैं। अतः वह विज्ञान होने के साथ–साथ एक कला भी है। राजनीति विज्ञान अपने सैद्धान्तिक ज्ञान का प्रयोग शासन कला के रूप में करता है और प्रशासनिक संगठन के द्वारा अपनी सैद्धान्तिक नीतियों को लागू करता है। इन प्रयत्नों के पीछे एक मूल्यात्मक उद्देश्य रहता है और वह है मानव के जीवन को अधिक सुखमय बनाना। यह केवल उतना ही अध्ययन नहीं करता कि अतीत में राजनैतिक जीवन कैसा रहा है बल्कि यह अध्ययन भी करता है कि वह वर्तमान में कैसा है और उसे कैसा होना चाहिए। इन आदर्शों और मूल्यों को क्रियान्वित करने के लिए राजनीति विज्ञान अनेक व्यावहारिक प्रयत्न भी करता है। अतः वह एक कला है।

एक न्याय पूर्ण व अपराध मुक्त समाज की स्थापना के लिए प्लेटो से लेकर आज तक अनेक विद्वानों ने अपनी विचारधारायें प्रस्तुत की हैं और राजनीतिक सिद्धान्तों को लागू करने का प्रयत्न किया है। मानव जीवन को अधिक सुखमय बनाने के लिए ही राजनीति विज्ञान में 'लोक कल्याणकारी राज्य' के सिद्धान्त को स्वीकारा गया है। राजनीति विज्ञान सम्पूर्ण समाज के हित की कामना करता है। अतः वह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति पर बल देते हुए राष्ट्रों के बीच शान्तिपूर्ण सह–अस्तित्व व सद्भाव की नीति के आदर्श को स्वीकारता है और इसी उद्देश्य की प्राप्ति हेतु संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की गई है।

अपनी प्रकृति से राजनीति विज्ञान एक विज्ञान व कला

दोनों ही है। हालांकि यह एक प्राकृतिक विज्ञान नहीं है किन्तु सामाजिक विज्ञान अवश्य है। अपने उद्देश्यों एवं कार्यों की दृष्टि से यह एक श्रेष्ठ कला भी है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जब राजनीति विज्ञान अपने विषय का केवल सैद्धान्तिक अध्ययन करता है तब तक यह विज्ञान होता है, जब राजनीति विज्ञान इन सिद्धान्तों को मानव जीवन के सुख में वृद्धि करने के लिए लागू करता है तब यह एक कला होता है।

राजनीति विज्ञान का अध्ययन क्षेत्र
(Scope of Political Science)

परम्परागत राजनीति विज्ञान के क्षेत्र संबंधी पक्ष को यूनेस्को के एक राजनैतिक सम्मेलन द्वारा भली भाँति प्रस्तुत किया गया है। इस सम्मेलन के अनुसार राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में निम्नलिखित सामग्री को स्थान दिया जाना चाहिए –

(1) राजनीति के सिद्धान्त – अतीत एवं वर्तमान के राजनीतिक सिद्धान्तों एवं विचारों का अध्ययन।

(2) राजनीतिक संस्थायें – संविधान, राष्ट्रीय सरकार, प्रादेशिक एवं स्थानीय शासन का तुलनात्मक अध्ययन।

(3) राजनीतिक दल, समूह एवं लोकमत – राजनीतिक दल एवं समूह (दबाव समूह आदि) का राजनीतिक व्यवहार एवं लोकमत तथा शासन में नागरिकों के भाग लेने की प्रक्रिया का अध्ययन।

(4) अन्तर्राष्ट्रीय संबंध – अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, अन्तर्राष्ट्रीय संगठत तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रशासन का अध्ययन।

विभिन्न परम्परागत राजनीतिशास्त्रियों तथा यूनेस्को के दृष्टिकोण के आधार पर परम्परागत राजनीति विज्ञान के अध्ययन क्षेत्र में निम्नलिखित विषय वस्तु को सम्मिलित किया जा सकता है –

(1) मानव के राजनीतिक जीवन का अध्ययन – परम्परागत दृष्टिकोण के अनुसार मानव जीवन के राजनैतिक पक्ष का अध्ययन राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में आता है। राजनीति विज्ञान राज्य के संदर्भ में मानव के जीवन का अध्ययन करता है, वह इस तथ्य का भी अध्ययन करता है कि राजनीतिक समाज में राज्य द्वारा व्यक्तियों को कौन–कौन से अधिकार दिये गये हैं और व्यक्तियों द्वारा राज्य के प्रति किन कर्त्तव्यों का पालन किया जाता है। इसमें राज्य द्वारा व्यक्तियों के लिए तथा व्यक्तियों द्वारा राज्य की नीतियों को प्रभावित करने के तथ्य का भी अध्ययन किया जाता है।

(2) राज्य का अध्ययन – प्राचीन काल से वर्तमान काल तक राज्य विकास की विभिन्न अवस्थाओं से गुजरा है। अतः राजनीति विज्ञान विभिन्न कालों के सन्दर्भ में राज्य नामक संस्था का अध्ययन करता है। यह राज्य के अतीत, वर्तमान एवं भविष्य का अध्ययन करता है। यह राज्य कैसा रहा है, राज्य कैसा है तथा राज्य को कैसा होना चाहिए इस बात का भी अध्ययन करता है। गेटिल के अनुसार, ''राजनीति विज्ञान 'राज्य कैसा रहा है' की ऐतिहासिक गवेषणा, 'राज्य कैसा है' का विश्लेषणात्मक अध्ययन और 'राज्य कैसा होना चाहिए' की राजनैतिक व नैतिक परिकल्पना है।''

राज्य के अतीत के अध्ययन द्वारा राजनीतिक संस्थाओं के प्रारम्भिक स्वरूपों तथा उनके विकास के विभिन्न चरणों को समझा जा सकता है। राज्य के वर्तमान के अध्ययन द्वारा उन प्रक्रियाओं को समझा जा सकता है जो व्यक्ति और सामाजिक मूल्यों जैसे शान्ति व्यवस्था, सुरक्षा, सुख आदि के मार्ग में बाधा डालती हैं, इनके ज्ञान से वर्तमान चुनौतियों को समझा जा सकता है। राज्य के भविष्य के अध्ययन से तात्पर्य यह है कि भूत और वर्तमान के अध्ययन के आधार पर भविष्य की राजनीतिक संस्थाओं के स्वरूप एवं संगठन को इस प्रकार निर्धारित किया जाये कि वे व्यक्ति और समाज के उद्देश्यों को प्राप्त कर सकें।

(3) सरकार का अध्ययन – राज्य सरकार के माध्यम से कार्य करता है, सरकार राज्य की इच्छा को प्रकट करती है, उसे क्रियान्वित करती है तथा उसकी सिद्धि के लिए प्रयास करती है। अतः राजनीति विज्ञान के अध्ययन का एक प्रमुख विषय सरकार है। राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत सरकार के प्राचीन और आधुनिक रूपों का अध्ययन किया जाता है। विभिन्न देशों में विद्यमान शासन प्रणालियों का अध्ययन किया जाता है और शासन के विभिन्न अंगों, व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका का तथा इनके पारस्परिक संबंधो का, प्रशासन, राजनीतिक प्रक्रियाओं आदि का अध्ययन किया जाता है।

(4) स्थानीय एवं राष्ट्रीय समस्याओं का अध्ययन – राजनीति विज्ञान स्थानीय व राष्ट्रीय समस्याओं का अध्ययन करता है और इन समस्याओं के हल के उपाय सुझाता है। यह स्थानीय स्वशासन, संस्थाओं के संगठन, कार्यप्रणाली तथा कार्यक्षेत्र का अध्ययन करता है। राजनीति विज्ञान राष्ट्रीय एकता, अखण्डता तथा विकास के मार्ग में बाधक समस्याओं का समाधान करता है और इनके हल के उपाय सुझाता है।

(5) राजनीतिक विचारधाराओं का अध्ययन – प्राचीनकाल से आधुनिक काल तक अनेक राजनैतिक विचारधाराओं की उत्पत्ति एवं विकास हुआ। इन विचारधाराओं ने राजनीति के यथार्थवादी एवं आदर्शवादी मूल्यों पर विचार किया। इनके द्वारा राज्य की उत्पत्ति, प्रकृति तथा कार्यों आदि पर विचार किया गया और इन्होंने राज्य व व्यक्ति के पारस्परिक संबंधों के अलावा कानून, स्वतंत्रता, समानता आदि पर भी अपने विचार प्रकट किये। राजनीति विज्ञान के इतिहास की अनेक विचारधाराओं जैसे आदर्शवाद, व्यक्तिवाद, अराजकतावाद, फासीवाद, समाजवाद, साम्यवाद तथा बहुलवाद आदि का राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत एक तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है और यह देखा जाता है कि अतीत में इन

विचारधाराओं ने मानव जीवन को किस प्रकार प्रभावित किया।

(6) अन्तर्राष्ट्रीय पक्ष का अध्ययन – राजनीति शास्त्र किसी एक राज्य का अध्ययन नहीं करता, कोई भी राज्य शून्य में नहीं रहता और उसे अन्य राज्यों के साथ भी संबंधों का निर्वाह करना होता है जिसके अन्तर्गत विभिन्न राज्य परस्पर समझौते एवं संधियाँ करते हैं। राज्यों के इन्हीं पारस्परिक संबंधों को अन्तर्राष्ट्रीय संबंध कहा जाता है। कोई भी राज्य इस अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण की उपेक्षा नहीं कर सकता। अतः राजनीति शास्त्र के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों का भी अध्ययन किया जाता है।

(7) राजनीतिक दलों व दबाव समूहों का अध्ययन – आधुनिक युग में शासन के संचालन में राजनीतिक दलों तथा दबाव समूहों का विशेष महत्व है। राजनीतिक दल चुनाव में भाग लेकर सरकार का निर्माण करते हैं और संचालन करते हैं जबकि दबाव समूह गुप्त एवं अप्रत्यक्ष रूप से सरकार की नीतियों को प्रभावित करते हैं। राजनैतिक दल व दबाव समूह लोकमत के निर्माण में सक्रिय भूमिका निभाते हैं। अतः राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में इन दोनों का अध्ययन भी सम्मिलित किया जाता है।

(8) राजनय एवं अन्तर्राष्ट्रीय विधि का अध्ययन – राज्यों के पारस्परिक संबंध मूलतः राज्यों की विदेश नीति और राजनय की कुशलता पर निर्भर करते हैं। अतः राजनीति शास्त्र राजनय का अध्ययन करता है। प्रत्येक राज्य सार्वभौम होता है और उसकी सीमाएँ निर्धारित होती हैं फिर भी युद्ध और शान्ति के प्रश्न, समुद्री तट, खुला समुद्र प्रत्यर्पण जैसे अनेक विषय हैं जिन्हें राज्य स्वयं निश्चित नहीं करता। इन विषयों को अन्य राज्यों के संदर्भ में ही निश्चित किया जाता है और इन्हें निर्धारित करने वाली विधि को अन्तर्राष्ट्रीय विधि कहते हैं। अतः राजनीति विज्ञान में अन्तर्राष्ट्रीय विधि का भी अध्ययन किया जाता है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि राजनीति विज्ञान का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक है। इसके क्षेत्र में राज्य एवं सरकार के अतीत, वर्तमान एवं भविष्य का अध्ययन किया जाता है। इसमें राजनीतिक दर्शन, राजनीतिक विचारधाराओं, राजनीतिक प्रक्रियाओं, राज्य और व्यक्ति के सम्बन्धों, अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा राजनय आदि का अध्ययन किया जाता है। मानव एक परिवर्तनशील प्राणी है। अतः राजनीति शास्त्र को समयानुकूल बनाने के लिए परिवर्तन, चुनौतियों एवं समस्याओं का भी अध्ययन करना पड़ता है।

राजनीति विज्ञान का क्षेत्र : आधुनिक दृष्टिकोण (Scope of Political Science : Modern Perspective)

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में जिस नवीन दृष्टिकोण का उदय हुआ वह अधिक व्यापक और यथार्थवादी है। वैसे तो इसका प्रारम्भ अरस्तू के काल में हो चुका था जब उसने अनेक संविधानों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर विभिन्न प्रकार की सरकारों के कार्यों का वर्णन किया। चार्ल्स आईनेमन के शब्दों में "राजनीति शास्त्र का क्षेत्र अब इतना व्यापक हो गया है कि उसमें संस्थात्मक, संगठन, निर्णय निर्माण और क्रियाशीलता की प्रक्रियाओं, नियत्रंण की राजनीति, नीतियों और कार्यों तथा विधिबद्ध प्रशासन के मानवीय वातावरण को भी सम्मिलित किया जाने लगा है।"

आधुनिक दृष्टिकोण के प्रमुख समर्थक हैं, केटलिन, लासवेल, राबर्ट डहल तथा फ्रोमेन आदि। आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार राजनीति विज्ञान के अध्ययन क्षेत्र में निम्नलिखित विषयवस्तुओं को सम्मिलित किया जाना चाहिए –

(1) मानव के राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन – आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार राजनीति विज्ञान के अध्ययन क्षेत्र में मुख्यतः मानव का राजनीतिक व्यवहार आता है किन्तु मानव के राजनीतिक व्यवहार को राजनीतिक कारकों के साथ ही अनेक गैर राजनीतिक कारक भी प्रभावित करते हैं। अतः मानव के राजनीतिक व्यवहार को यथार्थ एवं सही रूप में समझने के लिए यह जरूरी है कि राजनीति विज्ञान के अध्ययन क्षेत्र में उसकी उन राजनीतिक एवं गैर राजनीतिक भावनाओं, मान्यताओं एवं शक्तियों का अध्ययन भी सम्मिलित किया जाये जो व्यक्ति के राजनीतिक व्यवहार को प्रभावित एवं निर्धारित करते हैं।

(2) विभिन्न अवधारणाओं का अध्ययन – आधुनिक दृष्टिकोण मुख्य रूप से शक्ति, सत्ता, प्रभाव, नियंत्रण तथा निर्णय प्रक्रिया आदि से संबंधित विज्ञान है। अतः इसके अध्ययन क्षेत्र में इन अवधारणाओं का वैज्ञानिक अध्ययन भी सम्मिलित है। आधुनिक राजनीतिशास्त्रियों का मत है कि ऐसी आधारभूत अवधारणायें हैं जिनकी पृष्ठभूमि में ही राजनीतिक संस्थायें कार्य करती है। वे इन अवधारणाओं के संदर्भ में राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन करते हैं।

(3) सार्वजनिक समस्याओं के संदर्भ में संघर्ष व सहमति का अध्ययन – सार्वजनिक समस्याओं का अर्थ उन समस्याओं से है जो सम्पूर्ण समाज अथवा उसके बड़े भाग को प्रभावित करती हैं। इसी कारण इन समस्याओं को राजनीति का अंग माना जाता है और उनका अध्ययन राजनीति विज्ञान का अध्ययन विषय बन जाता है। मेरान व बेनफील्ड के अनुसार "किसी समस्या को संघर्षपूर्ण बनाने वाली अथवा उसका समाधान खोजने वाली सभी गतिविधियाँ राजनीति हैं।" इस प्रकार आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार राजनीतिक महत्व की सार्वजनिक समस्याओं पर पाई जाने वाली संघर्ष एवं सहमति की प्रवृत्ति का अध्ययन राजनीति विज्ञान की विषय वस्तु है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि राजनीति विज्ञान के अध्ययन के क्षेत्र के बारे मे आधुनिक दृष्टिकोण के समर्थकों में मतभेद है किन्तु वे सभी मानते हैं कि राजनीतिक विज्ञान का अध्ययन क्षेत्र यथार्थवादी होना चाहिए तथा इसके अध्ययन में अन्तर अनुशासनात्मक दृष्टिकोण एवं वैज्ञानिक उपागमों का प्रयोग किया जाना चाहिए।

अध्ययन क्षेत्र के विषय में परम्परागत व आधुनिक दृष्टिकोणों में अन्तर – राजनीति विज्ञान के अध्ययन क्षेत्र संबंधी परम्परागत एवं आधुनिक दृष्टिकोणों के अन्तर को निम्नलिखित रूप में प्रकट किया जा सकता है –

(1) काल का अन्तर – राजनीति विज्ञान के अध्ययन क्षेत्र से संबंधित परम्परागत दृष्टिकोण मुख्यतः द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व लगभग सर्वमान्य था। किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् स्पष्ट रूप से आधुनिक दृष्टिकोण का विकास हुआ और वर्तमान में यह अधिक लोकप्रिय हुआ।

(2) स्वरूप में अन्तर – परम्परागत दृष्टिकोण के अनुसार राजनीति विज्ञान में राज्य, सरकार एवं राजनीतिक संस्थाओं के संगठन व कार्यों का तथा व्यक्ति व राज्य के पारस्परिक संबंधों का अध्ययन भी वैधानिक पद्धति से किया जाना चाहिए। आधुनिक दृष्टिकोण का मत है कि राजनीति विज्ञान के अध्ययन क्षेत्र में व्यक्ति के राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन किया जाना चाहिए और समस्त राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन भी व्यवहारवादी दृष्टिकोण से किया जाना चाहिए।

(3) विषय वस्तु में अन्तर – परम्परागत दृष्टिकोण राजनीति विज्ञान को पूर्ण विज्ञान मानते हुए राजनीति विज्ञान की विषय वस्तु का अध्ययन मुख्यतः राजनीतिक दृष्टि से करना चाहता है और अन्य सामाजिक विज्ञानों की मदद लेना आवश्यक और उचित नहीं मानता। आधुनिक दृष्टिकोण राजनीति विज्ञान के अध्ययन क्षेत्र में मुख्यतः मानव के राजनीतिक व्यवहार को सम्मिलित करता है। किन्तु उसका मत है कि मानव के राजनीतिक व्यवहार को अनेक गैर राजनैतिक भावनायें व शक्तियाँ भी प्रभावित करती हैं, जिनका संबंध मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र एवं समाजशास्त्र जैसे सामाजिक विज्ञानों से है। अतः मानव के राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन के लिए अन्य सामाजिक विज्ञानों की भी मदद ली जानी चाहिए। इस प्रकार परम्परागत दृष्टिकोण 'एक अनुशासनात्मक दृष्टिकोण' है जबकि आधुनिक दृष्टिकोण 'अन्तर अनुशासनात्मक दृष्टिकोण' है।

(4) औपचारिक एवं अनौपचारिक अध्ययन ' परम्परागत दृष्टिकोण राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन मुख्यतः वैधानिक एवं राजनैतिक दृष्टि से करता है जो कि औपचारिक अध्ययन कहा जाता है किन्तु आधुनिक दृष्टिकोण राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन उन प्रक्रियाओं एवं प्रभावों के प्रसंग में करता है जो इन राजनीतिक संस्थाओं को प्रभावित करती हैं और जो अपनी प्रकृति से गैर राजनीतिक भी हो सकती हैं। इस प्रकार आधुनिक दृष्टिकोण राजनीति विज्ञान का अनौपचारिक अध्ययन करता है।

(5) अध्ययन पद्धति में अन्तर – परम्परागत दृष्टिकोण राजनीति विज्ञान के अध्ययन के लिए प्रमुख रूप से ऐतिहासिक, दार्शनिक एवं तुलनात्मक पद्धतियों का प्रयोग करता है। अतः उसका अध्ययन आदर्शवादी एवं वस्तुनिष्ठ हो जाता है जो कि उसकी अध्ययन पद्धति को अवैज्ञानिक बना देते हैं। आधुनिक दृष्टिकोण राजनीति विज्ञान के अध्ययन के लिए समाज विज्ञानों की वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रयोग करता है जैसे–सांख्यकीय, गणितीय, सर्वेक्षणात्मक पद्धतियाँ आदि। यह पद्धतियाँ यथार्थवादी हैं जो कि अध्ययन के लिए यथार्थवादी मूल्य निरपेक्ष एवं वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण का प्रयोग करती हैं। अतः आधुनिक दृष्टिकोण को वैज्ञानिक पद्धति वाला माना जाता है।

(6) प्रमाणिकता एवं निश्चयात्मकता की मात्रा में अन्तर – यद्यपि प्रामाणिकता एवं निश्चयात्मकता की दृष्टि से दोनों ही दृष्टिकोण अपूर्ण हैं फिर भी परम्परागत दृष्टिकोण की तुलना में आधुनिक दृष्टिकोण की अध्ययन पद्धति अधिक वैज्ञानिक है।

आधुनिक राजनीति विज्ञान की विशेषतायें (Characterstics of Modern Political Science)

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् राजनीति विज्ञान और अन्य समाज विज्ञानों के क्षेत्र में जो विकास हुए उसकी मुख्य प्रवृत्तियों का उल्लेख निम्न रूपों में किया जा सकता है।

(1) मुक्त अध्ययन – राजनीतिशास्त्री अब परम्परागत सीमायें छोड़कर अध्ययन करते हैं। समस्त राजनीतिक तथा औपचारिक घटनायें अब राजनीति शास्त्र का अध्ययन विषय बन गई हैं चाहे वे समाज शास्त्र, अर्थशास्त्र या धर्म के विषय में हों, अथवा व्यक्ति, परिवार राष्ट्र और विश्व से सम्बन्धित हों। यहाँ तक कि वैयक्तिक और सामूहिक स्तर पर बाल्यावस्था और युवावस्था आदि में विकसित राजनीतिक प्रवृत्तियों को भी सर्वेक्षण और शोध का विषय बनाया जाता है। शोधकर्ताओं की यह भावना रहती है कि वास्तविक परिस्थितियों का अध्ययन किया जाये और उन्हीं को वास्तविकता प्रकट करने वाली अवधारणाओं का आधार बनाया जाये।

(2) वैज्ञानिकता – आधुनिक राजनीतिशास्त्री अपने अध्ययन को अधिक वैज्ञानिक बनाना चाहते हैं वे राजनीतिक घटनाओं और तथ्यों की वैज्ञानिकता की कसौटी पर जाँच करते हैं। प्राकृतिक विज्ञानों तथा अन्य सामाजिक विज्ञानों से अध्ययन की नई–नई तकनीकों को लेकर वे उनका राजनीति विज्ञान में

प्रयोग करते हैं।

(3) मूल्य मुक्तता – राजनीतिक विश्लेषण में मानवीय मूल्यों जैसे नैतिकता, स्वतंत्रता, भ्रातृत्व आदि को कोई स्थान नहीं दिया जाता क्योंकि इसका प्रयास एक वैधानिक एवं सटीक विषय का निर्माण करना है। यह उन्हीं घटनाओं और तथ्यों को अपने अध्ययन का विषय बनाता है जिन्हें या तो देखा गया है या भविष्य में देखा जा सकता है।

(4) यथार्थवादी अध्ययन – राजनीति विज्ञान के परम्परागत अध्ययन प्रायः ऐतिहासिक,विधिगत तथा संस्थागत संरचना तक ही सीमित रहे और ये आदर्शात्मक, उपदेशात्मक स्थिति के साथ जुड़े हुए और बहुत अधिक सीमा तक केवल सैद्धान्तिक समस्याओं में ही उलझे हुए थे। आधुनिक राजनीतिशास्त्रियों ने यह दृढ़ विश्वास व्यक्त किया कि राजनीतिक अध्ययनों का व्यावहारिक राजनीति से सीधा संबंध होना चाहिए। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से ही राजनीति विज्ञान विषय के कुछ विद्वानों ने इस सत्य को समझ लिया कि आदर्श की तुलना में यथार्थ का महत्व अधिक है। अब राजनीति विज्ञान के विद्वानों ने इस बात की खोज प्रारम्भ कर दी कि समाज में शक्ति के वास्तविक स्रोत और केन्द्र कहाँ स्थित हैं। शासक वर्ग अपनी शक्तियों का प्रयोग किस रूप में कर रहा है ओर शासित वर्ग का राजनीतिक व्यवहार कैसा है ? परम्परावादी विधिगत, संस्थागत संरचना के अध्ययन का स्थान अब राजनीतिक प्रक्रियाओं को समझने की प्रवृत्तियों ने ले लिया और अब राजनीतिक दल, दबाव, समूह, संचार के साधन तथा मतदान व्यवहार आदि से संबंधित व्यापक अध्ययन किये जाने लगे हैं।

(5) व्यवहारवादी दृष्टिकोण – आधुनिक राजनीतिक दृष्टिकोण व्यवहारवादी दृष्टिकोण अपनाने पर बल देता है। परम्परागत राजनीति शास्त्र राजनीति से दूर रहा। व्यवहारवाद राजनीति विज्ञान को दर्शन, इतिहास या कानून के रूप में नहीं बल्कि राजनीति विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न है। व्यवहारवाद की सबसे बड़ी विशेषता है – सिद्धान्त का प्रयोग। इसमें तथ्यों की खोज और उनकी व्याख्या एक सिद्धान्त के अंतर्गत की जाती है।

(6) मूल्य निरपेक्ष और वैज्ञानिक पद्धति – राजनीति विज्ञान में व्यवहारवादी क्रान्ति द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् आयी। विभिन्न समाज विज्ञानों तथा प्राकृतिक विज्ञानों से राजनीति विज्ञान ने स्वयं को विज्ञान बनाने के लिए अनेक शोध प्रवृत्तियों को ग्रहण कर लिया। नवीन पद्धतियों में वैज्ञानिक पद्धति को प्रमुख स्थान दिया गया है उसी के साथ वैज्ञानिक मूल्य निरपेक्षवाद जुड़ा हुआ है। जिसका मूल अर्थ है कि शोधकर्ता अपने अनुसंधान में स्वयं के मूल्यों एवं धारणाओं को पृथक रखता है और उनका अपने अध्ययन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ने देता। उसके आचरण में बौद्धिक निष्पक्षता एवं सत्यनिष्ठता पाई जाती है।

(7) शोध एवं सिद्धान्त में घनिष्ठ संबंध – वैज्ञानिक पद्धति के प्रयोग द्वारा अब राज वैज्ञानिक सामान्यीकृत व्याख्याओं एवं सिद्धान्तों के निर्माण में लगे रहते हैं। ये सिद्धान्त निर्माण कठोर शोध प्रक्रियाओं पर आधारित हैं। अतः सिद्धान्त निर्माण की प्रक्रिया अब शोधोन्मुखी है। शोध और सिद्धान्त एक दूसरे के बिना निरर्थक हैं। आधुनिक राजनीतिशास्त्रियों का एक मात्र लक्ष्य राजनीति के सैद्धान्तिक प्रतिमानों को विकसित करना है। इसी आधार पर ये राजनीतिक घटनाओं एवं साधनों के संबंध में खोज करते हैं और उनका विश्लेषण करते हैं।

(8) अन्तर अनुशासनात्मक दृष्टिकोण – आधुनिक राजनीति विज्ञान में अन्तर अनुशासनात्मक दृष्टिकोण भी अपनाया गया। लेखकों ने ऐसे अधिक से अधिक साधनों का प्रयोग किया है, जिन्हें उन्होंने समाज विज्ञान, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, मानव विकास का विज्ञान जैसे विज्ञानों से उधार लिया है। परिणामस्वरूप राजनीति विज्ञान अब राजनीतिक मनोविज्ञान एवं राजनीतिक समाज विज्ञान जैसा प्रतीत होता है। राजनीतिक आधुनिकीकरण, राजनीतिक समाजीकरण, राजनीतिक संस्कृतिकरण तथा राजनीतिक विकास और इसी जैसे अन्य विषयों के अध्ययन से यह पता चलता है कि अब राजनीति विज्ञान में सरकार और अन्य राजनीतिक संरचनाओं के व्यवहार के अध्ययन पर समाज वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण लागू हो गया है। एस.एम. लिप्सेट के अनुसार, ''समकालीन राजनीतिक सिद्धान्त एक राजनीतिक प्रक्रिया की अपेक्षा अधिक मात्रा में एक राजनीतिक समाज विज्ञान व मनोविज्ञान और मानकीय राजनीतिक सिद्धान्त है।''

(9) एक मौलिक समाज विज्ञान के रूप में उदय : आधुनिक राजनीति विज्ञान अपने आपको समाज विज्ञानों की एक कड़ी के रूप में विकसित करना चाहता है ताकि वह विभिन्न विषयों को महत्वपूर्ण दिशा निर्देश दे सके। राजनीतिक वैज्ञानिकों में अरस्तू, न्यूटन तथा डार्विन आदि के रूप में कार्य करने की भावना पाई जाती है। इसके लिए वे विशिष्ट क्षेत्रों की विशेषज्ञता विकसित करना चाहते हैं। वे विषय स्वायत्तता लाना चाहते हैं। इसके लिए उन्होंने सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त तथा व्यवस्था उपागम को ग्रहण किया है। नियंत्रण और नियमन से संबंधित होने के कारण राजनीति की मौलिकता स्वयं सिद्ध है।

4. परम्परागत और आधुनिक राजनीति विज्ञान में अन्तर
(Distinction Between Traditional and Modern Political Science)

आधुनिक युग में अध्ययन के लिए सम्पूर्ण राजनीति विज्ञान को दो भागों में बाँटा गया है, परम्परागत राजनीति विज्ञान

तथा आधुनिक राजनीति विज्ञान। जब हम राजनीति विज्ञान का अध्ययन परम्परागत मान्यताओं के संदर्भ में करते हैं, तो इसे परम्परागत राजनीति विज्ञान कहा जाता है किन्तु जब हम राजनीति विज्ञान का अध्ययन आधुनिक मान्यताओं के संदर्भ में करते हैं तो इसे आधुनिक राजनीति विज्ञान कहा जाता है। इस सम्पूर्ण राजनीति विज्ञान के अध्ययन की दो दृष्टियाँ हैं, परम्परागत एवं आधुनिक। परम्परागत राजनीति विज्ञान कल्पनात्मक है और इस कारण मानपरक है। आधुनिक राजनीति विज्ञान व्यवहारपरक है और इस नाते वैज्ञानिक है। एन्ड्रयू हेकर के शब्दों में ''परम्परागत राजनीति विज्ञान मुख्य रूप से मानकात्मक (Normative) है, इसलिए इसका प्रतिपादक राजनीति दार्शनिक जैसा लगता है, आधुनिक राजनीति विज्ञान मुख्य तौर से व्यवहारपरक या अनुभवाश्रित (Empirical) है और इसलिए इसका प्रतिपादक राजनीतिक वैज्ञानिक जैसा लगता है।''

संक्षेप में परम्परागत राजनीति विज्ञान एवं आधुनिक राजनीति विज्ञान में मुख्य रूप से निम्नलिखित अंतर हैं –

(1) परिभाषा संबंधी अन्तर : परम्परावादी विचारक राजनीति विज्ञान को राज्य एवं सरकार के अध्ययन का विज्ञान मानते हैं। गार्नर के अनुसार ''राजनीति विज्ञान का आरम्भ और अन्त राज्य से होता है। '' इसके विपरीत आधुनिक व्यवहारवादी विचारक राजनीति विज्ञान की विषय वस्तु राज्य के बजाय मनुष्य के राजनीतिक व्यवहार को मानते हैं। वे राजनीति विज्ञान को शक्ति और सत्ता का विज्ञान मानते हैं। लासवेल और केपलन के शब्दों में, ''राजनीति विज्ञान एक व्यवहारवादी विषय के रूप में शक्ति को सँवारने तथा मिल बाँट कर प्रयोग करने का अध्ययन है।'' विलियम रॉक्सन लिखते हैं कि ''राजनीति की मुख्य दिलचस्पी का विषय बहुत ही स्पष्ट है, यह शक्ति प्राप्त करने, उसे बनाये रखने, उसका प्रयोग करने, उससे दूसरों को प्रभावित करने, अथवा दूसरे के प्रभाव को रोकने के संघर्षों पर केन्द्रित रहती है।''

(2) विषय क्षेत्र संबंधी अन्तर – परम्परावादी तथा आधुनिक राजनीति विज्ञान के क्षेत्रों के संबंध में भी अन्तर है। परम्परावादी राजनीति विज्ञान में राज्य के भूत, वर्तमान तथा भविष्य का, शासन के अंग, शासन के रूप तथा शासन के कार्यों का अध्ययन किया जाता है। परम्परावादी इन सबका संस्थागत अध्ययन करते हैं। दूसरी ओर आधुनिक व्यवहारवादी राजनीतिशास्त्री संस्थाओं का नहीं बल्कि प्रक्रियाओं का अध्ययन करते हैं और ऐसे अध्ययन में वे विधायिका या संसद के ढांचे का अध्ययन करने की अपेक्षा इस बात का अध्ययन करना अधिक पसन्द करते हैं कि विधि कौन बनाता है ?विधि निर्माण का निर्णय कौन लेता है तथा विधि निर्माण की वास्तविक प्रक्रिया क्या है ?

(3) प्रकृति के सम्बंध में अन्तर – राजनीति विज्ञान की प्रकृति के संबंध में भी परम्परावादी और आधुनिक राजनीति विज्ञान में भेद है। परम्परावादी राजनीतिक विचारकों में कुछ विचारक ऐसे हैं जो राजनीति विज्ञान को विज्ञान की श्रेणी में नहीं रखते।

बक्ल का विचार था, ''ज्ञान की वर्तमान अवस्था में राजनीति को विज्ञान मानना तो दूर, वह कलाओं में भी सबसे पिछड़ी कला है।'' इसके विपरीत आधुनिक राजनीति वैज्ञानिक राजनीति विज्ञान को पूर्ण विज्ञान मानने के पक्ष में हैं। मेरियम ने अपनी रचनाओं में इस बात पर जोर दिया कि राजनीति विज्ञान में वैज्ञानिक तकनीक और प्रविधियों का विकास समय की सबसे बड़ी आवश्यकता है। कैटलिन तथा हेरल्ड लावेल जैसे विद्वान यह सिद्ध करने हेतु प्रयत्नशील रहे हैं कि राजनीति शास्त्र मूलतः एक विज्ञान है और इसका संबंध राजनीतिक संस्थाओं के वैज्ञानिक विश्लेषण से है।

(4) अध्ययन पद्धतियों के संबंध में अन्तर – परम्परावादी राजनीति शास्त्रियों द्वारा प्रयुक्त अध्ययन पद्धतियाँ एकदम प्राचीन और अपरिष्कृत हैं। उन्होंने दार्शनिक पद्धति, ऐतिहासिक पद्धति तथा तुलनात्मक पद्धति का सहारा लिया है। जबकि आधुनिक राजनीतिशास्त्रियों ने आधुनिक उपकरणों के माध्यम से राजनीति के अध्ययन पर अधिक बल दिया है। वे मनुष्य के राजनीतिक व्यवहारों तथा उनसे संबंधित आनुभविक सत्यों का विश्लेषण तथा निरूपण करते हैं। आधुनिक राजनीतिशास्त्री सांख्यकीय पद्धति, आनुभविक पद्धति, व्यवस्था विश्लेषण पद्धति तथा अन्तः अनुशासनात्मक अध्ययन पद्धति के माध्यम से राजनीति को विज्ञान बनाने की ओर प्रयत्नशील हैं।

(5) मूल्यों के संबंध में अन्तर – परम्परावादी राजनीति शास्त्री मूल्यों में आस्था रखते हैं वे आदर्श और नैतिकता में विश्वास करते हैं जबकि आधुनिक अथवा व्यवहारवादी विचारक मूल्य निरपेक्षता का दावा करते हैं। उनके अनुसार राजवैज्ञानिक अपने आपको नैतिक भावनाओं, मूल्यों, आदर्शों तथा पक्षपातों से दूर रखकर वैज्ञानिक अध्ययन और अनुसंधान करे। एक राजवैज्ञानिक को मूल्य निरपेक्ष एवं तटस्थ रहना चाहिये।

(6) उद्देश्यों के संबंध में अन्तर – परम्परावादियों की यह धारणा है कि राजनीति विज्ञान का उद्देश्य श्रेष्ठ जीवन के मार्ग को प्रशस्त करना है। इसके विपरीत आधुनिक व्यवहारवादी विचारक यह मानते हैं कि राजनीति विज्ञान का उद्देश्य ज्ञान के लिए ज्ञान प्राप्त करना है। वे प्रविधियों पर अधिक जोर देते हैं। उनके मत में राजनीति वैज्ञानिक को केवल मूक दर्शक ही नहीं बनना है, बल्कि समस्याओं के समाधान के लिए भी प्रयास करना है।

महत्वपूर्ण बिन्दु

राजनीति विज्ञान : परिभाषा, प्रकृति एवं क्षेत्र

राजनीति विज्ञान की परिभाषा : परम्परागत दृष्टिकोण
(Definition of Political Science : Traditional Perspective)

परम्परागत दृष्टिकोण में राजनीति शास्त्र को चार अर्थों में परिभाषित किया जाता है–

I. राज्य के अध्ययन के रूप में
II सरकार के अध्ययन के रूप में
III. राज्य और सरकार के अध्ययन के रूप में
IV. राज्य, सरकार और व्यक्ति के अध्ययन के रूप में

राजनीति विज्ञान की प्रकृति

राजनीति विज्ञान के विज्ञान होने के विरूद्ध तर्क – (1) विज्ञान जैसे प्रयोग और पर्यवेक्षण संभव नहीं, (2) कार्य–कारण में सुनिश्चित संबंध का अभाव, (3) सर्वमान्य सिद्धान्तों का अभाव, (4) शुद्ध नाप–तोल का अभाव, (5) अध्ययन सामग्री की प्रकृति में अन्तर, (6) निश्चित व सत्य भविष्यवाणी का अभाव।

राजनीति विज्ञान के विज्ञान होने के पक्ष में तर्क–

(1) क्रमबद्ध व व्यवस्थित ज्ञान, (2) सर्वमान्य सिद्धान्त, (3) कार्य कारण में पारस्परिक संबंध, (4) पर्यवेक्षण तथा प्रयोग संभव, (5) भविष्यवाणी की क्षमता

कैटलिन राजनीति विज्ञान का अर्थ विस्तार करते हुए उसे, कला, दर्शन और विज्ञान तीनों मानता है।

3.राजनीति विज्ञान का अध्ययन क्षेत्र

(1) मानव के राजनैतिक जीवन का अध्ययन, (2) राज्य का अध्ययन, (3) सरकार का अध्ययन, (4) स्थानीय एवं राष्ट्रीय समस्याओं का अध्ययन, (5) राजनीतिक विचारधाराओं का अध्ययन, (6) अन्तर्राष्ट्रीय पक्ष का अध्ययन, (7) राजनीतिक दलों व दबाव समूहों का अध्ययन, (8) राजनय एवं अन्तर्राष्ट्रीय विधि का अध्ययन

1. राजनीति विज्ञान की परिभाषा : आधुनिक दृष्टिकोण
(Definition of Political Science : Modern Perspective)

राजनीति शास्त्र की नवीन परिभाषाओं के संदर्भ में इसका अध्ययन निम्न रूपों में किया जाता है –

1. राजनीति शास्त्र मानवीय क्रियाओं का अध्ययन है।
2. राजनीति शास्त्र शक्ति का अध्ययन है।
3. राजनीति शास्त्र राजनीतिक व्यवस्था का अध्ययन है।
4. राजनीति शास्त्र निर्णय प्रक्रिया का अध्ययन है।

2. राजनीति विज्ञान का क्षेत्र : आधुनिक दृष्टिकोण

आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार राजनीति विज्ञान के अध्ययन क्षेत्र में निम्नलिखित विषयवस्तुओं को सम्मिलित किया जाना चाहिए–

(1) मानव के राजनैतिक व्यवहार का अध्ययन, (2) विभिन्न अवधारणाओं का अध्ययन, (3) सार्वजनिक समस्याओं के संदर्भ में संघर्ष व सहमति का अध्ययन।

3. आधुनिक राजनीति विज्ञान की अध्ययन पद्धतियाँ अथवा विशेषतायें

(1) मुक्त अध्ययन, (2) वैज्ञानिकता, (3) मूल्य मुक्तता, (4) यथार्थवादी अध्ययन, (5) व्यवहारवादी दृष्टिकोण, (6) मूल्य निरपेक्ष और वैज्ञानिक पद्धति, (7) शोध एवं सिद्धान्त में घनिष्ठ संबंध, (8) अन्तर अनुशासनात्मक दृष्टिकोण, (9) एक मौलिक समाज विज्ञान के रूप में उदय

4. परम्परागत और आधुनिक राजनीति विज्ञान में अन्तर

संक्षेप में परम्परागत राजनीति विज्ञान एवं आधुनिक राजनीति विज्ञान में मुख्य रूप से निम्नलिखित अंतर हैं –

(1) परिभाषा संबंधी अन्तर, (2) विषय क्षेत्र संबंधी अन्तर, (3) प्रकृति के सम्बंध में अन्तर, (4) अध्ययन पद्धतियों के संबंध में अन्तर, (5) मूल्यों के संबंध में अन्तर, (6) उद्देश्यों के संबंध में अन्तर

महत्वपूर्ण प्रश्न

अति लघूत्तरात्मक प्रश्न (शब्द सीमा 20 शब्द)

1. किस भाषा के किस शब्द से पॉलिटिक्स शब्द की उत्पति हुई है ?उस शब्द का अर्थ बताईये।
2. अरस्तू ने 'राजनीति' शब्द को किस अर्थ में अभिव्यक्त किया है ?
3. आधुनिक समय में राजनीति शब्द को किन अर्थों में अभिव्यक्त किया जाता है ?
4. लास्की ने राजनीति विज्ञान की क्या परिभाषा दी है ?
5. राजनीति विज्ञान को विज्ञान मानने वाले कोई चार राजनीति शास्त्रियों का नाम उल्लेखित कीजिए।
6. किन भारतीय प्राचीन विद्वानों ने राजनीति विज्ञान को शासन की एक कला के रूप में मान्यता दी है ?

लघू उत्तरात्मक प्रश्न (शब्द सीमा 100 शब्द)

1. राजनीति विज्ञान के परम्परावादी परिप्रेक्ष्य के प्रमुख लक्षण बताइये।
2. राजनीति विज्ञान के आधुनिक परिप्रेक्ष्य के लक्षण बताइये।
3. आधुनिक दृष्टिकोण किस प्रकार राजनीति विज्ञान को विज्ञान बना देता है ?
4. राजनीति विज्ञान को विज्ञान की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता इसकी पुष्टि में कोई दो तर्क दीजिए।
5. हबर्ट साइमन राजनीति विज्ञान को किस रूप में स्पष्ट

करते हैं ?

निबन्धात्मक प्रश्न

1. परम्परागत एवं आधुनिक दृष्टिकोण के संदर्भ में राजनीति विज्ञान की प्रकृति की विवेचना कीजिए।
2. परम्परागत एवं आधुनिक राजनीति विज्ञान में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
3. राजनीति विज्ञान के अर्थ, स्वरूप और क्षेत्र के संबंध में परम्परागत और आधुनिक दृष्टिकोणों को स्पष्ट कीजिये।
4. राजनीति विज्ञान के आधुनिक दृष्टिकोण पर एक लेख लिखिए।
5. इस विचार का परीक्षण करें कि राजनीति विज्ञान कला और विज्ञान दोनों है।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. ''राजनीति शास्त्र राज्य से आरम्भ होता है एवं राज्य पर समाप्त'' यह परिभाषा दी गई है''–
   (अ) गार्नर द्वारा (ब) ब्लंटशली द्वारा
   (स) सीले द्वारा (द) लीकॉक द्वारा ( )
2. राजनीति विज्ञान को किस विचारक ने 'पूर्ण' या 'सर्वोच्च विज्ञान' माना है ?
   (अ) अरस्तू (ब) प्लेटो
   (स) गाँधी (द) मैकियावली ( )
3. राजनीति विज्ञान को विज्ञान किस कारण कहा जाता है ?
   (अ) सिद्धान्तों की मतैक्यता
   (ब) निर्णयों की सुनिश्चितता
   (स) परिणामों की भविष्यवाणी
   (द) क्रमबद्ध अध्ययन ( )
4. राजनीति विज्ञान का परम्परागत दृष्टिकोण मुख्यतः केन्द्रित था
   (अ) सरकार व राज्य के अध्ययन पर
   (ब) शक्ति व वैधता के अध्ययन पर
   (स) राजनीतिक व्यवस्था के अध्ययन पर
   (द) राजनीतिक प्रक्रियाओं के अध्ययन पर ( )
5. 'राजनीति विज्ञान सरकार से संबंधित विद्या है।'' यह परिभाषा दी है –
   (अ) गिलक्राईस्ट ने
   (ब) सीले ने
   (स) लीकॉक ने
   (द) उपर्युक्त में से किसी ने नहीं ( )
6. परम्परागत राजनीति विज्ञान के अध्ययन क्षेत्र में सम्मिलित नहीं है –
   (अ) राज्य का अध्ययन
   (ब) सरकार का अध्ययन
   (स) राजनीतिक दल व दवाब समूहों का अध्ययन
   (द) सार्वजनिक समस्याओं के संदर्भ में संघर्ष व सहमति का अध्ययन ( )
7. राजनीति विज्ञान को निम्न में से कौनसा तर्क विज्ञान न होने की पुष्टि करता है ?
   (अ) राजनीति विज्ञान अपने अध्ययन की विषय वस्तु का क्रमबद्ध व व्यवस्थित ज्ञान प्रस्तुत करती है
   (ब) राजनीति विज्ञान कार्य–कारण में पारस्परिक सम्बन्ध को व्यक्त करती है
   (स) राजनीति विज्ञान में सर्वमान्य सिद्धान्तों का अभाव है
   (द) राजनीति विज्ञान में पर्यवेक्षण व प्रयोग सम्भव है
   ( )

उत्तरमाला वस्तुनिष्ठ प्रश्न :

1.(अ) 2(अ) 3(द) 4(अ) 5(स) 6(द) 7 (स)

अध्याय – 2
व्यवहारवाद एवं उत्तर व्यवहारवाद
Behaviouralism and Post Behaviouralism

''व्यववहारवादी क्रान्ति परम्परागत राजनीति विज्ञान की असफलताओं के प्रति असंतोष का परिणाम है। इस क्रान्ति का उद्देश्य राजनीति विज्ञान को अधिक वैज्ञानिक बनाना है''
– रॉबर्ट ए.डहल

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् परम्परागत राजनीति विज्ञान के विरोध में एक व्यापक क्रान्ति हुई इस क्रान्ति को व्यवहारवाद का नाम दिया जाता है।

राजनीति विज्ञान में व्यवहारवाद आधुनिक प्रयासों और दृष्टिकोण की देन है। परम्परागत दृष्टिकोण में निहित ऐतिहासिक, दार्शनिक, वर्णनात्मक एवं संस्थागत प्राथमिकताओं की अपूर्णताओं से असंतुष्ट होकर एक विकल्प के रूप में व्यवहारवादी दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया गया है जिसमें 'व्यवहार' के अध्ययन के महत्व को राजनीति शास्त्रियों ने स्वीकार किया। राजनीति विज्ञान के संदर्भ में व्यवहारवाद अपना ध्यान मुख्यतः राजनीतिक व्यवहार पर केन्द्रित करता है। इस अनुभवात्मक अनुसंधान तथा प्रविधियों के निरन्तर सुधार में विश्वास रखता है। इसमें व्यक्तिनिष्ठ मूल्यों, मानवीय विवरणों तथा कल्पनाओं आदि का कोई स्थान नहीं है।

1. व्यवहारवाद से अभिप्राय
(Meaning of Behaviouralism)

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राज्य, समाज एवं मानव का व्यवस्थित अध्ययन विश्वविद्यालय स्तर पर प्रारम्भ हो गया था। इस प्रकार के अध्ययन का सामान्य प्रचलित नाम सामाजिक विज्ञान था किन्तु इस नाम से भ्रम उत्पन्न होता था। अतः सुविधा के लिए सामाजिक विज्ञान के अन्तर्गत आने वाले सम्पूर्ण विषयों के लिए 'व्यवहारवादी विज्ञान' (Behavioural Science) शब्द का प्रयोग किया जाने लगा। प्रारम्भ में व्यवहारवादी विज्ञान के अन्तर्गत मनोविज्ञान, मानव विज्ञान तथा समाजशास्त्र ही सम्मिलित थे किन्तु बाद में राजनीति विज्ञान, अर्थशास्त्र, शिक्षा, कानून तथा इतिहास आदि विषय भी इसके अन्तर्गत आ गये। व्यवहारवाद या व्यवहारवादी उपागम राजनीतिक तथ्यों की व्यवस्था और विश्लेषण का एक विशेष तरीका है, जिसे द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् अमरीकी राजनीतिशास्त्रियों द्वारा विकसित किया गया। यह उपागम राजनीति शास्त्र के सन्दर्भ में अपना ध्यान मुख्यतः राजनीतिक व्यवहार पर केन्द्रित करता है और इस बात का प्रतिपादन करता है कि राजनीतिक गतिविधियों का वैज्ञानिक अध्ययन व्यक्तियों के राजनीतिक व्यवहार के आधार पर ही किया जा सकता है। व्यवहारवाद अनुभवात्मक और क्रियात्मक है। इसमें व्यक्तिनिष्ठ मूल्यों और कल्पनाओं आदि के लिए कोई स्थान नहीं है। व्यवहारवाद परम्परावादियों के नितान्त विपरीत है तथा वह राजनीति विज्ञान को राज्य की कानूनी व दार्शनिक सीमाओं में बाँधने को तैयार नहीं। व्यवहारवाद के अनुसार राज्य के बाहर भी सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र की जो संस्थायें और सत्तायें तथा इन सबको प्रेरित करने वाला जो मानवीय व्यवहार है उसका अध्ययन अधिक आवश्यक और महत्वपूर्ण है।

व्यवहारवाद का प्रणेता डेविड ईस्टन को माना जाता है उसके अनुसार ''व्यवहारवाद वास्तविक व्यक्तियों पर अपना समस्त ध्यान केन्द्रित करता है। व्यवहारवाद की अध्ययन की इकाई मानव का ऐसा व्यवहार है, जिसका प्रत्येक व्यक्ति द्वारा पर्यवेक्षण, मापन और सत्यापन किया जा सकता है। व्यवहारवाद राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन से राजनीति की संरचनाओं तथा प्रतिक्रियाओं आदि के बारे में वैज्ञानिक व्याख्यायें विकसित करना चाहता है।''

व्यवहारवाद के अर्थ को अच्छी तरह समझने के लिए विभिन्न विद्वानों द्वारा व्यवहारवाद की दी गई परिभाषाओं को समझना आवश्यक होगा :–

(1) डेविड ट्रूमैन के अनुसार '' व्यवहारवादी उपागम से अभिप्राय है कि अनुसंधान व्यवस्थित हो तथा उसका प्रमुख आग्रह आनुभविक प्रणालियों के प्रयोग पर ही होना चाहिए।''

(2) हींज यूलाऊ के अनुसार ''राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन का संबंध राजनीतिक संदर्भ में मानव के कार्यों, रुख, वरीयताओं एवं आकांक्षाओं से है।''

(3) डेविड ईस्टन के अनुसार – '' व्यवहारवादी शोध वास्तविक व्यक्ति पर अपना समस्त ध्यान केन्द्रित करता है।''

इस प्रकार व्यवहारवाद एक ऐसा उपागम है जिसका उद्देश्य राजनीतिक जीवन के अनुभावुक पक्ष को ऐसी प्रणालियों, सिद्धान्तों और कसौटियों के द्वारा स्पष्ट करना है जो आधुनिक, आनुभविक विज्ञान के अधिनियमों अभिसमयों और अभिग्रहों को पूरा करती हों। यह विषय के आनुभविक तत्त्वों को उस अर्थ में वैज्ञानिक बनाने का एक प्रयत्न मात्र है जिस अर्थ में उसकी गणना हम आनुभविक विज्ञानों में करते हैं।

संक्षेप में व्यवहारवाद ऐसा दृष्टिकोण है जिसका लक्ष्य विश्लेषण की नई इकाईयों, नई पद्धतियों, नई तकनीकों, नये तथ्यों और एक व्यवस्थित सिद्धान्त के विकास को प्राप्त करना है। व्यवहारवाद की आधारभूत मान्यता यह है कि प्राकृतिक विज्ञानों और समाज विज्ञानों के बीच एक गुणात्मक निरन्तरता है।

2. व्यवहारवादी उपागम का विकास
(Evolution of Behavioural Approch)

व्यवहारवादी अवधारणा का जन्म द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् हुआ। इसके जन्म और विकास में दो तत्त्व सहायक रहे हैं – पहला द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले का अनुभववाद एवं दूसरा द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान राजनीतिशास्त्रियों के यथार्थवादी अनुभव। वस्तुतः व्यवहारवाद, उन समाजशास्त्रियों तथा राजनीति शास्त्रियों की देन है जो अनुभववादी थे और जिन्हें द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान अनेक प्रशासनिक पदों पर काम करते हुए यथार्थवादी अनुभव प्राप्त हुए।

ऐतिहासिक दृष्टि से व्यवहारवाद का प्रारम्भ बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में दिखाई पड़ता है। सन् 1908 में प्रकाशित ग्राह्म वालेस की पुस्तक ''ह्यूमन नेचर इन पॉलिटिक्स'' तथा ए. एफ.बेन्टले की पुस्तक ''द प्रोसेस ऑफ गवर्नमेंट'' का इस संदर्भ में विशेष उल्लेख किया जा सकता है। दोनों ही विद्वानों ने राजनीति विज्ञान में संस्थाओं के अध्ययन एवं विश्लेषण के आधार पर राजनीतिक निष्कर्ष निकालने का विरोध किया। वालेस का मानना था कि राजनीति विज्ञान का अध्ययन संस्थाओं के प्रसंग में नहीं बल्कि मानव के व्यवहार के प्रसंग में किया जाना चाहिए। बैण्टले का मत था कि राजनीति के अध्ययन में सामाजिक समूहों की शासन के प्रति प्रतिक्रियाओं को स्थान दिया जाना चाहिए।

व्यवहारवाद के विकास में 1925 में प्रकाशित चार्ल्स मेरियम की पुस्तक 'न्यू ऑस्पेक्ट्स ऑफ पोलिटिक्स'' का विशेष महत्व है। मेरियम ने राजनीतिक घटनाओं और तथ्यों के विश्लेषण के लिए मनोवैज्ञानिक एवं समाज शास्त्रीय दृष्टिकोण एवं तकनीकों के प्रयोग पर बल दिया। उसने संयुक्त राज्य अमेरिका के शिकागो विश्वविद्यालय को अपने विचारों के विस्तार का केन्द्र बनाया और व्यवहारवादी उपागम का विकास किया। धीरे–धीरे उसके सहयोगियों एवं अनुयायियों की संख्या बढ़ती गई और उन सभी के राजनीतिक दृष्टिकोण को 'शिकागो सम्प्रदाय' कहा गया और इसे ही बाद में 'व्यवहारवाद' नाम दिया गया। मेरियम के अनुयायियों ने राजनीति विज्ञान को समाज शास्त्र, मनोविज्ञान, दर्शन, सांख्यकीय, अर्थशास्त्र एवं मानवशास्त्र जैसे विज्ञानों के निकट लाने का हर संभव प्रयत्न किया।

व्यवहारवाद के विकास में अनेक अन्य व्यवहारवादी विद्वानों के ग्रंथों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। हरबर्ट साईमन की पुस्तक 'एडमिनिस्ट्रेटिव बिहेवियर' लासवेल व कैप्लन की पुस्तक 'पावर एण्ड सोसायटी', कैटलिन की पुस्तक 'ए स्टडी ऑफ दी प्रिंसिपल्स ऑफ पॉलिटिक्स' तथा डेविड ईस्टन की पुस्तक 'दी पॉलिटिकल सिस्टम' आदि का उल्लेख विशेष तौर पर किया जा सकता है।

शिकागो विश्वविद्यालय के तीन विद्वान, पी.वी. स्मिथ, चार्ल्स मेरियम, तथा हेराल्ड लासवेल को व्यवहारवादी उपागम का संस्थापक कहा जा सकता है। मेरियम तथा लावेल के बाद डेविड ईस्टन, आमण्ड हालमेन, कार्ल डायच तथा एडवर्ड शिल्स आदि ने व्यवहारवादी अध्ययन को आगे बढ़ाया।

3. व्यवहारवाद के उदय के कारण
(Causes of Rise of Behaviouralism)

ऐतिहासिक दृष्टि से राजनीतिक चिन्तन में व्यवहारवादी मान्यताओं के कुछ तथ्य अरस्तू, मैकियावली, जॉन लॉक तथा माण्टेस्क्यू आदि के चिन्तन में मिलते हैं। किन्तु एक सिद्धान्त के रूप में व्यवहारवाद बीसवीं शताब्दी की ही देन है।

पिछले कुछ दशकों में 'शासन तथा राजनीति' के अध्ययन में व्यवहारवादी अध्ययन पद्धति का महत्व अधिक बढ़ गया है। व्यवहारवाद के उदय के और विकास के लिए प्रमुख तौर पर निम्नलिखित कारण उत्तरदायी रहे हैं :–

(1) परम्परागत अध्ययन पद्धतियों के प्रति असंतोष – बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में राजनीतिशास्त्रियों को परम्परागत राजनीति शास्त्र की अध्ययन पद्धतियों और परिणामों से निराशा हुई क्योंकि परम्परागत पद्धतियों से राजनीतिक जीवन की वास्तविकता का चित्र उनके सामने स्पष्ट नहीं हो सकता था। इस असंतोष के अनेक कारण थे, जैसे – प्रथम, शासन के नीति निर्माण एवं निर्धारण में राजनीतिज्ञों एवं राजनेताओं को महत्त्व दिया जाता था किन्तु राजनीति विज्ञान के विद्धानों के ज्ञान, कौशल और अनुभव की उपेक्षा की जाती थी। द्वितीय, उन्होंने यह अनुभव किया कि उनके अध्ययन विषय में सैद्धान्तिक पक्ष के विवेचन पर ही बल दिया जा रहा था, जो कि विश्वसनीय नहीं था क्योंकि इस सैद्धान्तिक पक्ष तथा यथार्थ शासन प्रक्रिया में पर्याप्त विषमता थी। तृतीय, दो महायुद्धों के बीच के काल में फासीवादी, नाजीवादी, प्रजातिवादी एवं एकाधिकारवादी प्रवृत्तियों के उदय एवं विकास के

कारणों के विश्वसनीय तर्क तथा निदान परम्परागत पद्धति में संभव नहीं थे। राजनीतिक क्रिया, प्रक्रिया तथा व्यवहारवाद की सम्बद्धता को अनदेखा करने से राजनीतिक वास्तविकता का ज्ञान सीमित होना स्वाभाविक है। चतुर्थ, राजनीति विज्ञान के निरन्तर विकास एवं लोकप्रियता के बाद भी विषय की अध्ययन पद्धति, जो कि मूलतः वर्णनात्मक शैली की थी, को अपर्याप्त माना गया। दार्शनिक, संस्थागत, औपचारिक, कानूनी एवं ऐतिहासिक पद्धतियों के योगदान की सीमाओं के परिणामस्वरूप उत्पन्न राजनीति शास्त्र की शिथिलताओं के प्रति असंतोष होना स्वाभाविक था। पंचम, अन्य विषयों जैसे–प्राकृतिक विज्ञानों तथा समाजशास्त्रों में विकसित प्रक्रिया के फलस्वरूप नवीनतम एवं विश्वसनीय पद्धतियों और तकनीकों के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न हुई। इस संदर्भ में यह उचित माना गया कि अन्तर–विषयक आदान प्रदान की निरन्तरता, राजनीति शास्त्र के अस्तित्व, संरक्षण एवं विकास हेतु आवश्यक है। व्यवहारवाद के उदय और विकास के लिए यह एक आवश्यक कदम सिद्ध हुआ। षष्ठम, द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विशेष रूप से अमेरिका में जिस स्थिति और वातावरण का निर्माण हुआ, उसमें राजनीति शास्त्रियों ने यह अनुभव किया कि पश्चिमी व्यवस्थाओं एवं वातावरण में किये गये अध्ययन, शोध के निष्कर्ष एवं पद्धतियाँ केवल सीमित क्षेत्रीय या राष्ट्रीय वातावरण में ही उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। किन्तु एशिया, अफ्रीका व लेटिन अमेरिका के नव स्वतंत्र एवं पिछड़े देशों की कई समस्याओं, प्रक्रियाओं एवं चुनौतियों का अध्ययन परम्परागत पद्धतियों द्वारा करने पर वास्तविक स्थिति का ज्ञान सम्भव नहीं है। असंतोष के इन्हीं कारणों के परिणामस्वरूप व्यवहारवादी आग्रह के अन्तर्गत अन्तः सांस्कृतिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय संदर्भ में राजनीतिक प्रक्रिया एवं व्यवहार के अध्ययन को उपयोगी माना गया।

(2) अन्य सामाजिक विज्ञानों से प्रेरणा– अन्य सामाजिक विज्ञानों में अध्ययन के नये तरीकों और उपकरणों के प्रयोग को जब प्रोत्साहन मिला तो उससे प्रेरित होकर राजनीतिशास्त्र में भी अध्ययन के वैज्ञानिक और नवीन तरीकों को अपनाना प्रारम्भ कर दिया गया। राबर्ट डहल के अनुसार व्यवहारवाद एक ऐसा आन्दोलन है, जिसका उद्देश्य राजनीतिक अध्ययन को आधुनिक मनोविज्ञान, समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र में विकसित सिद्धान्तों पद्धतियां, खोजों और दृष्टिकोणों के निकट सम्पर्क में लाना है।

(3) द्वितीय विश्वयुद्ध का प्रभाव – द्वितीय विश्वयुद्ध ने व्यवहारवाद को गति प्रदान की। युद्धकालीन घटनाओं ने राजनीतिशास्त्रियों के मन में यह धारणा बैठा दी कि राजनीतिक जीवन की जटिलताओं को पूरी तरह समझने के लिए संस्थानों और उनकी संरचनाओं के अध्ययन की सीमाओं से आगे बढ़कर उन संस्थानों और उनमें कार्य करने वाले व्यक्तियों के व्यवहार का अध्ययन करना होगा।

(4) नवीन अध्ययन पद्धतियों का प्रयोग – द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के दशकों में राजनीति के क्षेत्र में यह विचार बल पकड़ता गया कि राजनीति शास्त्र में नवीन अध्ययन पद्धतियों को स्थान देना होगा। परीक्षण, उपकरणों, सर्वेक्षण पद्धतियों, सांख्यकीय विश्लेषणों, गणितीय प्रारूपों तथा निदर्शन सर्वेक्षण जैसी प्रविधियों के बढ़ते हुए प्रयोग ने राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन को वस्तुनिष्ठ बनाकर व्यवहारवाद को बढ़ावा दिया।

4. व्यवहारवाद के लक्षण या आधारभूत मान्यतायें (Characterstics or Basic Assumptions of Behaviouralism)

व्यवहारवाद की आधारभूत मान्यताओं, लक्षणों एवं विशेषताओं पर डेविड ट्रूमेन, हींज यूलाऊ सेमियूअल जे. एल्डर्जवेल्ड, मोरिस जानोबिज तथा डेविड ईस्टन आदि अनेक विद्वानों ने विस्तार से विचार किया है। व्यवहारवाद की मूल मान्यताओं या विशेषताओं का डेविड ईस्टन ने विस्तार के साथ वर्णन किया है। उसने व्यवहारवाद या व्यवहारवादी उपागम के आठ प्रमुख आधार बताये हैं और इन्हें सम्पूर्ण व्यवहारवाद की बौद्धिक आधारशिला कहा है। डेविड ईस्टन के अनुसार व्यवहारवाद की प्रमुख मान्यताऐं या विशेषताएँ निम्नानुसार हैं :–

(1) नियमितताएं **(Regularities)** – नियमन से तात्पर्य है कि राजनीति के अध्ययन हेतु नियमों अथवा सिद्धान्तों का निर्माण संभव है। व्यवहारवादी मानते हैं कि मनुष्य के राजनीतिक व्यवहार में ऐसे सामान्य तथ्य पाये जाते हैं जिनके आधार पर सिद्धान्तों का निर्माण किया जा सकता है। इन सिद्धान्तों के आधार पर मानव के राजनीतिक व्यवहार की व्याख्या की जा सकती है और उसके भविष्य के राजनीतिक व्यवहार के बारे में सम्भावना प्रकट की जा सकती है।

(2) सत्यापन **(Verification)** – सत्यापन का तात्पर्य है कि मानव व्यवहार के बारे में जो भी कथन है उसकी सत्यता की जाँच होनी चाहिए। सत्यापन के लिए जो साक्ष्य प्रस्तुत किये जाएं, वे आनुभाविक एवं प्रेक्षणीय होने चाहिए।

(3) तकनीकों का प्रयोग **(Use of Techniques)** –तकनीक का अर्थ अध्ययन के ऐसे साधनों से है जो तथ्यों के चयन, संकलन, एवं वस्तुनिष्ठ विश्लेषण में सहायक हों। परम्परागत रूप से जिन तकनीकों को काम में लिया गया है, उन्हें पूर्ण रूप से वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता है। अतः व्यवहारवादियों का यह मानना है कि अध्ययन की तकनीकों में सुधार की लगातार कोशिशें की जानी चाहिए ताकि अधिक शुद्ध व वैज्ञानिक तकनीकों का निर्माण हो सके। साथ ही यह भी जरूरी है कि अध्ययनकर्ता इन तकनीकों का प्रयोग निरपेक्ष एवं तटस्थ भाव से करे, तभी राजनीतिक विश्लेषण वस्तुनिष्ठ हो सकता है।

(4) परिमाणीकरण **(Quantification)**– अस्पष्ट गुणात्मक निर्णयों से बचने के लिए आवश्यक है कि शोधकर्ता अपना वक्तव्य संख्याओं एवं समीकरणों में प्रस्तुत करें। सटीक होने के कारण संख्याएं ज्यों की त्यों संप्रेषित हो जाती है।

(5) क्रमबद्धीकरण **(Systematization)**– व्यवहारवादी यह मानते हैं कि शोधकार्य क्रमबद्ध तथा व्यवस्थित होना चाहिए। शोध तथा सिद्धान्त में घनिष्ठ संबंध है किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से सिद्धान्त की तुलना में शोध का स्थान पहले होता है। इसका अर्थ यह है कि पहले शोध का कार्य किया जाना चाहिए और इस शोध से प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर सिद्धान्त का निर्माण किया जाना चाहिए। पुनः भविष्य में सिद्धान्त द्वारा शोध की यथार्थता का समर्थन होना चाहिए। इस प्रकार के व्यवस्थित और क्रमबद्ध अध्ययन द्वारा ही मानव के राजनीतिक व्यवहार के संदर्भ में कार्य व कारण का संबंध स्थापित किया जा सकता है।

(6) मूल्य निर्धारण **(Value Determination)** – व्यवहारवादी मूल्यों की दृष्टि से तटस्थ रहना चाहते हैं फिर भी नैतिक मूल्यांकन के कुछ मूल्यों व आदर्शों का प्रतिपादन और प्रयोग आवश्यक हो जाता है। उनके अनुसार नैतिक मूल्यांकन तथा तथ्यात्मक व्यवस्था में अन्तर है। मूल्यों तथा तथ्यों को पृथक रखा जाना चाहिये। उदाहरण के लिए लोकतंत्र, समानता अथवा स्वतंत्रता उच्च मूल्य होते हुए भी उनकी सत्यता एवं असत्यता को वैज्ञानिक ढंग से सिद्ध नहीं किया जा सकता। वैज्ञानिक विश्लेषण के लिए उस सीमा तक मूल्यों को दृष्टि में रखा जा सकता है जिस सीमा तक वे राजनीतिक व्यवहार का विनिश्चय करते हैं किन्तु शोधकर्ता के लिए स्वयं के व्यक्तिगत मूल्यों को अलग रखकर ही शोध करना चाहिये।

(7) विशुद्ध विज्ञान **(Pure Science)** – व्यवहारवादी राजनीति विज्ञान को एक शुद्ध विज्ञान का रूप देना चाहते हैं जिसमें दो प्रमुख लक्षण हैं, प्रथम यह वैज्ञानिक (आनुभविक) सिद्धान्तों के निर्माण में मददगार हो तथा द्वितीय – हमारे युग की सामाजिक राजनीतिक समस्याओं को सुलझाने में सहायक हो। वे इस बात से सहमत हैं कि सिद्धान्त के बोध से वास्तविक जीवन की समस्याओं को समझा जा सकता है। सिद्धान्त और व्यवहार में उसका प्रयोग वैज्ञानिक अध्ययन का एक महत्वपूर्ण अंग है अतः वे शुद्ध अनुसंधान पर बहुत अधिक जोर देते हैं।

(8) एकीकरण **(Integration)** – व्यवहारवादियों की एक प्रमुख मान्यता यह है कि समस्त मानव व्यवहार एक पूर्ण इकाई है और उसका अध्ययन खण्डों में नहीं होना चाहिये। मानव व्यवहार में एक आधारभूत एकता पाई जाती है और इसी कारण विभिन्न समाज विज्ञान एक दूसरे के अधिक समीप हैं। अतः राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन जीवन के अन्य पक्षों के संदर्भ में ही किया जाना चाहिये।

व्यवहारवादियों के अनुसार मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। अतः उसकी सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और अन्य प्रकार की गतिविधियों को उसके सम्पूर्ण जीवन के व्यापक परिप्रेक्ष्य में रखकर ही समझा जा सकता है। अतः किसी भी राजनीतिक घटना के अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि हम समाज में होने वाली आर्थिक, सांस्कृतिक और अन्य घटनाओं को अच्छी तरह समझ सकें। यदि राजनीतिक मनुष्य को आर्थिक, सांस्कृतिक और सामाजिक मनुष्य से पृथक करके देखा गया तो उसके राजनैतिक व्यवहार के यथार्थ स्वरुप को समझना संभव नहीं होगा। इस प्रकार व्यवहारवादी अन्तः शास्त्रीय दृष्टिकोण के समर्थक हैं।

5.व्यवहारवाद की आलोचना अथवा सीमायें (Criticism or Limitations of Behaviouralism)

व्यवहारवाद की अपनी अनेक दुर्बलतायें हैं जिनके कारण इसकी आलोचना की जाती है। व्यवहारवाद की आलोचना करने वाले विद्वानों में अर्नाल्ड ब्रेश्ट, लियो स्ट्रास, सिबली, किर्क पेट्रिक राबर्ट ए.डहल तथा डायच आदि के नाम प्रमुख हैं। व्यवहारवाद की आलोचना अथवा इसकी सीमाओं का उल्लेख निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है।

(1) राजनीतिक व्यवहार की गलत धारणा – व्यवहारवादी यह मानते हैं कि राजनीति विज्ञान में संस्थागत अध्ययन के स्थान पर मनुष्य के राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन किया जाना चाहिए। परन्तु व्यवहारवादी मानव व्यवहार का विज्ञान प्रस्तुत करने में असफल रहे हैं। व्यवहारवादी नियमितताओं पर अत्यधिक बल देते हैं। वे मनुष्य के व्यवहार के समान एवं नियमित गुणों का ही अध्ययन करते हैं जबकि मानव स्वभाव अत्यन्त जटिल है और उसका व्यवहार अनिश्चित और अमापनीय है। अतः मनुष्य के राजनीतिक व्यवहार का आकलन एवं गणना गणितीय रूप में प्रस्तुत नहीं की जा सकती।

(2) प्राविधिक तकनीकों पर अत्यधिक बल – परम्परावादी राजनीतिशास्त्री व्यवहारवादियों पर प्राविधिक तकनीकों पर अत्यधिक बल देने का आरोप लगाते हैं। उनका कहना है कि वे शोध के उद्देश्यों के बजाय शोध के उपकरणों को परिष्कृत बनाने पर अत्यधिक ध्यान देते हैं। ये अपना अधिकांश समय प्रतिमानों और वैचारिक संरचनाओं के निर्माण में अथवा छोटी–छोटी समस्याओं के अध्ययन में लगा देते हैं और व्यावहारिक और महत्वपूर्ण तथ्यों को भुला देते हैं।

(3) मूल्य निरपेक्ष अध्ययन सम्भव नहीं – व्यवहारवादियों ने राजनीति विज्ञान के मूल्य निरपेक्ष अध्ययन पर बल दिया है। किन्तु आलोचकों का मानना है कि राजनीति विज्ञान में मूल्य

निरपेक्ष अध्ययन न तो सम्भव है न ही उचित है। एक शोधकर्ता शोध प्रारम्भ करने से पूर्व शोध के विषय के चयन में भी स्वयं के मूल्यों से प्रभावित होता है। इस प्रकार शोध का प्रारम्भ ही मूल्यों से प्रभावित होता है जिससे स्पष्ट है कि राजनीति विज्ञान में मूल्य निरपेक्ष अध्ययन सम्भव नहीं। विद्वानों का भी यही मानना है कि मूल्य निरपेक्ष अध्ययन सम्भव नहीं है क्योंकि निरपेक्ष होने का अर्थ हुआ अच्छे–बुरे एवं उचित–अनुचित में भेद नहीं करना।

(4) अन्तर्विरोध – व्यवहारवादियों के कथन और आचरण में विरोध दिखाई पड़ता है। एक ओर तो वे मूल्य निरपेक्ष अध्ययन पर बल देते हैं किन्तु दूसरी ओर तानाशाही की तुलना में उदारवादी लोकतंत्र की श्रेष्ठता को स्वीकार करते हैं।

(5) अत्यधिक खर्चीली पद्धति– व्यवहारवादी अध्ययन बहुत अधिक खर्चीली है क्योंकि इसमें अध्ययन की शुद्धता एवं पूर्णता के नाम पर बार–बार सर्वेक्षण किये जाते हैं और आँकड़े एकत्रित किये जाते हैं और फिर उनका विश्लेषण किया जाता है। यह सम्पूर्ण कार्य अत्यधिक समय साध्य और व्यय साध्य होता है। अतः एक सामान्य अध्ययनकर्ता अथवा तृतीय विश्व का गरीब समाज इस पद्धति को अपनाने में असमर्थ दिखाई पड़ता है।

6. व्यवहारवाद का योगदान अथवा राजनीति विज्ञान में महत्व
(Impact of Behaviouralism or its Importance in Political Science)

अनेक आलोचनाओं के बावजूद व्यवहारवाद के कुछ उपयोगी पक्ष भी हैं जिसके कारण राजनीति विज्ञान में इसकी उपयोगिता एवं महत्व को स्वीकारा जाता है। व्यवहारवाद ने राजनीति विज्ञान को नई भाषा, नई शैली, नई अवधारणायें, नई पद्धतियाँ तथा नई तकनीकें दी हैं। डॉ. एस.पी.वर्मा के अनुसार ''व्यवहारवादियों ने राजनीति विज्ञान में अनुसंधान के लिए नये क्षेत्रों को निकाला है और नई अध्ययन तकनीकों का विकास किया है।''

राजनीति विज्ञान पर व्यवहारवाद के प्रभाव अथवा उसकी उपयोगिता व महत्व को निम्नलिखित रुप में प्रकट किया जा सकता है–

(1) नये राजनीति विज्ञान की स्थापना– व्यवहारवाद ने परम्परागत राजनीति विज्ञान की कमियों को उजागर करके उसके स्थान पर नये राजनीति विज्ञान की स्थापना की है। एक प्रकार से व्यवहारवाद ने परम्परागत राजनीति विज्ञान का पूर्ण कायाकल्प किया है। जहाँ परम्परावादी राजनीति विज्ञान में मूल्य प्रधान, आदर्शवादी तथा व्यक्तिनिष्ठ अध्ययन को महत्व दिया जाता था वहीं व्यवहारवाद ने आधुनिक राजनीति विज्ञान के अध्ययन को मूल्य निरपेक्ष, यथार्थवादी तथा वस्तुनिष्ठ बनाने की कोशिश की है।

(2) राजनीति विज्ञान का वैज्ञानीकरण करने का प्रयत्न – व्यवहारवाद ने राजनीति विज्ञान के अध्ययन के लिए वैज्ञानिक पद्धति को अपनाने पर बल दिया। उसने राजनीति विज्ञान के अध्ययन के लिए सर्वेक्षण प्रणाली, प्रश्नावली प्रणाली, साक्षात्कार प्रणाली, सांख्यकीय प्रणाली आदि को अपनाया है।

(3) विषयवस्तु में परिवर्तन – परमपरागत राजनीति विज्ञान में अध्ययन का केन्द्र बिन्दु राजनीतिक संस्थायें थीं। किन्तु व्यवहारवाद ने संस्थाओं के स्थान पर अध्ययन का केन्द्र बिन्दु मानव के राजनीतिक व्यवहार को स्वीकारा है, वे मानव के राजनीतिक व्यवहार को अपनी अध्ययन इकाई मानते हैं।

(4) अन्तर–अनुशासनात्मक दृष्टिकोण की स्थापना – व्यवहारवाद ने राजनीति विज्ञान व अन्य सामाजिक विज्ञानों में घनिष्ठ संबंध को स्वीकारा है। उनके अनुसार एक अनुशासन को दूसरे अनुशासन की पद्धतियों, उपलब्धियों आदि को अपनाना चाहिये। उनकी इसी मान्यता को अन्तर अनुशासनात्मक दृष्टिकोण कहा जाता है। रॉबर्ट डहल ने व्यवहारवाद के इसी दृष्टिकोण को राजनीति विज्ञान की दृष्टि से महत्वपूर्ण माना है।

(5) वैकल्पिक धारणायें – व्यवहारवाद ने राजनीति विज्ञान को अनेक वैकल्पिक धारणायें प्रदान की हैं जिनका राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन में विशेष महत्व है – जैसे शक्ति, समूह, व्यवस्था, इच्छाशक्ति, मतदान व्यवहार तथा खोज सिद्धान्त आदि।

यद्यपि आज व्यवहारवाद का पतन हो चुका है किन्तु यह कहना उचित होगा कि इसने राजनीति विज्ञान के आधुनिकीकरण में ऐतिहासिक भूमिका निभाई है। व्यवहारवाद के अभाव में आधुनिक राजनीति विज्ञान का विकास सम्भव नहीं था। उत्तर व्यवहारवाद का श्रेय भी व्यवहारवादियों को ही दिया जा सकता है। एक प्रकार से व्यवहारवाद का अन्त होने के बावजूद वह उत्तर व्यवहारवाद के रूप में जीवित है।

उत्तर – व्यवहारवाद
(Post - Behaviouralism)

''उत्तर व्यवहारवाद भविष्योन्मुखी है, जो राजनीति विज्ञान को विकास की नई दिशा में बढ़ाना चाहता है। यह अतीत (व्यवहारवाद) की उपलब्धियों को स्वीकार करते हुए उसमें कुछ नया जोड़ना चाहता है।''

– डेविड ईस्टन

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् राजनीति विज्ञान के परम्परागत दृष्टिकोण के रुप में जब व्यवहारवादी उपागम की स्थापना की गई तो इसे एक 'आन्दोलन', 'एक तथ्यात्मक शैक्षणिक आन्दोलन', तथा एक 'नये राजनीति विज्ञान' का नाम दिया गया। किन्तु व्यवहारवाद की स्थापना के लगभग 20 वर्षों

बाद स्वयं इसके समर्थकों नें यह अनुभव किया कि इसमें अनेक आधारभूत कमियाँ हैं। परिणाम स्वरूप व्यवहारवाद के प्रति असंतोष का जन्म हुआ और अनेक पुराने व्यवहारवादियों ने व्यवहारवाद के स्थान पर उत्तर व्यवहारवाद की स्थापना की।

1960 के दशक की समाप्ति के पहले डेविड ईस्टन द्वारा, जो स्वयं व्यवहारवादी क्रान्ति के प्रमुख प्रतिपादकों में से था, व्यवहारवादी स्थिति पर एक प्रबल आक्रमण किया गया। डेविड ईस्टन ने उत्तर व्यवहारवाद को व्यवहारवाद के प्रति एक प्रतिक्रिया के रूप में नहीं अपितु मूल व्यवहारवादी आन्दोलन में सार्थक सुधार के रूप में स्वीकार किया है।

1. उत्तर व्यवहारवाद का अभिप्राय (Meaning of Post Behaviouralism)

व्यवहारवादी राजनीतिक विश्लेषण में 'प्रमाणिक अध्ययन' के दौर में प्रामाणिकता को प्रमाणित करने वाले आधारभूत तथ्य 'मूल्य' को अध्ययन में उचित स्थान नहीं दिया गया। अनुसंधान की तकनीकि को अनुसंधान के उद्देश्य से अधिक महत्वपूर्ण बना दिया गया। परिणामस्वरूप राजनीतिक विश्लेषण को वैज्ञानिकता का एक निश्चित स्तर प्राप्त हो गया लेकिन उसके निष्कर्षों में 'औचित्यपूर्ण एवं 'वैध शाश्वतता' का अभाव बना रहा। उत्तर व्यवहारवादी राजनीतिक विश्लेषण में 'मूल्यों' को समाविष्ट कर राजनैतिक अध्ययन को औचित्यपूर्णता एवं प्रासंगिता प्रदान करने के पक्षधर हैं। उत्तर व्यवहारवाद अपने विश्लेषण में वैज्ञानिकता के तत्त्व को शिथिल नहीं करना चाहता है, बल्कि वह इसे और ज्यादा विस्तृत करना चाहता है। इस प्रकार उत्तर व्यवहारवाद एक प्रकार की क्रान्ति है, जिसने राजनैतिक प्रक्रिया के अध्ययन में एक 'नवीन समन्वयात्मक दृष्टिकोण' को प्रस्तुत किया, जिसमें 'तथ्य' (Facts) एवं 'मूल्य' (Value) दोनों का विवेक सम्मत समावेश किया गया है। डेविड ईस्टन के शब्दों में, ''उत्तर व्यवहारवादी क्रान्ति उस व्यवहारवाद का घोर विरोध करती है, जिसके द्वारा राजनीति विज्ञान को प्राकृतिक विज्ञान की कठोर वैज्ञानिक शोध पद्धति का प्रयोग कर विशुद्ध विज्ञान का रु‍प देने का प्रयत्न किया गया है। यह विरोध, परम्परावादियों द्वारा किये गये इसी प्रकार के विरोध से सर्वथा भिन्न है। परम्परावादी वैज्ञानिक पद्धति का विरोध करते हैं क्योंकि वे प्रायः मनुष्य के व्यवहार में परीक्षण योग्य सामान्यीकरण को खोजने की सम्भावनाओं को ही अस्वीकार करते हैं। उनका मत है कि मानवीय और सामाजिक व्यवहार विभिन्नताओं से भरा हुआ है। अतः उसका सामान्यीकरण नहीं हो सकता। उत्तर व्यवहारवादी इस परम्परावादी तर्क से सहमत नहीं हैं। इनके अनुसार मानव एवं सामाजिक व्यवहार का वैज्ञानिक अध्ययन न केवल सम्भव, अपितु आवश्यक एवं उचित भी है।..... व्यवहारवादी क्रान्ति से हम अपने विश्लेषण को सार्थकता नहीं दे सकते। अतः हमें उत्तर व्यवहारवादी बनना होगा।''

उत्तर व्यवहारवाद के समर्थकों का यह आग्रह है कि शोध किसी भी पद्धति से किया जाये उसे प्रासंगिकता की कसौटी पर खरा उतरना चाहिए। डेविड ईस्टन ने इसे 'प्रासंगिकता का सिद्धान्त' अथवा 'प्रासंगिकता धर्म' नाम दिया है। प्रासंगिकता का अभाव व्यवहारवादी शोध के साथ–साथ परम्परावादी शोध में भी सम्भव था। अतः उत्तर व्यवहार उन व्यवहारवादी और परम्परावादी शोधों की आलोचना है जो प्रासंगिक नहीं हैं।

वस्तुतः उत्तर व्यवहारवाद एक सुधार आन्दोलन तथा नवीन दिशा संकेत है, जिसके दो आधार हैं 'कर्म' (Action) तथा प्रासंगिकता (Relevance)। यह समाज तथा राज व्यवस्था की तत्कालीन समस्याओं, संकटों और चुनौतियों का अध्ययन करने तथा उनके निदान ढूंढने की मांग करता है। इसका मूल उद्देश्य है – सामाजिक शोध, समाज की आवश्यकता के संदर्भ में प्रासंगिक तथा संगतिपूर्ण होनी चाहिए। उत्तर व्यवहारवाद राजनीतिशास्त्रियों के मूल्य निरपेक्ष या तटस्थ भाव से अध्ययन करने के बजाय स्वयं उनको समाज एवं स्वयं व्यवस्था की रक्षार्थ आगे आने के लिए आह्वान करता है।

2. उत्तर व्यवहारवादी क्रान्ति के उदय के कारण (Causes of the Origin of Post Behavioural Revolution)

उत्तर व्यवहारवादी क्रान्ति की उत्पत्ति का मूल कारण व्यवहारवाद में अन्तर्निहित कमियों एवं दोषों के विरूद्ध पैदा हुए तीव्र असंतोष को माना जाता है। व्यवहारवाद एक ओर अपने सैद्धान्तिक लक्ष्यों और उद्देश्यों को प्राप्त करने में असमर्थ रहा और दूसरी ओर यह शुद्ध अनुसंधान करने में अत्यधिक डूबे रहने के कारण अपने युग की गम्भीर समस्याओं के समाधान के बारे में कोई ठोस व निश्चित विचार देने में भी असफल रहा। स्वयं व्यवहारवादियों ने भी व्यवहारवादी दृष्टिकोण की अनुपयोगिता को स्वीकारा और इसमें सुधार की आवश्यकता को अनुभव किया। डेविड ईस्टन ने कहा कि ''व्यवहारवाद के नाम पर निम्न स्तरीय तथा प्रायः पूर्ण अप्रासंगिक अनुसंधान पर बहुत अधिक समय नष्ट कर दिया गया है। अतः अब इसमें आधारभूत सुधार की आवश्यकता है।''

संक्षेप में उत्तर व्यवहारवादी क्रान्ति के उदय के प्रमुख कारण निम्नानुसार हैं –

(1) व्यवहारवाद के विरूद्ध एक प्रतिक्रिया – उत्तरव्यवहारवाद व्यवहारवाद के विरूद्ध एक प्रतिक्रिया है। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् व्यवहारवादी प्रयासों के माध्यम से राजनीति विज्ञान को विश्वसनीय, सैद्धान्तिक एवं वैज्ञानिक स्वरूप देने की चेष्टा की गई। किन्तु इन सब के बावजूद स्वयं अनेक

व्यवहारवादियों ने भी इन प्रयासों को अपर्याप्त एवं अपूर्ण माना।

(2) अध्ययन पद्धतियों से असहमति – ऐसा माना गया कि सामाजिक विज्ञानों की अध्ययन पद्धतियों को प्राकृतिक विज्ञानों की तरह लागू करना घातक है क्योंकि समाज और व्यक्ति परिवर्तनशील होते हैं। अतः उनका अध्ययन प्राकृतिक विज्ञान की भाँति सम्भव नहीं है।

(3) व्यवहारवादी शोध के प्रति असंतोष – उत्तर व्यवहारवाद एक तरह से व्यवहारवाद के प्रति असंतोष का परिणाम है। व्यवहारवादी शोध में तथ्य व मूल्य विच्छिन्नता पर बल दिया गया है। व्यवहारवाद में मूल्यों के अध्ययन को वैज्ञानिकता की दुर्बलता माना गया है और तथ्य प्रधान अध्ययन को विज्ञान का पर्याय माना गया है। किन्तु उत्तर व्यवहारवादियों का मानना है कि तथ्य और मूल्य दोनों ही व्यक्ति के संदर्भ में प्रासंगिक है। अतः इनमें भेद करना कृत्रिम है। राजनीति विज्ञान को सही अर्थों में राजनीतिक एवं वैज्ञानिक दोनों ही रुपों में जीवन्त होना चाहिए। इसलिए मूल्यों को नकारा नहीं जाना चाहिए।

(4) विश्व मानवता के प्रति दायित्वों की उपेक्षा – व्यवहारवादी क्रान्ति के साथ ही समाज, राज व्यवस्था और विश्व अनेक संकटों एवं समस्याओं से घिर गये। मसलन आणविक युद्ध का भय, अमरीका में काले और गोरे का भेद, तानाशाही शासन की बढती हुई सम्भावनायें, वियतनाम में अघोषित युद्ध तथा जनसंख्या विस्फोट आदि। किन्तु 'राजनीति को विशुद्ध विज्ञान' बनाने की आकांक्षा में व्यवहारवादियों का यह कहना था कि उस शोध और अनुसंधान की क्या उपयोगिता हो सकती है जिसने समाज और राज व्यवस्था के इन तीव्र रोगों, संकटों एवं समस्याओं के निदान की ओर ध्यान नहीं दिया।

3. परम्परावाद और उत्तर व्यवहारवाद में अन्तर (Difference Between Traditionalism and Post Behaviouralism)

राजनीति विज्ञान के परम्परागत दृष्टिकोण तथा उत्तर व्यवहारवाद में मूलभूत अन्तर है। हालांकि दोनों ही अवधारणायें व्यवहारवाद का विरोध करती हैं। किन्तु उनके विरोध के कारण भिन्न भिन्न हैं। इन दोनों के अन्तर को निम्नलिखित रूप में प्रकट किया जा सकता है–

(1) विकास की विभिन्न अवधारणाओं में अन्तर – परम्परागत दृष्टिकोण उन्नीसवीं सदी तक के राजनीति विज्ञान के विकास को प्रकट करता है। यह राजनीति विज्ञान के शास्त्रीय पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है। जबकि उत्तर व्यवहारवाद राजनीति विज्ञान के वर्तमान समय के विकास को प्रकट करता है। यह राजनीति विज्ञान का 'कार्य विज्ञान'(Action Science) द्वारा प्रतिनिधित्व करता है।

(2) विरोध की प्रकृति में अन्तर – परम्परागत दृष्टिकोण व्यवहारवाद द्वारा अपनाई जाने वाली परिष्कृत अध्ययन तकनीकों का विरोध करता है। किन्तु उत्तर व्यवहारवाद इन तकनीकों को अपनाना उचित मानता है। उत्तर व्यवहारवाद, व्यवहारवाद द्वारा तथ्यों को महत्त्व देकर मूल्यों की उपेक्षा करने का विरोध करता है। उत्तर व्यवहारवाद के किसी भी अध्ययन में मूल्य एवं तथ्य दोनों का ही महत्त्व है।

(3) अध्ययन के दृष्टिकोण में अन्तर – परम्परागत दृष्टिकोण राजनीति विज्ञान का अध्ययन मूल्यात्मक दृष्टिकोण से करता है जबकि उत्तर व्यवहारवाद राजनीति विज्ञान के अध्ययन में मूल्यात्मक दृष्टिकोण के साथ ही यथार्थवादी दृष्टिकोण को भी अपनाता है।

(4) विचारधारा की दृष्टि से अन्तर – परम्परागत दृष्टिकोण उत्तर व्यवहारवादी, लोकतांत्रिक विचारधारा के अलावा समग्रतावादी एवं अनुभववादी विचारधाराओं को भी स्वीकार करता है। किन्तु उत्तर व्यवहारवाद केवल उदारवादी लोकतांत्रिक विचारधाराओं को ही मान्यता देता है। परम्परागत दृष्टिकोण की तुलना में उत्तर व्यवहारवाद में उदारवादी मानव मूल्यों के प्रति अधिक प्रतिबद्धता दिखाई पड़ती है।

(5) परिर्वतनों के प्रति दृष्टिकोण में अन्तर– परम्परागत दृष्टिकोण अपनी प्रकृति से अनुदारवादी है इसलिए वह सामाजिक परिवर्तनों के प्रति कम उत्साही है जबकि उत्तर व्यवहारवाद स्पष्ट रु‍प से सामाजिक परिवर्तनों का समर्थक है।

(6) प्रासंगिकता की दृष्टि से अन्तर – परम्परागत दृष्टिकोण की तुलना में उत्तर व्यवहारवाद बहुत अधिक प्रासंगिक है। परम्परागत दृष्टिकोण हमारे युग की सामाजिक राजनीतिक समस्याओं के समाधान के प्रति न तो प्रतिबद्ध है और न ही इन समस्याओं के समाधान में समर्थ ही है। किन्तु उत्तर व्यवहारवाद इन समस्याओं के समाधान के प्रति अपनी प्रतिबद्धता को स्वीकार करता है और इस दृष्टि से राजनीति विज्ञान में शोध की प्रासंगिकता एवं कार्यनिष्ठता पर बल देता है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि परम्परावाद एवं उत्तर व्यवहारवाद में आधारभूत अन्तर हैं। वस्तुतः परम्परावाद राजनीति विज्ञान की यथास्थिति से संतुष्ट है। किन्तु उत्तर व्यवहारवाद राजनीति विज्ञान के निरन्तर विकास में विश्वास रखता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि परम्परावाद अपनी प्रकृति से भूतोन्मुखी है जबकि उत्तर व्यवहारवाद अपनी प्रकृति से भविष्योन्मुखी है।

4. उत्तर व्यवहारवाद की आधारभूत मान्यतायें अथवा प्रमुख विशेषतायें
(Basic Postulates or Salient Features of Post Behaviouralism)

डेविड ईस्टन के अनुसार उत्तर व्यवहारवाद के दो प्रमुख लक्षण हैं, 'शोध की सार्थकता या प्रासंगिकता' **(Relevance)** और क्रियानिष्ठता या कर्म **(Action)**। डेविड ईस्टन ने उत्तर व्यवहारवाद की सात मान्यताओं या विशेषताओं का उल्लेख किया है। जिन्हें प्रासंगिकता के सिद्धान्त **(Credo of Relevance)** कहा जाता है। इनका संक्षिप्त विवरण निम्नानुसार है –

(1) प्रविधि से पूर्व सार – उत्तर व्यवहारवादियों के अनुसार, व्यवहारवादी सारवस्तु की तुलना में तकनीक को प्रधानता देते हैं। उत्तर व्यवहारवादियों का यह मानना है कि सारवस्तु और तकनीक दोनों का साथ–साथ प्रयोग किया जाना चाहिए। जबकि सारवस्तु की उपेक्षा करके व्यवहारवादी प्रायः तकनीक के पीछे भागते रहे हैं। उत्तर व्यवहारवादियों के अनुसार किसी भी अनुसंधान के लिए परिष्कृत उपकरणों का विकास करना उपयोगी है। परन्तु उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात वह उद्देश्य है जिसके लिए इन उपकरणों को प्रयोग में लाया जा रहा है। उत्तर व्यवहारवादियों के अनुसार व्यवहारवादियों को चाहिए कि वे महत्वपूर्ण समसामयिक सामाजिक समस्याओं (सारवस्तु) के साथ प्रयोजनात्मक रूप से अपने शोध कार्य की प्रासंगिकता स्थापित करें और यदि ऐसा करने में उनकी तकनीक बाधक है तो भले ही तकनीक छोड़ें, पर प्रासंगिकता न छोड़ें।

(2) सामाजिक परिवर्तन पर बल – उत्तर व्यवहारवादियों के विचार में व्यवहारवादी अनायास ही परिवर्तन विरोधी (रूढ़िवादी) हो जाते हैं। व्यवहारवादी तथ्यों के वर्णन और विश्लेषण तक ही अपने को सीमित रखते हैं, उन तथ्यों के व्यापक संदर्भ को तथा उनकी सामाजिक प्राथमिकता को समझने की आवश्यकता पर ध्यान नहीं देते। उत्तर व्यवहारवाद व्यापक मूल्यों के संदर्भ में परिवर्तन का समर्थन करता है।

इस प्रकार उत्तर व्यवहारवादी सामाजिक परिवर्तन में सक्रिय भूमिका निभाना चाहते हैं। वे इस दृष्टि से तथ्यों की विस्तृत सामाजिक संदर्भ में व्याख्या करना चाहते हैं ताकि अनुदारवाद का विरोध संभव हो और उदारवादी मूल्यों के अनुसार सामाजिक परिवर्तन की गति को तेज किया जा सके।

(3) समस्याओं के विश्वसनीय निदान की आवश्यकता – उत्तर व्यवहारवादियों के अनुसार राजनीति विज्ञान की पूर्णता इस बात में नहीं है कि उसका मात्र वैज्ञानिकीकरण कर दिया जाये, अपितु उसका पूर्ण विकास एवं उसकी सार्थकता इस तथ्य में निहित है कि वह समकालीन विश्व की राजनीतिक सामाजिक समस्याओं एवं संकटों के हल में यथासम्भव सहयोग दे। इसके लिए जरूरी है कि वह सामाजिक असंतोष, दबावों, तनावों, संघर्षों, सामाजिक विघटन तथा इनके पीछे सक्रिय आकांक्षाओं एवं भावनाओं को समझने का प्रयास करे और इन समस्याओं का समाधान ढूंढने में सहयोग दे।

उत्तर व्यवहारवादियों के अनुसार हमारा युग अनेक विश्वव्यापी समस्याओं से पीड़ित है जैसे आणविक युद्धों का भय, शस्त्रों की दौड़, बढ़ती जनसंख्या तथा गरीबी, बढ़ता प्रदूषण, अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद तथा सामाजिक विघटन आदि। राजनीति विज्ञान का यह दायित्व है कि वह इन समस्याओं से मानव समाज की रक्षा में अपना सक्रिय योगदान दे।

(4) मूल्यों की महत्त्वपूर्ण भूमिका – उत्तर व्यवहारवादी मानते हें कि मानव समाज के लिए केवल उसी ज्ञान का महत्त्व है जो मूल्यों पर आधारित है। मूल्यों की दृष्टि से विज्ञान न तो कभी तटस्थ रहा है और न हो सकता है। अतः ज्ञानार्जन के संदर्भ में मूल्य को पूर्व कथन के रूप में स्वीकारा जाना चाहिए। यदि ज्ञानार्जन में मूल्यों की उपेक्षा की जाती है तो ऐसे अर्जित ज्ञान का प्रयोग मानव समाज के हितों के विरूद्ध किये जाने की सम्भावना बनी रहती है। अतः उत्तर व्यवहारवादियों द्वारा मूल्य निरपेक्ष ज्ञान की अवधारणा को मूलतः मानवता विरोधी मानकर उसका विरोध किया गया है। सामाजिक विज्ञानों का उद्देश्य एक श्रेष्ठ मानव समाज की कल्पना है। अत उन्हें तो मूल्य सापेक्ष ज्ञान ही अर्जित करना चाहिए।

(5) बुद्धिजीवियों की भूमिका – उत्तर व्यवहारवादियों के अनुसार राजनीतिक वैज्ञानिकों के साथ ही बुद्धिजीवियों की भी एक विशिष्ट भूमिका हो। उनका यह बौद्धिक दायित्व है कि वे उदारवादी मानव मूल्यों की रक्षा के प्रति पूर्ण प्रतिबद्ध हों, ताकि मानव सभ्यता और इसकी उपलब्धियों की रक्षा हो सके। व्यवहारवादियों ने बुद्धिजीवियों को मात्र एक ऐसे शोधकर्ता के रूप में चित्रित किया था जो मानव मूल्यों की रक्षा के स्थान पर मूल्य निरपेक्षता के प्रति समर्पित थे। उत्तर व्यवहारवादियों ने व्यवहारवाद के इस पक्ष का विरोध किया। उनके अनुसार बुद्धिजीवियों को ऐसे वस्तुनिष्ठ अनुसंधान पर श्रम व धन बर्बाद नहीं करना चाहिये, जिसका मानव मूल्यों से कोई संबंध न हो। यदि वे मानव मूल्यों के प्रति उदासीन बने रहेंगे तो समाज में बुद्धिजीवियों के नाते उन्हें जो विशिष्ट स्थान एवं महत्त्व प्राप्त है उससे उन्हें वंचित होना पड़ेगा।

(6) कर्मनिष्ठ विज्ञान – उत्तर व्यवहारवादियों का यह आक्षेप है कि व्यवहारवादियों ने शुद्ध वैज्ञानिक अध्ययन के नाम पर सम्पूर्ण राजनीति विज्ञान को मात्र एक मनन विज्ञान (Contemplative Science) में बदल दिया और उसके क्रियात्मक पक्ष की उपेक्षा की है। उनके अनुसार राजनीति विज्ञान अपनी प्रकृति से एक मनन विज्ञान के साथ ही एक कर्म विज्ञान

(Action Science) भी है। अतः उसके इन दोनों पक्षों में उचित समन्वय की आवश्यकता है।

डेविड ईस्टन के अनुसार, 'जानने' का अर्थ है प्राप्त ज्ञान को कर्म रूप में लागू करना और इस प्रकार 'कार्य करने' का अर्थ है समाज के पुनर्निर्माण एवं पुनर्गठन में व्यस्त होना। 'कर्महीन ज्ञान निष्फल' है और ज्ञान का फल 'कर्म' है। उत्तर व्यवहारवादियों के अनुसार राजनीति विज्ञान का उद्देश्य ऐसे ज्ञान की प्राप्ति करना है जो समाज के पुनर्निर्माण में सहायक हो। यद्यपि राजनीति विज्ञान, मनन विज्ञान व कर्म विज्ञान दोनों ही है किन्तु सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से उसके मनन पक्ष की तुलना में कर्म पक्ष का अधिक महत्व है।

(7) व्यवसाय का राजनीतिकरण– उत्तर व्यवहारवादियों के अनुसार व्यवहारवादियों की यह भूल थी कि उन्होंने शुद्ध वैज्ञानिक, शोध के नाम पर राज वैज्ञानिकों एवं बुद्धिजीवियों से संबंधित समस्त संस्थाओं को अपने सामाजिक दायित्वों के प्रति तटस्थ, उदासीन एवं निष्क्रिय बना दिया। किन्तु उत्तर व्यवहारवादियों का यह मानना है कि इन सभी संस्थाओं एवं संघों को अपने सामाजिक दायित्वों के प्रति अत्यधिक समर्पित रहना चाहिए। यदि सभी राज वैज्ञानिकों व बुद्धिजीवियों का यह सामाजिक दायित्व है कि वे सामाजिक पुनर्निर्माण में सक्रिय सहयोग दें तो उनसे संबंधित संघों व संस्थाओं को भी इन सामाजिक दायित्वों को स्वीकार करना होगा। इस दृष्टि से वे 'व्यवसायों के राजनीतिकरण (Politicisation of the Profession) की अनिवार्यता पर जोर देते हैं। जिसका अर्थ है कि राज वैज्ञानिकों व बुद्धिजीवियों से संबंधित संघों, शिक्षण संस्थाओं तथा विश्वविद्यालयों आदि को सामाजिक दायित्वों की पूर्ति के लिए अपनी राजनीतिक प्रतिबद्धता को खुले रूप में स्वीकारना चाहिये। इन संघों व संस्थाओं को विश्वव्यापी राजनीतिक, सामाजिक संघर्ष में उदार मानव– मूल्यों की रक्षा के लिए खुलकर मैदान में आ जाना चाहिये।

डेविड ईस्टन ने इस प्रकार उत्तर व्यवहारवाद के प्रमुख लक्षण अथवा मान्यताएँ गिनाई हैं। उनका मत है कि सभी उत्तर व्यवहारवादी इन बातों से सहमत हों यह आवश्यक नहीं। उन्होंने तो उपर्युक्त विवेचन के आधार पर उत्तर व्यवहारवाद के प्रमुख सूत्रों का एक चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

5. उत्तरव्यवहारवाद तथा व्यवहारवाद की तुलना (Comparison between Behaviouralism and Post Behaviouralism)

अपनी उत्पत्ति से व्यवहारवाद एवं उत्तर व्यवहारवाद दोनों ही आधुनिक राजनीति विज्ञान को अमेरिकी राज वैज्ञानिकों की देन हैं। कुछ विद्वानों ने उत्तर व्यवहारवाद को व्यवहारवाद के प्रति उत्पन्न असंतोष एवं तीव्र बौद्धिक प्रतिक्रिया बताया है जबकि उत्तर व्यवहारवादियों के अनुसार उत्तर व्यवहारवाद व्यवहारवाद में महत्वपूर्ण सुधार है। व्यवहारवाद और उत्तर व्यवहारवाद के बीच अन्तरों को निम्नलिखित रुप में प्रकट किया जा सकता है–

(1) विकास की विभिन्न अवस्थाओं में अन्तर – व्यवहारवाद परम्परागत राजनीतिक दृष्टिकोण के विरुद्ध एक बौद्धिक प्रतिक्रिया है और यह परम्परागत राजनीतिक दृष्टिकोण के आगे राजनीति विज्ञान के विकास को प्रकट करता है। किन्तु उत्तर व्यवहारवाद इसके भी आगे के राजनीतिक विज्ञान के विकास को प्रकट करता है। इस प्रकार ये दोनों आधुनिक राजनीति विज्ञान के विकास की दो भिन्न अवस्थाओं को प्रकट करते हैं।

(2) प्रकृति में अन्तर– व्यवहारवाद परम्परागत राजनीतिक दृष्टिकोण के विरोध में उत्पन्न हुआ किन्तु स्वयं किसी वास्तविक सिद्धान्त के प्रतिपादन में असफल रहा। इस प्रकार व्यवहारवाद की मूल प्रकृति रचनात्मक नहीं है। किन्तु उत्तर व्यवहारवाद अपनी प्रकृति से रचनात्मक है। इसने केवल व्यवहारवाद का विरोध ही नहीं किया बल्कि कुछ नया प्रयोग कर उसका विकास किया है। उत्तर व्यवहारवादियों ने परम्परागत दृष्टिकोण से मूल्य की अवधारणा और व्यवहारवाद से तथ्य की अवधारणा प्राप्त की है। इस प्रकार उत्तर व्यवहारवाद की प्रकृति समन्वयवादी भी है।

(3) दृष्टिकोण में अन्तर – व्यवहारवाद ने राजनीतिक अध्ययन में केवल तथ्यों के महत्त्व को स्वीकारा है और मूल्यों की उपेक्षा की है। जबकि उत्तर व्यवहारवाद ने राजनीतिक अध्ययन में मूल्य एवं तथ्य दोनों के महत्त्व को स्वीकारा है।

(4) मान्यता में अन्तर – व्यवहारवाद ने राजनीति विज्ञान और प्राकृतिक विज्ञान में आधारभूत समानता स्वीकारी है और राजनीति का विज्ञान विकसित करने की असफल कोशिश की है। किन्तु उत्तर व्यवहारवादी राजनीति विज्ञान को प्राकृतिक विज्ञान के समान नहीं मानते उन्होंने राजनीति विज्ञान को एक सामाजिक विज्ञान के रुप में ही मान्यता दी है।

(5) प्रासंगिकता का अन्तर – व्यवहारवाद अपने युग के संदर्भ में अप्रासंगिकता के दोष को धारण किये हुए हैं जबकि उत्तर व्यवहारवाद इस संदर्भ में प्रासंगिकता के गुण से सम्पन्न है। डेविड ईस्टन के अनुसार, उत्तर व्यवहारवाद प्रासंगिकता के सिद्धान्त को मानता है जबकि व्यवहारवाद ने इसकी उपेक्षा की है।

6. उत्तर व्यवहारवाद की आलोचना (Criticism of Post Behaviouralism)

यद्यपि उत्तर व्यवहारवाद ने परम्परागत राजनीतिक दृष्टिकोण तथा व्यवहारवादी दृष्टिकोण के दोषों को समाप्त कर

राजनीति विज्ञान को एक विज्ञान का नया रुप दिया है। फिर भी अनेक आधारों पर इसकी आलोचना की जाती है।

(1) अन्तर्विरोध – उत्तर व्यवहारवादियों ने अपने अध्ययन में मूल्य एवं तथ्य दोनों को महत्त्वपूर्ण माना है। किन्तु इसके कारण उत्तर व्यवहारवाद में अन्तर्विरोध भी पैदा हुए हैं। क्योंकि उत्तर व्यवहारवादी राजनीति विज्ञान के अध्ययन को एक साथ ही मूल्य प्रधान, आदर्शवादी, व्यक्तिनिष्ठ के साथ ही मूल्य निरपेक्ष, यथार्थवादी व वस्तुनिष्ठ भी बनाना चाहते हैं जबकि यह सम्भव नहीं।

(2) अवैज्ञानिक दृष्टिकोण – उत्तर व्यवहारवादी तकनीक से पहले सार को महत्त्व देते हैं। इसका अर्थ हुआ कि वे पहले शोध का उद्देश्य तय करते हैं। फिर इस उद्देश्य की पुष्टि के लिए तकनीक का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार उनका अध्ययन पूर्वाग्रह से ग्रसित होता है। अतः इसे अवैज्ञानिक कहा जा सकता है।

(3) अमरीकी राष्ट्रीय हितों का प्रतिनिधि – व्यवहारवाद की भाँति उत्तर व्यवहारवाद भी अमरीकी राज वैज्ञानिकों की विश्व को देन है। किन्तु व्यावहारिक राजनीति की दृष्टि से दोनो में एक आधारभूत अन्तर है। जहाँ व्यवहारवाद की प्रतिबद्धता अत्यधिक शोध की प्रति थी, वहीं उत्तर व्यवहारवाद की प्रतिबद्धता उस 'प्रासंगिकता' के प्रति है, जिसे अमेरिकी राष्ट्रहितों एवं मूल्यों के संदर्भ में समझा जा सकता है। साथ ही उत्तर व्यवहारवादियों ने 'व्यवसायों के राजनीतिकरण' की जिस आवश्यकता पर बल दिया है, वह विश्व स्तर पर अमेरिका के राष्ट्रीय हितों के प्रति प्रतिबद्धता का आह्वान है।

(4) मात्र उदारवादी मूल्यों का प्रतिनिधि – उत्तर व्यवहारवाद ने 'मानव–मूल्यों' की रक्षा पर बल दिया है। वास्तव में ये मूल्य केवल उदारवादी, राजनीतिक, सामाजिक, विचारधारा से संबंधित मूल्य ही हैं। ये मूल्य समाज एवं समुदायों के ऊपर व्यक्ति की स्वतंत्रता को अधिक महत्त्व देते हैं। उत्तर व्यवहारवादी अपने उदारवादी मूल्यों को ही मानव मूल्य मानते हैं और इन्हें स्वयं सिद्ध एवं शाश्वत मूल्यों के रूप में स्वीकारते हैं, जबकि इन मूल्यों का मात्र अपेक्षित महत्त्व है।

(5) तृतीय विश्व के लिए सीमित महत्त्व – उत्तर व्यवहारवाद ने अपने मानव मूल्यों को लोकतांत्रिक व्यवस्था के अनिवार्य एवं आधारभूत मूल्यों के रूप में प्रस्तुत किया है किन्तु तृतीय विश्व अर्थात् एशिया, अफ्रीका व लेटिन अमेरिकी महाद्वीपों की राजनीतिक अस्थिरता, अधिक विपन्नता, जनसंख्या के विस्फोट से जूझती लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं की दृष्टि से इन मूल्यों का भी सीमित महत्त्व है। इन लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं की पहली आवश्यकता तीव्र आर्थिक विकास के साथ राजनीतिक स्थिरता प्राप्त करना है। अतः ये लोकतांत्रिक व्यवस्थायें विकास के प्रसंग में मूल्यों को महत्त्व देती हैं। जबकि उत्तर व्यवहारवादी मूल्यों पर आधारित विकास पर बल देते हैं। इस प्रकार तृतीय विश्व की लोकतांत्रिक व्यवस्था की दृष्टि से उत्तर व्यवहारवादियों के मत एवं मूल्यों का सीमित महत्त्व है।

अंत में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि अनेक आधारों पर उत्तर व्यवहारवादी दृष्टिकोण की आलोचना की गई है फिर भी इसके महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उत्तर व्यवहारवाद ने परम्परावाद तथा व्यवहारवाद, दोनों के दोषों को छोड़ा है और इनके गुणों में उचित सामंजस्य स्थापित किया है। उदाहरण के लिए परम्परावाद ने शास्त्रीय अध्ययन पद्धतियों और मूल्यात्मक अध्ययन पर बल दिया है। जबकि व्यवहारवाद ने वैज्ञानिक तकनीकों एवं मूल्य निरपेक्ष अध्ययन को भी मान्यता दी है। इन दोनों के विपरीत उत्तर व्यवहारवाद ने मूल्यात्मक अध्ययन व वैज्ञानिक तकनीक दोनों को ही अपनाया है। इसमें परम्परावाद में निहित मूल्य के गुण को और व्यवहारवाद में निहित तथ्य के गुण को महत्व दिया गया है।

इस प्रकार उत्तर व्यवहारवाद राजनीति विज्ञान की संतुलित एवं आधुनिकतम विकास की अवस्था का प्रतिनिधित्व करता है।

महत्वपूर्ण बिन्दु

व्यवहारवाद

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् परम्परागत राजनीति विज्ञान के विरोध में एक व्यापक क्रान्ति हुई इस क्रान्ति को ''व्यवहारवाद'' नाम दिया जाता है।

व्यवहारवाद से अभिप्राय – उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राज्य, समाज एवं मानव का व्यवस्थित अध्ययन विश्वविद्यालय स्तर पर प्रारम्भ हो गया था। इस प्रकार के अध्ययन का सामान्य प्रचलित नाम सामाजिक विज्ञान था किन्तु इस नाम से भ्रम उत्पन्न होता था। अतः सुविधा के लिए सामाजिक विज्ञाान के अन्तर्गत आने वाले सम्पूर्ण विषयों के लिए 'व्यवहारवादी विज्ञान' (Behavioural Science) शब्द का प्रयोग किया जाने लगा। व्यवहारवाद या व्यवहारवादी उपागम राजनीतिक तथ्यों की व्यवस्था और विश्लेषण का एक विशेष तरीका है, जिसे द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् अमरीकी राजनीतिशास्त्रियों द्वारा विकसित किया गया।

व्यवहारवादी उपागम का विकास

व्यवहारवादी अवधारणा का जन्म द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् हुआ। इसके जन्म और विकास में दो तत्त्व सहायक रहे हैं– पहला द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले का अनुभववाद एवं दूसरा द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान राजनीति शास्त्रियों के यथार्थवादी अनुभव। ऐतिहासिक दृष्टि से व्यवहारवाद का प्रारम्भ बीसवीं

शताब्दी के आरम्भ में दिखाई पड़ता है।

शिकागो विश्वविद्यालय के तीन विद्वान, पी.वी. स्मिथ, चार्ल्स मेरियम, तथा हेराल्ड लासवेल को व्यवहारवादी उपागम का संस्थापक कहा जा सकता है। मेरियम तथा लावेल के बाद डेविड ईस्टन, आमण्ड हालमेन, कार्ल डायच तथा एडवर्ड शिल्स आदि ने व्यवहारवादी अध्ययन को आगे बढ़ाया।

व्यवहारवाद के उदय के कारण

व्यवहारवाद के उदय और विकास के लिए प्रमुख तौर पर जिन कारणों को उत्तरदायी माना जा सकता है उनमें परम्परागत अध्ययन पद्धतियों के प्रति असंतोष, अन्य सामाजिक विज्ञानों से प्रेरणा, द्वितीय विश्वयुद्ध का प्रभाव तथा नवीन अध्ययन पद्धतियों का प्रयोग आदि प्रमुख हैं।

व्यवहारवाद के लक्षण अथवा आधारभूत मान्यतायें

डेविड ईस्टन के अनुसार व्यवहारवाद की प्रमुख मान्यतायें या विशेषतायें इस प्रकार हैं :–

(1) नियमन, (2) सत्यापन, (3) तकनीकों का प्रयोग, (4) परिमाणनीकरण, (5) क्रमबद्धीकरण, (6) मूल्य निर्धारण , (7) विशुद्ध विज्ञान, (8) समग्रता

व्यवहारवाद की आलोचना अथवा सीमायें

व्यवहारवाद की अपनी अनेक दुर्बलतायें हैं जिनके कारण इसकी आलोचना की जाती है, जैस :–

(1) राजनीतिक व्यवहार की गलत धारणा, (2) प्राविधिक तकनीकों पर अत्यधिक बल, (3) मूल्य निरपेक्ष अध्ययन सम्भव नहीं, (4) अन्तर्विरोध, (5) अत्यधिक खर्चीली पद्धति।

व्यवहारवाद का योगदान अथवा राजनीति विज्ञान में महत्त्व

(1) नये राजनीति विज्ञान की स्थापना, (2) राजनीति विज्ञान का वैज्ञानीकरण करने का प्रयत्न, (3) विषयवस्तु में परिवर्तन , (4) अन्तर–अनुशासनात्मक दृष्टिकोण की स्थापना, (5) वैकल्पिक धारणायें।

उत्तर– व्यवहारवाद

1960 के दशक की समाप्ति के पहले डेविड ईस्टन द्वारा, जो स्वयं व्यवहारवादी क्रान्ति के प्रमुख प्रतिपादकों में से था, व्यवहारवादी स्थिति पर एक प्रबल आक्रमण किया गया। डेविड ईस्टन ने उत्तर व्यवहारवाद को व्यवहारवाद के प्रति एक प्रतिक्रिया के रूप में नहीं अपितु मूल व्यवहारवादी आन्दोलन में सार्थक सुधार के रूप में स्वीकार किया है।

उत्तर व्यवहारवाद का अभिप्राय

उत्तर व्यवहारवादी राजनीतिक विश्लेषण में 'मूल्यों' को समाविष्ट कर राजनैतिक अध्ययन को औचित्यपूर्णता एवं प्रासंगिकता प्रदान करने के पक्षधर हैं।

वस्तुतः उत्तर व्यवहारवाद एक सुधार आन्दोलन तथा नवीन दिशा संकेत है, जिसके दो आधार हैं 'कर्म' (Action) तथा प्रासंगिकता (Relevance) । यह समाज तथा राज व्यवस्था की तत्कालीन समस्याओं, संकटों और चुनौतियों का अध्ययन करने तथा उनके निदान ढूंढने की माँग करता है। इसका मूल उद्देश्य है – सामाजिक शोध, समाज की आवश्यकता के संदर्भ में प्रासंगिक तथा संगतिपूर्ण होनी चाहिए। उत्तर व्यवहारवाद राजनीतिशास्त्रियों के मूल्य निरपेक्ष या तटस्थ भाव से अध्ययन करने के बजाय स्वयं उनको समाज एवं स्वयं व्यवस्था की रक्षार्थ आगे आने के लिए आह्वान करता है।

उत्तर व्यवहारवादी क्रान्ति के उदय के कारण

(1) व्यवहारवाद के विरूद्ध एक प्रतिक्रिया, (2) अध्ययन पद्धतियों से असहमति, (3) व्यवहारवादी शोध के प्रति असंतोष, (4) विश्व मानवता के प्रति दायित्वों की उपेक्षा।

परम्परावाद और उत्तर व्यवहारवाद में अन्तर

(1) विकास की विभिन्न अवधारणाओं में अन्तर, (2) विरोध की प्रकृति में, (3) अध्ययन के दृष्टिकोण में अन्तर, (4) विचारधारा की दृष्टि से अन्तर, (5) परिर्वतनो के प्रति दृष्टिकोण में अन्तर, (6) प्रासंगिकता की दृष्टि से अन्तर।

उत्तर व्यवहारवाद की आधारभूत मान्यतायें अथवा विशेषतायें

(1) प्रविधि से पूर्व सार, (2) सामाजिक परिवर्तन पर बल, (3) समस्याओं के विश्वसनीय निदान की आवश्यकता, (4) मूल्यों की महत्त्वपूर्ण भूमिका, (5) बुद्धिजीवियों की भूमिका, (6) कर्मनिष्ठ विज्ञान, (7) व्यवसाय का राजनीतिकरण।

उत्तर व्यवहारवाद तथा व्यवहारवाद की तुलना

व्यवहारवाद और उत्तर व्यवहारवाद के बीच अन्तरों को निमनलिखित रूप में प्रकट किया जा सकता है –

(1) विकास की विभिन्न अवस्थाओं में अन्तर, (2) प्रकृति में अन्तर, (3) दृष्टिकोण में अन्तर, (4) मान्यता में अन्तर, (5) प्रासंगिकता का अन्तर।

उत्तर व्यवहारवाद की आलोचना

(1) अन्तर्विरोध, (2) अवैज्ञानिक दृष्टिकोण, (3) अमरीकी राष्ट्रीय हितों का प्रतिनिधि, (4) मात्र उदारवादी मूल्यों का प्रतिनिधि, (5) तृतीय विश्व के लिए सीमित महत्त्व।

महत्वपूर्ण प्रश्न

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न (शब्द सीमा 20 शब्द)

1. व्यवहारवाद के कोई चार लक्षण बताइये।
2. व्यवहारवाद की किन्हीं तीन सीमाओं को गिनायें।
4. व्यवहारवाद की किन्ही दो उपलब्धियों को गिनायें।
5. व्यवहारवाद के किन्हीं दो प्रतिपादकों के नाम बताइये।
6. उत्तर व्यवहारवाद क्या है ?
7. उत्तर व्यवहारवादी क्रान्ति के दो प्रमुख कारण बताइये।
8. उत्तर व्यवहारवाद तथ्य अथवा मूल्य में से किस पर अधिक

जोर देता है ?

9. उत्तर व्यवहारवादी उपागम में मूल्यों की क्या भूमिका है ?
10. उत्तर व्यवहारवाद के दो आधारभूत लक्षण बताइये।
11. व्यवहारवाद एवं उत्तर व्यवहारवाद के बीच दो प्रमुख अन्तर बताइये।

लघूत्तरात्मक प्रश्न (शब्द सीमा 100 शब्द)

1. व्यवहारवाद उपागम क्या है ?
2. व्यवहारवाद के उदय के कारण बताइये।
3. व्यवहारवाद की सीमाओं एवं उपलब्धियों को गिनाइये।
4. किस प्रकार उत्तर व्यवहारवादी राजनीति विज्ञान को एक कर्मनिष्ठ विज्ञान मानते हैं ?
5. उत्तर व्यवहारवाद क्या है ?
6. व्यवहारवाद एवं उत्तर व्यवहारवाद में अन्तर बताइये।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. व्यवहारवाद के प्रमुख लक्षण बताईये।
2. व्यवहारवाद से आप क्या समझते हैं ?व्यवहारवाद के उदय के कारणों का विवेचन कीजिये।
3. व्यवहारवादी उपागम का आलोचनातमक परीक्षण कीजिये।
4. व्यवहारवाद के अर्थ, उद्देश्य एवं सीमाओं का संक्षेप में वर्णन कीजिये।
5. उत्तर व्यवहारवाद से आप क्या समझते हैं ?उत्तर व्यवहारवाद के प्रमुख लक्षण बताईये।
6. व्यवहारवाद और उत्तर व्यवहारवाद में अन्तर बताइये।
7. उत्तर व्यवहारवाद पर एक निबन्ध लिखिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. व्यवहारवादी उपागम मुख्यतः संबंधित होते हैं –
   (अ) राजनीतिक व्यवहार से(ब) संस्थाओं से
   (स) संविधान से (द) राज्य से ( )
2. चार्ल्स मेरियम द्वारा रचित पुस्तक का नाम है –
   (अ) ह्यूमन नेचर इन पोलिटिक्स
   (ब) न्यू आसपेक्ट्स ऑफ पोलिटिक्स
   (स) द पोलिटिकल सिस्टम
   (द) पावर एण्ड सोसायटी ( )
3. व्यवहारवाद का अर्थ है –
   (अ) समाजवाद (ब) उदारवाद
   (स) साम्यवाद (द) अनुभववाद ( )
4. 'कर्म' व 'प्रासंगिकता' संबंधित है –
   (अ) व्यवहारवाद से (ब) उत्तर व्यवहारवाद से
   (स) अराजकतावाद से (द) राजनैतिक विकास से ( )
5. व्यवहारवाद किस प्रकार की अध्ययन की इकाई पर जोर देता है –
   (अ) लघु इकाई (ब) बड़ी इकाई
   (स) लघु एवं बड़ी इकाई
   (द) बड़े–बड़े विषयों के गम्भीर अध्ययन ( )
6. व्यवहारवाद का जनक किसे कहा जाता है –
   (अ) चार्ल्स मेरियम (ब) डेविड ईस्टन
   (स) गास्नेल (द) लासवेल ( )
7. 'तकनीकी से पहले तथ्य' इस पर कौन अधिक जोर देता है–
   (अ) व्यवहारवादी (ब) उत्तर व्यवहारवादी
   (स) मनोवैज्ञानिक (द) अनुभववादी ( )
8. 'प्रासंगिकता का सिद्धान्त किससे संबंधित है ?
   (अ) वैज्ञानिक समाजवाद (ब) उदारवाद
   (स) प्रजातांत्रिक समाजवाद
   (द) उत्तर व्यवहारवाद ( )
9. कर्म तथा प्रासंगिकता पर किसने जोर दिया है ?
   (अ) व्यवहारवाद (ब) उत्तर व्यवहारवाद
   (स) मार्क्सवाद (द) उदारवाद ( )
10. डेविड ईटन ने उत्तर व्यवहारवाद के कितने लक्षण बताये हैं–
    (अ) 7 (ब) 8
    (स) 9 (द) 10 ( )
11. 'प्रविधि से पूर्व सार' पर कौन अधिक बल देता है ?
    (अ) व्यवहारवाद (ब) उत्तर व्यवहारवाद
    (स) अनुभववाद (द) समाजवाद ( )
12. उत्तर व्यवहारवाद का लक्षण नहीं है –
    (अ) कर्मनिष्ठ विज्ञान (ब) प्रविधि से पूर्व सार
    (स) तकनीक पर जोर
    (द) मूल्यों की महत्वपूर्ण भूमिका ( )
13. उत्तर व्यवहारवाद किस पर जोर देता है –
    (अ) राजनीतिक तटस्थता (ब) मूल्य निरपेक्षता
    (स) ज्ञान का क्रियात्मक होना (द) उपर्युक्त सभी ( )
14. उत्तर व्यवहारवाद का लक्षण नहीं है –
    (अ) व्यवसाय का राजनीतिकरण
    (ब) मूल्यों की महत्त्वपूर्ण भूमिका
    (स) सामाजिक परिवर्तन पर बल
    (द) विशुद्ध विज्ञान ( )
15. 1960 की समाप्ति से पहले व्यवहारवादी क्रान्ति के किस प्रमुख प्रतिपादक ने व्यवहारवादी स्थिति पर प्रबल प्रहार किया ?
    (अ) चार्ल्स मेरियम (ब) डेविड ईस्टन
    (स) हेरल्ड लासवेल (द) गास्वेल ( )

उत्तरमाला वस्तुनिष्ठ प्रश्न :

1.(अ) 2.(ब) 3.(द) 4. (ब) 5.(अ) 6(ब) 7.(ब)
8. (ब) 9. (अ) 10. (ब) 11. (स) 12. (स) 13. (द) 14. (ब)

अध्याय –3
राजनीति विज्ञान का अन्य सामाजिक विज्ञानों से सम्बन्ध
(Relation of Political Science with other Social Sciences)

''राजनीति शास्त्र का राजनीतिक अर्थव्यवस्था या अर्थ शास्त्र से गहरा सम्बन्ध है। इसका कानून से संबंध है चाहे वह प्राकृतिक हो अथवा मानवीय, जो कि नागरिकों के आपसी संबंधों को नियमित करता है, वह इतिहास से सम्बन्धित है जो कि इसको आवश्यकता के अनुसार तथ्य बद्ध कर देता है, इसका तत्व ज्ञान या दर्शन शास्त्र और विशेषतया नैतिकता या आचार से सम्बन्ध है, जो कि इसको सिद्धान्त देता है।'' –पॉल जेनेट

मनुष्य एक सामाजिक अथवा राजनीतिक प्राणी है। मनुष्य के जीवन में अनेक पहलू हो सकते हैं यथा – राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और नैतिक। मनुष्य के जीवन के इन विविध पहलुओं का अध्ययन करने के लिए अनेक शास्त्र हैं जैसे– राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, इतिहास आदि। ये शास्त्र मनुष्य के जीवन के किसी न किसी पहलू से सम्बन्धित हैं। इसलिए ये सब सामाजिक शास्त्र हैं और परस्पर एक दूसरे से गहरा संबंध रखते हैं। मानव ज्ञान सामाजिक शास्त्रों तक ही सीमित नहीं है। उसमें प्राकृतिक विज्ञानों जैसे भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, भूगोल, वनस्पति विज्ञान और भूगर्भ शास्त्र इत्यादि का अध्ययन भी शामिल है। प्राकृतिक विज्ञानों और सामाजिक विज्ञानों का भी आपस में गहरा संबंध है। इस संबंध में डॉ. गार्नर ने कहा है, ''हम दूसरे सहायक विज्ञानों का यथावत ज्ञान प्राप्त किये बिना राजनीति विज्ञान एवं राज्य का पूर्ण ज्ञान ठीक उसी प्रकार प्राप्त नहीं कर सकते जिस प्रकार गणित के बिना यंत्र विज्ञान और रसायन शास्त्र के बिना जीव विज्ञान का यथावत् ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।''

राजनीति विज्ञान का सबसे बड़ा गुण सामाजिक विज्ञान की अन्य शाखाओं के निष्कर्षों को ग्रहण करने की तत्परता है। रोढ़ी के अनुसार, ''सम्भवतः राजनीति विज्ञान का सबसे बड़ा गुण उसकी विनम्रता है। अन्य विज्ञानों से शिक्षा लेने की तत्परता और अन्य सहयोगी विज्ञानों के सम्मुख अंतिम और निश्चयात्मक सिद्धान्त बनाने का दावा न करना उसके उन्नत विकास का प्रमाण है।'' राजनीति विज्ञान का सभी सामाजिक विज्ञानों से घनिष्ठ संबंध है। यहाँ कुछ प्रमुख विषयों के साथ उसके सम्बन्ध की चर्चा करेंगे।

1. राजनीति विज्ञान और समाजशास्त्र
(Political Science and Sociology)

राजनीति शास्त्र और समाजशास्त्र परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं और एक–दूसरे पर आश्रित हैं क्योंकि राज्य एक सामाजिक राजनीतिक संस्था है। इन दोनों शास्त्रों की घनिष्ठता को गार्नर ने इन शब्दों में व्यक्त किया है, ''राजनीति सामाजिकता में सन्निविष्ट है और यदि राजनीति शास्त्र समाजशास्त्र से भिन्न है तो इसका कारण विषय के क्षेत्र की व्यापकता है न कि यह कारण कि उसे समाजशास्त्र से अलग करने के लिए किसी प्रकार की सीमायें है। प्रो. कैटलिन का भी यही कथन है कि ''राजनीति शास्त्र और समाज शास्त्र अभिन्न हैं और वास्तव में ये एक वस्तु के दो पहलू हैं।'' किन्तु कुछ अन्य विद्वान इन दोनों में पर्याप्त अन्तर को भी स्वीकार करते हैं।

राजनीति विज्ञान तथा समाजशास्त्र में अन्तर

यद्यपि राजनीति विज्ञान तथा समाजशास्त्र में घनिष्ठ सम्बन्ध है फिर भी गहराई से देखने पर दोनों में अन्तर दिखाई पड़ता है। दोनों शास्त्रों के मध्य भेद को निम्न प्रकार समझा जा सकता है–

(1) क्षेत्र की दृष्टि से अन्तर – समाजशास्त्र का क्षेत्र व्यापक है। समाजशास्त्र के क्षेत्र के अन्तर्गत समस्त सामाजिक संस्थाओं की उत्पत्ति और उनका स्वरूप आ जाता है। राजनीति शास्त्र के अध्ययन का प्रमुख विषय राज्य भी उनमें से एक है जबकि राजनीति विज्ञान केवल राज्य के संगठन और उसकी सत्ता से संबधित मतों का ही अध्ययन करता है।

(2) प्राचीनता में अन्तर– समाजशास्त्र राजनीति विज्ञान की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। समाजशास्त्र संगठित और असंगठित समुदायों का अध्ययन करता है। यह सर्वविदित है कि संगठन से पूर्व असंगठित समाज की स्थिति रही होगी। इस प्रकार निश्चय ही राजनीतिशास्त्र का जन्म समाजशास्त्र के पश्चात हुआ होगा।

(3) दृष्टिकोण में अन्तर– समाजशास्त्र में वैधानिक सम्बंधों के साथ–साथ प्रथाओं, शिष्टाचार तथा नैतिकता आदि के दृष्टिकोण से भी विचार किया जाता है जबकि राजनीति विज्ञान में केवल मनुष्यों के वैधानिक सम्बन्धों का ही अध्ययन किया जाता

है।

(4) विषय वस्तु में अन्तर – समाजशास्त्र में मनुष्य तथा सामाजिक संस्थाओं के विकास तथा उत्पत्ति के कारणों की खोज की जाती है। इस प्रकार समाजशास्त्र के अध्ययन का विषय व्यक्ति तथा समाज है। राजनीति विज्ञान समाजशास्त्र की भाँति सामाजिक तत्त्वों की खोज नहीं करता है वह तो प्रारम्भ से ही यह मानकर चलता है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। साथ ही राजनीति विज्ञान का अध्ययन विषय राज्य है।

(5) यथार्थ और आदर्श का अन्तर– समाजशास्त्र में हम तथ्यों का अध्ययन करते हैं और उसमें हम देखते हैं कि क्या हो चुका है और क्या होने जा रहा है जबकि राजनीति विज्ञान में हम अध्ययन करते हैं कि क्या होना चाहिए। इस प्रकार समाजशास्त्र वर्णनात्मक विषय है जबकि राजनीति विज्ञान आदर्शात्मक विषय है।

राजनीति विज्ञान और सामाजशास्त्र की पारस्परिकता–

(1) समाजशास्त्र की राजनीति शास्त्र को देन– समाजशास्त्र का अध्ययन बहुत विस्तृत है। इसके अन्तर्गत मनुष्य के समस्त सामाजिक संबंधों पर विचार किया जाता है चाहे वे राजनैतिक हों, आर्थिक या नैतिक। इस अर्थ में समाजशास्त्र को अन्य सामाजिक शास्त्रों के समान ही राजनीतिशास्त्र का भी आधार कहा जा सकता है। समाजशास्त्र ने राजनीतिशास्त्र के अध्ययन में अत्यधिक सहायता की है। राज्य की उत्पत्ति, विकास एवं संगठन को समझने में राजनीतिशास्त्र को समाजशास्त्र से अत्यधिक मदद मिली है। वर्तमान काल में राजनीति शास्त्र में राजनीतिक व्यवहार को बहुत अधिक महत्त्व दिया जा रहा है। जिसके अध्ययन में समाजशास्त्रीय अध्ययन पद्धतियाँ अत्यन्त सहायक सिद्ध हुई हैं।

(2) राजनीति शास्त्र की समाजशास्त्र को देन– राजनीतिशास्त्र भी समाजशास्त्र के अध्ययन में सहयोग करता है। राजनीति शास्त्र समाजशास्त्र को वे तथ्य प्रदान करता है जिनकी सहायता से समाजशास्त्र समाज के राजनीतिक जीवन का कुशलतापूर्वक अध्ययन करता है। समाजशास्त्र राज्य की उत्पत्ति, संगठन व कार्य आदि का ज्ञान राजनीतिशास्त्र से ही प्राप्त करता है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि समाजशास्त्र व राजनीति शास्त्र में जहाँ घनिष्ठ संबंध है वहाँ अन्तर भी है। उनकी पारस्परिक घनिष्ठता के संबंध में एच.गिडिंग्स का यह कथन है, ''समाजशास्त्र के प्राथमिक सिद्धान्तों से अनजान व्यक्ति को राजनीतिशास्त्र पढ़ाना वैसा ही है जैसा कि न्यूटन के गति संबंधी नियमों से अनजान व्यक्ति को अंतरिक्ष शास्त्र या ऊष्मा गति को पढ़ाना।'' गिलक्राइस्ट का कथन है, ''राजनीति विज्ञान विशिष्ट शास्त्र है, जबकि समाजशास्त्र एक विस्तृत शास्त्र है।'' बार्कर ने दोनों शास्त्रों के बीच अन्तर को इस प्रकार प्रकट किया है, ''राजनीतिशास्त्र सिर्फ राजनीति के समुदायों का अध्ययन करता है जो एक संविधान द्वारा संयुक्त किये गये हैं और एक ही सरकार के अन्तर्गत हैं। समाजशास्त्र सभी समुदायों का अध्ययन करता है। राजनीतिशास्त्र एक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार कर लेता है कि मनुष्य एक सामाजिक राजनीतिक प्राणी है। वह समाजशास्त्र की भाँति यह बताने का प्रयास नहीं करता कि वह ऐसा प्राणी क्यों है ?''

अन्त में यह कहा जा सकता है कि इन दोनों शास्त्रों का पारस्परिक सहयोग ज्ञान के विकास के लिए आवश्यक है। इन दोनों शास्त्रों का सहयोग ज्ञान की एक नई शाखा के रूप में विकसित हो रहा है जिसे ''राजनीतिक समाजशास्त्र''**(Political Sociology)** का नाम दिया जाता है।

2. राजनीति विज्ञान और इतिहास (Political Science & History)

राजनीति विज्ञान तथा इतिहास में गहरा संबंध है। राजनीति विज्ञान के पिता (विषय) के रूप में इतिहास को जाना जाता है।राजनीति शास्त्र राज्य के अतीत, वर्तमान व भविष्य का अध्ययन करता है। इतिहास समस्त मानव सभ्यता के अतीत का अध्ययन करता है और इस संबंध में राज्य के अतीत का भी अध्ययन करता है। इन दोनो शास्त्रों की घनिष्ठता को सीले ने इन शब्दों से व्यक्त किया है, ''राजनीतिशास्त्र के अभाव में इतिहास फलहीन होता है और इतिहास के अभाव में राजनीति विज्ञान आधारहीन होता है।'' बर्गेस का कहना है, ''यदि इन दोनों शास्त्रों को एक दूसरे से अलग कर दिया जाये तो उनमें से एक मृत नहीं तो अपंग तो जरूर हो जायेगा और शेष दूसरा भी मृग मरीचिका बन जायेगा।''

कुछ विद्वान राजनीति शास्त्र व इतिहास में अन्तर को भी स्वीकारते हैं। अर्नेस्ट बार्कर के अनुसार, ''यद्यपि इतिहास व राजनीति शास्त्र की सीमाएँ आरम्भ से अन्त तक परस्पर संबंधित हैं, किन्तु वे वास्तव में भिन्न व स्वतंत्र शास्त्र हैं।''

इन दोनों शास्त्रों के बीच संबंधों को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है।

राजनीति विज्ञान तथा इतिहास की पारस्परिकता– राजनीति विज्ञान तथा इतिहास विभिन्न रुपों में एक दूसरे पर आश्रित हैं।

(1) इतिहास की राजनीति शास्त्र को देन– इतिहास अतीत की राजनीतिक घटनाओं व तथ्यों का ऐसा संग्रह है जिससे राजनीति शास्त्र में अपने सिद्धान्तों के निर्धारण में सहायता मिलती है। गेटेल के अनुसार ''राजनीतिक संस्थाओं को उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में ही समझा जा सकता है।''

एक विशेष अर्थ में इतिहास राजनीति शास्त्र की प्रयोग शाला के रुप में भी सहायक होता है। अतीत में राजनीतिक क्षेत्र में किये गये कार्यों के परिणाम एवं प्रभाव का विवरण इतिहास में मिलता है। राजनीतिक क्षेत्र की इन घटनाओं को प्रयोग कहा जाता है और इतिहास को प्रयोगशाला कहा जाता है। अतीत में किये गये प्रयोग वर्तमान की समस्याओं को सुलझाने में और भविष्य को सुन्दर बनाने में सहायक होते हैं। लिप्सन का कथन है, ''अपने काल क्रमानुसार अध्ययन से इतिहास राजनीति के विद्यार्थी को एक परिपक्वता और विकास की भावना देता है। इसलिए सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया के लिए अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है।''

(2) राजनीति शास्त्र की इतिहास को देन– हालांकि इतिहास सम्पूर्ण मानव सभ्यता के अतीत का अध्ययन करता है किन्तु इस अतीत में राजनीतिक घटनायें ही प्रमुख होती हैं। यदि इतिहास के क्षेत्र में से राजनीतिक घटनाओं का विवरण निकाल दिया जाये तो वह न केवल नीरस हो जायेगा, बल्कि महत्वहीन भी हो जायेगा। राजनीतिशास्त्र की यह देन इतिहास के प्रत्येक काल में देखी जा सकती है।

राजनीति शास्त्र और इतिहास में भेद– यद्यपि राजनीति विज्ञान और इतिहास परस्पर एक दूसरे पर निर्भर हैं, फिर भी दोनों में कुछ मौलिक अन्तर भी हैं जो निम्नानुसार हैं :–

(1) अध्ययन की पद्धति में अन्तर – दोनों शास्त्रों की अध्ययन पद्धति में अन्तर है। इतिहास मात्र वर्णनात्मक पद्धति का प्रयोग करता है अर्थात् अतीत की घटनाओं का क्रमबद्ध और तटस्थ अध्ययन करता है। किन्तु राजनीति शास्त्र पर्यवेक्षणात्मक व दार्शनिक पद्धतियों का भी प्रयोग करता है।

(2) क्षेत्र का अन्तर – राजनीतिशस्त्र और इतिहास के अध्ययन क्षेत्र में पर्याप्त अन्तर है। राजनीतिशास्त्र मनुष्य के राजनीतिक जीवन तथा राजनीतिक संस्थाओं का ही अध्ययन करता है। किन्तु इतिहास मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन का व समस्त संस्थाओं के अतीत का अध्ययन करता है। इसके अतिरिक्त इतिहास केवल अतीत का ही अध्ययन करता है जबकि राजनीति विज्ञान अतीत, वर्तमान और भविष्य का अध्ययन करता है।

(3) उद्देश्य में अन्तर – इतिहास का उद्देश्य है मात्र अतीत की तटस्थ जानकारी प्राप्त करना जबकि राजनीतिशास्त्र का उद्देश्य है अतीत के अनुभवों से लाभ उठाकर वर्तमान व भविष्य को अधिक सुखद व लाभदायक बनाना। इसके अतिरिक्त इतिहास अतीत की वास्तविक घटनाओं का अध्ययन करता है। अतः उसकी प्रकृति तथ्यात्मक है। किन्तु राजनीतिशास्त्र की प्रकृति आदर्शात्मक है। यह अतीत की राजनीतिक घटनाओं का ही अध्ययन नहीं करता बल्कि वर्तमान की समस्याओं पर भी विचार करता है और भविष्य को उज्ज्वल बनाने की आकांक्षा रखता है।

3. राजनीति शास्त्र व अर्थशास्त्र
(Political Science & Economics)

राजनीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों एक दूसरे पर अत्यधिक प्रभाव डालते हैं। इन दोनों के घनिष्ठ संबंध को गेटेल ने इस प्रकार व्यक्त किया है, ''आर्थिक परिस्थितियाँ राज्य के संगठन, विकास तथा क्रिया कलापों पर प्रभाव डालती हैं और प्रत्युत्तर में राज्य अपने कानूनों द्वारा आर्थिक परिस्थितियों को बदलता है।'' इस संबंध में गार्नर का यह कथन है ''बहुत सी आर्थिक समस्याओं का समाधान राजनीतिक संस्थाओं द्वारा किया जाना आवश्यक है, जबकि दूसरी ओर राज्य से सम्बन्धित बहुत सी समस्याओं की उत्पत्ति का कारण आर्थिक होता है।'' गुरुमुख निहालसिंह के अनुसार, ''प्रारम्भिक दिनों में अर्थशास्त्र को राजनीति विज्ञान की एक शाखा माना जाता था तथा उसके अध्ययन का विषय राज्य के लिए राजस्व प्राप्त करना था। इसी प्रकार इसे 'घरेलू अर्थशास्त्र' की अपेक्षा 'राजनीतिक अर्थशास्त्र' कहा जाता था। राजनीतिक अर्थशास्त्र यह प्रकट करता था कि अर्थशास्त्र राजनीति विज्ञान के अधीन है।''

राजनीति विज्ञान तथा अर्थशास्त्र की पारस्परिकता – राजनीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र की पारस्परिकताओं को निम्नानुसार समझा जा सकता है –

(1) अर्थशास्त्र की राजनीतिशास्त्र को देन– अर्थशास्त्र ने राजनीतिशास्त्र को विभिन्न रुपों में प्रभावित किया है। राज्य की उत्पत्ति व उसके विकास में आर्थिक क्रियाएँ की महत्वपूर्ण भूमिका रही है और आज भी आर्थिक क्रियाऐं राजनीतिक संस्थाओं के विकास में सहायक बन रही हैं। मार्क्स के अनुसार, ''आदिम समाज में जब निजी सम्पत्ति की संस्था उत्पन्न हुई तो राज्य का जन्म हुआ और जब भी समाज के आर्थिक ढांचे में परिवर्तन हुआ तो राज्य के संगठन पर भी उसका प्रभाव पड़ा।''

राज्य के क्रियाकलापों व उसकी नीतियों के पीछे आर्थिक परिस्थितियों का प्रभाव होता है। लास्की के अनुसार, ''किसी भी राज्य में कानूनों की प्रकृति का संबंध उन प्रभावपूर्ण माँगों से होता है जिनका उन्हें सामना करना होता है और यह माँगें साधारण रूप से उस ढंग पर आधारित होती हैं जिससे उन पर शासन में आर्थिक शक्ति का वितरण किया जाता है।

राजनीतिक इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि राजनीतिक क्रान्तियों व युद्धों का प्रमुख कारण भी आर्थिक असंतोष होता है। उदाहरण के लिए 1789 की फ्रांस की क्रान्ति तथा सन् 1917 की सोवियत संघ की साम्यवादी क्रान्ति का मूल कारण तत्कालीन आर्थिक दुरावस्था ही थी। इटली में फासिस्ट तानाशाही, जर्मनी में नाजी तानाशाही तथा स्पेन में गृहयुद्ध आदि का प्रमुख कारण आर्थिक असंतोष को बताया जा सकता है। प्रथम व द्वितीय विश्वयुद्ध का मूल कारण पूंजीवादी व्यवस्था में निहित है। इसी प्रकार पश्चिमी पाकिस्तान के आर्थिक शोषण ने पूर्वी पाकिस्तान में विद्रोह को जन्म दिया और वह बांग्लादेश के रुप में स्वतंत्र राज्य बन गया।

(2) राजनीतिशास्त्र की अर्थशास्त्र को देन– राजनीति शास्त्र भी अपने ढंग से अर्थशास्त्र को प्रभावित करता है। राज्य की नीतियाँ समाज के आर्थिक ढांचे व व्यवस्थित रुप को निर्धारित करती हैं। राज्य की नीति के अनुसार ही वस्तुओं के उत्पादन व वितरण की प्रणाली निश्चित की जाती है। समाज के आर्थिक विकास पर प्रशासन के स्तर का भी स्पष्ट प्रभाव पड़ता है। यदि प्रशासनिक ढांचा उच्च स्तर का है और अपने दायित्वों को कुशलतापूर्वक निभाने में समर्थ है तो आर्थिक विकास शीघ्र होगा और यदि प्रशासनिक ढांचा भ्रष्ट है तो आर्थिक विकास शीघ्र नहीं होगा। हालांकि युद्ध एक सैनिक व राजनैतिक गतिविधि है किन्तु इसका भी प्रभाव समाज के आर्थिक ढांचों पर पड़ता है। युद्ध के कारण संबंधित राज्यों का सैनिक व्यय बढ़ जाता है और आर्थिक प्रगति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

(3) विषय वस्तु की समानता– इन दोनों शास्त्रों के बीच घनिष्ठता का एक अन्य आधार दोनों की विषय वस्तु की साम्यता है। जैसे– साम्यवाद, समाजवाद, पूंजीवाद तथा सार्वजनिक वित्त आदि अर्थशास्त्र तथा राजनीति विज्ञान दोनों के ही अध्ययन की विषय वस्तु हैं।

राजनीति विज्ञान तथा अर्थशास्त्र में भेद– राजनीति विज्ञान तथा अर्थशास्त्र के मध्य भेद को निम्नानुसार व्यक्त किया जा सकता है :–

(1) अध्ययन विषय में अन्तर– अर्थशास्त्र का सम्बन्ध मनुष्य के आर्थिक जीवन से है जबकि राजनीति विज्ञान का सम्बन्ध मनुष्य के राजनीतिक जीवन से है। आइवर ब्राउन का कथन है, ''अर्थशास्त्र का संबंध मुख्यतः वस्तुओं से होता है और राजनीति शास्त्र का व्यक्तियों से'' इसके अतिरिक्त राजनीति शास्त्र के अध्ययन क्षेत्र में वे सब विषय आते हैं जो मानव कल्याण के लिए आवश्यक हैं और इस दृष्टि से स्वयं अर्थशास्त्र भी उसके क्षेत्र में आता है किन्तु अर्थशास्त्र का क्षेत्र इतना व्यापक नहीं है।

(2) प्रकृति में अन्तर दोनों शास्त्रों की प्रकृति में भी पर्याप्त अन्तर है। राजनीति विज्ञान आदर्शात्मक विज्ञान है किन्तु अर्थशास्त्र मात्र वर्णनात्मक विज्ञान है। राजनीति शास्त्र सामाजिक व नैतिक मूल्यों की दृष्टि से विचार करता है जबकि अर्थशास्त्र मात्र भौतिक दृष्टि से विचार करता है।

(3) उद्देश्य में अन्तर– अर्थशास्त्र व्यक्ति का अध्ययन धन के संदर्भ में करता है जबकि राजनीति विज्ञान व्यक्ति का व्यक्ति के रुप में ही अध्ययन करता है।

(4) क्षेत्र की दृष्टि में अन्तर– राजनीति विज्ञान का क्षेत्र अर्थशास्त्र की अपेक्षा व्यापक है क्योंकि वह सामाजिक जीवन के आर्थिक पहलू के साथ–साथ अन्य पहलुओं जैसे–सांस्कृतिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा नैतिक आदि से भी संबंध रखता है। जबकि अर्थशास्त्र में प्रमुख रूप से आर्थिक समस्याओं का ही अध्ययन किया जाता है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि जहाँ राजनीति विज्ञान और अर्थशास्त्र में घनिष्ठता है वहीं उनमें आधारभूत अन्तर भी हैं। इन दोनों के भेद को गिलक्राइस्ट ने इन शब्दों में व्यक्त किया है, ''राजनीति शास्त्र राज्य का विज्ञान है, अर्थशास्त्र सम्पत्ति का विज्ञान है।'' इनकी घनिष्ठता के संबंध में चार्ल्स बियर्ड ने कहा है, ''अर्थशास्त्र के बिना राजनीति शास्त्र अवास्तविक व महत्त्वहीन रचना मात्र है।''

4. राजनीति विज्ञान और नीति शास्त्र (Political Science and Ethics)

राजनीतिशास्त्र और नीतिशास्त्र में परस्पर घनिष्ठ संबंध है। इसका सहज कारण यह है कि हम राजनीतिक कार्यों के औचित्य का निश्चय नीतिशास्त्र की मान्यताओं के आधार पर ही करते हैं।

फॉय का कथन है, ''यदि कोई बात नैतिक दृष्टि से गलत है तो वह राजनीतिक दृष्टि से भी सही नहीं हो सकती।'' इन दोनों की घनिष्ठता को गाँधी जी ने इस प्रकार व्यक्त किया है, ''धर्महीन राजनीति, राजनीति नहीं होती है, धर्महीन राजनीति मृत्युजाल है क्योंकि वह आत्मा के पतन का कारण बनती है।'' किन्तु दूसरी ओर हॉब्स व मैकियावली जैसे विचारक यह मानते हैं कि राजनीति और नैतिकता में न तो कोई घनिष्ठता होती है और न होनी चाहिए।

राजनीति विज्ञान व नीतिशास्त्र की पारस्परिकता– राजनीति विज्ञान व नीतिशास्त्र की पारस्परिकता को निम्नानुसार समझा जा सकता है–

(1) नीतिशास्त्र की राजनीतिशास्त्र को देन– अत्यन्त प्राचीन समय से ही विभिन्न राजनीतिशास्त्रियों का यह विचार रहा है कि राजनीतिशास्त्र को नीतिशास्त्र का अनुसरण करना चाहिए। अरस्तू के अनुसार, ''राज्य सद्जीवन की प्राप्ति के लिए ही अस्तित्व में है।'' प्लेटो के अनुसार ''राज्य विवेक व आवश्यकताओं पर आधारित संगठित व्यक्तियों का ऐसा समुदाय है जिसका उद्देश्य नैतिक लक्ष्यों की प्राप्ति है।'' लॉर्ड एक्टन के शब्दों में, ''राजनीतिशास्त्र नैतिक सिद्धान्त के बिना व्यर्थ है।''

यद्यपि राज्य के पास असीमित विधिक प्रभुसत्ता है, फिर भी व्यवहार में राज्य ऐसे कानूनों को लागू नहीं कर सकता जिनके पीछे नैतिक बल न हो। क्योंकि नैतिकताविहीन कानून विद्रोहों व आन्दोलनों को जन्म देते हैं। महात्मा गाँधी का भी यह कहना है, ''कानून नैतिकता पर आधारित होना चाहिये और यदि कानून नैतिकताविहीन है तो नागरिकों को कानून की सविनय अवज्ञा का अधिकार है।'' गेटेल के अनुसार, ''जब नैतिक विचार स्थाई और प्रचलित हो जाते हैं तो कानून का रूप ले लेते हैं।''

(2) राजनीतिशास्त्र की नीतिशास्त्र को देन– राजनीतिशास्त्र ने भी नीतिशास्त्र को विभिन्न रूपों में प्रभावित किया है। राजनीतिशास्त्र उस व्यावहारिक वातावरण को जन्म देता है जिनमें समाज नैतिक जीवन व्यतीत कर सके। राज्य शांतिव्यवस्था की स्थापना करता है। अनैतिक व्यक्तियों से नैतिक व्यक्तियों की रक्षा करता है।

प्रत्येक समाज में अनेक कुरीतियाँ परम्परागत नैतिक मूल्यों के रुप में उपस्थित रहती हैं जो कि समाज की प्रगति में बाधक होती हैं। राज्य इस प्रकार की अवास्तविक नैतिक मान्यताओं को समाप्त करता है और उसके स्थान पर विवेकपूर्ण नैतिक मूल्यों को कानून की सहायता से स्थापित करता है।

हींगल और बोसांके जैसे विचारकों का मत है कि राज्य स्वयं नैतिकता का मूर्त रुप है जो कि नैतिकता का निर्धारण करता है। राज्य नैतिकता से ऊपर है और सही अर्थ में वह नैतिक भावना व मूल्यों को जन्म देता है।

राजनीति विज्ञान व नीतिशास्त्र में अन्तर– प्लेटो, अरस्तू, फॉय, लार्ड एक्टन, हीगल, मानटेस्क्यू तथा महात्मा गाँधी जैसे विचारक जहाँ राजनीतिशास्त्र व नीतिशास्त्र के मध्य घनिष्ठता को स्वीकारते हैं। वहीं मेकियावली, बोदां, ग्रेशियस तथा हॉब्स आदि विचारकों ने इन दोनों के बीच पर्याप्त अन्तर को मानते हुए इनके पारस्परिक संबंध को स्वीकार नहीं किया।

इन दोनों के मध्य भेद को निम्न बिन्दुओं द्वारा समझा जा सकता है –

(1) क्षेत्र की दृष्टि से– अध्ययन क्षेत्र की दृष्टि से नीतिशास्त्र राजनीति की तुलना में अधिक व्यापक है। राजनीतिशास्त्र केवल राजनीतिक क्रियाओं का अध्ययन करता है और वह नैतिक जीवन से परोक्ष रूप से संबंधित है। नीतिशास्त्र सम्पूर्ण सामाजिक वैयक्तिक जीवन से संबंधित है।

(2) प्रकृति में अन्तर– राजनीतिशास्त्र नीतिशास्त्र की तुलना में अधिक वर्णनात्मक और व्यावहारिक शास्त्र है जबकि

नीतिशास्त्र आदर्शात्मक व सैद्धान्तिक शास्त्र है। राजनीतिशास्त्र में मूर्त व प्रत्यक्ष बातों का अध्ययन किया जाता है जबकि नीतिशास्त्र अमूर्त व अप्रत्यक्ष बातों का अध्ययन करता है।

(3) भौतिक व नैतिक बल की दृष्टि से अन्तर– राजनीतिक आदेशों व कानूनों के पीछे राज्य की भौतिक शक्ति या प्रबुद्ध शक्ति होती है किन्तु नैतिक मूल्यों व नियमों के पीछे केवल नैतिक बल होता है।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि राजनीति विज्ञान व नीतिशास्त्र में परस्पर घनिष्ठता होते हुए भी कुछ आधारभूत और महत्वपूर्ण अन्तर भी हैं।

5. राजनीति विज्ञान और मनोविज्ञान (Political Science and Psychology)

मनोविज्ञान व्यक्ति के मन की क्रियाओं तथा उसके बाह्य व्यवहार का अध्ययन है। यह विज्ञान विभिन्न मानसिक अवस्थाओं में मनुष्य के आचरण पर प्रभाव डालता है। बुडवर्थ के अनुसार, ''मनोविज्ञान व्यक्ति से संबंधित क्रियाओं का पारस्परिक विज्ञान है।'' स्काउट के अनुसार, ''मनोविज्ञान व्यक्ति की उन आन्तरिक शक्तियों का अध्ययन करता है, जो मनुष्य को अपने जीवन में अनुभव करने, विचार करने तथा इच्छा करने की योग्यता प्रदान करती हैं।'' राजनीति विज्ञान का मनोविज्ञान के साथ सम्बन्ध दिन प्रतिदिन घनिष्ठ होता जा रहा है। मनोविज्ञान विभिन्न परिस्थितियों में मनुष्य के व्यवहार का अध्ययन है और मानवीय व्यवहार और प्रकृति को समझे बिना राजनीति विज्ञान का अध्ययन ठीक प्रकार से नहीं किया जा सकता। गार्नर के अनुसार, ''सरकार को स्थिर और लोकप्रिय होने के लिए अपने अधीन व्यक्तियों के मानसिक विचारों को अभिव्यक्त करना चाहिए।''

इन दोनों शास्त्रों की घनिष्ठता को सर्वप्रथम बैजहॉट ने 1873 में प्रकाशित अपनी पुस्तक, ''फिजिक्स एण्ड पॉलिटिक्स'' में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया था। इसके बाद यह विचार निरन्तर लोकप्रिय होता गया और वर्तमान समय में इस दृष्टि से ली बोन (Le Bon), मेकड्यूगल (MC Dougall), ग्राह्म वालेस (G. Wallas), टार्डे (Tarde), दुर्खीम (Durkheim), आदि नाम विशेष उल्लेखनीय हैं, जो इन दोनों शास्त्रों की घनिष्ठता को स्वीकार करते हैं। किन्तु कुछ विद्वान इन दोनों शास्त्रों के बीच पर्याप्त अन्तर को भी स्वीकार करते हैं। इन दोनों शास्त्रों के मध्य संबंध को निम्नानुसार समझा जा सकता है –

राजनीति विज्ञान और मनोविज्ञान की पारस्परिकता – राजनीति विज्ञान और मनोविज्ञान परस्पर अनुपूरक व सहयोगी हैं। इन दोनों की पारस्परिकता को निम्नानुसार समझा जा सकता है –

(1) मनोविज्ञान की राजनीतिशास्त्र को देन– वर्तमान राजनीतिशास्त्री यह मानते हैं कि मनोविज्ञान वास्तविक अर्थों में राजनीति शास्त्र को आधार प्रदान करता है। ब्राइस का कथन है, ''राजनीति शास्त्र की जड़ें मनोविज्ञान में निहित हैं।'' इसका अर्थ है कि राजनीतिक समस्याओं का अध्ययन सामाजिक मनोविज्ञान के संदर्भ में किया जाना चाहिए।

राजनीति में मनोवैज्ञानिक तथ्यों की उपयोगिता को स्वीकारते हुए वर्तमान राजनीति शास्त्री मनोवैज्ञानिक अध्ययन पद्धति के प्रयोग पर जोर देने लगे हैं। यह पद्धति किसी राष्ट्र की जनता के राजनीतिक व्यवहार का विश्लेषण करती है और इससे उपलब्ध मनोवैज्ञानिक तथ्यों का राजनीतिशास्त्र में उपयोग किया जाता है। मनोवैज्ञानिक पद्धति बताती है कि मनुष्य के राजनीतिक व्यवहार के पीछे बुद्धि, तर्क व विवेक के स्थान पर अबुद्धिवादी भावनाओं, आदतों, प्रवृत्तियों तथा अनुकरणों के संकेत आदि तत्वों का विशेष महत्व होता है।

यह विश्वास किया जाता है कि जब शासन की नीतियाँ जनता के मनोविज्ञान के अनुसार निर्धारित की जाती हैं तो जन असंतोष जन्म नहीं लेता और क्रान्ति की सम्भावना भी सीमित हो जाती है। किन्तु जब शासन जनता के मनोविज्ञान की उपेक्षा करता है तो क्रान्ति और जन आन्दोलन जन्म लेते हैं। फ्रांस की 1789 की क्रान्ति के मूल में शासकों द्वारा जनता के मनोविज्ञान की उपेक्षा निहित थी।

(2) राजनीति शास्त्र की मनोविज्ञान को देन– राजनीति शास्त्र भी मनोविज्ञान को प्रभावित करता है। राजनीति शास्त्र मनोविज्ञान को राजनीतिक क्रियाकलापों से संबंधित अध्ययन सामग्री प्रदान करता है। जिससे मनोविज्ञान और भी अधिक समृद्ध हो जाता है। प्रत्येक देश की शासन व्यवस्था का वहाँ की जनता के विचारों व आचरण पर प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व नाजी, जर्मनी, फासिस्ट इटली तथा जापान की अधिनायकवादी व्यवस्थाओं ने इन देशों की जनता को साम्राज्यवादी व युद्धप्रिय बनाया था। किन्तु आज इन देशों में लोकतंत्र है और इनकी जनता शांतिप्रिय और मानवतावादी है।

राजनीति विज्ञान और मनोविज्ञान में अन्तर– दोनों शास्त्रों के बीच उपरोक्त घनिष्ठ संबंध होने के बावजूद निम्नलिखित अन्तर भी हैं –

(1) अध्ययन क्षेत्र की दृष्टि से– मनोविज्ञान व्यक्ति की समस्त मानसिक क्रियाओं का अध्ययन आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से कर सकता है। किन्तु राजनीतिशास्त्र मात्र बाह्य राजनीतिक क्रियाओं का अध्ययन करता है।

(2) प्रकृति की दृष्टि से– मनोविज्ञान एक यथार्थवादी विज्ञान है जबकि राजनीति विज्ञान यथार्थवादी होने के साथ ही आदर्शवादी भी है। मनोविज्ञान, मनुष्य की मनोवृत्ति 'क्या थी' और 'क्या है' का अध्ययन करता है। किन्तु यह विचार नहीं करता है कि उसे 'क्या होना चाहिये।' किन्तु राजनीतिशास्त्र राजनीतिक जीवन के संदर्भ में 'क्या था', 'क्या है', तथा 'क्या होना चाहिए' का भी अध्ययन करता है।

(3) आधारभूत धारणा की दृष्टि से– मनोविज्ञान मनुष्य को मूल रुप में एक ऐसा मानव मानता है जो बुद्धि के स्थान पर भावनाओं के आवेग व संवेग से संचालित होता है। इसके विपरीत राजनीति शास्त्र मनुष्य को मूलतः बुद्धि सम्पन्न विवेकशील एवं सभ्य प्राणी मानकर चलता है।

(4) विकास की दृष्टि से– विद्वानों का विचार है कि राजनीतिशास्त्र एक अतिप्राचीन शास्त्र है और उसका पर्याप्त विकास भी हो चुका है। किन्तु मनोविज्ञान एक नवीन शास्त्र है और मोरिस लिन्सबर्ग **(Morris Linsverg)** के अनुसार तो यह अपने विकास की अवस्थाओं में ही है। इसका विकास वैयक्तिक अनुभवों के आधार पर सामान्यीकरण तक ही हुआ है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि राजनीतिशास्त्र और मनोविज्ञान में जहाँ अत्यधिक घनिष्ठ संबंध है वहीं इनमें आधारभूत अंतर भी है। वस्तुतः राजनीति विज्ञान में मनोविज्ञान की पद्धति के प्रयोग की एक सीमा है।

6. राजनीति विज्ञान और दर्शनशास्त्र (Political Science & Philosophy)

दर्शनशास्त्र जीवन और जगत की प्रकृति और उसके मूल संबंधी मानव की खोज से संबंधित शास्त्र है। ये उन सिद्धान्तों का अध्ययन करता है जिनका प्रतिपादन सृष्टि, जीवन और जगत के संबंध में किया गया है।

राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत अध्ययन किये जाने वाले 'राजनीतिक जीवन' और 'राजनीतिक विश्व' उस विश्व का ही भाग है, जिसकी प्रकृति और जिसके मूल की खोज दर्शनशास्त्र के अध्ययन का विषय है। इस दृष्टि से इन दोनों विषयों का परस्पर संबंध होना स्वाभाविक है। इन दोनों के पारस्परिक संबंधों को निम्नानुसार समझा जा सकता है।

राजनीति विज्ञान और दर्शन शास्त्र की पारस्परिकता– राजनीति विज्ञान और दर्शनशास्त्र में अनेक समानतायें हैं जिन्हें निम्नानुसार व्यक्त किया जा सकता है –

(1) उद्देश्यों की समानता– दर्शन शास्त्र का उद्देश्य इस बात की खोज करना है कि सृष्टि क्या है, विश्व क्या है और इन सबके मूल में क्या है। राजनीति विज्ञान का उद्देश्य भी राज्य और राजनीतिक जीवन के स्वरूप तथा उसके मूल की खोज करना है। ये दोनों ही विषय अपने अध्ययन के विषय के मूल और उसकी प्रकृति का अध्ययन करने के लिए प्रयत्नशील है। इस प्रकार दोनों विषयों का उद्देश्य समान है।

(2) अध्ययन के स्वरूप की समानता– दर्शन शास्त्र सैद्धान्तिक और वैचारिक अध्ययन का विषय है। जीवन की प्रकृति और उसका मूल तत्त्व चेतन, अचेतन, द्वैतवाद आदि उसके अध्ययन विषय के प्रमुख तत्त्व हैं। यद्यपि राजनीति विज्ञान का समस्त अध्ययन विषय मात्र सैद्धान्तिक और वैचारिक नहीं है और आज राजनीति विज्ञान में व्यावहारिक राजनीति के अध्ययन पर अधिक बल दिया जाता है, लेकिन आज भी सैद्धान्तिक अध्ययन इस विषय के सम्पूर्ण अध्ययन का एक प्रमुख भाग बना हुआ है। राज्य की उत्पत्ति, राज्य का उद्देश्य, स्वतंत्रता, समानता, विधि सम्प्रभुता और ऐसी अनेक राजनीतिक धारणाओं और राजनीतिक विचारधाराओं का अध्ययन इस विषय में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

(3) अध्ययन पद्धति की समानता– दर्शन शास्त्र की अध्ययन पद्धति दार्शनिक पद्धति है। राजनीति विज्ञान की प्रमुख रूप से दो अध्ययन पद्धतियाँ हैं। पहली आनुभविक वैज्ञानिक पद्धति, जिसके अन्तर्गत तुलनात्मक, पर्यवेक्षणात्मक और वैज्ञानिक आदि विभिन्न पद्धतियों को अपनाया जाता है। दूसरी, दार्शनिक पद्धति, प्लेटो, थॉमस मूर, रूसो, हीगल, ग्रीन तथा बोसांके आदि ने प्रमुख रूप से दार्शनिक पद्धति का प्रयोग किया है। आनुभविक वैज्ञानिक पद्धति को अपनाने वाले विचारक भी किसी न किसी रूप में तर्क और कल्पना का सहारा लेते हैं।

राजनीति विज्ञान और दर्शन शास्त्र में अन्तर– दोनों विषयों में घनिष्ठ संबंध होते हुए भी कुछ अन्तर हैं जो कि निम्नानुसार हैं –

(1) दर्शन शास्त्र सम्पूर्ण जीव जगत और सृष्टि के नियामक तत्त्व का अध्ययन करता है लेकिन राजनीति विज्ञान के अध्ययन का क्षेत्र मुख्य रूप से मनुष्य का राजनीतिक जीवन और राजनीतिक विश्व है।

(2) दर्शनशास्त्र की मूल प्रकृति सैद्धान्तिक और वैचारिक है। किन्तु राजनीति विज्ञान की प्रकृति सैद्धान्तिक और वैचारिक ही नहीं है, बल्कि व्यावहारिक अध्ययन और तथ्यात्मक विश्लेषण भी उसकी प्रकृति का एक प्रमुख अंग हैं।

(3) राजनीति विज्ञान का संबंध मुख्यतया साकार, मूर्त और प्रत्यक्ष से है जबकि दर्शनशास्त्र का संबंध मुख्यतया निराकार अमूर्त व अप्रत्यक्ष से है।

7. राजनीति विज्ञान और भूगोल (Politcal Science & Geography)

भूगोल का संबंध भूमि, वायु, वर्षा, खनिज पदार्थ, कृषि, समुद्र, नदी तथा पहाड़ इत्यादि से होता है। भूगोल उन प्राकृतिक दशाओं का वर्णन करता है जिनका मनुष्य के जीवन पर विशेष प्रभाव पड़ता है। राज्य के निर्माणकारी तत्त्वों में भूखण्ड एक महत्वपूर्ण तत्त्व है और भूगोल के अध्ययन के विषय भी भूखण्ड अर्थात् पृथ्वी, जल तथा वायु होते हैं। अतः भूगोल और राजनीति विज्ञान परस्पर घनिष्ठ रूप से संबद्ध होते हैं। इन दोनों के संबंधों को निम्नानुसार समझा जा सकता है।

राजनीति विज्ञान और भूगोल की पारस्परिकता– अरस्तू, ने सबसे पहले इस बात का प्रतिपादन किया था कि जलवायु, भूमि, समुद्र तट, पहाड़ और नदियाँ तथा खाड़ियाँ आदि, राजनीतिक इतिहास तथा किसी देश की सभ्यता और संकृति पर अमिट छाप छोड़ देती हैं। बोदां ने राजनीति विज्ञान तथा भूमि के संबंध की घनिष्ठता पर बल दिया है। मान्टेस्क्यू का कथन था ''ठण्डे देशों के लिए राजनीतिक स्वतंत्रता तथा गर्म देशों के लिए दासता स्वाभाविक है।'' रूसो ने अठारहवीं शताब्दी में जलवायु तथा सरकार के स्वरूप में संबंध स्थापित करते हुए कहा है कि ''गर्म जलवायु निरकुंश शासन के लिए, ठण्डी जलवायु बर्बरता के लिए और सम जलवायु अच्छे जनतंत्रीय शासन के लिए उपयुक्त होती है। ''थॉमस बक्ल'' के अनुसार, ''किसी देश के लोगों के चरित्र और उनकी राजनीतिक संस्थाओं को निर्धारित करने वाला सबसे प्रमुख तत्त्व, उसकी भौगोलिक एवं भौतिक परिस्थिति है।'' ब्लंटशली, रायटर और मेकाईवर आदि आधुनिक विद्वानों ने भी राजनीतिक जीवन पर भौगोलिक परिस्थितियों के प्रभाव के महत्त्व को स्वीकार किया है।

किसी भी देश के समाज की राजनीतिक समस्याओं तथा जीवन को समझने के लिए वहाँ के भूगोल का पर्याप्त ज्ञान होना आवश्यक है। भूगोल न केवल राष्ट्र की गृहनीति को प्रभावित करता है बल्कि उसकी विदेश नीति को भी प्रभावित करता है। अमेरिका और रूस की राष्ट्रीय शक्ति में वृद्धि का कारण उनकी प्राकृतिक सम्पदा और विभिन्न पदार्थों की बहुतायत रहा है।

अपनी भौगोलिक स्थिति खनिज पदार्थों की बहुतायत

एवं पेट्रोल के विशाल भण्डार के कारण आज पश्चिमी एशिया के देश अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के केन्द्र बन गये हैं। स्विट्जरलैण्ड में प्रत्यक्ष लोकतंत्र की सफलता का कारण वहाँ की भौगोलिक स्थिति है। भूटान और नेपाल जैसे देशों का राजनीतिक दृष्टि से पिछड़ा होना प्राकृतिक साधनों की दृष्टि से उनके असम्पन्न होने के कारण है। भूगोल के बढ़ते महत्व के कारण 'भू–राजनीति' (Geopolitics) नाम से एक नये विषय का निर्माण हुआ है जो भौगोलिकता के राजनीतिक प्रभावों का उल्लेख करता है।

राजनीति विज्ञान तथा भूगोल में अन्तर– भूगोल तथा राजनीति विज्ञान में पारस्परिकता होते हुए भी दोनों में निम्नानुसार अन्तर है –

(1) विषय वस्तु में अन्तर – भूगोल के अन्तर्गत विभिन्न देशों की प्राकृतिक दशा, जलवायु तथा वनस्पति आदि का अध्ययन किया जाता है जबकि राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत राज्य, सरकार तथा विधि का अध्ययन किया जाता है।

(2) प्रकृति में अन्तर – भूगोल ठोस तथ्यों से सम्बन्धित विज्ञान है जबकि राजनीतिशास्त्र तथ्यों के साथ–साथ आदर्श का चित्रण भी करता है।

(3) निश्चितता में अन्तर– भूगोल एक निश्चित विज्ञान है तथा उसके नियमों में निश्चितता रहती है। जबकि राजनीति विज्ञान अनिश्चित विज्ञान की श्रेणी में आता है।

8. राजनीति विज्ञान और गणना शास्त्र (Political Science and Statistics)

गणनाशास्त्र का भी राजनीति विज्ञान के साथ निकट संबंध है। राजनीति विज्ञान द्वारा प्राप्त तथ्यों को गणना द्वारा ही अभिव्यक्त किया जाता है। कानून का निर्णय करने में, नीति का निर्धारण करने में तथा राजशक्ति का प्रयोग करने में गणनाशास्त्र का ही क्रियात्मक प्रयोग होता है। जब कोई विषय व्यवस्थापिका के सम्मुख विचारार्थ उपस्थित होता है तो गणनाशास्त्र की सहायता से ही उसके पक्ष या विपक्ष में विचार किया जा सकता है। अल्पसंख्यक जातियों का प्रश्न, अनेक देशों में विद्यमान है। इनके प्रति राज्य किस नीति का अनुसरण करे यह महत्वपूर्ण प्रश्न है। अल्पसंख्यकों के संबंध में एक उपयोगी नीति का निर्धारण करने से पूर्व यह जानना आवश्यक होगा कि उनकी कुल जनसंख्या कितनी है, उनकी शिक्षा का स्तर क्या है, तथा धर्म, नस्ल एवं भाषा की दृष्टि से बहुसंख्यकों से उनका कितना भेद है। इन सब बातों का ज्ञान गणनाशास्त्र से ही संभव है। सरकार जब कानून बनाती है तथा जिस नीति का अनुसरण करती है और जो कार्य करती है उनका क्या परिणाम होता है। इसका आकलन भी गणनाशास्त्र की सहायता से ही होता है।

शिक्षा एवं स्वास्थ्य की दिशा में सरकार द्वारा किये गये प्रयासों के परिणामस्वरूप शिक्षा में कितने प्रतिशत की वृद्धि हुई ?रोगों में कितने प्रतिशत की कमी हुई ?इस तथ्य का ज्ञान भी गणनाशास्त्र द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। यही कारण है प्रायः सभी राज्यों की सरकारें गणनाशास्त्र को बहुत महत्व देती हैं। जन्म, मरण, विवाह, तलाक आदि विविध विषयों की गणनायें राज्य की नीति का निर्धारण करने में बहुत सहायक होती हैं।

आज 'राजनीतिक अर्थशास्त्र', 'राजनीतिक इतिहास', राजनीतिक समाजशास्त्र' आदि राजनीतिशास्त्र की विभिन्न शाखाओं का खुलना इस बात का द्योतक है कि राजनीति शास्त्र अन्य सामाजिक शास्त्रों से घनिष्ठ रूप से संबंधित है। अतः कहा जा सकता है कि राजनीतिशास्त्र का अन्य सामाजिक विज्ञानों के बिना व अन्य सामाजिक विज्ञानों का राजनीति विज्ञान के बिना काम नहीं चल सकता।

महत्वपूर्ण बिन्दु

(1) राजनीति विज्ञान और समाजशास्त्र– राजनीति शास्त्र और समाजशास्त्र परस्पर घनिष्ठ रूप से संबंधित हैं और एक दूसरे पर आश्रित हैं क्योंकि राज्य एक सामाजिक राजनीतिक संस्था है।

यद्यपि राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र में घनिष्ठ संबंध है फिर भी गहराई से देखने पर दोनों में अन्तर दिखाई पड़ता है। समाजशास्त्र का क्षेत्र व्यापक है। राजनीति शास्त्र का क्षेत्र सीमित है। समाजशास्त्र राजनीति शास्त्र की तुलना में अधिक प्राचीन है।

इस प्रकार समाजशास्त्र व राजनीतिशास्त्र में जहाँ घनिष्ठ संबंध है वहीं अन्तर भी है। दोनों शास्त्रों का पारस्परिक सहयोग ज्ञान के विकास के लिए आवश्यक है।

(2) राजनीति विज्ञान और इतिहास– राजनीति विज्ञान तथा इतिहास विभिन्न रुपों में एक दूसरे पर आश्रित हैं। इतिहास अतीत की राजनीतिक घटनाओं व तथ्यों का ऐसा संग्रह है जिससे राजनीति शास्त्र में अपने सिद्धान्तों के निर्धारण में पर्याप्त सहायता मिलती है।

परस्पर एक दूसरे पर निर्भर होते हुए भी राजनीति विज्ञान और इतिहास में कुछ अन्तर भी है। इतिहास वर्णनात्मक पद्धति का प्रयोग करता है जबकि राजनीति विज्ञान पर्यवेक्षणात्मक व दार्शनिक पद्धतियों का प्रयोग करता है। राजनीतिशास्त्र मनुष्य के राजनीतिक जीवन और राजनीतिक संस्थाओं का ही अध्ययन करता है जबकि इतिहास मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन का व समस्त संस्थाओं के अतीत का अध्ययन करता है।

(3) राजनीतिशास्त्र व अर्थशास्त्र– राजनीति शास्त्र और अर्थशास्त्र में परस्पर घनिष्ठ संबंध है। दोनों एक दूसरे पर अत्यधिक प्रभाव डालते हैं। राज्य की उत्पत्ति व उसके विकास में आर्थिक क्रियाओं की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। राज्य के क्रियाकलापों व उसकी नीतियों के पीछे आर्थिक परिस्थितियों का प्रभाव होता है। प्रमुख राजनीतिक क्रान्तियों व युद्धों का प्रमुख कारण आर्थिक असंतोष ही रहा है।

अर्थशास्त्र और राजनीति विज्ञान में पर्याप्त भेद भी हैं। अर्थशास्त्र का संबंध मनुष्य के आर्थिक जीवन से है जबकि राजनीति विज्ञान का संबंध मनुष्य के राजनीतिक जीवन से है। राजनीति विज्ञान आदर्शात्मक विज्ञान है जबकि अर्थशास्त्र मात्र वर्णनात्मक विज्ञान है।

(4) राजनीति विज्ञान और नीतिशास्त्र – राजनीतिक कार्यों के औचित्य का निश्चय नीतिशास्त्र की मान्यताओं के आधार

पर ही किया जाता है। अतः राजनैतिक शास्त्र और नीतिशास्त्र परस्पर घनिष्ठ रूप से संबंधित है। राज्य के पास असीमित और विधिक प्रभुसत्ता के होते हुए भी वह व्यवहार में ऐसे कानूनों को लागू नहीं कर सकता जिनके पीछे नैतिक बल न हो।

राजनीति शास्त्र और नीतिशास्त्र में पर्याप्त भेद भी हैं। राजनीति शास्त्र केवल राजनीति क्रियाओं का अध्ययन करता है, नीतिशास्त्र सम्पूर्ण सामाजिक वैयक्तिक जीवन से सम्बन्धित है। राजनीति शास्त्र वर्णनात्मक और व्यावहारिक शास्त्र है, जबकि नीतिशास्त्र आदर्शात्मक व सैद्धान्तिक शास्त्र है।

(5) राजनीति विज्ञान और मनोविज्ञान – मनोविज्ञान व्यक्ति के मन की क्रियाओं तथा उसके बाह्य व्यवहार का अध्ययन है और मानवीय व्यवहार और प्रकृति को समझे बिना राजनीति विज्ञान का अध्ययन ठीक प्रकार से नहीं किया जा सकता। राजनीति में मनोवैज्ञानिक तथ्यों की उपयोगिता को स्वीकार करते हुए वर्तमान राजनीति शास्त्री मनोवैज्ञानिक अध्ययन पद्धति के प्रयोग पर जोर देने लगे हैं।

राजनीति विज्ञान और मनोविज्ञान में पर्याप्त भेद भी हैं। मनोविज्ञान एक यथार्थवादी विज्ञान है, राजनीति विज्ञान यथार्थवादी होने के साथ साथ आदर्शवादी भी है। राजनीति विज्ञान एक अतिप्राचीन विज्ञान है, मनोविज्ञान एक नवीन शास्त्र है।

(6) राजनीति विज्ञान और दर्शनशास्त्र – दर्शनशास्त्र जीवन और जगत की प्रकृति और उसके मूल संबंधी मानव की खोज से संबंधित शास्त्र है। राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत अध्ययन किये जाने वाले 'राजनीतिक जीवन' और 'राजनीतिक विश्व' उस विश्व का ही भाग हैं, जिसकी प्रकृति और जिसके मूल की खोज दर्शनशास्त्र के अध्ययन का विषय है। दोनों विषयों में घनिष्ठ संबंध होते हुए भी कुछ अन्तर हैं जो इस प्रकार हैं – (1) दर्शन शास्त्र सम्पूर्ण जीव जगत और सृष्टि के नियामक तत्त्व का अध्ययन करता है लेकिन राजनीति विज्ञान के अध्ययन का क्षेत्र मुख्य रूप से मनुष्य का राजनीतिक जीवन और राजनीतिक विश्व है। (2) दर्शनशास्त्र की मूल प्रकृति सैद्धान्तिक और वैचारिक है। किन्तु राजनीति विज्ञान की प्रकृति सैद्धान्तिक और वैचारिक ही नहीं है, बल्कि व्यावहारिक अध्ययन और तथ्यात्मक विश्लेषण भी उसकी प्रकृति का एक प्रमुख अंग हैं। (3) राजनीति विज्ञान का संबंध मुख्यतया साकार, मूर्त और प्रत्यक्ष से है जबकि दर्शनशास्त्र का संबंध मुख्यतया निराकार अमूर्त व अप्रत्यक्ष से है।

(7) राजनीति विज्ञान और भूगोल– भूगोल का संबंध भूमि, वायु, वर्षा, खनिज पदार्थ, कृषि, समुद्र, नदी तथा पहाड़ इत्यादि से होता है। भूगोल उन प्राकृतिक दशाओं का वर्णन करता है जिनका मनुष्य के जीवन पर विशेष प्रभाव पड़ता है। राज्य के निर्माणकारी तत्त्वों में भूखण्ड एक महत्वपूर्ण तत्त्व है और भूगोल के अध्ययन के विषय भी भूखण्ड अर्थात् पृथ्वी, जल तथा वायु होते हैं।

भूगोल तथा राजनीति विज्ञान में पारस्परिकता होते हुए भी दोनों में कुछ भेद भी हैं जो कि इस प्रकार हैं– भूगोल के अन्तर्गत विभिन्न देशों की प्राकृतिक दशा, जलवायु तथा वनस्पति आदि का अध्ययन किया जाता है जबकि राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत राज्य, सरकार तथा विधि का अध्ययन किया जाता है। भूगोल ठोस तथ्यों से सम्बन्धित विज्ञान है जबकि राजनीतिशास्त्र तथ्यों के साथ–साथ आदर्श का चित्रण भी करता है।

(8) राजनीति विज्ञान और गणना शास्त्र– गणनाशास्त्र का भी राजनीति विज्ञान के साथ निकट संबंध है। राजनीति विज्ञान द्वारा प्राप्त तथ्यों को गणना द्वारा ही अभिव्यक्त किया जाता है। कानून का निर्माण करने में, नीति का निर्धारण करने में तथा राजशक्ति का प्रयोग करने में गणनाशास्त्र का ही क्रियात्मक प्रयोग होता है। सरकार जब कानून बनाती है तथा जिस नीति का अनुसरण करती है और जो कार्य करती है उनका क्या परिणाम होता है, इसका आकलन भी गणनाशास्त्र की सहायता से ही होता है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न (शब्द सीमा 30 शब्द)

1. राजनीति विज्ञान और इतिहास में दो अन्तर लिखिये।
2. राजनीति विज्ञान और मनोविज्ञान के संबंध के बारे में कोई दो पहलू लिखिये।
3. राजनीति विज्ञान और नीतिशास्त्र में कोई दो अन्तर लिखिये।
4. राजनीति विज्ञान भूगोल से किस प्रकार जुड़ा है ?
5. राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र में कौनसा अधिक व्यापक है ?
6. राजनीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र में कोई दो अन्तर लिखिये।

लघूत्तरात्मक प्रश्न (शब्द सीमा 100 शब्द)

1. राजनीति विज्ञान और इतिहास में अन्तर बताइये।
2. राजनीति विज्ञान और अर्थशास्त्र में अन्तर बताइये।
3. सभी सामाजिक विज्ञानों के मध्य घनिष्ठ संबंधों के दार्शनिक आधार क्या हैं ?
4. राजनीति विज्ञान और भूगोल का पारस्परिक क्या संबंध है?

निबन्धात्मक प्रश्न

1. ''राजनीति विज्ञान उन सभी विज्ञानों से संबंधित है, जो संगठित समाज में मनुष्यों से सम्बन्ध रखते हैं।'' इस कथन की व्याख्या कीजिए।
2. ''राजनीति विज्ञान के बिना इतिहास का कोई फल नहीं, इतिहास के बिना राजनीति विज्ञान की कोई जड़ नहीं।'' (सीले) इस कथन के प्रकाश में राजनीति विज्ञान का इतिहास के साथ संबंध की व्याख्या कीजिए।
3. राजनीति विज्ञान के नीतिशास्त्र और मनोविज्ञान से संबंधों का विश्लेषण कीजिए।
4. ''राजनीतिशास्त्र अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है।'' स्पष्ट कीजिए।
5. राजनीतिशास्त्र के दर्शनशास्त्र तथा भूगोल से संबंधों की व्याख्या कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न :

1. ''साध्य ही नहीं साधन भी पवित्र होने चाहिए।'' यह कथन राजनीति विज्ञान को जिस समाज विज्ञान के निकट लाता

है, वह है –
(अ) समाजशास्त्र (ब) मनोविज्ञान
(स) नीतिशास्त्र (द) इतिहास ( )

2. ''राजनीति विज्ञान के बिना इतिहास का कोई फल नहीं, इतिहास के बिना राजनीति विज्ञान की कोई जड़ नहीं।'' यह कथन किसका है –
(अ) बिलोबी (ब) सीले
(स) बर्गेस (द) लार्ड एक्टन ( )

3. निम्नांकित में से कौनसा राजनीति विज्ञान का केन्द्रीय विषय है –
(अ) परिवार (ब) समूह
(स) वर्ग (द) राज्य ( )

4. निम्नांकित में से कौनसा राजनीति विज्ञान का विषय नहीं है –
(अ) राज्य (ब) राजनीतिक दल
(स) चर्च (धर्म) (द) नागरिक ( )

5. आधुनिक राजनीति विज्ञान निकट है –
(अ) दर्शनशास्त्र के (ब) मनोविज्ञान के
(स) अर्थशास्त्र के (द) सांख्यिकी के ( )

6. मानव व्यवहार का अध्ययन करने वाला अनुशासन है –
(अ) मनोविज्ञान (ब) दर्शनशास्त्र
(स) अर्थशास्त्र (द) समाजशास्त्र ( )

7. राजनीति विज्ञान और अर्थशास्त्र दोनों का उद्देश्य है –
(अ) आर्थिक लाभ (ब) ब्याज कमाना
(स) आयात और निर्यात (द) मानव कल्याण( )

उत्तरमाला वस्तुनिष्ठ प्रश्न :–

1(स) 2(ब) 3(द) 4(स) 5(स) 6 (अ) 7 (द)

इकाई –2
अध्याय –4
राज्य की अवधारणा एवं सम्प्रभुता
(The Concept of the State & Sovereignty)

'' राज्य एक भूमिगत समाज है जो शासक और शासितों में बँटा होता है और अपनी सीमाओं के क्षेत्र में आने वाली अन्य संस्थाओं पर सर्वोच्चता का दावा करता है।''
––लास्की

राज्य क्या है यह राजनीति शास्त्र का एक जटिल प्रश्न है। प्रत्येक व्यक्ति राज्य का सदस्य होता है और राज्य शब्द का प्रयोग प्रतिदिन अनेक बार किया जाता है किन्तु राज्य क्या है यह बहुत कम लोग समझते हैं। विभिन्न राजनीतिशास्त्रियों ने राज्य को भिन्न भिन्न रुपों मे समझा है। कार्ल मार्क्स के अनुसार राज्य एक वर्गीय संस्था है (Class Structure), कुछ विचारक मानते हैं कि राज्य ऐसी वस्तु है जो सम्पूर्ण समाज की होने के साथ–साथ सम्पूर्ण समाज के लिए है। कुछ इसे शक्ति की व्यवस्था मानते हैं तो कुछ इसे लोककल्याण की व्यवस्था मानते हैं।

राज्य शब्द का अंग्रेजी रूपान्तर 'State' लैटिन भाषा के स्टैटस (Status) से बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ किसी व्यक्ति के सामाजिक स्तर से होता है परन्तु धीरे–धीरे इसका अर्थ बदला और बाद में इसका अर्थ सारे समाज के स्तर से हो गया।

राज्य की परिभाषाएँ
(Definitions of State)

भिन्न–भिन्न लेखकों ने राज्य की अलग–अलग परिभाषाएँ की हैं। किसी ने राज्य को किसी अर्थ में प्रयुक्त किया है और किसी ने किसी अर्थ में। राज्य की कुछ प्रचलित परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं –

(1) अरस्तू ने लिखा है–''राज्य परिवारों तथा ग्रामों का एक संघ होता है जिसका उद्देश्य एक पूर्ण तथा आत्मनिर्भर जीवन की स्थापना है जिससे हमारा अभिप्राय सुखी और सम्मानीय जीवन से है।''

(2) वुड्रो विल्सन के अनुसार, ''पृथ्वी के किसी निश्चित भाग में शान्तिमय जीवन के लिए संगठित जनता को राज्य कहा जाता है''

(3) हॉल ने अन्तर्राष्ट्रीय विधान के अनुसार राज्य की स्थिति का ध्यान करते हुए उसकी परिभाषा इस प्रकार की है, ''स्वतंत्र राज्य के लक्ष्य ये हैं कि उसका निर्माण करने वाला समाज स्थाई रूप से राजनीतिक ध्येय की प्राप्ति के लिए संगठित है, उसका एक निश्चित प्रदेश होता है और यह बाहरी नियन्त्रण से मुक्त होता है।''

(4) डॉक्टर गार्नर के अनुसार ''राजनीतिशास्त्र और सार्वजनिक कानून की धारणा के रूप में राज्य थोड़े या अधिक संख्या वाले संगठन का नाम है जो कि स्थाई रूप से पृथ्वी के निश्चित भाग में रहता हो। वह बाहरी नियन्त्रण से सम्पूर्ण स्वतंत्र या लगभग स्वतंत्र हो और उसकी एक संगठित सरकार हो जिसकी आज्ञा का पालन अधिकतर जनता स्वभाव से करती हो।''

राज्य के तत्त्व
(Elements of State)

राज्य की परिभाषाओं से पता चलता है कि इसके चार तत्त्व हैं– 1.जनसंख्या, 2 निश्चित भूमि, 3. सरकार, 4. प्रभुसत्ता या राजसत्ता। राज्य के ये चारों तत्त्व अनिवार्य है।

1. जनसंख्या **(Population)** – राज्य के बनने के लिए जनसंख्या आवश्यक है। बिना जनसंख्या के राज्य नहीं बन सकता। किसी निर्जन प्रदेश को राज्य नहीं कहा जा सकता। जनसंख्या की सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। परन्तु राज्य में आबादी उसके साधनों के अनुपात में हो तो अच्छा है।

2. निश्चित प्रदेश या भूमि **(Territory)**–राज्य का दूसरा आवश्यक अंग निश्चित भूमि है। जनसंख्या की भांति यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि आदर्श राज्य के लिए कितना क्षेत्रफल आवश्यक है। कुछ समय पहले लेखकों का मत था कि आदर्श राज्य में काफी खाद्य सामग्री उत्पन्न करने वाली भूमि होनी चाहिए जिससे नागरिकों को दूसरे देशों पर निर्भर नहीं रहना पड़े। परन्तु आजकल यह धारणा गलत हो गई है। इंग्लैण्ड में इतनी ही खाद्य सामग्री उत्पन्न होती है जो कि वर्ष भर पूरी न पड़े लेकिन वहां के लोग उद्योग धन्धों से इतना धन उत्पन्न कर लेते हैं कि वे खाद्य वस्तुऐं दूसरे देशो से आसानी से खरीद सकें। यदि किसी राज्य के पास अधिक भूमि हो तो वह उसके लिए शक्तिदायक सिद्ध होती है।

अमेरिका का क्षेत्रफल 30,26,789 वर्गमील है, भारत का क्षेत्रफल 12,61,323 वर्गमील है। कई राज्य ऐसे हैं जिनका क्षेत्रफल बहुत थोड़ा है। अतः राज्य के लिए क्षेत्रफल निश्चित नहीं किया जा सकता फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि छोटे राज्यों की अपेक्षा बड़े राज्य अधिक उपयोगी रहते हैं क्योंकि वे अधिक शक्तिशाली होते हैं और उनमें विभिन्न जातियों के मिश्रण के कारण उदार भावना बनी रहती है।

3. सरकार **(Government) -** सरकार राज्य का तीसरा महत्वपूर्ण अंग है। सरकार वह एजेन्सी है जिसके द्वारा राज्य की इच्छा प्रकट होती है और क्रियान्वित होती है। सरकार के द्वारा ही समाज में संगठन उत्पन्न होता है और शांति की

स्थापना होती है। सरकार के बिना मनुष्यों के समूह अव्यवस्थित रहेंगे और उनमें अशांति बनी रहेगी। सरकार के तीन अंग होते है–कार्यपालिका, विधानमण्डल और न्यायपालिका। कार्यपालिका देश का शासन चलाती है और कानून को लागू करती है, विधानमण्डल कानून को बनाता है और न्यायपालिका कानूनों की व्याख्या करती है। जो व्यक्ति सरकार के नियम और कानूनों का पालन नहीं करते सरकार उन्हें दण्डित करती है। राज्य में सरकार किस प्रकार की हो उसके कोई निश्चित नियम नहीं हैं। जहाँ भारत, इंग्लैण्ड, अमेरिका, कनाडा, न्यूजीलैण्ड, फ्रांस, इटली आदि में लोकतन्त्र है वहीं चीन, फिनलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया, हंगरी और पौलेण्ड आदि देशों में कम्युनिस्ट पार्टी लम्बे समय से सत्तारुढ़ है। कई देशों में संसदीय सरकार है तो कई देशों में अध्यक्षात्मक सरकार है। इससे सिद्ध होता है कि राज्य बनाने के लिए सरकार का रुप निश्चित नहीं है।

4. प्रभुसत्ता **(Sovereignty)** राजसत्ता राज्य का प्राण है। इसके बिना राज्य नहीं बन सकता। राजसत्ता का अर्थ है राज्य की सर्वोच्च शक्ति। राजसत्ता दो प्रकार की होती है – बाहरी और अंदरूनी। बाहरी सत्ता का अर्थ है कि देश किसी बाहरी शक्ति के अधिन ना हो। उदाहरण के लिए 1947 से पूर्व भारत अंग्रेजों के अधीन था, अतः भारत राज्य नही था वरन् ग्रेट बिटेन ही राज्य था जिसका भारत पर स्वामित्त्व था। अन्दरुनी राज्यसत्ता का अर्थ है कि राज्य अपनी सब संस्थाओं और व्यक्तियों के ऊपर सर्वोच्च सत्ता रखता हो। किसी भी राज्य को किसी अन्य राज्य के व्यक्तियों और संस्थाओं पर नियन्त्रण रखने की आज्ञा नहीं दी जा सकती है।

राज्य और सरकार में अन्तर

1. राज्य अमूर्त और सरकार मूर्त है –राज्य एक अमूर्त धारणा है जबकि सरकार एक मूर्त, ठोस यन्त्र है जो व्यक्तियों की निश्चित संख्या के योग से बनती है।

2. सरकार राज्य की एजेण्ट होती है – सरकार के माध्यम से राज्य अपनी इच्छा को प्रकट करता है। सरकार राज्य के लक्ष्यों को पूरा करती है और अपनी सभी शक्तियाँ राज्य से अर्थात उसके सबसे महत्वपूर्ण तत्त्व जनता से ग्रहण करती है।

3. सरकार राज्य का अंग है – सरकार राज्य के लिए आवश्यक चार तत्त्वों में से एक है जबकि राज्य अपने आप में एक व्यापक अवधारणा है।

4. राज्य के पास राजसत्ता है सरकार के पास नहीं – राजसत्ता राज्य का एक महत्वपूर्ण अंग है। सरकार के पास राजसत्ता नहीं रहती, क्योंकि लोकतन्त्र में जनता सरकार की सभी शक्तियों का स्रोत मानी जाती है।

5. सरकार परिवर्तनशील राज्य स्थायी– राज्य का अस्तित्त्व स्थायी होता है तथा सदैव एक जैसा रहता है। राज्य के लिए आवश्यक चारों तत्त्वों का जहाँ संयोग होगा वहाँ राज्य बन जायेगा। परन्तु सरकारों के अनेक रुप होते हैं तथा सरकारें परिवर्तनशील होती हैं। सरकारों में परिवर्तन अनके कारणों से हो सकते हैं, जैसे निर्वाचन, सैनिक क्रान्ति, विद्रोह, आक्रमण आदि। किन्तु सरकार में परिवर्तन होने के पश्चात भी राज्य का अस्तित्व बना रहता है।

6. राज्य की सदस्यता अनिवार्य, सरकार की नहीं– व्यक्ति जन्म होते ही राज्य का अनिवार्य रुप से सदस्य बन जाता है। इस प्रकार राज्य की सदस्यता अनिवार्य होती हैं। जबकि सरकार का सदस्य बनना व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर करता है।

7. राज्य के लिए क्षेत्र अनिवार्य, सरकार के लिए नहीं– कई बार एक प्रदेश की सरकार दूसरे राज्य में भी स्थापित हो जाती है। उदाहरण के लिए दूसरे विश्व युद्ध मे जब नार्वे की जर्मनी से हार हो गयी तो नार्वे की सरकार इंग्लैण्ड में आ गयी और वहीं से कार्य करने लगी। दूसरे विश्व युद्ध के अन्त में जब जर्मनी की पराजय हुई तो नार्वे का सम्राट अपने देश को लौट गया और नार्वे की कानूनी सरकार अपने देश में दुबारा काम करने लगी। जबकि राज्य का अपना एक निश्चित क्षेत्र होता है। जिसके बिना राज्य का निर्धारण नहीं किया जा सकता।

8. सरकार का विरोध किया जा सकता है राज्य का नहीं– सरकार की अनुचित अथवा जन–विरोधी नीतियों और कार्यों का नागरिक विरोध कर सकते हैं जबकि राज्य एक अमूर्त संस्था है जिसका कि नागरिक विरोध नहीं कर सकते।

राज्य और समाज में अन्तर

1. राज्य एक राजनीतिक व्यवस्था, समाज एक सामजिक व्यवस्था है। समाज से उन मनुष्यों का ज्ञान होता है जो परस्पर सामाजिक बन्धन में रहते हैं। राज्य समाज का वह यन्त्र है जिसके द्वारा समाज में शान्ति स्थापित होती है।

2. समाज के पास प्रभुसत्ता नहीं रहती, राज्य के पास रहती है। राज्य के कानून भंग करने पर राज्य द्वारा दण्ड दिया जा सकता है।

3. समाज राज्य से पहले बना है। जब मनुष्य संगठित नहीं था। घुमक्कड तथा कबीलों के रुप में रहता था तब भी वहाँ समाज था। राज्य का विकास बाद में हुआ, जब मनुष्य ने सभ्यता से तथा संगठित होकर रहना सीखा ।

4. राज्य मनुष्य के राजनीतिक पहलू से सम्बन्धित है, समाज नैतिक पहलू से।

5. समाज के लिए क्षेत्र आवश्यक नहीं, राज्य के लिए है। समाज स्थानीय भी और अन्तर्राष्ट्रीय भी हो सकता है।

राज्य का विकास
(Evolution of the State)

मनुष्य की सामाजिकता व समूह बनाकर रहने की प्रवृत्ति के कारण वे आदि मनुष्य भी, जो शिकार द्वारा अपना निर्वाह करते थे, टोली बनाकर रहते थे। उनमें भी एक प्रकार का संगठन विद्यमान था। मनुष्य ज्यादा दिनों तक शिकारी व असभ्य दशा में नहीं रहा। धीरे–धीरे उन्नति करता हुआ वह सभ्यता की ओर बढ़ने लगा। उसकी यह उन्नति दो ढंग से हुई, कृषक रुप में और पशुपालक रूप में।

कृषक और पशुपालक जातियाँ – कुछ प्रदेश ऐसे थे, जो खेती के लिए अधिक अनुकूल थे। नदियों की घाटियाँ और जलाशयों के किनारे की जमीनें खेती के लिए अधिक उपयुक्त थीं। वहाँ अनाज सुगमता के साथ उत्पन्न हो सकता था। खेती का ज्ञान हो जाने पर जो लोग इन प्रदेशों में आए, स्वाभाविक रूप

से उन्होंने खेती की ओर अधिक ध्यान दिया। खेती के लिए आवश्यक था कि वे स्थिर रुप से वहाँ बस जाएँ। वहाँ उन्होंने अपने मकान बना लिए। एक जगह बहुत से मकान बन जाने पर एक बस्ती या ग्राम का विकास हो गया। इन बस्तियों में जो लोग बसे, वे निरन्तर एक दूसरे के सम्पर्क में आते थे। उनमें सामूहिक भावना पहले भी विद्यमान थी। अब उनके लिए यह और अधिक आवश्यक हो गया, कि वे एक – दूसरे के प्रति उचित बर्ताव करें, किसी की सम्पत्ति का अपहरण न करें, किसी को नुकसान न पहुँचाएँ। जो कोई किसी के प्रति अनुचित बर्ताव करे, उसे दण्ड मिले। इसी कारण इन बस्तियों में एक प्रकार की राज्यसंस्था का विकास होने लगा।

नदियों की घाटियों व जलाशयों के समीपवर्ती स्थानों के अतिरिक्त बहुत से प्रदेश ऐसे भी थे, जो खेती के लिए बहुत उपयुक्त नहीं थे। इनमें या तो रेगिस्तान थे, या जंगल। इनमें रहने वाले मनुष्य न खेती की ओर आकृष्ट हुए और न ही वे किसी एक स्थान पर स्थिर रु॰ से आबाद ही हुए। शिकारी की दशा से ऊपर उठकर वे पशुपालन शुरू कर चुके थे। अब भी वे पशुपालक दशा में ही रहे। अपने पशुओं को साथ लेकर वे जंगलों या रेगिस्तानों में घूमते रहते थे, और जगह–जगह पर अपने डेरे डालकर उनमें निवास करते थे। एक स्थान पर न बसने के कारण सभ्यता के क्षेत्र में वे कृषक लोगों की अपेक्षा पीछे रह गए। पर धीरे–धीरे उनके संगठन भी अधिक सुदृढ़ और व्यवस्थित होते गए और उनमें भी शासक और शासित का भेद विकसित हो जाने के कारण एक प्रकार की सरकार का प्रादुर्भाव हो गया।

प्रारम्भिक राज्य– खेतों के परिज्ञान के कारण जिन प्रदेशों पर स्थिर रूप से बस कर मनुष्यों ने सबसे पहले अपनी बस्तियों का विकास शुरू किया, उनमें सबसे प्रमुख निम्नलिखित थे– (1) पश्चिम एशिया में यूफ्रेटिस और टिग्रिस नदियों की घाटी, (2) उत्तरी अफ्रीका में नील नदी की घाटी, (3) भूमध्यसागर में इंगियन सागर के तटवर्ती प्रदेश और विविध द्वीप, जिनमे क्रीट सर्वप्रथम थ, (4) चीन में हॉग–हो और पिआंगतसे–कियांग नदियों की घाटियाँ, (5) भारत में सिन्धु नदी की घाटी।

इन विविध प्रदेशों में मनुष्यों की प्रारम्भिक बस्तियाँ बहुत छोटी–छोटी थीं। पर धीरे–धीरे वे अपेक्षकृत–विशाल राज्यों के रूप में परिणत होती गईं। इस प्रक्रिया को यूफ्रेटिस और टिग्रिस नदियों की घाटी के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। इस घाटी के सबसे प्राचीन निवासी सुमेरियन लोग थे। वे 4500 ई.पू. के लगभग इस प्रदेश में आबाद हुए। वहाँ उन्होंने अपनी बहुत सी छोटी–छोटी बस्तियाँ या राज्य कायम किये। शुरू में सुमेरिया के ये छोटे–छोटे राज्य पूर्णतया स्वतंत्र थे। पर धीरे–धीरे उनमें संघर्ष का प्रारम्भ हुआ। इनमें एरच का राज्य सबसे अधिक शक्तिशाली था। उसने अन्य सब राज्यों को जीतकर अपने अधीन कर लिया, और सम्पूर्ण सुमेरिया एरच की अधीनता में आ गया। जो प्रक्रिया सुमेरिया में हुई, वही मिस्त्र (नील नदी की घाटी), ईगियन क्षेत्र, चीन, भारत आदि में भी हुई।

प्रारम्भिक राज्यों का रूप– इन प्राचीनतम राज्यों में शासन का क्या स्वरूप था, इस बात का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमारे पास कोई साहित्यिक साधन नहीं है। इन राज्यों की दशा पर प्रकाश डालने वाले कोई ग्रन्थ अब तक उपलब्ध नहीं हुए हैं। पुरातत्त्व द्वारा जो कुछ ज्ञात हो सका है, उसके आधार पर इतिहासकारों का मत है, कि इन राज्यों में शासन का स्वरूप दैवी था। ये लोग देवी–देवताओं पर विश्वास रखते थे, और उनकी पूजा के लिए विशाल मंदिरों का निर्माण करते थे। शासन का कार्य या तो देवता के पुजारी 'पुरोहित' के अधीन था, और या राजा को ही दैवी रूप में स्वीकृत किया जाता था। सर्वसाधारण जनता का शासन में कोई हाथ नहीं होता था। जनता का बड़ा भाग दासों की स्थिति में था। इन बस्तियों पर पड़ोस में रहने वाले पशुपालक लोग प्रायः आक्रमण करते रहते थे। जब कोई जाति इन बस्तियों को जीतकर अपने अधीन कर लेती थी, तो वह वहाँ के पूर्व निवासी सभ्य लोगों को अपना दास बना लेती थी। सुमेरिया पर 2750 ई.पू. के लगभग सार्गन नामक नेता के नेतृत्व में अकेडियन लोगों ने आक्रमण किया और उसे जीत लिया। अकेडियन लोग पशुपालक थे और सभ्यता की दृष्टि से सुमेरियन लोगों से बहुत पीछे थे। जब वे सुमेरिया को जीतकर यहाँ बस गये तो उन्होंने सुमेरियन सभ्यता को पूरी तरह अपना लिया। राजनीतिक दृष्टि से सुमेरियन लोग पराधीन हो गये थे, उन्हें दास बना लिया गया था पर सभ्यता की दृष्टि से वे विजेता रहे। अकेडियन लोगों के बाद इसी क्षेत्र पर क्रमशः अमारोईट (2100 ई.पू. के लगभग), असीरियन (1200 ई.पू.) और केल्डियन (606 ई.पू.) जातियों ने आक्रमण किये। इन विविध जातियों ने बेबीलोनिया के इस प्रदेश में जो भी राज्य कायम किये, उनमें थोड़े से विजेता लोग बहुसंख्यक दास लोगों पर स्वेच्छाचारी रूप से शासन करते थे। पर इन राज्यों की शासन पद्धति के विषय में निश्चित रूप से कुछ भी ज्ञात नहीं है। जो कुछ भी पुरातत्त्व सम्बंधी खोज द्वारा ज्ञात हुआ है, वह यह है कि इनका शासन एक शक्तिशाली राजा के अधीन था, जो दैवी शक्ति का आश्रय ले जनता पर शासन करता था। प्राचीन मिस्र, चीन, ईगियन सागर आदि के सभी राज्यों मे यही दशा थी। धर्म के तत्त्व ने इन प्रदेशों की जनता में नियन्त्रण व व्यवस्था कायम रखने में बहुत सहायता की थी।

यूनानी (ग्रीक) नगर–राज्य– संसार की इन प्राचीनतम सभ्यताओं को आर्य जाति ने नष्ट किया। इन आर्यों ने ग्रीस में अनेक छोटे–छोटे राज्य कायम किये। ग्रीस में बहुत सी पहाड़ियाँ हैं, जिनके कारण वह देश बहुत सी घाटियों में विभक्त है। आर्यों की ग्रीस शाखा के विविध 'जन' इन विविध घाटियों में बस गये और उनके राज्य एक दूसरे से पृथक रहे। इन ग्रीस राज्यों की संख्या सैकड़ों में थी। उनमें प्रमुख एथेन्स, स्पार्टा, कोरिन्थ, थेबस, सेमस और मिलेटस थे। अधिकांश ग्रीस राज्यों की आबादी पचास हजार के लगभग थी। उनमें कोई भी राज्य ऐसा नहीं था, जिसकी आबादी कभी तीन लाख से अधिक रही हो। इस आबादी में भी दासों की संख्या अधिक होती थी। स्वतंत्र ग्रीस नागरिक संख्या में दासों की अपेक्षा बहुत कम थे।

प्राचीन ग्रीक में अनेक ऐसे विचारक उत्पन्न हुए, जिन्होंने राजनीतिशास्त्र–संबंधी बहुत से महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। इनमें प्लेटो और अरस्तु के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। भारत के विचारकों में जो स्थान आचार्य चाणक्य का है, वही पाश्चात्य विचारकों में अरस्तु का है। उसने अपने समय के विविध राज्यों की शासन–पद्धतियों का संग्रह कर उनके तुलनात्मक अध्ययन का प्रयत्न किया और साथ ही राज्य संस्था के स्वरूप का भी निरूपण किया।

ग्रीस नगर राज्यों की स्वतंत्रता और पृथक सत्ता देर तक

कायम नहीं रह सकी। स्पार्टा, एथेन्स और कोरिन्थ जैसे शक्तिशाली राज्यों ने धीरे–धीरे पड़ोसी राज्यों को जीतकर अपने अधीन कर लिया और इस प्रकार अपने–अपने संघो (लीग) का निर्माण किया। कुछ समय बाद मैसीडोन के राजा फिलिप ने सब ग्रीस राज्यों को जीतकर अपने अधीन कर लिया। सिकन्दर ने फिलिप के साम्राज्य विस्तार सम्बंधी कार्य को जारी रखा और भूमध्यसागर से व्यास नदी तक विस्तृत साम्राज्य का निर्माण किया।

रोम का सार्वभौम साम्राज्य– यूरोप की आर्य जातियों ने जो बहुत से छोटे–छोटे राज्य स्थापित किये थे, शीघ्र ही वे एक साम्राज्य के अधीन हो गए। इस साम्राज्य का निर्माण रोम द्वारा किया गया था। ग्रीस नगर राज्यों की स्वतंत्रता का मैसीडोन के राजा फिलिप ने अन्त किया था। पर फिलिप और सिकन्दर द्वारा स्थापित मैसीडोनियन साम्राज्य भी देर तक स्थिर नहीं रहा। ग्रीस के पश्चिम में इटली में एक नगर राज्य था, जिसका नाम रोम था। यह इटली के मध्य में टाइबर नदी के तट पर स्थित था। इसकी स्थापना 723 ई.पू. मे हुई थी। शुरू में यह उसी प्रकार का एक नगर–राज्य था, जैसे कि ग्रीस में स्पार्टा व एथेन्स और भारत में विदेह या शाक्य आदि थे। पर धीरे–धीरे रोम ने, न केवल सम्पूर्ण इटालियन नगर राज्यों को जीतकर अपने अधीन कर लिया, अपितु ग्रीक, ईगियन सागर के विविध द्वीप, मिस्र, एशिया माइनर, फ्रांस स्पेन ओर ब्रिटेन आदि सुदूरवर्ती प्रदेशों के विविध राज्यों को भी जीतकर एक विशाल सार्वभौम साम्राज्य की स्थापना की।

सामन्त पद्धति (फ्यूडल सिस्टम)– तीसरी सदी में रोमन साम्राज्य पर जर्मन जातियों के जो आक्रमण शुरू हुए थे, वे कई सदियों तक जारी रहे। इन आक्रमणों के कारण रोमन साम्राज्य छिन्न–भिन्न हो गया। विविध जर्मन जातियों के सरदारों ने रोमन साम्राज्य के भग्नावशेष पर अपने बहुत से छोटे–छोटे राज्य कायम किए। इन राज्यों की संख्या सैकड़ों में थी। इनके अतिरिक्त जो प्रदेश जर्मन आक्रमणों से बच गए थे, उन पर पुराने रोमन युग के जागीरदार या राजकर्मचारी स्वतत्रंता के साथ शासन करने लगे थे। कोई कोई प्रदेश ईसाई महन्तों के हाथ में थे, और कहीं बड़े व्यापारिक नगरों में व्यापारियों के समूह (कारपोरेशन या निगम) स्वतंत्रता के साथ राज्य करते थे। अभिप्राय यह है कि यह काल राजनीतिक दृष्टि से सर्वथा अराजकता से पूर्ण था। जिसके पास शक्ति थी, वही अपनी सत्ता कायम किये हुए था। सर्वसाधारण लोगों की जान व माल उस समय तक सुरक्षित नहीं थे, जब तक कि वे किसी शक्तिशाली व्यक्ति के संरक्षण में अपने को न ले आएं। इसी परिस्थिति में सामन्त पद्धति का प्रादुर्भाव हुआ।

अव्यवस्था तथा अराजकता के इस युग में सामन्त पद्धति द्वारा धीरे–धीरे व्यवस्था का विकास हुआ। जिन प्रदेशों पर कोई विजेता सरदार अपना अधिकार स्थापित करता था, वहां वह जीते हुए प्रदेश को अपने साथियों में बाँट देता था। यदि उस विजेता सरदार को हम राजा कहें, तो उसके इन साथियों को हमें सामन्त कहना चाहिए। ये सामन्त यद्यपि अपनी जागीर राजा से प्राप्त करते थे, पर अपने प्रदेश के पूरे स्वामी होते थे। राजा के साथ उनका यह सम्बंध था, कि जब राजा को आवश्यकता हो, वे अपने सैनिकों के साथ उसकी सहायता करें। मध्यकालीन यूरोप में इस सामन्त पद्धति के कारण राजनीतिक एकता व व्यवस्था का सर्वथा अभाव रहा। सामन्त पद्धति में राज्यसंस्था का स्वरूप पुराने नगर–राज्यों और सार्वभौम साम्राज्यों की राज्य संस्था से बहुत भिन्न था। जनता की निष्ठा या भक्ति अपने प्रदेश (निवास स्थान या अभिजन) के प्रति न होकर अपने सामन्त राजा के प्रति होती थी। जनता की दृष्टि में उसका शासक सम्राट नहीं होता था। वह उस सामन्त को ही अपना शासक समझती थी, जिसकी जागीर में वह निवास करती थी। साथ ही, राज्य की एक आवश्यक विशेषता जो प्रभुत्व–शक्ति–सम्पन्नता मानी जाती है, उसका सामन्त–पद्धति के राज्यों में सर्वथा अभाव था। प्रभुत्व शक्ति सामन्तों के पास नहीं थी, क्योंकि वे स्वयं किसी अन्य महाराज के अधीन थे और न ही प्रभुत्व शक्ति सम्राट के हाथों में थी क्योंकि वह अपने आदेशों का पालन कराने के लिए सामन्तों पर निर्भर होता था। इसी कारण राजनीतिशास्त्र के अनेक विद्वानों की दृष्टि में मध्यकाल अराजकता का काल था, और उस समय में राज्य संस्था की सत्ता ही नहीं थी।

राष्ट्रीय राज्य (नेशन–स्टेट)

सामन्त पद्धति के ह्रास और शक्तिशाली केन्द्रीय राजाओं के विकास के कारण फ्रांस, इंग्लैण्ड और स्पेन सदृश राज्यों को उन्नति का बहुत उत्तम अवसर हाथ लगा। आन्तरिक व्यवस्था और शांति किसी भी देश की उन्नति में बहुत सहायक सिद्ध होती है। सामन्त पद्धति के कारण पहले इन देशो में व्यवस्था का सर्वथा अभाव था। शक्तिशाली केन्द्रीय शासन के स्थापित हो जाने से ये देश उन्नति की दौड़ में बहुत आगे निकल गए। इस स्थिति का एक महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि फ्रांस, इंग्लैण्ड आदि जिन देशों में शक्तिशाली केन्द्रीय शासन स्थापित हुए, उनमें एक प्रकार की एकता की भावना भी उत्पन्न होनी लगी। फ्रेंच राजा द्वारा शासित सब प्रदेश एक थे, और अपने राजा के राज्य को एक देश समझते थे। इस दशा का परिणाम यह हुआ कि धीरे–धीरे फ्रांस एक राष्ट्र बनने लगा, और उसके निवासियों में राष्ट्रीयता की अनुभूति विकसित होने लगी। यह प्रक्रिया इंग्लैण्ड, स्पेन, रूस आदि देशों में भी हुई।

इतिहास के रंगमंच पर अब एक नये प्रकार के राज्य प्रकट होने लगे, जिन्हें राष्ट्रीय राज्य (नेशन स्टेट) या राष्ट्र कहते हैं। ये राष्ट्र न केवल मध्यकालीन सामान्त राज्यों से भिन्न थे, अपितु प्राचीन नगर–राज्यों और सार्वभौम राज्यों से भी भिन्नता रखते थे। इनके संगठन में यह विचार कार्य कर रहा था कि भाषा, धर्म, रीति–रिवाज, ऐतिहासिक परम्परा और संस्कृति आदि की एकता के कारण जिस देश के निवासी परस्पर एकानुभूति रखते हैं : उनका अपना एक पृथक् राज्य होना चाहिए। यही राष्ट्रीयता का सिद्धान्त कहलाता है। सामन्त पद्धति के ह्रास के बाद जो शक्तिशाली राज्य यूरोप में कायम हुए थे, उनका स्वरूप एक राष्ट्र का था। इन राज्यों का आधार कोई एक 'जन' नहीं था, और न ही इनमे एकता को उत्पन्न करने वाला तत्त्व केवल मात्र शासक के प्रति निष्ठा थी। राष्ट्रीय एकता की अनुभूति के कारण ये राज्य बहुत संगठित और सुव्यवस्थित थे।

राज्य का भावी विकास– विकास की जिस प्रक्रिया द्वारा प्राचीन काल के छोटे–छोटे दैवसत्तात्मक राज्य वर्तमान युग के राष्ट्रीय राज्यों के रुप में परिणत हुए हैं, उसका अभी अन्त नहीं हो गया है। राज्यसंस्था के क्षेत्र में विकास की प्रक्रिया अभी जारी है। राज्य का यह विकास दो दिशाओं में हो रहा है– (1) शासन पद्धति

और राज्य के कार्यक्षेत्र के विषय में, और (2) राज्यों के पारस्परिक सम्बंधों के विषय में। अठारहवीं सदी में लोकतन्त्रवाद की जो लहर शुरू हुई थी, उसका स्वरूप अब निरन्तर परिवर्तित हो रहा है। केवल राजनीतिक क्षेत्र में स्वतंत्रता और समानता को अब पर्याप्त नहीं समझा जाता। अब यह आवश्यकता भी अनुभव की जाती है, कि आर्थिक क्षेत्र में भी मनुष्य पूर्णतया स्वतंत्र और एक–दूसरे के समान स्थिति रखने वाले हों। इसी कारण समाजवाद के लिए आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ है और समाजवाद के सिद्धान्त को किसी–न–किसी रुप में संसार के बहुसंख्यक राज्यों ने अपना लिया है। समाजवाद की व्यवस्था का अनुसरण कर राज्यसंस्था का जो स्वरुप अब विकसित हो रहा है, वह उन्नीसवीं सदी के लोकतान्त्रिक राष्ट्रीय राज्यों से बहुत भिन्न है।

विगत–वर्षों में मनुष्य ने ज्ञान–विज्ञान के क्षेत्र में जो असाधारण उन्नति की है, उसके कारण संसार के विविध राज्य एक–दूसरे के इतने समीप आ गए हैं, कि उनके लिए एक दूसरे से सर्वथा पृथक रह सकना अब सम्भव नहीं रहा है। साथ ही, नित नये प्रलयकारी अस्त्रों के आविष्कृत हो जाने के कारण अब सब राज्यों के लिए यह भी सम्भव नहीं रहा है, कि वे आत्म रक्षा के लिए केवल अपनी शक्ति पर निर्भर कर सकें। जिन अर्थों में आधुनिक युग के विविध राज्य सम्पूर्ण–प्रभुत्व सम्पन्न माने जाते हैं, वे भविष्य में भी ऐसे हो सकेंगे, यह बहुत सन्देहास्पद है। जिस प्रकार मध्यकाल में निर्बल सामन्त राजा अपनी रक्षा के लिए अपने को किसी प्रबल पड़ौसी राज्य के अधीन कर देते थे, वैसे ही अब यदि निर्बल राज्य आत्मरक्षा हेतु अपने को अमेरिका, ब्रिटेन और चीन जैसे शक्तिशाली राज्यों का अनुगामी बना दें, तो यह अस्वाभाविक नहीं है। वर्तमान परिस्थितियों में राज्यों के लिए आवश्यक हो गया है, कि वे अपनी पूर्ण स्वतत्रंता व सर्वोपरिता के विचार का परित्याग कर अन्तर्राष्ट्रीय और अन्योन्याश्रित्तता के विचार को स्वीकृत करें। इस आवश्यकता से विवश होकर विविध राज्य अनेक प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में संगठित हो रहे हैं।

राज्य के विकासक्रम की विशेषताएँ– प्रो. गैटल ने राज्य के विकास क्रम की पांच विशेषताएँ बतायी हैं जो निम्नानुसार हैं –

1. राज्य का विकास सरलता से जटिलता की ओर हुआ है। राज्य का प्रारम्भिक संगठन बहुत अधिक सरल था। मानव जीवन के विकास के साथ–साथ राज्य के कार्य बढ़ते गये और राज्य का संगठन जटिल होता था।

2. प्रारम्भ में राज्यों की जनसंख्या कम थी और क्षेत्र छोटा था। समय के साथ–साथ राज्यों की जनसंख्या और क्षेत्र बढ़ते चले गये।

3. राज्य के विकास के साथ–साथ नागरिकों में राजनीतिक चेतना का भी विकास होता गया है। राजनीतिक चेतना के विकास के परिणामस्वरूप प्रतिनिधि प्रजातंत्र और संघात्मक राज्य जैसी व्यवस्थाओं का विकास हुआ।

4. राज्य के विकास के प्रारम्भिक स्तरों पर राज्य और धर्म एक दूसरे से संयुक्त थे, परन्तु वर्तमान में धर्म और राज्य एक दूसरे से पृथक हो गये हैं और आज 'धर्म निरपेक्ष राज्य' के विचार को मान्यता प्राप्त है।

5. राज्य के विकास के प्रारम्भिक स्तरों पर सामान्यतया निरंकुश शासन व्यवस्थाएँ थीं, जिनमें व्यक्तिगत स्वतंत्रता को स्थान प्राप्त नहीं था। धीरे–धीरे व्यक्तिगत स्वतंत्रता का महत्त्व समझा जाने लगा और राज्य की प्रभुसत्ता और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के मध्य समन्वय का मार्ग अपनाया जाने लगा।

प्रभुसत्ता या सम्प्रभुता (Sovereignty)

'' सम्प्रभुता नागरिकों तथा प्रजा के ऊपर वह परम शक्ति है जो कि कानूनों से नियन्त्रित नहीं है।'' –जीन बोदां

प्रभुसत्ता या सम्प्रभुता राज्य (State) का अनिवार्य लक्षण है। जे.डब्ल्यू.गार्नर के अनुसार, '' प्रभुसत्ता राज्य की ऐसी विशेषता है जिसके कारण वह अपनी इच्छा के अलावा और किसी चीज से नहीं बँधा रहता, और अपने आपके अलावा किसी अन्य शक्ति से सीमित नहीं होता।'' प्रभुसत्ता की परम्परागत परिभाषाएँ घुमा–फिरा कर इसी विचार को व्यक्त करती हैं।

प्रभुसत्ताधारी (Sovereign) चाहे कोई मुकुटधारी नरेश (Crowned Prince) हो, मुख्य कार्यकारी (Chief Executive) हो, या कोई सभा (Assembly) वह केवल अपनी इच्छा (Will) से कानून की घोषणा कर सकता है, आदेश जारी कर सकता है और राजनीतिक निर्णय कर सकता है। ये कानून, आदेश और निर्णय उसके अधिकार –क्षेत्र मे आने वाले सब लोगों या समूहों और संगठनों के लिए बाध्यकारी (Binding) होते हैं। वास्तव में, राज्य की सर्वोच्च कानूनी सत्ता (Supreme Legal Authority) के विचार को प्रभुसत्ता की संकल्पना के आधार पर ही स्थापित किया जा सकता है।

चूँकि प्रभुसत्ता की संकल्पना प्रभुसत्ताधारी की इच्छा को सर्वोच्च शक्ति के रुप में मान्यता देती है, इसलिए प्रभुसत्ता एक असीम और स्थायी परम शक्ति है। इसका अर्थ यह नहीं कि प्रभुसत्ता का प्रयोग करते समय विवेक से काम नहीं लिया जाता, या प्रचलित रीति–रिवाजों, सामाजिक मूल्यों, न्याय या सामान्य हित के विचार को ध्यान में नहीं रखा जाता। इसका अर्थ केवल यह है कि इन सब बातों का अर्थ लगाते समय प्रभुसत्ताधारी को किसी दूसरी सत्ता या संगठन से सलाह नहीं लेनी पड़ती। दूसरे शब्दों में, प्रभुसत्ताधारी जब न्याय या नैतिकता का पालन करता है तो वह स्वयं यह निर्णय करता है कि न्याय क्या है, वह उचित–अनुचित का निर्णय अपने विवेक से करता है, किसी दूसरे के निर्देश से नहीं। प्रभुसत्ता को 'मनमानी करने की शक्ति' (Arbitrary Power) मानना बिल्कुल गलत होगा।

प्रभुसत्ता का अर्थ (Meaning of Sovereignty)

प्रभुसत्ता को हिन्दी में राजसत्ता अथवा संप्रभुता भी कहा जाता है। अंग्रेजी में इसको सावरेन्टी कहा जाता है जो लैटिन भाषा के 'सुप्रेनस' (Suprenus) शब्द से निकला है जिसका अर्थ सर्वोच्च शक्ति होता है। राजसत्ता, राज्य का विशेष लक्षण होता है और राज्य को बनाने वाले चार तत्त्वों में से सबसे महत्वपूर्ण तत्त्व है।

प्रभुसत्ता के दो पहलू– प्रभुसत्ता दो प्रकार की होती है, एक आन्तरिक और दूसरी बाहरी। आन्तरिक प्रभुसत्ता का अर्थ है कि राज्य के अन्दर रहने वाले सभी व्यक्ति तथा संस्थाएँ उसके

(राज्य के) पूर्ण आधीन होती हैं। यदि वे राज्य की आज्ञा का पालन न करें, तो राज्य को उन्हें दण्ड देने का पूरा अधिकार होता है। इस विषय में प्रोफेसर हेरल्ड लॉस्की ने लिखा है, ''राज्य अपने प्रदेश के सब मनुष्यों तथा समुदायों को आज्ञा प्रदान करता है और उसे उनमें से कोई आदेश नहीं देता है। उसकी इच्छा पर किसी प्रकार का कोई कानूनी प्रतिबन्ध नहीं होता। किसी विषय में अपनी इच्छा प्रकट कर देने से ही वह उसका अधिकारी हो जाता है।''

बाहरी प्रभुसत्ता का यह अर्थ है कि राज्य किसी बाहरी देश या संस्था के अधीन नहीं है। प्रत्येक राज्य को व्यापारिक सन्धियाँ और सैनिक समझौते करने का पूर्ण अधिकार होता है। प्रत्येक देश को यह अधिकार होता है कि वह अपनी विदेश नीति किसी तरह भी चलाए, चाहे वह किसी के साथ गुटबन्दी करे या किसी के साथ सन्धि करे। अतः बाहरी राजसत्ता का अर्थ है कि वह राज्य पूर्ण रूप से बाहरी दबाव से स्वतन्त्र हो, इससे तात्पर्य राष्ट्रीय स्वतन्त्रता से है। इस बारे मे प्रोफेसर लॉस्की का कथन है कि ''आधुनिक राज्य प्रभुत्व सम्पन्न राज्य होता है। अतः यह अन्य राष्ट्रों के सामने स्वतन्त्र होता है। वह उनको अपनी इच्छा, बिना किसी बाहरी प्रभाव के बतला सकता है।'' इससे सिद्ध होता है कि राज्य बाहरी और अन्दरूनी रूप से पूर्ण प्रभुसत्ताधारी है।

प्रभुसत्ता की परिभाषा
(Definition of Sovereignty) -

प्रभुसत्ता के बारे में अग्रलिखित परिभाषाएँ दी गयी हैं–

(1) जैलिनेक के अनुसार, ''राजसत्ता (प्रभुसत्ता) राज्य का वह गुण है जिसके कारण वह अपनी इच्छा के अतिरिक्त किसी दूसरे की इच्छा या बाहरी शक्ति के आदेश से नहीं बँधता है।'' (2) ग्रोशियस के अनुसार, ''प्रभुसत्ता किसी में निहित वह सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति है जिसके कार्य किसी दूसरे के अधीन न हों तथा जिसकी इच्छा का कोई उल्लंघन न कर सके।'' (3) बोडिन के अनुसार, ''प्रभुसत्ता नागरिकों तथा प्रजा के ऊपर वह परम शक्ति है जो कि कानूनों से नियन्त्रित नहीं है।'' (4) ड्यूग्विट के अनुसार, ''प्रभुसत्ता राज्य की आदेश देने वाली शक्ति है। वह राज्य के रूप में संगठित राज्य की इच्छा है, यह राज्य की भूमि में रहने वाले सब व्यक्तियों को बिना शर्त आज्ञा देने का अधिकार है।'' (5) बर्गेस के अनुसार, ''प्रभुसत्ता प्रत्येक प्रजाजन व उसके समुदायों पर राज्य की मौलिक, निरंकुश तथा असीमित शक्ति है।'' (6) पोलक ने प्रभुसत्ता की व्याख्या इस प्रकार की है, ''प्रभुसत्ता वह शक्ति है जो न क्षणिक है और न किसी दूसरे द्वारा दी गई है और न ही वह किन्हीं ऐसे नियमों के अधीन है जिन्हें वह बदल न सके।'' (7) विलोबी के अनुसार, ''प्रभुसत्ता राज्य की सर्वोपरि इच्छा होती है।'' (8) लास्की के अनुसार, ''प्रभुसत्ताधारी वैधानिक रूप से प्रत्येक व्यक्ति और समुदाय से उच्चतर है। वह सभी को अपनी इच्छानुसार कार्य करने के लिए बाध्य कर सकता है।'' (9) वुडरो विल्सन के अनुसार, ''प्रभुसत्ता वह शक्ति है जो प्रतिदिन क्रियाशील रह कर कानून बनाती है और उनका पालन कराती है।''

ऊपर लिखी हुई सब परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि प्रभुसत्ता राज्य की सर्वोच्च शक्ति होती है। यह आन्तरिक तथा बाहरी दोनों हो सकती है और यह असीमित होती है। इस पर सैद्धान्तिक दृष्टि से कोई रुकावट नहीं लगाई जा सकती है।

ऐतिहासिक विकास
(Historical Development)

प्रभुसत्ता के परम्परागत सिद्धान्त का निरूपण अनेक विचारकों की कृतियों में देखने को मिलता है। सोलहवीं शताब्दी में जीन बोदां (1530–96), सत्रहवीं शताब्दी में ह्यूगो ग्रोशियस (1583–1645) और टॉमस हॉब्स (1588–1679), अठाहरवीं शताब्दी में जीन जाक रूसो (1712–78) और उन्नीसवीं शताब्दी में जॉन ऑस्टिन (1790–1859) ने इस सिद्धान्त को बहुत स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया। प्रायः ऐसा माना जाता है कि इस सिद्धान्त का उद्भव सोलहवीं शताब्दीं में हुआ। उन दिनों मध्ययुगीन मान्यताएँ और संस्थाएँ लुप्त होती जा रहीं थी और राष्ट्रीय एवं राजतन्त्रीय राज्य का उदय हो रहा था। प्रभुसत्ता का सिद्धान्त इसी राज्य का औचित्य स्थापित करने के उद्देश्य से प्रस्तुत किया गया। एक सशक्त, राष्ट्रीय राजतन्त्र (Powerful National Monarchy) की स्थापना के लिए दो तरह के विचारों का खण्डन आवश्यक था : एक तो यह कि पोप की सत्ता राष्ट्रीय राज्य के अधिपति नरेश के ऊपर होती है, दूसरा यह कि राज्य के भीतर नरेश की शक्तियाँ सामंत–सरदारों, स्वशासी नगरों (Self-Governing Cities) या स्वायत्त श्रेणियों (Autonomous Guilds) के अधिकारों की वजह से कुछ न कुछ सीमित होती है। यही कारण था कि फ्रांस में राष्ट्रीय राजतन्त्र का उदय होने पर जीन बोदां ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'द रिपब्लिक' (राज्य) के अन्तर्गत राज्य को 'परिवारों और उनकी मिली–जुली सम्पदा का ऐसा 'संगठन' बताया, ''जहाँ एक सर्वोच्च शक्ति और विवेक का शासन चलता है।'' उसने प्रभुसत्ता की यह परिभाषा दी–''यह नागरिकों और प्रजाजनों के ऊपर एक ऐसी सर्वोच्च शक्ति की द्योतक है जो कानून के बन्धनों से नहीं बँधी होती।''

ग्रोशियस के अनुसार, ''प्रभुसत्ता सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति है यह उस व्यक्ति में निहित होती है जिसके कार्यों पर किसी दूसरे का नियन्त्रण नहीं होता, और जिसकी इच्छा का उल्लंघन कोई नहीं कर सकता।''

बोदां, ग्रोशियस, हॉब्स, रूसो और ऑस्टिन ने राज्य और प्रभुसत्ता का जो सिद्धान्त प्रस्तुत किया उसका सामान्य और महत्वपूर्ण लक्षण यह विचार था कि राज्य समाज की एक सारभूत संस्था है। राज्य एक मात्र ऐसी संस्था है जो समाज के लिए कानून बनाती है। मनुष्यों के हित तो कहीं एक से होते हैं, कहीं एक–दूसरे के विरोधी, परन्तु राज्य की छत्रछाया में वे मिलजुलकर और विवेकपूर्वक जी सकते हैं। इस स्थिति का स्वाभाविक परिणाम यह है कि कानून की दृष्टि से राज्य की सत्ता अनन्य, सर्वोच्च और असीम है। यही कारण है कि ऑस्टिन के प्रभुसत्ता सिद्धान्त को एकलवादी सिद्धान्त (Monistic Theory) कहा जाता है।

प्रभुसत्ता के लक्षण या विशेषताएँ
(Characteristics or Attributes of Sovereignty)

प्रभुसत्ता के निम्नलिखित लक्षण है –

1. पूर्णता (Absoluteness)
2. सार्वभौमिकता (Universality)
3. अदेयता (Inalienability)
4. स्थायित्व (Permanence)
5. अविभाज्यता (Indivisibility)
6. अनन्यता (exclusiveness)

1. पूर्णता **(Absoluteness)**– प्रभुसत्ता एक पूर्ण और असीम शक्ति है। यह अन्य किसी शक्ति पर आश्रित नहीं। राज्य के भीतर सभी व्यक्ति और उनके समूह प्रभुसत्ताधारी के अधीन होते है। राज्य के बाहर भी प्रभुसत्ताधारी को अपने राज्य के सन्दर्भ में सर्वोच्च माना जाता है। अन्य कोई राज्य न तो उसके मामलों में हस्तक्षेप कर सकता है, न उसे किसी बात के लिए विवश कर सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय संधियाँ और समझौते (International Treaties and Agreements) प्रभुसत्ता को नष्ट नहीं कर देते क्योंकि कोई राज्य इन्हें अपनाने को बाध्य नहीं होता। ये तभी तक मान्य होते हैं जब तक प्रभुसत्ता–सम्पन्न राज्य उनका सम्मान करने को तैयार हो। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय कानून (International Law) की व्याख्या तो कर सकता है, परन्तु उसे लागू करना उसके हाथ में नहीं। वैसे प्रभुसत्ता का परम्परागत सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानून की कोटि में रखने को ही तैयार नहीं क्योंकि वह किसी प्रभुसत्ताधारी की इच्छा को व्यक्त नहीं करता।

2. सार्वभौमिकता **(Universality)**– प्रभुसत्ता राज्य के भीतर सभी व्यक्तियों, संस्थाओं और अन्य वस्तुओं में सर्वोच्च होती है। वैसे राज्य चाहे तो किसी विषय को अपने अधिकार–क्षेत्र से बाहर रख सकता है, परन्तु कोई व्यक्ति या संगठन राज्य के अधिकार–क्षेत्र से मुक्ति की माँग नहीं कर सकता। अतः राज्य के सीमा–क्षेत्र के अन्तर्गत प्रभुसत्ता एक सर्वव्यापक, सार्वभौम और सार्वजनिक शक्ति है। राजनयिक मिशनों को राज्य के अधिकार–क्षेत्र से जो उन्मुक्ति प्राप्त होती है, वह अन्तर्राष्ट्रीय शिष्टाचार का विषय है प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का यथार्थ अपवाद नहीं। कोई भी राज्य अपनी प्रभुसत्ता के बल पर किसी को ऐसी उन्मुक्ति (Immunity) प्रदान करने से इन्कार कर सकता है।

3. अदेयता **(Inalienability)**– प्रभुसत्ता चूँकि अखण्ड और असीम होती है, इसलिए यह किसी और को नहीं सौंपी जा सकती। यदि प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य अपनी प्रभुसत्ता किसी और को हस्तान्तरित करना चाहे तो उसका अपना अस्तित्व ही मिट जायेगा। दूसरे शब्दों में, राज्य के हाथ से प्रभुसत्ता निकल जाने पर वह राज्य ही न रह जायेगा। यदि एक राज्य अपने क्षेत्र का कोई हिस्सा किसी राज्य को अर्पित कर देता है तो उस हिस्से पर उसकी अपनी प्रभुसत्ता समाप्त हो जाएगी और दूसरे राज्य की प्रभुसत्ता स्थापित हो जाएगी। यदि कोई प्रभुसत्ताधारी सिंहासन या सत्ता का त्याग करता है तो ऐसी हालात में सरकार बदल जाती है, प्रभुसत्ता का स्थान नहीं बदलता।

गार्नर ने कहा है कि, '' सम्प्रभुता राज्य का व्यक्तित्व और उसकी आत्मा है। जिस प्रकार मनुष्य का व्यक्तित्व अदेय है और वह उसे किसी दूसरे को नहीं दे सकता, इसी प्रकार राज्य की सम्प्रभुता भी किसी अन्य को नहीं दी जा सकती।''

रूसो कहता है कि, ''प्रभुसत्ता में सामान्य इच्छा का अनुष्ठान होने के कारण उसका भी विच्छेद नहीं किया जा सकता.. .....शक्ति हस्तान्तरित की जा सकती है, पर इच्छा नहीं।''

लीवर ने कहा है, '' जिस प्रकार आत्महत्या के बिना मनुष्य अपने जीवन को या वृक्ष अपने फलने–फूलने के गुण को पृथक् नहीं कर सकता है, उसी प्रकार प्रभुसत्ता को भी राज्य से पृथक् नहीं किया जा सकता है।''

4. स्थायित्व **(Permanence) -** जैसे राज्य स्थायी होता है, वैसे ही प्रभुसत्ता भी स्थायी होती है। जब तक राज्य का अस्तित्व रहता है तब तक प्रभुसत्ता भी रहती है। दोनों को पृथक्–पृथक् नहीं किया जा सकता। सम्राट या राष्ट्रपति की मृत्यु या पद–त्याग से प्रभुसत्ता का अन्त नहीं होता बल्कि वह तत्काल दूसरे सम्राट् या राष्ट्रपति में निहित हो जाती है। सरकार बदल जाने पर जैसे राज्य का अस्तित्व बना रहता है, वैसे ही प्रभुसत्ता का अस्तित्व भी बना रहता है।

डॉ. गार्नर ने इन्हीं भावों को इस तरह प्रकट किया है : ''प्रभुसत्ता मृत्यु अथवा विशेष वाहक के अस्थाई रूप में अधिकार वंचित अथवा राज्य के पुनर्निर्माण के साथ समाप्त नहीं होती है बल्कि तुरन्त नए वाहक के हाथ में उसी प्रकार बदल जाती है जैसे भौतिक शरीर के बाहरी परिवर्तन के समय आकर्षण का केन्द्र एक अंग से दूसरे अंग में बदल जाता है।''

5. अविभाज्यता **(Indivisibility) -** प्रभुसत्ता चूँकि पूर्ण और सर्वव्यापक होती है, इसलिए इसके टुकड़े नहीं किए जा सकते। यदि प्रभुसत्ता के टुकड़े कर दिए जाएँ तो राज्य के भी टुकड़े–टुकड़े हो जाएँगें। अन्य समूह या संस्थाएँ अपने सदस्यों के सन्दर्भ में जिस सत्ता का प्रयोग करती हैं, वह उन्हें राज्य की प्रभुसत्ता में से काटकर नहीं दी जाती, बल्कि वह राज्य की प्रभुसत्ता की देन होती है। राज्य की प्रभुसत्ता के सामने अन्य सब व्यक्तियों और संस्थाओं की सत्ता गौण होती है। संघीय व्यवस्था (Federal System) के अन्तर्गत भी प्रभुसत्ता संघ और इकाइयों में बँट नहीं जाती बल्कि निर्दिष्ट विषयों के सन्दर्भ में उनके अधिकार–क्षेत्र बँटे होते हैं। अधिकार क्षेत्रों का यह वितरण या उनमें कोई संशोधन भी प्रभुसत्ता के प्रयोग से ही सम्भव होता है।

काल्होन के अनुसार, '' सर्वोच्च सत्ता एक पूर्ण वस्तु है। इसको विभक्त करना, इसको नष्ट करना है। यह राज्य की सर्वोच्च शक्ति है। जिस प्रकार हम अर्द्ध वर्ग अथवा अर्द्ध–त्रिभुज की कल्पना नहीं कर सकते, उसी प्रकार अर्द्ध–सर्वोच्च सत्ता की भी कल्पना नहीं की जा सकती है।'' गेटेल ने भी कहा है, ''अगर प्रभुसत्ता पूर्ण नहीं होती है तो किसी भी राज्य का अस्तित्व नहीं रह सकता अगर प्रभुसत्ता विभाजित है, तो इसका अर्थ एक से अधिक राज्यों का अस्तित्व है।''

6. अनन्यता **(Exclusiveness) -** इसका अर्थ यह है कि राज्य में दो प्रभुसत्ताधारी नही हो सकते हैं क्योंकि यदि एक राज्य में दो प्रभुसत्ताधारी (Sovereign) मान लिये जाएँ तो उससे राज्यों की एकता नष्ट हो जाती है। एक प्रभुत्वसम्पन्न राज्य (Sovereign State) के अन्दर दूसरा प्रभुत्व–सम्पन्न राज्य

नहीं रह सकता है।

प्रभुसत्ता के विभिन्न रूप
(Different Kinds of Sovereignty)

प्रभुसत्ता निम्न प्रकार की होती है–

(1) नाम मात्र तथा वास्तविक (यथार्थ) प्रभुसत्ता– पहले बहुत से देशों में राजा या सम्राट निरंकुश होते थे। उनके हाथ में वास्तविक शक्तियाँ थीं और संसद कठपुतली होती थी। उस समय वे वास्तविक प्रभुसत्ता का प्रयोग करते थे। इसलिए उन्हें उस समय वास्तविक प्रभुसत्ताधारी कहा जाता था, जैसे इंग्लैण्ड में पन्द्रहवीं शताब्दी से पूर्व, रूस में अट्ठाहरवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में और फ्रांस में 1789 ईसवी से पूर्व सम्राट् सर्वोपरि थे। इंग्लैण्ड में गौरवपूर्ण क्रान्ति (1588 ईसवीं) के पश्चात् यह स्थिति बदली। अब वहाँ सम्राट् की नाममात्र शक्तियाँ रह गई हैं। व्यवहार में उसे अपने मन्त्रियों को चेतावनी देने, सूचना प्राप्त करने, सलाह देने और प्रोत्साहन देने का अधिकार है। इन साधारण शक्तियों के अतिरिक्त ब्रिटिश सम्राट की सारी शक्तियों का प्रयोग मन्त्री ही करते हैं। इसलिए यह मानना पड़ेगा कि ब्रिटिश सम्राट या महारानी के पास नाम मात्र की प्रभुसत्ता होती है। अंग्रेजी प्रभुसत्ता की इस बदली हुई स्थिति के बारे मे लावेल ने लिखा है कि "संविधान के प्रारंम्भिक सिद्धान्त के अनुसार सम्राट् के परामर्शदाता मन्त्रिगण होते थे। उनका कार्य था मन्त्रणा देना तथा सम्राट् का कार्य था निर्णय परन्तु अब स्थिति बदल गई है। अब सम्राट् मन्त्रणा देता है और मन्त्री निर्णय करते हैं।"

(2) वैधानिक प्रभुसत्ता **(Legal Sovereignty)**– किसी भी देश में वहाँ की सर्वोच्च कानून बनाने वाली शक्ति को कानूनी राजसत्ताधारी कहते हैं। उसको उस देश में संविधान बनाने, संशोधन करने और रद्द करने का पूर्ण अधिकार होता हैं। इंग्लैण्ड में सम्राट सहित संसद **(King-in-Parliament)** वहाँ की प्रभुसत्ताधारी है। इंग्लैण्ड में संसद को साधारण और संवैधानिक दोनों प्रकार के कानूनों में संशोधन करने का एक ही विधि से पूर्ण अधिकार होता है। डायसी के अनुसार, "ब्रिटिश संसद संवैधानिक दृष्टि से इतनी शक्तिशाली है कि वह शिशु को प्रौढ़ करार दे सकती है। मृत्यु के बाद किसी भी व्यक्ति को राजद्रोही सिद्ध कर सकती है। वह गैर–कानूनी सन्तान को कानूनी करार दे सकती है और यदि वह उचित समझे तो किसी व्यक्ति को अपने मामले में न्यायाधीश बना सकती है।" यद्यपि कानूनी दृष्टि से ब्रिटिश संसद को वे सभी शक्तियाँ प्राप्त हैं परन्तु व्यवहार में वह ऐसा नहीं कर सकती क्योंकि इसे बहुत से रीति–रिवाजों, नियमों तथा सिद्धान्तों का ध्यान रखना पड़ता है।

(3) राजनीतिक प्रभुसत्ता **(Political Sovereignty)** – डायसी ने कहा है कि "कानूनी प्रभुसत्ता के अतिरिक्त जिसे वकील मान्यता देते हैं, एक और प्रभुसत्ता होती है जिसके सामने वैधानिक प्रभुसत्ताधारी **(Legal Sovereign)** को भी झुकना पड़ता है। इस प्रभुसत्ताधारी को राजनीतिक प्रभुसत्ताधारी **(Political Sovereign)** कहा जाता है। "प्रत्येक राज्य में वैधानिक प्रभुसत्ताधारी **(Legal Sovereign)** को राजनीतिक प्रभुसत्ता की बहुत–सी बातें माननी पड़ती हैं। प्रोफेसर गिलक्राइस्ट के मतानुसार, "राजनीतिक प्रभुसत्ताधारी का अर्थ है, राज्य में कानून के पीछे रहने वाला सामूहिक प्रभाव। आधुनिक प्रतिनिध्यात्मक सरकार में हम उसे मोटे तौर पर लोगों की इच्छा कह सकते हैं।" अतः राजनीतिक प्रभुसत्ताधारी से हमारा आशय मतदाताओं तथा राज्य में उन सब अन्य प्रभावों से है जो लोकमत को बनाते हैं। लोकतन्त्र में मतदान, समाचार–पत्र, सभाओं, विरोध–प्रदर्शन, प्रतिनिधि मण्डल, हड़तालों, क्लब, सोसायटियों, दबावसमूहों इत्यादि उपायों द्वारा कानून बनाने वाली सत्ता पर प्रभाव डाला जाता है तथा उसे नियन्त्रित किया जाता है। अतः मतदाता तथा लोकमत की शक्ति को ही राजनीतिक प्रभुसत्ताधारी कहा जाता है।

(4) लौकिक प्रभुसत्ता **(Popular Sovereignty)**– इसका प्रायः यह अर्थ लिया जाता है कि जनता की शक्ति सबसे बड़ी है। इस सिद्धान्त को प्राचीन काल में कई लेखकों ने राजाओं की निरंकुशता का खण्डन करने के लिए अपनाया। अतः यह सिद्धान्त अमेरिका के संविधान मे भी अपनाया गया। डॉक्टर गार्नर के अनुसार "लौकिक प्रभुसत्ता का अभिप्राय केवल यही है कि जिन राज्यों में वयस्क (बालिग) को वोट देने का अधिकार है, उनमें मतदाताओं को अपनी इच्छा प्रकट करने और उस पर अमल करवाने की सत्ता प्राप्त है।"

(5) विधितः और वस्तुतः प्रभुसत्ता **(De Jure and De Facto Sovereignty)**– कई बार विधितः (कानूनी) और वस्तुतः प्रभुसत्ता (Real sovereignty) में अन्तर किया जाता है। विधितः प्रभुसत्ताधारी (De Jure Sovereign) वह होता है जो वैधानिक दृष्टि से राज्य के सर्वोच्च आदेश जारी कर सकता है। कानून के अनुसार उसे शासन करने का अधिकार है और वह अपनी आज्ञा का पालन करवा सकता है।

कई बार जब किसी देश पर कोई आक्रमण हो जाता है अथवा उसमें क्रांति हो जाती है तो विधितः प्रभुसत्ताधारी अपनी आज्ञा का पालन करवाने में असमर्थ रहता है और कोई नया आक्रमणकारी या क्रान्तिकारी नेता चाहे वह कोई बड़ा जनरल हो, अथवा तानाशाह हो या सम्राट् हो अथवा जननायक हो, वस्तुतः प्रभुसत्ताधारी बन जाता है। उदाहरणस्वरूप, 1949 ईसवी से पूर्व चीन में मार्शल च्याँगकाई शेक की कोमिताँग पार्टी की हुकूमत थी। वही वहाँ की विधितः प्रभुसत्ताधारी थी परन्तु 1949 ईसवीं में वहाँ साम्यवादी क्रान्ति हुई। उसके बाद वहाँ साम्यवादी दल (कम्युनिस्ट पार्टी) की हुकूमत बन गई। साम्यवादी दल वहाँ का वस्तुतः प्रभुसत्ताधारी बन गया और मार्शल च्याँगकाई शेक फारमोसा भाग गया। बाद में भारत, फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन, इण्डोनेशिया, सोवियत संघ इत्यादि ने चीन की साम्यवादी सरकार को मान्यता दे दी। इसलिए उनकी दृष्टि में चीन की साम्यवादी सरकार विधितः (कानूनी तौर पर) तथा वस्तुतः (वास्तविक रूप में) दोनों प्रकार से प्रभुसत्ताधारी है। अब संयुक्त राज्य अमेरिका तथा कई अन्य देशों ने भी उसको मान्यता दी है इसलिए अब चीन की साम्यवादी सरकार वस्तुतः प्रभुसत्ताधारी (De Facto Sovereign) है तथा विधितः प्रभुसत्ताधारी (De Jure Sovereign) बन गई है। द्वितीय विश्व–युद्ध के पश्चात् मिस्र में क्रान्ति से पूर्व सम्राट् फारुख की हकूमत थी। इसलिए वही सरकार सब देशों के अनुसार वहाँ की वस्तुतः प्रभुसत्ताधारी तथा विधितः प्रभुसत्ताधारी थी परन्तु जनरल नजीब के नेतृत्व में वहाँ पर क्रान्ति

हुई। बाद में जनरल नजीब को क्रान्तिकारी परिषद् ने हटा दिया और नासिर ने अपनी सत्ता स्थापित कर ली। लगभग सभी विदेशी सरकारों ने नासिर की सरकार को अपनी मान्यता दे दी। इसलिए यह सरकार वस्तुतः तथा विधितः प्रभुसत्ताधारी बन गई।

जिन देशों में सैनिक क्रान्तियाँ होती हैं, वहाँ पर यथार्थ अथवा वस्तुतः प्रभुसत्ताधारी सारी शक्ति को हथिया लेता है और उसकी सरकार वस्तुतः प्रभुसत्ताधारी बन जाती है। जैसे लेनिन ने 1917 में क्रान्ति के पश्चात् अपनी सरकार स्थापित की। पाकिस्तान में 1958 ई. में मार्शल अय्यूब खाँ ने सैनिक क्रान्ति के आधार पर शक्ति प्राप्त की। वह लगभग दस वर्षों तक वास्तविक शासक बना रहा। बाद में 1968 में याहिया खाँ ने उससे सत्ता छीन ली। 1971 के भारत–पाक युद्ध में पाकिस्तान की पराजय के पश्चात् यहिया खाँ का पतन हो गया और उसने विवश होकर सत्ता जुल्फीकार अली भुट्टो को सौंप दी। उसे सैनिक सहायता से पद से हटा कर जियाउल हक ने सत्ता 5 जुलाई, 1977 को सम्भाली। इसी प्रकार ईरान के अन्तिम सम्राट् रजाशाह पहलवी को पद से हटा कर खुमैनी ने फरवरी 1979 में सत्ता सँभाली। अफगानिस्तान में नूर मोहम्मद तराकी को पद से हटा करके कमाल बरबक ने दिसम्बर 1979 में सत्ता सँभाली। सैनिक क्रान्ति के कुछ समय पश्चात् जब विदेशों की सरकारें यह अनुभव करने लगती हैं कि क्रान्तिकारी नेता का अपने देश पर वास्तविक नियन्त्रण स्थापित हो गया है, तो वे उसकी सरकार को मान्यता प्रदान कर देती हैं। पाकिस्तान, अफगानिस्तान और ईरान की नई सरकारों के विषय में ऐसा ही हुआ है। उस समय यथार्थ या वस्तुतः सरकार विधितः (कानूनी) भी बन जाती है।

महत्वपूर्ण बिन्दु

राज्य के तत्त्व

1. जनसंख्या **(Population),** 2. निश्चित प्रदेश या भूमि **(Territory),** 3. सरकार **(Government),** 4. प्रभुसत्ता **(Sovereignty),**

राज्य और सरकार में अन्तर

1. राज्य अमूर्त और सरकार मूर्त है, 2. सरकार राज्य की एजेण्ट होती है, 3. सरकार राज्य का अंग है, 4. राज्य के पास राजसत्ता है सरकार के पास नहीं, 5. सरकार परिवर्तनशील राज्य स्थायी, 6. राज्य की सदस्यता अनिवार्य, सरकार की नहीं, 7. राज्य के लिए क्षेत्र अनिवार्य, सरकार के लिए नहीं, 8. सरकार का विरोध किया जा सकता है राज्य का नहीं

राज्य और समाज में अन्तर

1. राज्य एक राजनीतिक व्यवस्था, समाज एक सामजिक व्यवस्था है।

2. समाज के पास प्रभुसत्ता नहीं रहती, राज्य के पास रहती है।

3. समाज राज्य से पहले बना है। राज्य का विकास बाद में हुआ।

4. राज्य मनुष्य के राजनैतिक पहलू से सम्बन्धित है, समाज नैतिक पहलू से।

5. समाज के लिए क्षेत्र आवश्यक नहीं, राज्य के लिए है।

राज्य के विकासक्रम की विशेषताएँ

1. राज्य का विकास सरलता से जटिलता की ओर हुआ है।

2. प्रारम्भ में राज्यों की जनसंख्या कम थी और क्षेत्र छोटा था।

3. राज्य के विकास के साथ–साथ नागरिकों में राजनीतिक चेतना का भी विकास होता गया है।

4. राज्य के विकास के प्रारम्भिक स्तरों पर राज्य और धर्म एक दूसरे से संयुक्त थे।

5. राज्य के विकास के प्रारम्भिक स्तरों पर सामान्यतया निरंकुश शासन व्यवस्थाएँ थीं, जिनमें व्यक्तिगत स्वतंत्रता को स्थान प्राप्त नहीं था।

प्रभुसत्ता या सम्प्रभुता

प्रभुसत्ता को हिन्दी में राजसत्ता अथवा संप्रभुता भी कहा जाता है। अंग्रेजी में इसको सावरेन्टी कहा जाता है जो लैटिन भाषा के 'सुप्रेनस' (Suprenus) शब्द से निकला है जिसका अर्थ सर्वोच्च शक्ति होता है।

प्रभुसत्ता के दो पहलू– प्रभुसत्ता दो प्रकार की होती है, एक आन्तरिक और दूसरी बाहरी।

प्रभुसत्ता (राजसत्ता) के लक्षण (विशेषताएँ) (Characteristics or Attributes of Sovereignty)

प्रभुसत्ता के निम्नलिखित लक्षण है –

1. पूर्णता (Absoluteness)
2. सार्वभोमिकता (Universality)
3. अदेयता (Inalienability)
4. स्थायित्व (Permanence)
5. अविभाज्यता (Indivisibility)
6. अनन्यता (exclusiveness)

प्रभुसत्ता के विभिन्न रूप

(1) नाम मात्र तथा वास्तविक (यथार्थ) प्रभुसत्ता, (2) वैधानिक प्रभुसत्ता, (3) राजनीतिक प्रभुसत्ताएँ 4) लौकिक प्रभुसत्ताएँ (5) विधितः और वस्तुतः प्रभुसत्ताएँ,

महत्वपूर्ण प्रश्न

अतिलघूत्तरीय प्रश्न (शब्द सीमा 20 शब्द)

1. राज्य की सर्वोत्तम परिभाषा किस विद्वान की मानी जाती है?
2. राज्य और सरकार में कोई दो अन्तर बताइये?
3. राज्य और समुदाय में सरकार किसका आवश्यक तत्त्व है?
4. राज्य के तत्त्व लिखिए?
5. प्रभुसत्ता के कितने लक्षण हैं?
6. प्रभुसत्ता कितने प्रकार की होती है ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न (शब्द सीमा)

1. राज्य की उपयोगिता स्पष्ट कीजिए।
2. प्रभुसत्ता की विभिन्न परिभाषाओं की व्याख्या कीजिए।
3. प्रभुसत्ता के विभिन्न लक्षणों को स्पष्ट कीजिए।
4. प्रभुसत्ता के विभिन्न रूपों की व्याख्या कीजिए।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. राज्य की परिभाषा दीजिए तथा उसके विभिन्न तत्त्वों का वर्णन कीजिए।
2. राज्य की उत्पत्ति तथा विकास में सहायक तत्त्वों की व्याख्या कीजिए।
3. प्रभुसत्ता से आप क्या समझते हैं ? प्रभुसत्ता के विभिन्न रूपों एवं लक्षणों का विश्लेषण कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. राज्य और अन्य समुदायों में मुख्य अन्तर है
   (अ) स्वरूप का (ब) सम्प्रभुता का
   (स) सहयोग का (द) उत्पत्ति का ( )
2. रूसो के अनुसार प्रभुसत्ता का निवास कहाँ पर है
   (अ) सम्राट में (ब) संसद में
   (स) सामान्य इच्छा में (द) वयस्क नागरिकों में ( )

3 निम्नलिखित में कौनसा प्रभुसत्ता का लक्षण है ?
   (अ) अदेयता (ब) नागरिकता
   (स) तानाशाही (द) अधिकार ( )
4. निम्नलिखित में कौनसा प्रभुसत्ता का लक्षण नहीं है ?
   (अ) मताधिकार (ब) पूर्णता
   (स) अनन्यता (द) अदेयता ( )

उत्तरमाला वस्तुनिष्ठ प्रश्न :–

1(ब) 2(स) 3(अ) 4(अ)

अध्याय–5
राज्य का स्वरूप
(Nature of State)

'पृथ्वी के किसी निश्चित भाग में शान्तिमय जीवन के लिए संगठित लोगों को राज्य कहते हैं।'

– वुड्रो विल्सन

राज्य का भारतीय दृष्टिकोण
(Indian Perspective of the State)

राज्य के विषय में प्राचीन भारतीय चिंतन में विस्तार से प्रकाश डाला गया है। मनुस्मृति, शुक्रनीति, महाभारत का शांतिपर्व और कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र में राज्य की उत्पत्ति, स्वरूप, राज्य का कार्यक्षेत्र आदि का विस्तार से उल्लेख किया है। इस संदर्भ में राज्य के स्वरूप को स्पष्ट करने हेतु निम्नांकित बिन्दुओं का विश्लेषण आवश्यक है।

(1) राज्य की उत्पत्ति– मनुस्मृति, शुक्रनीति और शांतिपर्व के अंतर्गत राज्य से पूर्व की अवस्था का वर्णन करते हुए यह कहा है कि राज्य विहीन अवस्था में समाज में चारों ओर अन्याय, उत्पीड़न भय तथा असुरक्षा का वातावरण व्याप्त था। बलवान लोग निरंकुश थे और वे निर्बलों पर नाना प्रकार के अत्याचार करते थे। निर्बल लोग असुरक्षित थे और बलवानों के भय से इधर–उधर छिपते फिरते थे। ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण संसार की रक्षा के लिए और निर्बलों के मन से असुरक्षा के भाव को दूर करने तथा बलवानों पर अंकुश लगाने के लिए स्वयं ईश्वर ने राजा की सृष्टि की।' ईश्वर की निर्मिति होने के कारण राजा निरंकुश है किन्तु धर्म एवं नैतिकता के बंधनों से वह मर्यादित है। राजा इन्द्र, सूर्य, वायु, यम, वरुण, चन्द्रमा, अग्नि, पृथ्वी और कुबेर जैसे तात्विक गुणों से युक्त होता है।

कौटिल्य ने राज्य की उत्पत्ति के समझौता सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है और राज्य की उत्पत्ति को एक सामाजिक समझौते का परिणाम माना है। यह समझौता शासक व शासितों के मध्य हुआ है, इसमें शासक के शासितों के प्रति कुछ कर्त्तव्य हैं तो शासितों के शासक के विरूद्ध कुछ अधिकार भी हैं। प्रजा या शासितों द्वारा राजा को अपदस्थ कर किसी अन्य योग्य व्यक्ति को शासक बनाने की शक्ति का प्रयोग यह व्यक्त करता है कि कौटिल्य ने शासकीय शक्ति का अन्तिम स्रोत जनता को माना है और जनता की सहमति को इस शासकीय शक्ति का आधार माना है।

(2) राज्य का स्वरूप– प्राचीन भारतीय विचारकों ने राज्य के सावयवी स्वरूप का वर्णन किया गया है और राज्य के सात घटक माने हैं जिन्हें 'प्रकृति' नाम दिया गया है। राज्य की सात प्रकृतियाँ निम्नानुसार हैं–

(1) स्वामी : मनु ने राजा को स्वामी की संज्ञा दी है और नैतिक गुणों और प्रशासनिक क्षमता से युक्त एक कर्त्तव्यनिष्ठ राजा को राज्य के लिए आवश्यक माना है। शुक्रनीति और शांतिपर्व में स्वामी के स्थान पर राजा शब्द प्रयुक्त हुआ है।

(2) मंत्री : प्राचीन भारतीय दार्शनिकों के अनुसार राज्य की शक्ति राजा की निजी शक्ति नहीं है बल्कि एक संस्थागत शक्ति है। अतः राजा इस शक्ति का प्रयोग संस्थागत रूप में ही कर सकता है। राज्य की शक्ति के संस्थागत रूप का नाम मंत्रिपरिषद् है। अतः राजा को यह चाहिए कि वह राज्य के दायित्वों के निर्वाह संबंधी प्रत्येक कार्य मंत्रियों के परामर्श के अनुसार ही करे और मंत्रीपद पर सुयोग्य व्यक्तियों की नियुक्ति करे। कौटिल्य ने मंत्री के लिए अमात्य शब्द का प्रयोग किया है।

(3) पुर : पुर का अर्थ राज्य की राजधानी से है। मनु ने ऐसे क्षेत्र को राज्य की राजधानी बनाने का उल्लेख किया है जो भली–भांति सुरक्षित हो और जिसमें दुर्ग भी हो। कौटिल्य के अर्थशास्त्र, शुक्रनीति और शांतिपर्व में दुर्ग को राज्य की प्रकृति का तीसरा अंग माना गया है। प्राचीन भारतीय ग्रंथों में दुर्गों के कई प्रकार बताये गये है, जैसे– धन्वन दुर्ग, महिदुर्ग, जल दुर्ग, वृक्ष दुर्ग, मनुष्य दुर्ग एवं गिरि दुर्ग।

(4) राष्ट्र : भारतीय विचारकों ने एक निश्चित भौगोलिक सीमाओं के अधीन आने वाली भूमि और उस पर निवास करने वाली जनता को राष्ट्र की संज्ञा दी है। कौटिल्य ने इसके लिए जनपद और शांतिपर्व में देश शब्द प्रयोग किया है। जनपद की भौगोलिक परिस्थितियां ऐसी होनी चाहिए जिसके कारण इनकी रक्षा करना सुगम हो। जनपद की भूमि उपजाऊ होनी चाहिए तथा जनपद में सरोवर, नदियां, पर्वत तथा वन प्रचुर मात्रा में होने चाहिए।

(5) कोष : राज्य में शासन के पास एकत्रित धन को कोष का नाम दिया है और यह विचार व्यक्त किया है कि राज्य के पास पर्याप्त कोष होने पर ही राजा प्रजा की सुरक्षा और उसके कल्याण के लिए विभिन्न कार्यों को कर सकेगा।

(6) दण्ड : दण्ड या सेना को भारतीय विचारक राज्य की सुरक्षा के लिए अनिवार्य मानते हैं। सेना पर सुरक्षा का दोहरा दायित्व होता है आन्तरिक तथा बाह्य सुरक्षा। मनु ने राजा से यह अपेक्षा की है कि वह राज्य की रक्षा के लिए सेना के सभी अंगों जैसे हाथी सेना, रथ सेना, अश्व सेना, जल सेना तथा पैदल सेना आदि को सुदृढ़ बनाये रखे।

(7) मित्र : भारतीय विचारकों ने मित्र को भी राज्य के आवश्यक अंग के रूप में स्वीकार किया है। उनके अनुसार राज्य को अन्य राज्यों के साथ भी अपने संबंधों का निर्वाह करना पड़ता है। अतः इन संबंधों के कुशलतापूर्ण संचालन के लिए यह

आवश्यक है कि राजा ऐसे प्रयास करे कि उसके मित्र राज्यों की संख्या अधिकतम हो और शत्रु राज्यों की संख्या न्यूनतम हो।

राज्य के इन सभी अंगों के तुलनात्मक महत्व के संबंध में भारतीय विचारकों ने कहा है कि प्रत्येक प्रकृति का महत्त्व उसके पश्चात दी गई प्रकृति की तुलना में अधिक है। इस प्रकार स्वामी अर्थात् राजा को राज्य का शीर्षस्थ घटक माना जाना चाहिए। राजा द्वारा सर्वाधिक महत्त्व मंत्री को दिया जाना चाहिए। राजा तथा मंत्री द्वारा राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था को सुचारू रूप से संचालित करने के लिए अन्य प्रकृतियों का समुचित उपयोग किया जाना चाहिए। राज्य की प्रकृतियों की तुलनात्मक वरीयता का निर्धारण करते हुए भी मनु ने यह माना है कि किसी समय विशेष में किसी कार्य विशेष के निष्पादन में जिस प्रकृति विशेष की भूमिका हो उस समय विशेष में वह प्रकृति सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानी जानी चाहिए।

(3) राज्य का कार्यक्षेत्र– प्राचीन भारतीय विचारकों ने राज्य के कार्यक्षेत्र का व्यवस्थित विवेचन किया है। राज्य के कर्त्तव्यों में मनु ने प्रजा रक्षण, प्रजा पालन तथा धर्म के अनुसार सामाजिक व्यवस्था के निर्वाहकों को महत्वपूर्ण माना है। प्राचीन भारतीय विचारकों के अनुसार राज्य के प्रमुख कर्तव्य निम्नानुसार हैं :–

(**I**) प्रजारक्षण : यह राज्य का प्रमुख दायित्व है। प्राचीन भारतीय विचारकों के अनुसार प्रजारक्षण वास्तविक रूप में राज्य के अस्तित्व का आधार है क्योंकि प्रजा को सुरक्षा प्रदान करने के लिए ही ईश्वर ने राज्य की सृष्टि की। प्रजा की रक्षा के इस दायित्व का निर्वाह करने के लिए राज्य को आन्तरिक क्षेत्र में शांति एवं व्यवस्था की स्थापना करनी चाहिये और बाहरी आक्रमण से प्रजा की रक्षा करनी चाहिए। साथ ही राज्य को अपराधियों और समाज कंटकों से प्रजा की रक्षा करनी चाहिए और उसे अनाचार, चोरी, डकैती आदि अपराधों को रोकने के लिए अपनी दण्ड शक्ति का प्रयोग करना चाहिए। मनु के अनुसार प्रजा रक्षण का कार्य करने वाले राजा के सुखों में वृद्धि होती है किन्तु इन कार्यों की उपेक्षा करने से प्रजा दुःखी रहती है एवं राजा का नाश होता है।

(**ii**) प्रजापालन : मनुस्मृति, शांतिपर्व, शुक्रनीति और अर्थशास्त्र में प्रजापालन को भी राज्य का एक महत्वपूर्ण कर्त्तव्य माना है। राज्य द्वारा प्रजा के लिए चारों पुरूषार्थों–धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की स्थापना को मनु ने राज्य का महत्वपूर्ण दायित्व माना है। मनु के अनुसार राज्य का यह कर्त्तव्य है कि अप्राप्त धन एवं भूमि को प्राप्त करे, जो प्राप्त हो उसकी रक्षा करे रक्षित की वृद्धि करे और होने वाली वृद्धि का सुपात्रों में वितरण करे।'

प्रजापालन के दायित्व की पूर्ति के लिए मनु ने राज्य के अनेक दायित्वों की पूर्ति को आवश्यक माना है जैसे–कृषि की उन्नति में मदद देना तथा सिंचाई के साधनों का प्रबन्ध करना। व्यापार की उन्नति में मदद देना तथा यातायात के मार्गों का विकास करना और इन्हें लुटेरों से सुरक्षित रखना। नाप–तोल के बाटों का निरीक्षण करना, मूल्यों का नियंत्रण करना एवं मिलावट को रोकना। अनाथ बालकों तथा असहाय व्यक्तियों एवं उनकी सम्पत्ति की रक्षा करना। असहाय एवं रोगी स्त्रियों और उनकी सम्पत्ति की रक्षा करना। पाठशालाओं, देवालयों, औषधालयों एवं धर्मशालाओं का निर्माण करना। ब्राह्मणों का सम्मान करना एवं दान आदि के द्वारा उनकी आर्थिक सहायता करना। समाज कंटकों, धूर्तों, ठगों एवं जुआरियों तथा रिश्वतखोर कर्मचारियों आदि को दण्डित करना आदि।

(**iii**) अर्थव्यवस्था का नियमन : वैदिक परम्परा के अनुसार धर्म के बाद अर्थ को एक महत्वपूर्ण पुरूषार्थ माना गया है। उसके अनुसार प्रजा एवं स्वयं राजा को धन का उपार्जन धर्मानुसार ही करना चाहिए। प्रजा की भौतिक और आर्थिक उन्नति को सुनिश्चित करना राज्य का कर्त्तव्य है। राजा प्रजा से न्यायपूर्वक कर ग्रहण करे तथा प्रजा की सम्पत्ति एवं समृद्धि के अन्य साधनों की रक्षा करे। मनु ने राजा को यह परामर्श दिया है कि वह प्रजा से उसकी सामर्थ्य के अनुसार कर ग्रहण करे तथा प्रजा पर करों का अनावश्यक बोझ न लादे। इसके अतिरिक्त मनु ने राजा से यह अपेक्षा की है कि वह व्यापारियों के हितों की रक्षा करे और साथ ही व्यापारियों द्वारा किये जाने वाले आर्थिक अपराध जैसे मिलावट करना, अधिक मूल्य लेना तथा कम तोलना आदि से प्रजा की रक्षा करे।

(**iv**) सामाजिक व्यवस्था का निर्वाह व नियमन : प्राचीन भारतीय विचारकों ने सामाजिक व्यवस्था का निर्वाह व नियमन राज्य का कर्त्तव्य माना है, राज्य प्रत्येक वर्ण द्वारा उसके निर्धारित कर्त्तव्यों के पालन को सुनिश्चित करे। धर्म को सामाजिक व्यवस्था का मूल आधार मानते हुए मनुस्मृति में समाज के सभी व्यक्तियों से यह अपेक्षा की गई है कि वे स्वधर्म का पालन करें साथ ही शासक से यह अपेक्षा की गई है कि वह अपनी दण्ड शक्ति के माध्यम से समाज के सभी व्यक्तियों को स्वधर्म पालन हेतु बाध्य करे। उसके अनुसार यदि विभिन्न वर्णों के सदस्य अपने निर्धारित कर्त्तव्यों का पालन नहीं करेंगे तो समाज में वर्ण संकरता व्याप्त हो जायेगी, इसी प्रकार समस्त आश्रमों की रक्षा को भी राज्य का दायित्व माना है।

(**v**) न्याय की व्यवस्था : मनुस्मृति, शांतिपर्व, शुक्रनीति और अर्थशास्त्र में न्याय की स्थापना को राज्य के सर्वाधिक महत्वपूर्ण कर्त्तव्यों के रूप में मान्यता दी गयी है और इसे राज्य के अस्तित्व का आधार भी माना गया है क्योंकि समाज में व्याप्त अन्याय का निराकरण करने एवं न्याय की स्थापना करने हेतु ईश्वर ने राजा की सृष्टि की है। मनु के अनुसार संसार में निष्पाप लोगों की संख्या बहुत कम होती है। व्यक्ति काम, क्रोध, लोभ आदि से वशीभूत होकर अन्य व्यक्तियों के अधिकारों को छीनने लगता है तथा अपने कर्त्तव्यों की अवहेलना भी करने लगता है। मनु के अनुसार राज्य की दण्ड शक्ति दुष्टों को भयभीत रखती है एवं सभी व्यक्तियों को अपने कर्त्तव्य पालन हेतु बाध्य करती है तथा अपने अधिकारों का प्रयोग करने में समर्थ बनाती है। अपने इस दायित्व के पालन द्वारा ही राज्य समस्त व्यक्तियों में सुरक्षा की भावनाओं का संचार करता है। मनुस्मृति में अपराधों एवं दण्डों का विस्तृत वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है और राजा को यह निर्देश दिया गया है कि वह स्वयं न्याय कार्य करे।

(**vi**) प्रशासनिक प्रणाली का निर्वाह : राज्य के दायित्वों की पूर्ति के लिए प्राचीन भारतीय विचारकों ने एक सक्षम और संगठित प्रशासनिक व्यवस्था को अनिवार्य माना है और राजा को परामर्श दिया है कि वह प्रशासनिक व्यवस्था, कर्मचारियों तथा अधिकारियों पर समुचित नियन्त्रण रखे और यह सुनिश्चित करे

कि राज्य के कर्मचारी प्रजा के प्रति दायित्वों का निष्ठापूर्वक पालन करते रहें व शक्तियों के दुरूपयोग द्वारा प्रजा को पीड़ित न करें। प्रशासन के विभिन्न पदों पर राजा, गुणी, चरित्रवान तथा राजभक्त अधिकारियों तथा कर्मचारियों की नियुक्ति करे और गुप्तचरों के माध्यम से उनके आचरण का परीक्षण करता रहे तथा भ्रष्ट एवं प्रजा पीड़क अधिकारियों को राजा द्वारा दण्डित किया जाये।

(**vii**) अन्तर्राज्य संबंधों का संचालन : प्राचीन भारतीय विचारकों ने राज्य के हितों एवं रक्षा में वृद्धि के लिए विदेश नीति के विवेकपूर्ण संचालन पर बल दिया है। मनु के अनुसार अन्तर्राज्य सम्बन्धों के कुशल संचालन द्वारा राजा राज्य को अनावश्यक आक्रमणों से बचाता है। पर–राष्ट्र संबंधों के निर्वाह के सम्बन्ध में मनु ने शासक को यह परामर्श दिया है कि वह इस तरह का प्रयत्न करे कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसके मित्र राज्यों की संख्या अधिकतम हो और शत्रु राज्यों की संख्या न्यूनतम हो। पर राष्ट्रों से संबंधों के संचालन के लिए मनु ने इसके सैद्धान्तिक आयाम के रूप में राज्य द्वारा मण्डल सिद्धान्त, षाडगुण्य नीति तथा उपायों के पालन का सुझाव दिया है तथा पर–राष्ट्र संबंधों के व्यावहारिक पक्ष के रूप में प्रभावी दूत एवं गुप्तचर व्यवस्था के संचालन को आवश्यक माना है।

(**viii**) कृषि व व्यापार की व्यवस्था : महाभारत में राज्य के लिये व्यापार और कृषि का महत्व दर्शाया गया है। राज्य का कर्त्तव्य है कि वह रक्षित राज्य के व्यापार और कृषि की उन्नति के लिये सचेत रहे। राज्य का कोष और सेना कृषि और व्यापार की समृद्धि पर निर्भर है। जो राज्य व्यापार की दृष्टि से सम्पन्न होता है उसे भय नहीं रहता। जिस राज्य में व्यापार पर संकट रहता है वह राज्य निंदा के योग्य है। कृषि कार्यों के लिये जलाशय आदि का निर्माण करना राज्य का कर्त्तव्य है।

(**ix**) पर–राष्ट्र संबंधों का निर्वाह : शुक्र तथा कौटिल्य के अनुसार एक राज्य को अन्य राज्यों के साथ भी संबंधों का निर्वाह करना होता है। अतः राज्य से यह अपेक्षित है कि वह पर–राष्ट्र संबंधों को इस प्रकार संचालित करे कि राष्ट्रीय हित एवं प्रजा के कल्याण व सुरक्षा को अधिक से अधिक सुनिश्चित किया जा सके। राजा से यह अपेक्षित है कि वह अन्तर्राज्य संबंधों का कुशलता पूर्वक संचालन करे एवं राज्य को अनावश्यक युद्धों से बचाये। इस हेतु शुक्र ने राजा द्वारा कुछ नीतियों और उपायों का पालन किया जाना आवश्यक माना है।

(**x**) राज्य के शिक्षा सम्बन्धी कार्य : शुक्र ने राज्य के दायित्वों में शिक्षा के प्रसार को भी सम्मिलित किया है और कहा है कि राज्य योग्य विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियाँ प्रदान करे तथा शिक्षा पूर्ण हो जाने पर शिक्षित व्यक्तियों को उनकी योग्यतानुसार राजकीय पदों पर नियुक्त करे। विद्या और कला में पारंगत व्यक्तियों को राज्य द्वारा सम्मानित किया जाए तथा राज्य विद्याओं एवं कलाओं की उन्नति हेतु निरन्तर प्रयत्नशील रहे। राज्य के प्रतिष्ठित गुणवान व्यक्ति, तपस्वी, विद्वान, ज्योतिषी, मंत्र तंत्र वेत्ता, चिकित्सक आदि के भरण–पोषण की व्यवस्था करे तथा उनके लिए मासिक या वार्षिक वृत्ति की व्यवस्था करे।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय विचारकों द्वारा राज्य के विस्तृत कार्यों का उल्लेख करते हुए एक लोक कल्याणकारी राज्य के स्वरूप को स्वीकार किया गया है।

राज्य का उदारवादी दृष्टिकोण
(Liberal Perspective of the State)

"एक राजनैतिक सिद्धान्त के रूप में उदारवाद दो पृथक तत्वों का यौगिक है। इनमें से एक लोकतंत्र है और दूसरा व्यक्तिवाद। – डब्ल्यू.एम. मेकगवर्न

राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में उदारवादी विचारधारा का अस्तित्व पिछली चार शताब्दियों से है। यह एक लचीली एवं गतिशील विचारधारा है जिसने समय की आवश्यकतानुसार स्वयं को संशोधित एवं परिवर्तित किया है। किन्तु अपने केन्द्रीय विचार को इसने सदैव ही बनाये रखा है कि व्यक्ति साध्य है तथा राज्य एवं अन्य संस्थायें साधन मात्र हैं।

उदारवाद के ऐतिहासिक विकास के आधार पर दो चरण देखे जा सकते हैं। शास्त्रीय (चिरसम्मत) उदारवाद तथा आधुनिक उदारवाद। उदारवाद की इन दोनों श्रेणियों तथा इनसे सम्बन्धित उदारवादी विचारों की व्याख्या निम्नानुसार की जा सकती है –

(1) शास्त्रीय (चिरसम्मत) उदारवाद **(Classical Liberalism)**– प्राचीन उदारवाद को नकारात्मक उदारवाद भी कहते हैं क्योंकि इसमें व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए राज्य की नकारात्मक भूमिका पर बल दिया जाता है। इंग्लैण्ड में प्रारम्भिक स्तर पर उदारवाद का जो रूप सामने आया उसे शास्त्रीय उदारवाद कहा जाता है। यह वैयक्तिक अधिकारों की संवैधानिक सुरक्षा की मांग तक सीमित था। कालान्तर में आर्थिक और राजनीतिक संगठन तथा राजनीतिक कार्यक्रम से संबंधित प्रश्न भी उसकी परिधि में आ गये। अपनी इस अवस्था में उदारवाद धार्मिक स्वतंत्रता, सहिष्णुता, संविधानवाद तथा राजनीतिक अधिकारों की मांग के रूप में सामने आया। 1688 की क्रान्ति इतिहास की सबसे पहली उदारवादी क्रान्ति मानी जाती है। उसने उस शताब्दी की उदारवादी उपलब्धियों को समेकित किया और सुनिश्चित सांविधानिक रूप भी दिया। इस उदारवाद के विकास में जर्मी बेंथम, (1748 से 1832) एडमस्मिथ (1723 से 1790) तथा हर्बर्ट स्पेन्सर (1820 से 1903) का विशेष योगदान रहा है। शास्त्रीय उदारवाद, जिसे व्यक्तिवादी उदारवाद या नकारात्मक उदारवाद भी कहा जाता है, की राज्य के संबंध में निम्नांकित धारणाएं है–

(1) राज्य का यांत्रिक रूप– उदारवादियों के अनुसार राज्य कृत्रिम व मनुष्य कृत हैं इनकी रचना व्यक्तियों ने अपनी इच्छानुसार अपनी सुविधा के लिए की है, अतः वे आवश्यकतानुसार इसमें संशोधन व परिवर्तन भी कर सकते हैं। राज्य का व्यक्ति से पृथक कोई अस्तित्व नहीं है व्यक्ति का जीवन ही राज्य का जीवन होता है तथा व्यक्ति के कल्याण में ही राज्य का कल्याण निहित होता है।

(2) व्यक्ति साध्य, समाज तथा राज्य साधन– उदारवादी व्यक्ति को साध्य तथा समाज और राज्य को साधन मानते हैं। उनके अनसुार व्यक्ति का नैतिक और आध्यात्मिक कल्याण तथा उसका विकास सबसे महत्वपूर्ण बात है। अतः किसी भी समुदाय, समाज अथवा राज्य की कोई भी व्यवस्था,

परम्परा अथवा कानून ऐसा नहीं हो सकता जिनके नाम पर व्यक्ति का बलिदान किया जा सके क्योंकि ये सब व्यक्ति के लिए होते हैं व्यक्ति इनके लिए नहीं। अतः इन सबकी सार्थकता उसी रूप में हैं जहाँ तक ये व्यक्ति के हितों की पूर्ति में सहायक हों और यदि वे अपना यह उद्देश्य पूरा नहीं करते तो उन्हें नष्ट भी किया जा सकता है अथवा बदला भी जा सकता है।

(3) व्यक्ति के अधिकारों के प्राकृतिक रूप की मान्यता– उदारवाद के अनुसार व्यक्ति के अधिकार प्राकृतिक हैं जिनका उल्लंघन करने का अधिकार समाज व राज्य को नहीं है। समाज व राज्य व्यक्ति के अधिकारों के सृष्टा नहीं है, बल्कि उनका निर्माण व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा के लिए किया गया है। व्यक्ति के ये प्राकृतिक अधिकार ही उसे स्वतंत्रता की गारन्टी देते हैं। लॉक के अनुसार, ''जीवन, सम्पत्ति व स्वतंत्रता व्यक्ति के मुख्य प्राकृतिक अधिकार हैं जो कि राज्य या समाज द्वारा नहीं दिये गये। अतः राज्य या समाज ना तो इसमें कोई कमी कर सकते हैं और ना ही उन्हें समाप्त कर सकते हैं।''

(4) स्वतंत्रता के आदर्श की मान्यता– उदारवाद व्यक्ति की स्वतंत्रता का समर्थन निरपेक्ष रूप से करता है। उसकी मान्यता है कि व्यक्ति प्रकृति से ही स्वतंत्र उत्पन्न होता है। अतः स्वतंत्रता उसका जन्म सिद्ध अधिकार है। अतः उसके उपर किसी ऐसी सत्ता का नियंत्रण नहीं होना चाहिए जो मनमाने ढंग से उसकी स्वतंत्रता पर कोई अंकुश लगा सके। उदारवाद जीवन के सभी क्षेत्रों में व्यक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता का समर्थन करता है। व्यक्ति की स्वतंत्रता के महान समर्थक हॉबहाउस ने व्यक्ति की नौ प्रकार की स्वतंत्रताओं की चर्चा की है। जैसे (i) नागरिक स्वतंत्रता, (ii) वैयक्तिक (iii) आर्थिक (iv) वित्तीय (v) पारिवारिक (vi) सामाजिक (vii) राजनैतिक (viii) जातीय व राष्ट्रीय तथा (ix) अन्तर्राष्ट्रीय स्वतंत्रता।

(5) समानता के आदर्श की मान्यता– व्यक्ति की स्वतंत्रता के साथ–साथ उदारवादी व्यक्ति की समानता का भी समर्थन करते हैं। इनके अनुसार व्यक्ति समान प्राकृतिक अधिकार लेकर उत्पन्न होते हैं। अतः इन्हें समान माना जाना चाहिए। हालांकि प्राकृतिक क्षमताओं की दृष्टि से मनुष्यों में भिन्नता होती है, किन्तु राज्य के कानून व शासन की दृष्टि में सभी व्यक्तियों को समान माना जाना चाहिए तथा जाति, धर्म, लिंग अथवा भाषा आदि के आधार पर राज्य की ओर से उनके साथ किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए।

(6) राज्य के न्यूनतम कार्य– इस दौर में उदारवाद व्यक्ति की स्वतंत्रता और राज्य के कार्य क्षेत्र को एक दूसरे का विरोधी मानता था। अतः अधिकतम स्वतंत्रता के लिए यह आवश्यक माना गया कि राज्य का कार्यक्षेत्र न्यूनतम हो। तदनुसार यह प्रस्तावित किया गया कि राज्य बाह्य आक्रमण से रक्षा, आन्तरिक शांति–व्यवस्था तथा इन दोनों कार्यो के निष्पादन के लिए कर प्रणाली का संचालन करे। इसे अहस्तक्षेप का सिद्धांत कहा जाता है जो उन्मुक्त बाजार और स्वतंत्र व्यापार पर आधारित मुक्त बाजार अर्थ व्यवस्था का समर्थन करता है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि शास्त्रीय उदारवाद राज्य को एक कृत्रिम संस्था मानता है, जिसे अपनी सर्वोच्च सत्ता के माध्यम से समाज में शांति एवं व्यवस्था की स्थापना करता है। इससे व्यक्ति की स्वतंत्रता कुछ मर्यादित होती है, लेकिन बदले में व्यक्ति हिंसक संघर्ष और अराजकता से बच जाता है। इस अर्थ में राज्य एक आवश्यक बुराई है।

(2) आधुनिक उदारवाद (**Modern Liberalism**)– उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में शास्त्रीय उदारवाद और उससे जुड़ी चिन्तन परम्परा में निरन्तर परिवर्तन होता गया। इसमें राज्य की नकारात्मक भूमिका के स्थान पर उसके सकारात्मक पक्ष पर बल दिया गया। अतः इसे 'सकारात्मक उदारवाद ' भी कहते हैं। इस परिवर्तन में उसका मूलभूत आदर्श ''व्यक्ति की स्वतंत्रता'' तो वही रहा किन्तु इसकी प्राप्ति के साधन बदल गये। शास्त्रीय उदारवाद की सफलता के परिणामस्वरूप व्यक्ति को वांछित राजनीतिक और आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त हो गई। अतः वह राज्य के अहस्तक्षेपवादी स्वरूप की माँग तक सीमित न रहा बल्कि उसने ऐसे राजनीतिक और आर्थिक संगठन की माँग की जो व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता दिला सके। प्रारम्भ में उदारवाद ने मध्यम वर्ग के लिए जिन अधिकारों की माँग की वे उन्हें मिल चुके थे। किन्तु किसान और मजदूर वर्ग अभी भी इससे वंचित थे। इनके लिए आर्थिक स्वतंत्रता तभी संभव थी जब राज्य इस संबंध में कोई ठोस कार्यवाही करता। आधुनिक उदारवाद में व्यक्ति के कल्याण को विशेषतः निर्बल और निर्धन व्यक्ति के कल्याण को उसकी स्वतंत्रता की शर्त माना जाता था। शास्त्रीय उदारवाद के विपरीत आधुनिक उदारवाद यह विश्वास करता है कि व्यक्तियों के परस्पर संबंधो को नियमित और संतुलित करने के लिए राज्य को सकारात्मक भूमिका निभानी चाहिए। आगे चलकर यही आधुनिक उदारवाद 'कल्याणकारी राज्य' (Welfare State) की अवधारणा के रूप में विकसित हुआ। आधुनिक उदारवादियों में जॉन स्टुअर्ट मिल (1806–1873), टी.एच.ग्रीन (1836–1882), एल. टी. हाबहाउस (1864–1929) एच.जे. लास्की (1893–1950) तथा आर.एम. मैकाईवर (1882–1970) आदि प्रमुख हैं।

आधुनिक उदारवाद, जिसे सकारात्मक उदारवाद भी कहा जाता है, ने राज्य को एक ऐसी वर्गोपरि संस्था के रूप में प्रस्तुत किया, जो विरोधी वर्ग हितों के बीच आंशिक रूप से सामंजस्य स्थापित करती है। अब व्यक्ति की स्वतंत्रता और राज्य सत्ता एक दूसरे के विरोधी नहीं रहते है। बल्कि राज्य अपनी सकारात्मक गतिविधियों द्वारा ऐसी सामाजिक–आर्थिक स्थितियां निर्मित करता है, जिसमें सभी व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता और दूसरे अधिकारों का उपयोग कर सके। टी.एच. ग्रीन ने इसे ही 'बाधाओं को बाधित करना' कहा है। तदनुसार राज्य केवल शक्ति संरचना नहीं रह जाता, जिसे सार्वजनिक व्यवस्था की स्थापना मात्र करनी है, बल्कि वह सार्वजनिक कल्याण के जरिये स्वतंत्रता को वास्तविक बनाने वाली संस्था बन जाता है। इस क्रम में वह केवल नकारात्मक कार्य ही नहीं, बल्कि निशुल्क एवं अनिवार्य सार्वजनिक शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, श्रम कल्याण आदि सकारात्मक कार्य भी करता है। अध्याय–6 में लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा का विस्तृत विवेचन किया गया है।

उदारवाद की आलोचना
(Criticism of Liberalism)

उदारवार के विरूद्ध कही जाने वाली बातों को निम्नानुसार समझा जा सकता है –

(1) राज्य एक आवश्यक बुराई नहीं है– उदारवादी राज्य को आवश्यक बुराई मानते हैं किन्तु यह धारणा भ्रामक है राज्य का निर्माण मानव जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ है। अतः उसका आदर्श मानव कल्याण में वृद्धि करना है। राज्य के बिना एक सभ्य और सुसंस्कृत समाज की कल्पना नहीं की जा सकती।

(2) राज्य स्वतंत्रता को नष्ट नहीं करता– उदारवादियों की यह धारणा भी अनुचित है कि राज्य के कार्य क्षेत्र में किया गया विस्तार व्यक्ति की स्वतंत्रता को नष्ट करने वाला होगा। जबकि वास्तविकता यह है कि राज्य द्वारा बनाये गये कानूनों से व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा होती है उनका हनन नहीं होता।

(3) खुली प्रतियोगिता दुर्बल वर्ग के लिए हानिप्रद– कुछ उदारवादी खुली प्रतियोगिता में विश्वास करते हैं तथा 'बलशाली ही जीवित रहें' (Survival of the Fittest) के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। ये स्थिति समाज के निर्बल वर्गों के लिए हानिकारक होगी। साथ ही आर्थिक क्षेत्र में भी खुली प्रतियोगिता सामाजिक दृष्टि से लाभदायक नहीं है।

(4) पूंजीवादी वर्ग का दर्शन – उदारवाद पूंजीवादी वर्ग का दर्शन है। ये पूँजीवादी व्यवस्था को बनाये रखना चाहता है। यह राज्य को आर्थिक मामलों में हस्तक्षेप का अधिकार भी केवल पूँजीवादी अर्थव्यवस्था को बचाने के लिए देता है।

(5) सामाजिक परिवर्तन का गलत सिद्धान्त– उदारवाद की मान्यता है कि क्रमिक विकास द्वारा सामाजिक परिवर्तन लाना संभव है। जबकि वास्तविकता यह है कि वर्ग विभाजित समाज में परिवर्तन वर्ग संघर्ष तथा क्रान्ति द्वारा ही होता है, साथ ही उदारवाद आर्थिक सुधारों के द्वारा आर्थिक समानता स्थापित किया जाना संभव मानता है जबकि बिना निजी सम्पत्ति को समाप्त किये आर्थिक समानता संभव नहीं।

6. उदारवाद का योगदान
(Contribution of Liberalism)

उदारवाद का प्रभाव जीवन के निम्नलिखित क्षेत्रों में देखा जा सकता है –

(1) सामाजिक व धार्मिक क्षेत्र – सामाजिक व धार्मिक क्षेत्र में उदारवाद ने धार्मिक स्वतंत्रता व सहिष्णुता पर बल दिया। जिससे रोम के पोप की राजनीतिक शक्ति समाप्त हुई। चर्च व राज्य का अवांछनीय गठबंधन समाप्त हुआ तथा व्यक्ति धार्मिक रूप से स्वतंत्र हुआ।

(2) आर्थिक क्षेत्र– आर्थिक क्षेत्र में उदारवाद ने राजकीय अहस्तक्षेप पर आधारित मुक्त व्यापार नीति पर बल दिया जिसके फलस्वरूप दूर–दूर के देशों में व्यापारिक संबंध स्थापित हुए और विश्व बाजार का निर्माण हुआ।

(3) राजनीतिक क्षेत्र– राजनीति के क्षेत्र में उदारवाद ने स्वतंत्रता व समानता पर आधारित लोकतंत्रीय शासन प्रणाली का समर्थन किया। जिससे राजतंत्रतात्मक व्यवस्थाओं का अन्त होकर विश्व के अनेक भागों में सार्वजनिक मताधिकार के आधार पर लोकतंत्रीय व्यवस्थाओं की स्थापना हुई। राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के समर्थन के कारण यूरोप की अनेक जातियों को तथा एशिया व अफ्रीका के अनेक देशों को स्वाधीनता प्राप्त हुई और उनमें राष्ट्रीय सरकारों का निर्माण हुआ।

राज्य का मार्क्सवादी दृष्टिकोण
(Marxist Perspective of the State)

''मार्क्स प्रथम समाजवादी लेखक हैं, जिसके कार्य को वैज्ञानिक कहा जा सकता है। उसने अपने वांछित समाज का चित्रण ही नहीं किया है, वरन् वह उन स्थितियों का भी विस्तृत वर्णन करता है, जिसके माध्यम से इस लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।''

सी.ई.एम.जोड

कार्ल मार्क्स एवं फ्रेडरिक एंगेल्स तथा उनके अनुयायियों लेनिन, रोजा लक्जमबर्ग, माओ त्से तुंग, एंटोनियो ग्राम्शी आदि के के सम्पूर्ण चिन्तन को मार्क्सवाद कहा जाता है। मार्क्स एक समाजवादी विचारक है उसने वैज्ञानिक आधार पर समाजवादी विचारधारा का प्रतिपादन किया है और समाजवादी समाज की स्थापना के लिए क्रान्ति की अनिवार्यता पर बल दिया है। मार्क्सवाद को वैज्ञानिक समाजवाद भी कहा जाता है।

मार्क्स के पूर्ववर्ती कल्पनावादी या स्वप्नलोकी समाजवादियों में अनेक विचारकों के नाम गिनाये जा सकते हैं, इनमें सर टामसमूर, सेंट साईमन, चार्ल्स फोरियर, रॉबर्ट ओवन, नायल बावेफ, लुई ब्लांक, जान.डी. सिसमेन्डी, डॉ. हालू तथा विलियम थाम्पसन आदि प्रमुख हैं। ये विचारक पूँजीवादी व्यवस्था में विद्यमान धन की विषमता, स्वतंत्र प्रतियोगिता और आर्थिक क्षेत्र में राज्य की हस्तक्षेप की नीति के कटु आलोचक थे। ये विचारक धन के न्यायोचित वितरण पर बल देते थे किन्तु इन्होंने यह नहीं बतलाया था कि यह विषमता क्यों उत्पन्न होती है और उत्पादन की विधियों से इसका क्या संबंध है?इन्होंने समाज की परिवर्तन की प्रक्रिया की न तो कोई व्याख्या प्रस्तुत की और न ही विद्यमान व्यवस्था को सुधारने के लिए कोई व्यावहारिक सुझाव दिया। इसी कारण मार्क्स से पूर्व के समाजवादियों को 'स्वप्नलोकी समाजवादी (**Utopian Socialists**) कहा जाता है। वेपर ने इसके संबंध में कहा है कि ''उन्होंने सुन्दर गुलाब के फूलों की कल्पना तो की, परन्तु गुलाब के पौधों के लिए कोई जमीन तैयार नहीं की।'' मार्क्स ने आधुनिक समाज का गहन आलोचनात्मक दृष्टि से अध्ययन किया, उसने न केवल पूँजीवाद के दोषों को उजागर किया बल्कि पूँजीवाद का अन्त कर वर्गविहीन समाज की स्थापना करने के लिए एक विस्तृत कार्य योजना भी प्रस्तुत की। उसने समाजवाद को काल्पनिक पृष्ठभूमि से निकालकर एक वैज्ञानिक धरातल प्रदान किया। लेन लंकास्टर के अनुसार, मार्क्सवाद के वैज्ञानिक समाजवाद होने के दो प्रमुख आधार हैं। प्रथम यह वास्तविकता पर आधारित है, न कि कल्पना पर, द्वितीय यह पुरानी व्यवस्था को ही वैज्ञानिक तरीके से नहीं समझाता वरन् नई व्यवस्था प्राप्त करने के लिए भी वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाता है। टेलर का मत है कि, ''मार्क्सवाद में सामाजिक परिवर्तन करने वाली शक्तियों की जो व्याख्या है, वह उसे वैज्ञानिकता प्रदान

करती है। इसके अलावा इन परिवर्तन करने वाली शक्तियों की व्याख्या 'मानव मनोविज्ञान' पर आधारित है।

मार्क्स ने अपने पूर्ववर्ती चर्चवादी विचारकों, आदर्शवादियों एवं व्यक्तिवादियों की राज्य सम्बन्धी अवधारणाओं का खण्डन किया है। मार्क्स ने राज्य को अपनी प्रकृति से एक वर्गीय संस्था बताया है। उसका मत है कि राज्य एक कृत्रिम संस्था है जिसका निर्माण शोषक वर्ग ने अपने हितों की रक्षा के लिए किया है और यह शोषक वर्ग के हाथों में शोषित वर्ग के दमन एवं उत्पीड़न का साधन है। मार्क्स के राज्य संबंधी विचारों को निम्नानुसार समझा जा सकता है।

(1) राज्य की उत्पत्ति – मार्क्स के अनुसार आदिम साम्यवादी अवस्था में निजी सम्पत्ति और राज्य का भी अस्तित्व नहीं था। समाज के क्रमिक विकास के परिणामस्वरूप निजी सम्पत्ति का उदय हुआ और सम्पूर्ण समाज सम्पत्तिशाली और सम्पत्तिविहीन दो वर्गों में बँट गया। मार्क्स समाज की इस अवस्था को दासप्रथात्मक युग कहता है और बताता है कि इसी काल में राज्य की उत्पत्ति हुई। इस समाज में सम्पत्तिशाली स्वामी वर्ग अत्यधिक प्रभावशाली था किन्तु इनकी संख्या सम्पत्तिहीन और असंतुष्ट दास वर्ग की तुलना में बहुत कम थी। स्वामी वर्ग को दास वर्ग के विद्रोह का भय रहता था अतः उसने दासों के दमन और अपनी सम्पत्ति की रक्षा के लिए शक्ति का सहारा लिया और कानून, पुलिस फौज, जेल तथा न्यायालय आदि की व्यवस्था की। स्वामी वर्ग ने इन संस्थाओं की मदद से दास वर्ग पर अपना कठोर आधिपत्य स्थापित किया। इस प्रकार राज्य वर्ग संघर्ष से उत्पन्न संस्था है।

(2) राज्य की प्रकृति– मार्क्स के अनुसार राज्य अपनी प्रकृति से एक वर्गीय संस्था है। इसका निर्माण शोषक वर्ग ने अपने हितों की रक्षा के लिए किया है। अतः राज्य की प्रभुसत्ता वास्तव में शोषक वर्ग की ही प्रभुसत्ता होती है। राज्य के कानून एवं न्याय प्रणाली शोषक वर्ग के हितों की वृद्धि करने वाले होते हैं। इस प्रकार मार्क्स आदर्शवादियों की इस धारणा का विरोध करता है कि राज्य अपनी प्रकृति से एक नैतिक संस्था है।

(3) राज्य का उद्देश्य– मार्क्स के अनुसार राज्य का उद्देश्य उस वर्ग के हितों की रक्षा एवं वृद्धि करना होता है जिसका उत्पादन–साधनों पर अधिकार होता है। अतीत में राज्य की सत्ता पर अल्पसंख्यक शोषक वर्ग का अधिकार रहा है और राज्य ने इस वर्ग के हितों की रक्षा का ही कार्य किया है। किन्तु भविष्य में समाजवादी राज्य की स्थापना होगी और राज्य की सत्ता पर बहुसंख्यक मजदूर वर्ग (शोषित वर्ग) का अधिकार होगा और तब राज्य का उद्देश्य मजदूर वर्ग के हितों की रक्षा करना होगा। इस प्रकार राज्य सम्पूर्ण समाज के सामान्य कल्याण की संस्था कभी भी नहीं होता है।

(4) समाज की अवस्थानुसार राज्य की व्यवस्था– मार्क्स के अनुसार इतिहास के किसी भी युग में पाई जाने वाली राज्य व्यवस्था अपनी सामाजिक अवस्था के सापेक्ष होती है। समाज की किसी भी प्रकार की अवस्था में पाई जाने वाली भौतिक व आर्थिक परिस्थितियाँ विशिष्ट प्रकार की होती हैं और इनके संदर्भ में ही उस समाज में शोषक वर्ग (स्वामी, सामन्त या पूँजीपति) के विशिष्ट हित होते हैं। अपने इन विशिष्ट हितों को ध्यान में रखते हुए ही उस समाज का शोषक वर्ग शासन प्रणाली के रूप, संविधान के मूल सिद्धान्तों, न्याय व दण्ड प्रणाली तथा अधिकारों की व्यवस्था आदि को तय करता है। भविष्य में आने वाली समाजवादी व्यवस्था भी इस नियम का अपवाद नहीं होगी।

(5) राज्यविहीन समाज का उदय – मार्क्स के अनुसार राज्य एक स्थाई संस्था नहीं है। जिन भौतिक परिस्थितियों के कारण राज्य की उत्पत्ति हुई है और उसका अस्तित्व बना हुआ है, उनका अन्त होने पर राज्य का अन्त भी सुनिश्चित है। समाजवादी अवस्था में राज्य क्रमशः क्षीण होता चला जायेगा। पहले निजी सम्पत्ति की संस्था का अन्त होगा। यह वर्गविहीन समाज होगा। अतः कोई वर्ग संघर्ष नहीं होगा। वर्गों के न होने के कारण वर्गीय संस्था 'राज्य' की भी आवश्यकता नहीं होगी और राज्य लुप्त हो जायेगा। यह अवस्था समाज की 'साम्यवादी' अवस्था होगी। इस प्रकार समाजवादी समाज एक संक्रमणकारी समाज होगा जो क्रमशः साम्यवादी समाज में परिवर्तित हो जायेगा। यह समाज की राज्यविहीन एवं वर्गविहीन अवस्था होगी।

(6) राज्य के अवसान का मार्क्सवादी सिद्धान्त **(Marxist Theory of the Withering Away of the State)**– मार्क्स का विचार है कि समाजवादी समाज में उन भौतिक परिस्थितियों का जन्म होगा जिनके कारण राज्य की आवश्यकता नहीं रहेगी और वह क्रमशः मुरझाकर नष्ट हो जायेगा और समाजवादी समाज की जगह साम्यवादी समाज की स्थापना हो जायेगी। मार्क्स के अनुसार समाजवादी समाज में राज्य के क्रमशः क्षीण होकर नष्ट हो जाने के कारण निम्नानुसार होंगे:–

(i) मार्क्स के अनुसार राज्य का उदय निजी सम्पत्ति के रक्षक के रूप में हुआ है किन्तु समाजवादी समाज में निजी सम्पत्ति की संस्था का अन्त कर दिया जायेगा। अतः राज्य के अस्तित्व का मूल आधार ही नष्ट हो जायेगा और तब राज्य के विलुप्त होने की प्रक्रिया का प्रारम्भ होगा।

(ii) मार्क्स के अनुसार राज्य एक वर्गीय संस्था है। यह शोषक वर्ग के हाथ में शोषित वर्ग के उत्पीड़न का साधन है। किन्तु समाजवादी समाज में शोषक वर्ग (पूँजीपति) का अन्त हो जायेगा और समाज में एक ही वर्ग (श्रमिक वर्ग) रह जायेगा अतः वर्ग संघर्ष का भी अन्त जो जायेगा। इस स्थिति में राज्य की आवश्यकता नहीं रहेगी और तब राज्य के अन्त की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जायेगी।

(iii) मार्क्स का मत है कि समाजवादी समाज में ऐसी न्यायपूर्ण व शोषण रहित परिस्थितियाँ होंगी कि व्यक्ति को अपराध करने की आवश्यकता ही नहीं होगी। अतः क्रमशः ऐसी परिस्थितियाँ भी बनेंगी कि समाज में शान्ति व्यवस्था बनाये रखने के लिए भी राज्य की आवश्यकता नहीं रहेगी।

(iv) मार्क्स के अनुसार उपर्युक्त कारणों से समाजवादी समाज में राज्य क्रमशः क्षीण होने लगेगा और अन्त में उसका अवसान हो जायेगा। इस प्रकार साम्यवादी समाज की स्थापना होगी जो कि राज्यविहीन व वर्गविहीन समाज होगा।

मार्क्स के राज्य सिद्धान्त की आलोचना– मार्क्स के राज्य सम्बन्धी सिद्धान्त की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की जाती है।

(**i**) राज्य वर्गीय संस्था नहीं– मार्क्स राज्य की उत्पत्ति के वर्गीय सिद्धान्त का समर्थक है और बताता है कि राज्य की उत्पत्ति वर्ग संघर्ष से हुई है और यह शोषक वर्ग के हितों की रक्षा करने वाली संस्था है। किन्तु यह सत्य नहीं है। राज्य तो व्यक्ति सेवा और कल्याण करने वाला संगठन है। राज्य रूपी संस्था का उदय मनुष्य के हितों की रक्षा हेतु हुआ है, किसी वर्ग विशेष के हितों की रक्षा के लिए नहीं।

(**ii**) राज्य एक कल्याणकारी संस्था– मार्क्स ने राज्य को शोषक वर्ग के हाथों में शोषित वर्ग के उत्पीड़न, दमन और शोषण की संस्था माना है। समाज में केवल आर्थिक वर्ग ही नहीं होते हैं बल्कि अनेक धार्मिक, सांस्कृतिक, नस्लीय तथा भाषायी वर्ग भी होते हैं। राज्य का कार्य इन सभी वर्गों के सामान्य हितों की रक्षा व वृद्धि करना है।

(**iii**) पूँजीवादी राज्य सम्बन्धी गलत धारणा– वर्तमान समय में पूँजीवादी राज्य के विकास ने इससे सम्बन्धित मार्क्स की धारणा को गलत सिद्ध कर दिया है। मार्क्स ने पूँजीवादी राज्य को श्रमिकों के क्रूर शोषण का साधन बताया था, किन्तु वर्तमान काल में पूँजीवाद राज्य ने श्रमिकों के कल्याण का दायित्व स्वीकार कर लिया है। मार्क्स का मत था कि पूँजीवाद राज्य का पतन सुनिश्चित है किन्तु आधुनिक काल में पूँजीवादी राज्य पहले की तुलना में अधिक शक्तिशाली व प्रभावशाली है।

(**iv**) समाजवादी राज्य सम्बन्धी धारणा दोषपूर्ण– मार्क्स ने समाजवादी राज्य में सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद का समर्थन किया है किन्तु व्यवहार में यह साम्यवादी मूल के निरंकुश शासन के रूप में दिखाई पड़ता है। मार्क्स ने समाजवादी समाज में व्यक्ति के चरित्र में गुणात्मक परिवर्तन की कल्पना की थी जो सत्य सिद्ध नहीं हुई है।

(**v**) राज्यविहीन समाज की स्थापना संभव नहीं– मार्क्स की राज्यविहीन समाज की स्थापना की धारणा एक कल्पना मात्र है जो कि साकार नहीं हो सकती। रूस की क्रान्ति को 98 वर्ष बीत चुके हैं किन्तु राज्य का अभी तक लोप नहीं हुआ और सोवियत संघ के विघटन के बाद वहाँ साम्यवाद को भी दफना दिया गया।

मार्क्स ने राज्य की उत्पत्ति का जो वर्गीय सिद्धान्त प्रस्तुत किया है वह एक पक्षीय है। मार्क्स राज्य को वर्ग शोषण को प्रोत्साहित करने वाली संस्था मानता है जबकि राज्य का उद्देश्य लोक कल्याण करना है। राज्य सभी नगारिकों के हितों का ध्यान रखता है किसी वर्ग विशेष के हितों का नहीं।

महत्वपूर्ण बिन्दु

राज्य की भारतीय अवधारणा
राज्य का स्वरूप

राज्य के सावयवी स्वरूप का वर्णन किया गया है और राज्य के सात घटक माने हैं जिन्हें 'प्रकृति' नाम दिया गया है। ये सात प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं – स्वामी, मंत्री, पुर, राज्य, कोष, दण्ड तथा मित्र।

राज्य का कार्यक्षेत्र

प्राचीन भारतीय विचारकों के अनुसार राज्य के प्रमुख कर्तव्य इस प्रकार हैं– प्रजारक्षण, प्रजापालन, अर्थव्यवस्था का नियमन, सामाजिक व्यवस्था का निर्वाह व नियमन, न्याय की व्यवस्था, प्रशासनिक प्रणाली का निर्वाह, अन्तर्राज्य संबंधों का संचालन ।

राज्य का उदारवादी दृष्टिकोण

राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में उदारवादी विचारधारा का अस्तित्व पिछली चार शताब्दियों से है। यह एक लचीली एवं गतिशील विचारधारा है जिसने समय की आवश्यकतानुसार स्वयं को संशोधित एवं परिवर्तित किया है। किन्तु अपने केन्द्रीय विचार को इसने सदैव ही बनाये रखा है कि व्यक्ति साध्य है तथा राज्य एवं अन्य संस्थायें साधन मात्र हैं। वर्तमान समय की यह एक अत्यधिक प्रभावशाली विचारधारा है जिसने यूरोप के सभी देशों को विशेष रूप से प्रभावित किया।

उदारवाद के प्रकार एवं प्रमुख उदारवादी विचारक

उदारवाद के ऐतिहासिक विकास के आधार पर दो स्तर देखे जा सकते हैं। प्रथम प्राचीन उदारवाद तथा द्वितीय आधुनिक उदारवाद।

इस उदारवाद के विकास में जर्मी बेंथम, (1748 से 1832) एडम स्मिथ (1723 से 1790) तथा हर्बर्ट स्पेन्सर (1820 से 1903) का विशेष योगदान रहा है।

आधुनिक उदारवादियों में जॉन स्टुअर्ट मिल (1806–1873), टी.एच.ग्रीन (1836–1882), एल. टी. हाबहाउस (1864–1929) एच.जे. लास्की (1893–1950) तथा आर.एम. मैकाईवर (1882–1970) आदि प्रमुख हैं।

उदारवाद के सिद्धान्त

(1) राज्य का यांत्रिक रूप, (2) व्यक्ति साध्य, समाज तथा राज्य साधन, (3) व्यक्ति के अधिकारों के प्राकृतिक रूप की मान्यता, (4) स्वतंत्रता के आदर्श की मान्यता, (5) समानता के आदर्श की मान्यता, (6) राज्य के न्यूनतम कार्य।

राज्य का मार्क्सवादी दृष्टिकोण

मार्क्स का विचार है कि समाजवादी समाज में उन भौतिक परिस्थितियों का जन्म होगा जिनके कारण राज्य की आवश्यकता नहीं रहेगी और वह क्रमशः मुरझाकर नष्ट हो जायेगा और समाजवादी समाज की जगह साम्यवादी समाज की स्थापना हो जायेगी।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न (शब्द सीमा 30 शब्द)

1. प्राचीन भारतीय विचारकों ने राजा का निर्माण किन दिव्य तत्त्वों से माना है ?
2. प्राचीन भारतीय विचारकों ने राज्य की उत्पत्ति का क्या आधार माना है ?
3. सकारात्मक उदारवाद के किन्हीं दो लेखकों के नाम बताइये।
4. नकारात्मक उदारवाद के दो लेखकों के नाम बताइये।

5. नकारात्मक उदारवाद के दो लक्षण बताइये।
6. मार्क्स के अनुसार राज्य की प्रकृति कैसी है ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न (शब्द सीमा 100 शब्द)

1. प्राचीन भारतीय विचारकों के अनुसार राज्य के सात अंग कौन कौन से हैं ?
2. उदारवाद से क्या अभिप्राय है ?
3. परम्परागत उदारवाद से आप क्या समझते हैं ?
4. 'राज्य एक आवश्यक बुराई है', कैसे, समझाइए ?
5. 'राज्य शोषण का यंत्र है', कैसे, समझाइए ?
6. मार्क्स के 'राज्य के अवसान सिद्धान्त' की व्याख्या कीजिये।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. प्राचीन भारतीय विचारकों के अनुसार राज्य की उत्पत्ति एवं स्वरूप की व्याख्या कीजिये।
2. प्राचीन भारतीय विचारकों के अनुसार राज्य के कार्यों का वर्णन कीजिये।
3. उदारवाद से आप क्या समझते हैं? उदारवाद के प्रमुख लक्षणों का विवेचन करें।
4. उदारवाद की दो धारायें कौनसी हैं ? दोनों के अन्तर को स्पष्ट कीजिऐ।
5. आधुनिक उदारवाद के विकास के कारणों एवं लक्षणों पर प्रकाश डालिए।
6. उदारवाद के प्रमुख सिद्धान्तों का परीक्षण कीजिये।
7. 'उदारवाद न व्यक्तिवाद का पर्याय है न लोकतंत्र का और न समाजवाद का' इस कथन की समीक्षा कीजिये।
8. मार्क्स के राज्य सम्बन्धी विचारों की व्याख्या कीजिये।

बहुविकल्पीय प्रश्नः

1. कौटिल्य ने राज्य की उत्पत्ति मानी है
   (अ) ईश्वर द्वारा (ब) निर्वाचन द्वारा
   (स) समझौते द्वारा (द) युद्ध द्वारा ( )
2. उदारवादियों के सामाजिक विश्लेषण की इकाई है –
   (अ) व्यक्ति (ब) समूह
   (स) समाज (द) राज्य ( )
3. कौन उदारवादी विचारक नहीं है –
   (अ) जे.एस.मिल (ब) लॉक
   (स) हर्बर्ट स्पेन्सर (द) मार्क्स ( )
4. कल्याणकारी राज्य का सिद्धान्त संबंधित है
   (अ) फासीवाद से (ब) उदारवाद से
   (स) समाजवाद से (द) मार्क्सवाद से ( )
5. मार्क्सवादी समाजवाद को कहा जाता है
   (अ) कल्पनावाद
   (ब) कल्पनावादी समाजवाद
   (स) वैज्ञानिक समाजवाद
   (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं ( )
6. मार्क्स राज्य को समझता है
   (अ) एक कानून निर्मात्री संस्था
   (ब) एक लोक कल्याणकारी संस्था
   (स) एक वर्गीय संगठन
   (द) एक क्रान्ति का साधन ( )
7. 'दास कैपिटल' किसकी कृति है ?
   (अ) मार्क्स (ब) लॉक
   (स) प्लेटो (द) रूसो ( )
8. 'वैज्ञानिक समाजवाद' का दूसरा नाम है –
   (अ) आदर्शवाद (ब) साम्यवाद
   (स) प्रजातांत्रिक समाजवाद (द) मार्क्सवाद ( )

उत्तरमाला वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. स	2. अ.	3. द	4. ब
5. स	6. स	7. अ	8. द

अध्याय–6
राज्य का कार्यक्षेत्र
(Scope of the State)

''राज्य परिवारों तथा ग्रामों का एक संघ होता है जिसका उद्देश्य एक पूर्ण तथा आत्मनिर्भर जीवन की स्थापना है, जिससे हमारा अभिप्राय सुखी और सम्मानीय जीवन से है।''

– अरस्तू

गिर्डिस के अनुसार ''राज्य का उद्देश्य ऐसा वातावरण बनाए रखना है, जिसमें सभी प्रजाजन सर्वोच्च तथा आत्म–निर्भर जीवन बिता सकें।'' रिची (**Ritchie**) के अनुसार, ''राज्य का उद्देश्य व्यक्ति द्वारा सर्वोत्तम जीवन प्राप्त करना है।'' आधुनिक काल में बर्गेश, विलोबी तथा गार्नर ने इस समस्या पर काफी चर्चा की है। गार्नर के अनुसार ''राज्य का उद्देश्य व्यक्ति का हित–साधन, राष्ट्र का हित साधन और मानव सभ्यता का विकास है।'' एडम स्मिथ के अनुसार ''राज्य के तीन बड़े उद्देश्य हैं– पहला, राज्य का विदेशी आक्रमणों अथवा आन्तरिक हिंसा से बचाव, दूसरा, व्यक्ति की अन्याय तथा दूसरे सदस्यों के अत्याचारों से रक्षा, तीसरा, विभिन्न कार्यों तथा जन–संस्थाओं का निर्माण और उनको बनाए रखना जिनका मानव अथवा मानव–समूह न तो निर्माण कर सकता है और न ही उसको कायम रख सकता है।''

राज्य के कार्यक्षेत्र के विषय में अनेक राजनीतिक दृष्टिकोण विद्यमान हैं। कुछ राजनीतिक विचारधाराएँ राज्य को समस्त अधिकार प्रदान कर व्यक्ति को पूरी तरह उसके अधीन बना देती हैं। कुछ राजनीतिक विचारधाराएँ राज्य के कार्यक्षेत्र को सीमित कर व्यक्ति की अधिकतम स्वतंत्रताओं की पक्षधर हैं। राज्य के कार्यक्षेत्र के विषय में विस्तृत ज्ञान हेतु विभिन्न दृष्टिकोणों का विवेचन आवश्यक है।

राज्य स्वयं में साध्य है एवं व्यक्ति साधन

कतिपय विद्वान राज्य को साध्य मानते हैं। प्लेटो, अरस्तू, हीगल, बोसांके आदि विचारक राज्य को मानव जीवन का उच्चतम लक्ष्य और अपने आप में एक साध्य मानते हैं। प्लेटो और अरस्तू के मतानुसार समाज एवं राज्य एक महान् नैतिक संस्था है जिसका उद्देश्य व्यक्ति का नैतिक विकास करना है। प्लेटो के शब्दों में ''राज्य वृक्षों या चट्टानों से उत्पन्न नहीं होते। ये उन व्यक्तियों के चरित्र से उत्पन्न होते हैं जो उनमें निवास करते हैं।'' अरस्तू का मत है कि ''राज्य का उद्भव जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ है तथा वह अच्छे जीवन के लिए विद्यमान है।''

आदर्शवादियों के अनुसार राज्य व्यक्तियों की यथार्थ इच्छा का प्रतीक हैं। मनुष्य का पूर्ण विकास राज्य के अन्तर्गत ही सम्भव है। राज्य के विरूद्ध व्यक्ति को कोई अधिकार नहीं हो सकता। उनके अनुसार राज्य से पृथक व्यक्तियों का कोई अस्तित्व नहीं होता। बोसांके ने लिखा है कि ''राज्य विश्वव्यापी नैतिक संगठन का एक अंग न होकर समस्त नैतिक विश्व का अभिभावक है।'' जोड के अनुसार –''राज्य एवं समाज मनुष्यों की सभी सामाजिक भावनाओं और इच्छाओं का प्रतीक है और साथ ही उनकी सामाजिक आवश्यकताओं की भी पूर्ति करता है, अतः राज्य व्यक्ति से जो माँग करता है उसे पूरा करने के लिए व्यक्ति को तत्पर रहना चाहिए।''

हीगल राज्य को स्वयं में साध्य ही मानता है और राज्य को पृथ्वी पर ईश्वरीय अवतार मानता है। ट्रीटश्के का मत है कि ''राज्य व्यक्ति है और हमारा यह कर्तव्य है कि हम नतमस्तक होकर उसकी पूजा करें।'' जो विचारक राज्य को स्वयं में साध्य मानते हैं, उन्होंने व्यक्ति की इच्छा को राज्य की इच्छा के साथ एकाकार कर दिया। इस सिद्धान्त का परिणाम फासीवाद है। फासीवादी मानते हैं कि ''सब कुछ राज्य के लिए, राज्य के विरूद्ध कुछ नहीं।'' संक्षेप में आदर्शवादी और समष्टिवादी विचारक राज्य को एक साध्य मानते हैं।

राज्य एक साधन है एवं व्यक्ति साध्य

राज्य को साधन मानने वाले विचारक राज्य को मानव के हितों की पूर्ति का साधन मानते हैं। उनकी धारणा है कि समस्त संस्थाएँ व्यक्ति के कल्याण और समृद्धि के लिए हैं न कि व्यक्ति उन संस्थाओं के लिए है। राज्य का एकमात्र उद्देश्य व्यक्तियों का कल्याण करना है।

व्यक्तिवादी, अराजकतावादी और बहुलवादी विचारक राज्य को एक साधन मानते हैं। व्यक्तिवादी विचारक राज्य के अस्तित्व को तो स्वीकार करते हैं किन्तु राज्य को साध्य नहीं मानते। जे.एस.मिल. एवं हर्बर्ट स्पेंसर राज्य को आवश्यक बुराई मानते हैं। वे राज्य के कार्यों को पुलिस कार्यों तक ही सीमित रखना चाहते हैं। अराजकतावादी यह मानते हैं कि व्यक्ति का कल्याण राज्य की सत्ता की समाप्ति में निहित है। उनके लिए राज्य, अनावश्यक, अवांछनीय तथा अस्वाभाविक संस्था है। बहुलवादी विचारक राज्य को अन्य समुदायों के समान एक समुदाय मानते हैं।

दोनों ही विचार एकपक्षीय हैं। ब्लंटशली के मतानुसार राज्य एक साधन भी है और साध्य भी। एक ओर वह नगारिकों के हित साधन की एक संस्था है दूसरी तरफ स्वयं एक साध्य है, क्योंकि राज्य के अस्तित्व पर ही व्यक्ति की सुख सुविधा निर्भर करती है।

राज्य के कार्य

राज्य के कार्यों के लिए कोई निश्चित नियम निर्धारित नहीं किये जा सकते। राज्य के कार्यों का स्वरूप समय, परिस्थिति, विचारधारा एवं आवश्यकता के अनुसार बदलता रहता है। राज्य के कार्य आर्थिक स्त्रोतों, प्राकृतिक साधनों, लोगों की जागरूकता एवं

राजनीतिक चेतना के विकास पर निर्भर हैं। आधुनिक राज्यों के कार्यों को मुख्यतः निम्न दो भागों में बाँटा जा सकता है– (1) अनिवार्य कार्य, (2) ऐच्छिक कार्य।

(1) अनिवार्य कार्य– अनिवार्य कार्यों से अभिप्राय उन कार्यों से है जिनको करना प्रत्येक सरकार के लिए अपरिहार्य हो, अर्थात् जिनके न करने से राज्य का अस्तित्व ही खतरे में पड़ सकता हो। राज्य के अनिवार्य कार्य मुख्यतः निम्न हैं –

(i) बाह्य आक्रमणों से देश की रक्षा
(ii) आन्तरिक शान्ति और व्यवस्था की स्थापना
(iii) राज्य द्वारा अपराध तथा दण्ड संबंधी नियमों का निर्माण और न्याय का समुचित प्रबंध व व्यवस्था करना
(iv) राजस्व एकत्रित करना
(v) विधि निर्माण करना क्योंकि विधियों के द्वारा ही राज्य अपनी सम्प्रभुता को यथार्थ रूप प्रदान करता है।
(vi) अन्य राज्यों के साथ संबंध स्थापित करना भी राज्य का अनिवार्य कार्य है।

(2) ऐच्छिक कार्य– ऐच्छिक कार्यों से अभिप्राय उन कार्यों से है जो राज्य के अस्तित्व और व्यक्ति की स्वतंत्रता तथा सुरक्षा के लिए अनिवार्य नहीं होते। ये कार्य देश, काल एवं परिस्थिति के अनुसार बदलते हैं। इन कार्यों को राज्य के लोक कल्याणकारी कार्यों के नाम से भी जाना जाता है। सामाजिक कल्याण की भावना से इन कार्यों में स्वतः वृद्धि हो रही है। ये कार्य निम्नलिखित हैं –

(i) शिक्षा की व्यवस्था करना– एक अच्छे राज्य में जनसाधारण में शिक्षा और राजनैतिक चेतना होनी चाहिए। अतः राज्य का यह कर्तव्य है कि वह सामान्य जनता की शिक्षा का उचित प्रबन्ध करे।
(ii) सफाई और सार्वजनिक स्वास्थ्य – राज्य को बीमारी की रोकथाम एवं चिकित्सालयों की व्यवस्था करनी चाहिए। स्वास्थ्य की दृष्टि से उसे खाने पीने की वस्तुओं को शुद्ध रखने का भी प्रयास करना चाहिए।
(iii) व्यापार एवं उद्योग पर नियंत्रण– राज्य को व्यापार एवं उद्योगों पर यथोचित नियंत्रण रखना चाहिए, जिससे व्यापारियों की अधिकतम भलाई हो और देश की प्रगति हो। उद्योगों के संबंध में कानून बनाते समय राज्य को इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि श्रमिकों के साथ किसी भी प्रकार का अन्याय न हो।
(iv) भारी उद्योगों का संचालन– बड़े बड़े उद्योगों तथा व्यापार का संचालन सामाजिक हित की दृष्टि से राज्य को करना चाहिए।
(v) मनोरंजन की सुविधाएँ– राज्य को नागरिकों के मनोरंजन के लिए पार्कों, आकाशवाणी, चलचित्र, वाचनालयों आदि की व्यवस्था करनी चाहिए।
(vi) समाज सुधार– सामाजिक कुरीतियों का उन्मूलन कर, मनुष्यों को सर्वांगीण विकास के अवसर प्रदान करना राज्य का कर्तव्य है। राज्य का कर्त्तव्य है कि शारीरिक व मानसिक दृष्टि से विशेष योग्यजनों आदि के उपचार तथा सुरक्षा की समुचित व्यवस्था करे।
(vii) यातयात का प्रबन्ध– यातायात रेल के साधनों की व्यवस्था करना भी राज्य का ही कर्तव्य है। सड़क, रेल, वायु, जल आदि सभी साधनों की व्यवस्था राज्य को करनी चाहिए क्योंकि आवागमन के सुलभ साधनों द्वारा सभ्यता और संस्कृति का विकास होता है।

इस प्रकार राज्य के ऐच्छिक कार्यों के आधार पर हम यह मूल्यांकन कर सकते हैं कि राज्य किस मात्रा तक लोक कल्याणकारी है। सामान्यतः राज्य से निम्नलिखित कार्यों की अपेक्षा की जाती है –

1. कानून और व्यवस्था की स्थापना **(Maintenance of Law and Order)**– चोर डाकुओं से लोगों के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा करना तथा कानून और व्यवस्था की स्थापना करना शुरू से ही भारत तथा संसार के कई अन्य देशों में राज्य का लक्ष्य रहा है। महाभारत तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र में यह स्पष्ट लिखा है कि आदिकाल में भारत में अराजकता फैली हुई थी, इसलिए इस परिस्थिति को दूर करने के लिए राज्य की नींव पड़ी। अतः शुरू से ही राज्य का कार्य कानून और व्यवस्था की स्थापना चला आया है। महाभारत में लिखा है कि जिस जगह राजा (या सरकार) न हो, वहाँ पर व्यक्ति को निवास नहीं करना चाहिए, क्योंकि वहाँ पर उसका जीवन और सम्पत्ति, सदैव खतरे में रहते हैं। व्यक्तिवादी और समाजवादी लेखक सभी इस बात पर बहुत बल देते हैं।

2. सामाजिक तथा सार्वजनिक कल्याण **(Social and Public Welfare)**– राज्य का उद्देश्य केवल कानून और व्यवस्था की स्थापना तक ही सीमित नहीं है बल्कि इसका लक्ष्य सामाजिक तथा आर्थिक कल्याण भी है। जब व्यक्ति समाज में साथ–साथ रहते है तो उनके बीच कुछ सामान्य हित पैदा होते है, जिनकी सिद्धि में सामाजिक भलाई निहित है। इन सामान्य हितों को सिद्ध करने का प्रयत्न करना राज्य का कार्य है। रोटी, कपड़ा और मकान– वे प्राथमिक और सामान्य हित है, जिनकी उपलब्धि करवाना राज्य का दायित्व है। तदुपरांत राज्य सभी सामाजिक बुराईयों को दूर करता है और अच्छी शिक्षा पद्धति द्वारा उसकी उन्नति करता है ताकि समाज के व्यक्ति अच्छे नागरिक बन जायें और समाज के अधिक से अधिक उपयोगी अंग बन सकें। आदर्श नागरिकों का निर्माण अच्छी शिक्षा पद्धति द्वारा ही हो सकता है और सभी राज्य इस दिशा में विशेष प्रयत्न कर रहे हैं। भारत में बाल विवाह, दहेज प्रथा, सती प्रथा, छुआछूत इत्यादि सामाजिक बुराईयों को दूर करने के लिए राज्य ने विशेष रूप से कानून बनाये हैं। अशिक्षा को भी दूर करने का प्रयत्न किया जा रहा है। राज्य के सार्वजनिक हित से जुड़े होने का यह विचार नया नहीं है। यूनानी नगर राज्यों में प्लेटो और अरस्तू, मध्यकाल के राजनीतिक धर्म तत्वज्ञ, बेंथम और मिल जैसे उपयोगितावादी दार्शनिक, कार्ल मार्क्स जैसे समाजवादी, ग्रीन तथा लॉस्की जैसे सकारात्मक तथा उदारवादी तथा भारत में गांधी–दर्शन आदि सभी इससे जुड़े रहे है।

4. न्याय की स्थापना **(Establishment of Justice)** – न्याय को स्थापित करना भी अत्यन्त आवश्यक है, वरना बलवान व्यक्ति निर्बलों को अकारण तंग करेंगे और उनके जीवन, सम्पत्ति को खतरे में डाल देंगे। राज्य लोगों के जीवन, सम्पत्ति और स्वतंत्रता की रक्षा करने के लिए कानून बनाते हैं।

कानून तोड़ने वालों को न्यायाधीश दण्ड देते हैं और जिनकी सम्पत्ति, जीवन तथा स्वतंत्रता को हानि हुई हो, उनकी रक्षा करते हैं।

5. आर्थिक कल्याण **(Economic Welfare)**– आधुनिक राज्य निर्धनता को दूर करने के लिए योजनाएँ बनाते हैं। भारत में इस हेतु पंचवर्षीय योजनाएँ तथा सामुदायिक विकास योजनाएँ चलाई गई हैं। इससे राष्ट्रीय आय (आमदनी) बढ़ी है और आर्थिक स्तर ऊँचा हुआ है।

6. राजनीतिक कल्याण **(Political Welfare)**– राजनीतिक कल्याण के लिए लोगों को कुछ मौलिक अधिकार दिये जाते हैं और लोकतंत्र की स्थापना की जाती है। भारत में ऐसा ही किया गया है। भारत में सभी वयस्कों को वोट का अधिकार दिया गया है और 25 वर्ष का प्रत्येक भारतवासी चुनाव में विधान सभा और लोकसभा सदस्य के लिए खड़ा हो सकता है।

राज्य के कार्यक्षेत्र संबंधी सिद्धान्त

राज्य के कार्यक्षेत्र के संबंध में अनेक धारणाएँ प्रचलित हैं। इस संबंध में राज्य की अहस्तक्षेपवादी, लोककल्याणकारी एवं गाँधीवादी विचारधाराएँ प्रमुख हैं, जिनका विवरण निम्नानुसार है–

अहस्तक्षेपवादी विचारधारा

अहस्तक्षेपवादी विचारधारा का उद्देश्य राज्य के कार्यक्षेत्र को सीमित करना है। अहस्तक्षेपवाद का अर्थ है – व्यक्ति को अपनी इच्छा के अनुसार काम करने दिया जाए क्योंकि वह अपने निजी हितों का सर्वोत्तम संरक्षक है। यह व्यक्ति की प्रधानता को स्वीकार करता है और व्यक्ति को अधिकतम स्वतंत्रता देने का पक्षधर है। इस सिद्धान्त को 'हस्तक्षेप न करने की नीति' (Theory of non-interference) अथवा 'लैसे फेयर" (Laissez Faire) भी कहा गया है। यह सिद्धान्त व्यक्ति को अधिक महत्व प्रदान करता है। इस सिद्धान्त का मूल मंत्र है कि 'व्यक्ति राज्य के लिए नहीं है अपितु राज्य व्यक्ति के लिए है।' राज्य तथा अन्य संस्थाओं का लक्ष्य व्यक्ति का विकास करना है न कि व्यक्ति का उद्देश्य राज्य की सेवा करना। राज्य को चाहिए कि वह व्यक्ति को अधिक से अधिक स्वतंत्रता प्रदान करे तथा उसके कार्यों में कम से कम हस्तक्षेप करे।

अहस्तक्षेपवाद का विकास

राजनीति दर्शन के रूप में अहस्तक्षेपवाद 19 वीं शताब्दी की देन है। सर्वप्रथम बेन्थम और जेम्स मिल द्वारा इसका प्रवर्तन किया गया और इसकी पूर्ण अभिव्यक्ति लगभग 19 वीं शताब्दी के मध्य मे जॉन स्टुअर्ट मिल तथा हर्बर्ट स्पेंसर की रचनाओं में दृष्टिगत होती है।

अहस्तक्षेपवाद व्यक्तिवाद के बीज यूनान के सोफिस्ट विचारकों में भी पाये जाते हैं। सोफिस्ट विचारकों ने व्यक्ति को राज्य से श्रेष्ठ स्थान दिया था। यूनान के एपीक्यूरियन विचारकों ने व्यक्तिगत स्वार्थों से पृथक राज्य का कोई महत्व नहीं बताया। आधुनिक व्यक्तिवाद औद्योगिक क्रान्ति का ही परिणाम है। धर्म–सुधार आन्दोलन के फलस्वरूप इस बात का प्रचलन हुआ कि व्यक्ति को धर्म–ग्रंथों तथा ईश्वरीय आज्ञाओं का अर्थ अपनी बुद्धि से लगाना चाहिए। हॉब्स, लॉक आदि संविदावादी विचारकों के दर्शन में राजनीतिक व्यक्तिवाद प्रकट हुआ। 18 वीं शताब्दी में होने वाली औद्योगिक क्रान्ति के परिणाम स्वरूप आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिवाद का विकास हुआ। अर्थशास्त्रियों ने इस मत का प्रतिपादन किया कि राज्य को आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। व्यक्तिवाद का प्रारम्भिक ध्येय राज्य के आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप का विरोध करना था। एडम स्मिथ, रिकॉर्डो तथा माल्थस ने आर्थिक व्यक्तिवाद का भरपूर समर्थन किया। बेन्थम, मिल तथा स्पेंसर ने व्यक्ति को अपने राजनीतिक चिन्तन में महत्वपूर्ण स्थान देकर राजनीतिक विचारधारा के रूप में व्यक्तिवाद की स्थापना की।

मिल का प्रमुख सिद्धान्त यह है कि यदि राज्य व्यक्तियों के मामलों में न्यूनतम हस्तक्षेप करे तो वह व्यक्ति को अधिकाधिक सुख दे सकता है। स्पेंन्सर के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को उस सीमा तक पूरी स्वतंत्रता दी जानी चाहिए, जब तक वह दूसरों की स्वतंत्रता में बाधक न हो।

अहस्तक्षेपवादी राज्य के मूल सिद्धान्त

(1) राज्य एक आवश्यक बुराई है– व्यक्ति के जीवन की सुरक्षा, शान्ति एवं व्यवस्था स्थापित करने के लिए राज्य आवश्यक है किन्तु व्यक्ति की स्वतंत्रताओं में हस्तक्षेप करने से व्यक्ति का चहुँमुखी विकास बाधित होता है। अतः अहस्तक्षेपवादी राज्य को एक आवश्यक बुराई मानते हैं।

(2) वह सरकार श्रेष्ठ है जो न्यूनतम शासन करती है– अहस्तक्षेवादियों के अनुसार राज्य का कार्यक्षेत्र जितना सीमित रहे, उतना ही अच्छा है। राज्य को केवल निषेधात्मक कार्य ही करने चाहिए, कोई कल्याणकारी कार्य नहीं करने चाहिए। शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य और जनहित के कार्यों का राज्य द्वारा किया जाना उचित नहीं। फ्रीमेन के अनुसार "वही सरकार सबसे अच्छी है जो कम से कम शासन करती है।"

(3) व्यक्ति साध्य है तथा राज्य साधन– अहस्तक्षेवादी धारणा के अनुसार, राज्य का अस्तित्व व्यक्ति की सेवा करने हेतु है। राज्य व्यक्ति के लिए है न कि व्यक्ति राज्य के लिए। राज्य व्यक्तियों का समूह मात्र है तथा व्यक्तियों के विकास में ही राज्य की उन्नति संभव है।

(4) व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता– यह सिद्धान्त व्यक्ति को अधिकतम स्वतंत्रता प्रदान करने का पक्षधर है। अहस्तक्षेपवादी "लैसे फेयर" (LAISSEZ FAIRE) अर्थात् "व्यक्तियों को अपने हाल पर छोड़ दो" के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं। राज्य को व्यक्ति की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

(5) राज्य का कार्यक्षेत्र सीमित– राज्य केवल सुरक्षात्मक कार्य करता है। अतः उसका कार्यक्षेत्र सीमित है।

अहस्तक्षेपवादी राज्य के समर्थन में तर्क

(1) आर्थिक तर्क– एडम स्मिथ, माल्थस, रिकार्डो तथा मिल आदि अर्थशास्त्रियों के अनुसार प्रत्येक मनुष्य अपने हानि लाभ को अच्छी तरह समझता है, आर्थिक विकास के लिए राज्य का आर्थिक क्षेत्र में नियंत्रण नहीं होना चाहिए। राज्य का हस्तक्षेप होने पर व्यक्ति के कार्य करने का उत्साह एवं प्रेरणा शिथिल पड़ जाती है। अतः सरकार को उद्योग – व्यापार के क्षेत्र में अहस्तक्षेप की नीति का अनुसरण करना चाहिए।

(2) नैतिक तर्क– व्यक्तिवाद के समर्थन में नैतिक तर्क यह है कि प्रत्येक व्यक्ति का अपना अलग व्यक्तित्व और अपनी

अलग विशेषता होती है अतः राज्य का दायित्व है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने तरीके से अपने व्यक्तित्व का विकास करने दे।

(3) व्यावहारिक तर्क– राज्य की कार्यशक्ति और दक्षता वैयक्तिक कार्यशक्ति और दक्षता से उत्कृष्ट नहीं होती है, अतः व्यक्ति की दक्षता का विकास कर उसका लाभ लिया जाना चाहिए।

(4) वैज्ञानिक तर्क– हर्बर्ट स्पेंसर ने प्राणी विज्ञान से नई धारणाएँ लेकर अहस्तक्षेपवाद का समर्थन किया है। उसके अनुसार जीवन संघर्ष में जो व्यक्ति योग्य होते हैं वे आगे बढ़ जाते हैं और अयोग्य तथा दुर्बल व्यक्ति नष्ट हो जाते हैं। यह प्रकृति का नियम है जो समाज में भी लागू होना चाहिए और समाज में यह तभी लागू हो सकता है जब हम व्यक्तियों को स्वतंत्र छोड़ दें। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य को प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्रता पूर्वक अपना विकास करने का अवसर प्रदान करना चाहिए।

अहस्तक्षेपवादी राज्य के विरोध में तर्क

इस धारणा की निम्नलिखित तर्कों के आधार पर आलोचना की जाती है –

(1) व्यक्ति सदैव अपने हित का सर्वोत्तम निर्णायक नहीं होता– प्रत्येक व्यक्ति अपना हित भली भाँति नहीं समझता है और उसमें अपने हित साधन की पूरी क्षमता भी नहीं होती है। अतः राज्य को उनकी भलाई की ओर विशेष रूप से ध्यान देना पड़ता है।

(2) राज्य कल्याणकारी संस्था है– सभी देशों में प्रगति और विकास राज्य के माध्यम से ही हुआ है। राज्य द्वारा व्यक्ति के कल्याण के लिए विभिन्न क्षेत्रों में अनेक कार्य किये जा रहे हैं। ऐसी स्थिति में राज्य बुराई न रहकर एक कल्याणकारी संस्था के रूप में दृष्टिगोचर होता है।

(3) राज्य और स्वतंत्रता परस्पर विरोधी नहीं है– अहस्तक्षेपवादी धारणा के समर्थक राज्य और स्वतंत्रता को परस्पर विरोधी मानते हैं, किन्तु आज यह सैद्धान्तिक रूप में स्वीकार किया जाने लगा है कि राज्य का उद्देश्य विभिन्न व्यक्तियों और वर्गों के हितों में सामंजस्य स्थापित करना है जिससे समाज उन्नति की ओर अग्रसर हो सके। आज इस विचार को माना जाता है कि राज्य स्वतंत्रता में बाधक नहीं वरन् साधक है।

(4) स्वतंत्रता नकारात्मक न होकर, सकारात्मक होती है– अहस्तक्षेपवादी राज्य में स्वतंत्रता की नकारात्मक व्याख्या की जाती है अर्थात् अहस्तक्षेप ही स्वतंत्रता है, परन्तु वर्तमान में राज्य अनेक लोक कल्याणकारी कार्य कर रहा है। व्यक्तियों की स्वतंत्रता में अन्य व्यक्ति बाधक न बनें एवं स्वतंत्रताओं का उपभोग करने के लिए आवश्यक परिस्थितियों के निर्माण हेतु राज्य का हस्तक्षेप अनिवार्य हो जाता है।

(5) प्राणीशास्त्र की दोषपूर्ण धारणा– प्राणीशास्त्र की तार्किक व्यक्तिवादी धारणा मनुष्यों पर लागू नहीं की जा सकती। मनुष्य पशु न होकर मानवीय दायित्वों और नैतिक कर्तव्यों को समझने वाला प्राणी है। उसका यह कर्तव्य है कि निर्बलों और असहायों की सेवा व सहायता करे।

(6) राज्य का सुधार सम्भव है– राज्य के कार्यक्षेत्र में वृद्धि से वह अकुशल, खर्चीला, भ्रष्ट तथा नौकरशाही की बुराईयों से व्याप्त हो जाता है किन्तु इन बुराईयों की रोकथाम की जा सकती है और आवश्यक सुधार किये जा सकते हैं। अनेक बार राज्य लाभ के लिए नहीं वरन् क्षति उठाकर भी जन सेवा के कार्य करता है।

अहस्तक्षेपवादी राज्य का महत्त्व

राज्य की अहस्तक्षेपवादी धारणा की प्रतिक्रिया स्वरूप साम्यवादी व समाजवादी विचारधाराओं का अभ्युदय हुआ और आज व्यक्तिवाद इतिहास की धरोहर बन गया है किन्तु राज्य के अनावश्यक हस्तक्षेप को कम करने में इसका महत्वपूर्ण योगदान है। आधुनिक युग में विकसित उदारीकरण, निजीकरण एवं वैश्वीकरण की धारणाएँ, राज्य के अहस्तक्षेपवादी स्वरूप का ही परिष्कृत स्वरूप हैं। ''व्यक्ति साध्य है और राज्य साधन है।'' यह विचारधारा समस्त लोकतांत्रिक देशों का निरन्तर मार्ग प्रशस्त करती रहेगी।

लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा
(Concept of Welfare State)

आजकल लोक कल्याणकारी राज्य का सिद्धान्त अत्यधिक लोकप्रिय है। विश्व के अनेक देश जो ब्रिटिश तथा फ्रेंच साम्राज्यवाद के पंजे से कुछ वर्ष पहले मुक्त हुए थे, अब लोकतंत्र तथा कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को अपनाने के लिए उत्सुक हैं। कल्याणकारी राज्य की अवधारणा अब इतनी लोकप्रिय हो गई है कि अनेक विद्वानों ने इसकी परिभाषा करनी आरम्भ कर दी है।

(1) डॉ. अब्राहम (**Dr. Abraham**) ने कहा है, ''कल्याणकारी राज्य वह है जो अपनी आर्थिक व्यवस्था का संचालन आय के अधिकाधिक समान वितरण के उद्देश्य से करता है।''

(2) डॉ. गार्नर के अनुसार– ''कल्याणकारी राज्य का उद्देश्य राष्ट्रीय जीवन, राष्ट्रीय धन तथा जीवन के भौतिक, बौद्धिक तथा नैतिक स्तर को विस्तृत करना है।''

(3) मैकाईवर ने कहा है कि ''राज्य का सकारात्मक तथा नकारात्मक कार्य शासन व्यवस्था को ठीक स्थिति में रखना तथा मानवीय व्यक्तित्व का विकास करना है।

(4) हॉब्सन ने कहा है कि ''आज राज्य एक डॉक्टर, नर्स, शिक्षक, व्यापारी, उत्पादक, बीमा कम्पनी का एजेण्ट, मकान बनाने वाला, नगर योजना तैयार करने वाला तथा रेलवे नियंत्रक इत्यादि हो गया है।''

(5) कान्ट ने कहा है कि ''कल्याणकारी राज्य का अर्थ उस राज्य से है जो अपने नागरिकों के लिए अधिकतम सामाजिक सुविधाएँ प्रदान करे।''

(6) जवाहर लाल नेहरू ने अपने एक भाषण में कल्याणकारी राज्य को परिभाषित करते हुए कहा था, ''सबके लिए समान अवसर प्रदान करना, अमीरों और गरीबों के बीच अन्तर मिटाना और जीवन स्तर को ऊपर उठाना लोक हितकारी राज्यों का आधारभूत तत्व है।''

जी.डी.एच.कोल ने कल्याणकारी राज्य की परिभाषा करते हुए कहा है कि, ''कल्याणकारी राज्य वह है जिसमें प्रत्येक

नागरिक को रहन–सहन के निम्नतम स्तर तथा अवसर प्राप्त हों।'' आर्थर श्लेसिंगर ने कल्याणकारी राज्य की परिभाषा देते हुए कहा है कि, ''कल्याणकारी राज्य वह व्यवस्था है जिसमें सरकार रोजगार, आय, शिक्षा, डॉक्टरी सुविधा, सामाजिक सुरक्षा तथा आवास के निर्धारित स्तर को सभी नागरिकों को प्रदान करने के लिए सहमत हो।'' हरबर्ट एच. लेमेन के शब्दों में ''कल्याणकारी राज्य वह है जिसमें लोगों को अपनी व्यक्तिगत क्षमताओं का विकास करने का अवसर प्राप्त हो। उन्हें अपनी प्रतिभाओं के लिए समुचित पुरस्कार मिले तथा वे भूख, गृहविहीनता तथा जाति, धर्म अथवा रंग एवं भेदभाव के भय से मुक्त होकर सुखी रह सकें।''

लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा राज्य के कार्य क्षेत्र का एक आधुनिक सिद्धान्त है। यह शब्द सामान्यतः उस राज्य के लिए अपनाया जाता है जो अपने नागरिकों के लिए केवल न्याय, सुरक्षा तथा आन्तरिक व्यवस्था करके ही संतोष नहीं कर लेता, अपितु उनके कल्याण की अभिवृद्धि के लिए जीवन के समस्त आयामों के विकास पर बल देता है।

लोक कल्याणकारी राज्य की धारणा व्यक्तिवाद तथा समाजवाद का मिश्रण है। यह व्यक्तिवाद की भाँति व्यक्ति की स्वतंत्रता का अपहरण नहीं करती और समाजवाद की भाँति अधिक से अधिक कार्यों का निष्पादन करती है। लोक कल्याणकारी राज्य की धारणा के पीछे यही ध्येय है कि व्यक्ति को सुखी एवं समृद्ध बनाया जाए और इस हेतु राज्य द्वारा आवश्यक सेवा कार्यों का निष्पादन किया जाए।

लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के विकास में इंग्लैण्ड का योगदान महत्वपूर्ण रहा है। बेन्थम और जे.एस.मिल के उपयोगितावादी चिन्तन में कल्याणकारी राज्य का दर्शन समाहित है। इंग्लैण्ड की महारानी एलिजाबेथ प्रथम के समय जिस 'निर्धन कानून' की सृष्टि गरीबों एवं शारीरिक दृष्टि से अयोग्य व्यक्तियों को राहत देने के लिए की गई थी उसमें जनहित की भावना निहित थी। इंग्लैण्ड के फेबियन सामाजिक दार्शनिकों ने कल्याणकारी राज्य की अवधारणा की प्रगति में परोक्ष रूप से योगदान किया है। इंग्लैण्ड की श्रमिक दलीय सरकार ने उद्योगों के राष्ट्रीयकरण द्वारा अनेक प्रगतिशील नीतियाँ अपनाईं। आधुनिक युग में प्रो. हेराल्ड लास्की को कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को प्रतिपादित करने वाले विचारकों में प्रमुख माना जाता है।

लोक कल्याणकारी राज्य की धारणा के उदय के कारण

कल्याणकारी राज्य की धारणा के उदय के प्रमुख कारण अग्रलिखित हैं –

(1) व्यक्तिवाद के विरूद्ध प्रतिक्रिया– कल्याणकारी राज्य आदर्श व्यक्तिवाद के विरूद्ध एक प्रतिक्रिया है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य के कार्यक्षेत्र को सीमित कर दिया गया था और राज्य ने अहस्तक्षेप की नीति अपना ली थी। इससे औद्योगिक क्रान्ति के युग में मजदूरों की दशा दयनीय हो गई। कारखानों के पूँजीपति श्रम के अनुसार वेतन न देकर श्रमिकों का शोषण करते थे। राज्य पूँजीपतियों और मजदूरों के इन सम्बन्धों में हस्तक्षेप नहीं करता था। अतः शनैः शनैः ऐसी व्यक्तिवादी विचारधारा के विरूद्ध प्रतिक्रिया हुई। यह अनुभव किया गया कि मजदूरों की दशा सुधारने के लिए अहस्तक्षेप नीति का परित्याग कर राज्य को सक्रिय हस्तक्षेप करना चाहिए। सर्वप्रथम इंग्लैण्ड में मजदूरों के हितों के लिए राज्य ने कानून बनाए और इस प्रकार राज्य की लोक कल्याणकारी धारणा का सूत्रपात हुआ।

(2) मार्क्सवादी साम्यवाद के प्रभाव का भय– कार्ल मार्क्स और ऐंजिल ने वर्ष 1848 में 'साम्यवादी घोषणा–पत्र' प्रकाशित किया। वर्ष 1917 में लेनिन के नेतृत्व में सोवियत रूस में साम्यवादी क्रान्ति हुई तथा मार्क्स की विचारधारा को ठोस आधार प्राप्त हुआ। साम्यवाद के भय के कारण पाश्चात्य देश पूँजीवादी लोकतंत्रात्मक व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन करने लगे और लोक कल्याणकारी राज्य के सिद्धान्त को अपनाने लगे।

(3) लोकतांत्रिक समाजवाद की धारणा का प्रचलन– मार्क्सवादी साम्यवाद हिंसा और क्रान्ति के उपायों के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन चाहते थे। परिणामस्वरूप लोकतांत्रिक समाजवाद की धारणा का उदय हुआ। यह धारणा शान्तिपूर्ण और वैध उपायों द्वारा सामाजिक परिवर्तन करना चाहती है। इस विचारधारा के समर्थक राज्य को एक लोक कल्याणकारी संस्था मानते हैं। यह धारणा राज्य की सहायता से समाजवाद की स्थापना करना चाहती है।

लोक कल्याणकारी राज्य का अर्थ एवं परिभाषा

लोक कल्याणकारी राज्य वह राज्य है जो राज्य द्वारा किये जाने वाले साधारण कार्यों के अतिरिक्त लोक कल्याणकारी गतिविधियाँ– जैसे बेकारी दूर करना, बीमा योजनाएँ, वृद्धावस्था पेंशन व अन्य सुरक्षा प्रदान करना आदि सम्पन्न करता है।

लोक कल्याणकारी राज्य के निम्न उद्देश्य हैं –

1. लोक कल्याणकारी राज्य का उद्देश्य नागरिकों द्वारा सच्ची स्वतंत्रता के उपभोग को सम्भव बनाना है।
2. राज्य के कार्यक्षेत्र के विस्तार से व्यक्ति की स्वतंत्रताओं को सुनिश्चित करना।
3. जनता के सभी वर्गों के कल्याण हेतु योजनाएँ बनाना।
4. सभी नागरिकों को मूलभूत सुविधाएँ उपलब्ध करवाना।
5. सामाजिक कार्यों को सम्पन्न करना भी लोक कल्याणकारी राज्य का उद्देश्य है।

कल्याणकारी राज्य ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करता है जिनमें प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व का स्वतंत्र रूप से सर्वांगीण विकास सम्भव हो सके।

लोक कल्याणकारी राज्य के लक्षण

लोक कल्याणकारी राज्य के प्रमुख लक्षण निम्नलिखित हैं –

(1) आर्थिक न्याय को सुनिश्चित करना– कल्याणकारी राज्य आर्थिक न्याय के आदर्श पर कार्य करता है। समाज में विद्यमान सामाजिक एवं आर्थिक विषमताओं को धनी वर्ग की आय पर अधिक कर लगाकर कम करने का प्रयास करता है।

(2) सामाजिक सुरक्षा– कल्याणकारी राज्य नागरिकों को अधिक से अधिक सुरक्षा प्रदान करता है। बेरोजगारों को रोजगार के अवसर, निर्बलों एवं कमजोर वर्गों को सहायता बीमारी एवं वृद्धावस्था में आवश्यक सुरक्षा प्रदान करता है।

(3) सामाजिक न्याय– समाज में विद्यमान सामाजिक विषमताओं, कुरीतियों अन्धविश्वासों को दूर कर समाज के पिछड़े

व दलित वर्ग को सामान्य धारा में लाने का प्रयास करता है। वस्तुतः कल्याणकारी राज्य एक समाजसेवी राज्य होता है, ऐसा राज्य निरक्षरता व निर्धनता को दूर करने के साथ–साथ श्रम न्यायालय, वाचनालय, पार्क, सड़क, आवास, प्रसूति गृह, दलितोद्धार के कार्यक्रम आदि की व्यवस्था करता है।

(4) व्यक्तिवाद तथा समाजवाद का मध्य मार्ग– लोक कल्याणकारी राज्य दो अतिवादी धारणाओं – व्यक्तिवाद एवं समाजवाद के मध्य सामंजस्य स्थापित करता है। इस प्रकार के राज्य में राज्य के कृत्यों में वृद्धि होती है, किन्तु व्यक्ति के महत्व को भी स्वीकार किया जाता है तथा उसकी स्वतंत्रता बनी रहती है।

(5) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना– कल्याणकारी राज्य का विचार केवल राष्ट्रीय ही न होकर अन्तर्राष्ट्रीय भी है। राष्ट्रीय लोक कल्याण के साधनों को स्थाई बनाने के लिए आवश्यक है कि किसी राज्य विशेष के हित साधन के साथ अन्तर्राष्ट्रीय हित साधन का भी ध्यान रखा जाए।

लोक कल्याणकारी राज्य के कार्य

लोक कल्याणकारी राज्य के कार्यों को दो वर्गों में बाँटा जाता है – अनिवार्य तथा ऐच्छिक

अनिवार्य कार्य– अनिवार्य कार्यों के अन्तर्गत वे कार्य आते हैं जो राज्य की सुरक्षा से संबंध रखते हैं, जैसे आन्तरिक शान्ति व्यवस्था बनाए रखना, प्रतिरक्षा और न्याय आदि।

ऐच्छिक कार्य– ऐच्छिक कार्य वे होते हैं जिन्हें नागरिकों की भलाई के लिए राज्य द्वारा निष्पादित किया जाता है।

कल्याणकारी राज्य के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं –

(1) समाज सुधार– कल्याणकारी राज्य मद्य निषेध, बाल विवाहों की रोकथाम, छूआछूत, जाति प्रथा आदि सामाजिक कुरीतियों के उन्मूलन का प्रयास करता है।

(2) श्रम का नियमन– कल्याणकारी राज्य श्रमिकों की दशा सुधारने के लिए प्रयत्नशील रहता है। वह उचित पारिश्रमिक, पेंशन, स्वास्थ्य, बीमा असहाय अवस्था में मजदूरों की सहायता आदि का प्रबंध करता है।

(3) कृषि, उद्योग तथा व्यापार का नियमन– राज्य कृषि, उद्योग और व्यापार का इस प्रकार नियमन करता है जिससे किसी का शोषण न हो। कृषि के विकास के लिए अच्छे बीज, सिंचाई आदि की सुविधा राज्य प्रदान करता है।

(4) असहाय एवं पीड़ितों की सहायता– कल्याणकारी राज्य असहाय एवं पीड़ित व्यक्तियों के लिए आवास, गृह, वृद्धावस्था पेंशन, निःशुल्क चिकित्सा तथा रैन बसेरों आदि की व्यवस्था करता है।

(5) शिक्षा– लोक कल्याणकारी राज्य का दायित्व है कि वह नागरिकों की शिक्षा की व्यवस्था करे। इस दृष्टि से उसे प्रारम्भिक शिक्षा, महिला एवं प्रौढ़ शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए। राज्य के द्वारा वाचनालयों तथा पुस्तकालयों की भी व्यवस्था की जानी चाहिए।

(6) नैतिक उन्नति के साधनों का विकास– राज्य को भौतिक उन्नति के साथ नैतिक उन्नति हेतु भी व्यवस्थाएँ करनी चाहिए। इसके लिए व्याख्यान मालाऐं, रेडियों, टेलीविजन, पत्र पत्रिकाओं आदि का सहारा लिया जा सकता है।

(7) स्वास्थ्य रक्षा– स्वच्छता एवं रोगों की रोकथाम के लिए राज्य को पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए। जन स्वास्थ्य के लिए चिकित्सालय तथा चिकित्सा अनुसंधान केन्द्र खेलने चाहिए। श्रमिकों, स्त्रियों, बालकों आदि के लिए चिकित्सीय सुविधाएँ उपलब्ध करवानी चाहिए।

(8) आर्थिक सुरक्षा– राज्य को आर्थिक व्यवस्था में ऐसा सुधार करना चाहिए जिससे कि सभी नागरिकों के लिए गरिमापूर्ण जीवन यापन की दशाएँ एवं सुविधाएँ उपलब्ध हो सकें। सभी व्यक्तियों के लिए रोजगार की व्यवस्था की जाऐ।

(9) परिवार नियोजन संबंधी कार्य– राज्य को जनसंख्या सीमित करने का प्रयास करना चाहिए, जिससे वर्तमान जनसंख्या के जीवन स्तर को उन्नत किया जा सके। परिवार नियोजन कार्यक्रम का विस्तार करने के लिए लोगों की सुविधाएँ बढ़ायी जानी चाहिए।

वास्तव में राज्य के ऐच्छिक कार्यों की सूची निर्धारित नहीं की जा सकती है। राज्य का कर्तव्य नागरिकों के लिए उन सब सुविधाओं तथा व्यवस्थाओं को उपलब्ध करवाना है जिनके द्वारा उनकी भलाई व उन्नति सम्भव हो सके।

लोक कल्याणकारी राज्य की आलोचना

आलोचना में निम्न तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं –

(1) व्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन– कल्याणकारी राज्य की प्रणाली द्वारा व्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन होता है। राज्य बहुत से कार्य केवल अपने ही नियंत्रण तथा तत्वावधान में करता है। ऐसी परिस्थितियों में राज्य की शक्ति में वृद्धि हो जाती है और व्यक्ति की स्वतंत्रता सीमित हो जाती है। राज्य की बाध्यकारी शक्ति का उपयोग बढ़ जाता है और उसी मात्रा में व्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन होता है।

(2) राज्य की बाध्यकारी शक्ति का प्रयोग– आलोचकों का मत है कि कल्याणकारी राज्य की आड़ में धनी वर्ग से कर के माध्यम से धन लेकर समाज में समानता स्थापित करने के लिए राज्य की बाध्यकारी शक्ति का प्रयोग किया जाता है, जो उचित नीति नहीं है।

(3) नौकरशाही की समस्या– लोक कल्याणकारी राज्य के अन्तर्गत अधिकांश कार्य नौकरशाही द्वारा किये जाते हैं। सरकार के कार्यों एवं दायित्वों में वृद्धि के कारण प्रशासन का ढाँचां बहुत विस्तृत हो जाता है, शासन की शक्ति सरकारी कर्मचारियों के हाथों में केन्द्रित हो जाती है जिससे नौकरशाही की निरंकुशता बढ़ने का भय रहता है। जन कल्याणकारी अनेक महत्वपूर्ण योजनाओं को ये नौकरशाह अपने स्वार्थों के कारण असफल बना देते हैं।

(4) प्रेरणा का अभाव– लोक कल्याणकारी राज्य द्वारा प्रदान की गई सेवाएँ सबको ही प्राप्त होती हैं ऐसे व्यक्तियों को भी जो स्वयं अपने संकट का निवारण करने की क्षमता रखते हैं। बहुत से ऐसे व्यक्ति भी हैं जो आत्मनिर्भरता की आवश्यकता नहीं समझते हैं और राज्य पर आश्रित हो जाते हैं।

(5) समग्रवादी शासन का भय– कल्याणकारी शासन में वस्तुतः जनतंत्र की आड़ में समग्रवादी प्रवृत्तियों का विकास होने लगता है। ऐसा राज्य 'साम्राज्यवाद' को बढ़ावा देकर निरंकुश राज्य की सत्ता स्थापित करता है।

(6) खर्चीला शासन– कल्याणकारी राज्य पर्याप्त

खर्चीला होता है, समस्त कार्य राज्य द्वारा निष्पादित किये जाते हैं फलतः ज्यों –ज्यों राज्य का नियंत्रण बढ़ता है, त्यों–त्यों महँगाई और लागत भी बढ़ती जाती है।

(7) उत्पादन में कमी– कल्याणकारी राज्य में सामान्य जन की भलाई के लिए राज्य को बहुत सारे कार्य करने पड़ते हैं। इसके लिए सरकार को धनी व्यक्तियों पर बड़े पैमाने पर कर लगाने होते हैं। इससे धनी व्यक्ति हतोत्साहित होकर उत्पादन एवं विकास के प्रति उदासीन हो जाते हैं।

निष्कर्ष

कल्याणकारी राज्य के विरोध में किये जाने वाले तर्क समुचित नहीं हैं। इंग्लैण्ड में लोक– कल्याणकारी सेवाओं में वृद्धि के साथ–साथ राष्ट्रीय उत्पादन में भी वृद्धि हुई है। इसी प्रकार वैयक्तिक स्वतंत्रता तथा राज्य की भूमिका के मध्य समुचित समन्वय स्थापित किया गया है। लोक– कल्याणकारी राज्य सामाजिक न्याय को अपना लक्ष्य मानता है, जिसकी प्रेरणा इसे समाजवाद से मिली है। अतः समाजवाद को ही कार्यान्वित करने वाली प्रजातांत्रिक व्यवस्था लोक– कल्याणकारी राज्य है।

राज्य की गाँधीवादी धारणा (Gandhian Concept of the State)

गाँधी राज्य के बेहद शक्तिशाली स्वरुप के आलोचक थे। उनके विचारों पर उनकी गहन तथा सतत अध्ययन की प्रवृति का जबरदस्त प्रभाव दिखाई देता है। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह हैं कि वे अतिवाद के विरुद्ध है। उन्होंने भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों दर्शनों व एतिहासिक उदाहरणों में राज्य की स्थिति व भूमिका का अहन विश्लेषण कर यह निष्कर्ष निकाला था कि राज्य मूलतः एक साधन है व्यक्ति के सर्वागीण विकास का। भारतीय व पाश्चात्य दोनों दर्शनों में अतिशक्तिशाली राज्यों ने मानव के व्यक्तित्व के सम्पूर्ण विकास के अपने मूल आदर्श को त्यागकर हिंसा व बल के माध्यम से उन्हें शासित करने का प्रयास किया है। वह राज्य के कार्यक्षेत्र को सीमित रखने तथा आत्म अनुशासन द्वारा नागरिकों के बगैर किसी दवाब व भय के अपने कर्तव्य पालन की अवधारणा की बात करते है। वह राज्य द्वारा लगाये गये उन नियंत्रणों का पक्ष नहीं लेते जो मनुष्य की स्वतंत्र चेतना को प्रतिबंधित करते हो। उनके अनुसार व्यक्ति की अन्तरात्मा पर भौतिक शक्ति के माध्यम से लगाये गये नियंत्रण उनका वास्तविक कल्याण सुनिश्चित नहीं कर सकते।

गाँधी आधुनिक राज्य की बढ़ती दमनकारी शक्ति संरचना के घोर विराधी हैं। उनकी मान्यता है कि मनुष्य पर उसकी अन्तरात्मा के आदेशों की बजाय राज्य द्वारा निर्मित विधि के नियंत्रण को लागू किया जाना, व्यक्ति के आत्मसाक्षात्कार के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। गाँधी का स्पष्ट मत है कि राज्य की दमनकारी शक्ति का समर्थन, वास्तव में अपनी नियति को स्वयं निर्धारित करने के मनुष्य के नैतिक अधिकार का स्पष्ट निषेध है। उनकी मान्यता है कि राज्य की अनियंत्रित, असीमित और अक्षुण्ण सत्ता का समर्थन करना वास्तव में मानव सभ्यता के नैतिक आधार पर ही खुला आक्रमण है।

गाँधी के राजनीतिक दर्शन का लक्ष्य, मानव की परिपूर्णता को सुनिश्चित करना है। उनके अनुसार हिंसा पर आधारित राजकीय आदेशों को कानून की संज्ञा देना, वास्तव में प्रेम और अहिंसा के बल के शाश्वत महत्व का अवमूल्यन करना हैं। गाँधी का आग्रह है कि व्यक्ति पर राज्य के आदेशों के बाह्य नियंत्रणों की अपेक्षा, उसकी स्वयं की जागृत अन्तरात्मा के नियंत्रण अधिक पवित्र हैं। गाँधी के अनुसार अपनी अन्तरात्मा में ईश्वर के राज्य की खोज कर के व्यक्ति को उसी के दिव्य आदेशों से शासित होना चाहिए।

गाँधी मूलतः राज्य के विरोधी होते हुए भी यह स्वीकार करते थे कि राज्य का तत्काल उन्मूलन संभव नहीं है। वे वस्तुतः व्यावहारिक आदर्शवादी थे। उन्होंने राजनीतिक व्यवस्था के संबंध में अपनी आदर्शवादी अपेक्षाओं को व्यवहार के धरातल से अलग नहीं किया। उन्होनें अन्तिम साध्य के रूप में एक राज्यहीन समाज की कल्पना की, किन्तु यह भी स्वीकार किया कि राज्यहीन समाज की स्थापना एक ऐसा आदर्श है जिसकी पूर्णतः प्राप्ति अत्यन्त कठिन है। अतः उन्होंने विकेन्द्रित ग्राम–राज्य के रूप में राजनीतिक व्यवस्था का उप आदर्श प्रतिपादित किया। वे यह समझते थे कि विकेन्द्रित ग्राम–स्वराज्य के आदर्श लक्ष्य को भी क्रमिक सुधारों तथा लोगों के दृष्टिकोण में मौलिक परिवर्तन ला कर ही प्राप्त किया जा सकता था। इसकी स्थापना के लिये एक समयबद्ध कार्यक्रम की आवश्यकता थी। अतः तत्कालिक सुधारवादी आदर्शों के रूप में उन्होंने एक 'अहिंसक लोकतंत्र' की परिकल्पना की। इस प्रकार आदर्श राजनीतिक व्यवस्था के संबंध में गाँधी के प्रतिमान को तीन स्तरों के रूप में समझा जा सकता है।

(1) आदर्श व्यवस्था– राज्यहीन समाज अथवा रामराज्य गाँधीजी ने स्पष्ट किया कि यह रामराज्य 'हिन्दू राज्य' का पर्यायवाची नहीं है, अपितु एक ऐसी पवित्र व्यवस्था की ओर संकेत करता है जिसमें व्यक्ति की अन्तर्रात्मा पर बाह्य नियंत्रण पूर्णतः समाप्त कर दिया जाए। इस व्यवस्था को गाँधी ने 'प्रबुद्ध अराजकता' का नाम दिया। गाँधीजी की मान्यता है कि जब व्यक्ति, अपने जीवन में अहिंसा के आदर्श को पूर्णतः चरितार्थ कर लेगा और स्वार्थ को परम सत्य के प्रति समर्पित कर लेगा तो उसका उत्कृष्ट विवेक और जाग्रत अन्तरात्मा उसके सारे व्यवहार को ऐसे नैतिक प्रभाव से आच्छादित कर लेंगे कि उसके आचरण पर बाहरी नियंत्रण की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। ऐसी अवस्था में व्यक्ति अपना शासक स्वयं हो जाएगा। गाँधीजी स्वीकार करते हैं कि इस राजनीतिक आदर्श की प्राप्ति लगभग असम्भव है, क्योंकि व्यक्ति मानव शरीर को धारण करते हुए अपने जीवन में अहिंसा के आदर्श को पूर्णतः नहीं ढाल सकता।

(2) उप आदर्श– विकेन्द्रीकृत ग्राम स्वराज्य–गाँधी ने राजनीतिक शक्ति के केन्द्रीयकरण को हिंसा की संज्ञा दी। उन्होंने प्रतिपादित किया कि एक विकेन्द्रित राजनीतिक प्रणाली ही अहिंसा के आदर्श के अनुरूप मानी जा सकती है। गाँधीजी ने ग्राम को राजनीतिक इकाई बनाने पर बल दिया। इस व्यवस्था का तात्पर्य यह नहीं है कि उस ग्राम का दूसरे ग्रामों से कोई सम्बन्ध ही नहीं होगा। ये स्वायत्त, स्वशासी और आत्मनिर्भर ग्राम, अपनी उन आवश्यकताओं के लिए, जिनकी पूर्ति ग्राम में की ही नहीं जा सकती, उनकी पूर्ति दूसरे ग्रामों के सहयोग से करेंगे और दूसरे ग्रामों को ऐसा सहयोग उपलब्ध कराने के लिए सदैव

तत्पर रहेंगे।

एक राष्ट्रीय राज्य के रूप राष्ट्र में ऐसे स्वतंत्र ग्राम गणराज्यों का एक संघ होगा। गाँधीजी ने कहा, भारत में सात लाख ग्राम हैं। प्रत्येक ग्राम उसके निवासियों की इच्छा अनुसार संगठित किया जायेगा। ग्राम, जिला प्रशासन के लिए प्रतिनिधियों का चुनाव करेंगे। इस चुनाव में प्रत्येक ग्राम का एक वोट होगा। जिलों के प्रतिनिधि प्रान्तीय प्रशासन का निर्वाचन करेंगे और प्रान्तीय प्रतिनिधि राष्ट्रपति का निर्वाचन करेंगे जो कि राष्ट्र का मुख्य कार्यकारी होगा। गाँधीजी ने अनुभव किया कि विकेद्रीकृत ग्राम स्वराज्य की योजना को क्रियान्वित करना एक समय–साध्य प्रक्रिया है। अतः उन्होंने तात्कालिक राजनीतिक आदर्श के रूप में 'अहिंसक लोकतंत्र' की कल्पना की।

(3) अहिंसक लोकतंत्र– तात्कालिक सुधारवादी प्रतिमान– गाँधी की अहिंसक लोकतंत्र की धारणा एक ऐसी स्थिति पर बल देती है जिसमें राज्य के विद्यमान ढाँचे को स्थापित रखते हुए ही उसके स्वरूप और उद्देश्यों में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिये जायेंगे। अहिंसक लोकतंत्र में विकेन्द्रीकरण, गाँधीजी के अहिंसक लोकतंत्र सत्य और अहिंसा, शासन के निर्देशक सूत्र होंगे। अहिंसक लोकतंत्र अपने आप में कोई लक्ष्य नहीं है अपितु अंतिम राजनीतिक लक्ष्य की प्राप्ति का प्रथम चरण है। वे यह स्वीकार करते हैं कि इस व्यवस्था में राज्य के पूर्णतः अहिंसक होने की कल्पना नहीं कर सकते। अहिंसक लोकतंत्र में राज्य अहिंसा के प्रचार – प्रसार द्वारा जनता के जीवन में अहिंसा को प्रतिष्ठित करने के लिए प्रयत्नशील रहेगा। अहिंसक लोकतंत्र में बल प्रयोग को न्यूनतम करने का प्रयत्य किया जाएगा। इस अवस्था में पुलिस और सेना आवश्यक होंगे किन्तु उनकी भूमिका का रूपान्तरण हो जायेगा। पुलिस और सेना जनता के सेवक के रूप में कार्य करेंगे और वे स्वयं भी अहिंसा के सिद्धान्त में आस्था रखेंगे। सेना और पुलिस को अहिंसक आचरण के लिए प्रशिक्षित किया जायेगा। शांतिकाल में सेना व पुलिस रचनात्मक कार्यों में लगे रहेंगे।

गाँधीजी की आदर्श व्यवस्था रामराज्य व उप आदर्श विकेन्द्रीकृत ग्राम स्वराज की तत्काल प्राप्ति सम्भव न होने के कारण उन्होंने तात्कालिक सुधार के रूप में अहिंसक लोकतंत्र का प्रतिमान रखा जिसमें राज्य के विद्यमान ढाँचे को स्थापित रखते हुए अहिंसक लोकतंत्र का प्रतिमान प्रस्तुत किया।

राज्य के कार्यक्षेत्र की सीमाएँ

राज्य को उसके कार्यक्षेत्र की दृष्टि से अनेक भागों में वर्गीकृत किया गया है। राज्य के कार्य उसकी प्रकृति के अनुसार निर्धारित होते हैं। पूर्व में राज्य की प्रकृति के अनुसार राज्य के कार्यों का विवेचन किया गया है। प्रत्येक राज्य को अपने वास्तविक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कार्यों को सम्पन्न करना चाहिए किन्तु कुछ ऐसे भी कार्य हैं जिन्हें राज्य को नहीं करना चाहिए।

राज्य की सीमाओं को निम्नलिखित रूप में इंगित किया जा सकता है –

लोकमत– राज्य को किसी भी स्थिति में लोकमत के विरूद्ध कार्य नहीं करने चाहिए। व्यक्तियों की सुरक्षा एवं कल्याण हेतु राज्य का निर्माण किया गया है। व्यक्ति राज्य का आधारभूत अंग है। व्यक्ति की इच्छाओं को अभिव्यक्ति देने के लिए कानूनों का निर्माण एवं क्रियान्वयन किया जाता है। अतः राज्य को सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि राज्य सत्ता का प्रयोग करते समय जनता की स्वतंत्रताओं विशेषतः विचार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को अनावश्यक रूप से प्रतिबन्धित न करे। यदि राज्य व्यक्ति की स्वतंत्रतओं का उल्लंघन करेगा तो उसका यह आक्रोश विद्रोह का रूप धारण कर सकता है जिससे राज्य अपनी गतिविधियों का सुचारू रूप से निर्वहन नहीं कर सकेगा।

धर्म– धर्म व्यक्ति की वैयक्तिक धारणा है और उसके प्रति वह अत्यधिक संवेदनशील होता है राज्य द्वारा किसी व्यक्ति पर यह दबाव डालना कि वह धर्म विशेष को माने अथवा न माने, अनुचित है। राज्य द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान की जानी चाहिए, साथ ही यह भी सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि किसी भी व्यक्ति एवं संस्था द्वारा व्यक्ति को धर्म विशेष मानने के लिए बाध्य न किया जाए।

नैतिकता– धर्म के समान नैतिकता भी व्यक्ति का वैयक्तिक विषय है। राज्य द्वारा इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि वह अपनी कोई नैतिक संहिता व्यक्तियों पर बलपूर्वक न थोपे। राज्य को ऐसा वातावरण अवश्य विकसित करना चाहिए जिसमें व्यक्तियों का नैतिक विकास सम्भव हो। ग्रीन के शब्दों में 'राज्य को केवल ऐसे कार्य करने के लिए बाध्य करना चाहिए जिसके करने या न करने से समाज के नैतिक स्तर में गिरावट का भय हो।' नैतिकता एक भावात्मक विषय है जिस पर राज्य नियंत्रण नहीं लगा सकता। यदि राज्य नैतिकता पर अंकुश लगाता है तो नागरिक चरित्र का ह्रास होगा, परिणामस्वरूप समाज में भ्रष्टाचार व अपराधों में वृद्धि होगी।

व्यक्ति का व्यक्तिगत दैनन्दिन व्यवहार– व्यक्ति को अपनी दैनिक गतिविधियों को सम्पन्न करने में स्वतंत्र रहने देना चाहिए। यदि व्यक्ति के दैनंदिन व्यवहार में राज्य हस्तक्षेप करता है तो लोगों की भावनाएँ आहत होती हैं व उनके मन में राज्य के प्रति आक्रोश उत्पन्न होता है।

फैशन– फैशन द्वारा बातचीत के ढंग, विश्वास, वेशभूषा, संगीत कला और साहित्य को निर्धारित किया जाता है। फैशन का सम्बन्ध व्यक्तिगत रूचियों और अरूचियों से होता है। अतः राज्य को उस पर नियंत्रण लगाने में कठिनाई का सामना करना पड़ सकता है। यदि फैशन समाज में अश्लीलता को बढावा दे, समाज की मान्यताओं के विरूद्ध हो, शिष्टता और नैतिकता के विरूद्ध हो तो राज्य इन पर प्रतिबंध लगा सकता है। ये प्रतिबन्ध विवेकसम्मत होने चाहिए। अनावश्यक प्रतिबन्ध राज्य के लक्ष्य प्राप्ति में बाधक बन सकते हैं।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

राज्य के कार्यक्षेत्र का निर्धारण करने के सम्बन्ध में विभिन्न विचारधाराएँ हैं। कतिपय विद्वान प्लेटो, अरस्तू, हीगल आदि विचारक राज्य को साध्य एवं व्यक्ति को साधन मानते हैं। जे.एस.मिल व हर्बर्ट स्पेंसर जैसे विचारक राज्य को साधन एवं व्यक्ति को साध्य मानते हैं। राज्य के कार्य, समय परिस्थिति के

अनुसार बदलते रहे हैं। आधुनिक राज्य के कार्यों को दो भागों में बाँटा गया है।

1. अनिवार्य कार्य
2. ऐच्छिक कार्य

राज्य के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में अनेक धारणाएँ प्रचलित है जिनमें प्रमुख हैं–

1. अहस्तक्षपेवादी
2. लोककल्याणकारी
3. गाँधीवादी

अहस्तक्षेप राज्य

अहस्तक्षेवादी, राज्य को एक आवश्यक बुराई मानते हैं प्रमुख प्रतिपादक बेन्थम मिल, स्पेंन्सर, एडम स्मिथ आदि है।

लोककल्याणकारी राज्य

लोककल्याणकारी राज्य के प्रमुख प्रतिपादक हेराल्ड लास्की है।

लोककल्याणकारी राज्य की धारणा के उदय के कारण

1. व्यक्तिवाद के विरूद्ध प्रतिक्रिया
2. मार्क्सवादी साम्यवाद के प्रभाव का भय
3. लोकतांत्रिक समाजवाद की धारणा का उदय
4. निम्नवर्ग का उत्थान

लोक कल्याणकारी राज्य के लक्षण

1. लोकतंत्रीय शासन
2. सामाजिक आर्थिक न्याय को सुनिश्चित करना
3. व्यक्तिवाद तथा समाजवाद का अध्ययन
4. अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना

प्रमुख लक्षण

1. समाज सुधार
2. श्रम का नियमन
3. कृषि उद्योग तथा व्यापार का नियमन
4. असहाय एवं पीड़ित की सहायता
5. शिक्षा, स्वास्थ्य, आर्थिक सुरक्षा

आलोचना

1. व्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन
2. राज्य की बाध्यकारी शक्ति का प्रयोग
3. नौकरशाही का विकास
4. प्रेरणा का अभाव
5. समग्रवादी शासन का भय
6. खर्चीला शासन

लोक कल्याणकारी राज्य की सीमाएँ

1. आर्थिक साधनों का अभाव
2. नौकरशाही की समस्या
3. वैचारिक संघर्ष की समस्या

राज्य की गाँधीवादी धारणा

गाँधी राज्य को संगठित हिंसा का प्रतीक मानते हैं। गाँधीजी ने आदर्श राजनीतिक व्यवस्था के सम्बन्ध में गाँधीजी के प्रतिमान को तीन स्तरों के रूप में समझा जा सकता है।

1. आदर्श व्यवस्था– राज्यहीन समाज
2. उप आदर्श – विकेन्द्रीकृत ग्राम स्वराज्य
3. अहिंसक लोकतंत्र तात्कालिक सुधारवादी प्रतिमान

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

अति लघूत्तरात्मक प्रश्न (शब्द सीमा 20 शब्द)

1. पुलिस राज्य में विश्वास करने वाली विचारधारा का नाम लिखिए।
2. अहस्तक्षेपवादी राज्य का एक कार्य लिखिए।
3. राज्य को साध्य मानने वाले दो विचारकों के नाम लिखिए।
4. राज्य को साधन मानने वाले दो विचारकों के नाम लिखिए।
5. लोक कल्याणकारी राज्य के दो समर्थक विचारकों के नाम लिखिए।
6. लोक कल्याणकारी राज्य के मार्ग में आने वाली दो बाधाएँ लिखिए।
7. 19 वीं सदी में किस विचारधारा का प्राधान्य था ?
8. भारतीय संविधान के किस अध्याय में लोक कल्याणकारी प्रावधानों का उल्लेख किया गया है?
9. राज्य की किन्हीं दो सीमाओं का उल्लेख कीजिएँ।
10. राज्य के कार्यक्षेत्र सम्बन्धी कौन कौन सी विचारधाराएँ हैं ?

लघु उत्तरात्मक प्रश्न (शब्द सीमा 100शब्द)

1. अहस्तक्षेपवादी राज्य के दो मूल सिद्धान्त लिखिए।
2. अहस्तक्षेपवादी राज्य के विपक्ष में दो तर्क लिखिए।
3. लोक कल्याणकारी राज्य के दो उद्देश्य लिखिए।
4. लोक कल्याणकारी राज्य के दो कार्य लिखिए।
5. गाँधीवादी राज्य के दो लक्ष्य लिखिए।
6. रामराज्य को परिभाषित कीजिए।
7. राज्य की सीमाओं का उल्लेख कीजिए।
8. ''राज्य साध्य है।'' इस कथन को स्पष्ट कीजिए।
9. ''राज्य साधन है'' इस कथन को स्पष्ट कीजिए।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. अहस्तक्षेपवादी राज्य की धारणा को स्पष्ट करते हुए उसके लक्षणों पर प्रकाश डालिए।
2. राज्य के लोक कल्याणकारी स्वरूप के लक्षण एवं सफलता हेतु आवश्यक शर्तों का वर्णन कीजिऐ।
3. राज्य के गाँधीवादी स्वरूप पर एक लेख लिखिए।
4. राज्य के अनिवार्य और आवश्यक कार्यों में क्या भेद हैं ?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 'राज्य एक आवश्यक बुराई है' यह कथन किस विचारधारा से सम्बन्धित है –
   (अ) व्यक्तिवाद (ब) पूँजीवाद
   (स) समाजवाद (द) लोक कल्याणकारी ( )
2. गाँधी ने आदर्श राज्य व्यवस्था को नाम दिया है –
   (अ) विकेन्द्रित ग्राम स्वराज्य (ब) अहिंसक लोकतंत्र
   (स) रामराज्य (द) लोकतंत्र ( )
3. निम्नांकित में से कौन सी राज्य की सीमा नहीं है ?
   (अ) नैतिकता (ब) परम्परा
   (स) रीति रिवाज (द) औचित्यपूर्णता ( )

4. निम्न में से कौन सा उद्देश्य लोक कल्याणकारी राज्य का नहीं है ?
   (अ) आर्थिक सुरक्षा (ब) सामाजिक सुरक्षा
   (स) राजनीतिक न्याय (द) जनमत का उल्लंघन( )
5. निम्न में से कौनसा लक्षण कल्याणकारी राज्य से सम्बन्धित नहीं है।
   (अ) लोकतंत्रीय शासन (ब) सामाजिक न्याय
   (स) सामाजिक सुरक्षा (द) राज्यविहीन व्यवस्था( )
6. निम्न में से कौनसा राज्य का अनिवार्य कार्य है –
   (अ) विदेशी आक्रमणों से रक्षा
   (ब) स्वास्थ्य सुविधाएँ उपलब्ध कराना
   (स) शिक्षा का विस्तार
   (द) कृषि की उन्नति ( )
7. निम्न में से कौनसा राज्य का ऐच्छिक कार्य है।
   (अ) शान्ति व्यवस्था बनाए रखना
   (ब) विदेशी आक्रमणों से रक्षा
   (स) न्याय प्रबन्ध करना
   (द) बैंकिंग सुविधाएँ उपलब्ध कराना। ( )

उत्तर माला वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1.अ 2. स 3. द 4. द 5. द 6. अ 7. द

इकाई –3
अध्याय–7
राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त (दैवीय, शक्ति, मातृ एवं पितृ सत्तात्मक)
[Theories of the Origin of the State (Divine, Force, Matriarchal & Patriarchal)]

राज्य की उत्पत्ति राजनीति शास्त्र की एक अनसुलझी गुत्थी है। इस विषय में लेखकों के अलग अलग विचार है कुछ लेखक इसे मनुष्य में निहित राजनैतिक चेतना का परिणाम मानते है। गार्नर के अनुसार वे परिस्थितियॉ जिनमें आदि मानव में प्रथमतः राजनैतिक चेतना का अनुभव किया और उससे प्रेरित होकर राजनैतिक संगठन के अधीन होते हुए राज्य की उत्पत्ति की ओर आगे बढ़े। इतिहास के काल खण्डों में हुई घटनाओं और परिस्थितियों के अनुसार राज्य की उत्पत्ति के अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित हुए।

राज्य की उत्पत्ति के विषय में व्यक्त किये गये मुख्य सिद्धान्त निम्न है :–

दैवीय उत्पत्ति सिद्धान्त
(The Divine Therory)

राज्य की उत्पत्ति का यह सबसे प्राचीन और एक काल्पनिक सिद्धान्त है। यह इस मान्यता पर आधारित है कि राजा ईश्वर की रचना है। राजा पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि है। राजा के माध्यम से ईश्वर पृथ्वी पर शासन करता है राजा अपनी शक्ति ईश्वर से प्राप्त करता है और केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी होता है। राजा अपने कार्यो के लिये किसी मानव, किसी मानवीय संस्था या लोगों के प्रति उत्तरदायी नहीं है। इस सिद्वान्त के समर्थकों में यहूदी सर्वप्रथम थे। ग्रीस और रोम ने भी इस सिद्वान्त को मान्यता दी। भारतीय परम्परा के अन्तर्गत महाभारत के शान्तिपर्व में दैवी सिद्वान्त का संकेत मिलता है। मनुस्मृति में कहा गया है कि इस लोक में अराजकता फैल जाने के कारण जब लोग इधर उधर भाग रहे थे तब प्रभु ने राजा का सृजन किया। बाइबिल ईश्वर को समस्त शक्तियों का स्त्रोत और राजा को उसका प्रतिनिधि मानता है। भारत में राजा को सूर्य पुत्र और नेपाल में विष्णु का अवतार कहा है। राबर्ट फिल्मर ने अपनी पुस्तक पैट्रियाकी मे आदम को पृथ्वी पर पहला राजा माना है। इंग्लैण्ड के राजा जैम्स प्रथम अपनी पुस्तक ''टूल्स ऑफ फ्री मोनार्कीज'' में लिखा है कि राजा पृथ्वी पर ईश्वर की श्वास लेती प्रतिमाएँ है। राजा कभी दुराचारी नहीं होता। एक दुष्ट राजा के आचरण की जाँच ईश्वर के द्वारा की जा सकती है। इसी प्रकार फ्रांस के राजा लुई 14 वें ने इस सिद्वान्त का समर्थन किया और कहा कि राजा ईश्वर का प्रतिबिम्ब है।

दैवीय सिद्धान्त की प्रमुख विशेषताएँ

1. राज्य ईश्वर निर्मित संस्था है।
2. राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है।
3. राजा अपने अधिकार सीधे ईश्वर से प्राप्त करता है, यह दैवीय गुणों से युक्त है।
4. राजसत्ता निरंकुश है, कोई भी मानवीय इकाई इसे चुनौती नहीं दे सकती। जिस प्रकार ईश्वर जो भी करता है ठीक करता है, वैसे ही राजा भी कभी कुछ गलत नहीं करता।
5. राज्य, शासन और राजा तीनों एक रुप है।
6. राजपद वंशानुगत है। प्रजा इस अधिकार को छीन नहीं सकती है।
7. राजा की आज्ञाओं का पालन करना, प्रजा के लिये अनिवार्य है।

दैवी सिद्धान्त का प्रयोग

1. राजाओं ने अपनी शक्ति मजबूत करने और लोगों की अन्ध भक्ति प्राप्त करने के लिये इसका प्रयोग किया।
2. लोकतन्त्र के विरोध के लिये इसका प्रयोग किया गया।
3. राजा और पोप के संघर्ष में राजा को श्रेष्ठ बनाने के लिये इसका प्रयोग किया गया।

पतन के कारण

1. सामाजिक समझौता सिद्धान्त का उदय जिसने यह प्रतिपादित किया कि राज्य दैवी संस्था न होकर एक मानवीय संस्था है।
2. राजा और चर्च में चले संघर्ष ने भी इसके पतन में भूमिका निभाई।
3. प्रजातान्त्रिक विचारधारा के उदय के कारण भी इस सिद्वान्त ने अपना महत्व खो दिया।

आलोचना

1. अनैतिहासिक– इतिहास में इस बात का कोई प्रमाण नहीं कि राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है। यह सिद्धान्त राजनैतिक चेतना, आर्थिक आवश्यकता, रक्त सम्बन्ध आदि की भी उपेक्षा करता है।

2. निरंकुशता का पोषक –यह सिद्धान्त राजा को निरंकुश और अत्याचारी बनाता है क्योकि जनता राजा को हटाने में असमर्थ होती है।

3. प्रतिक्रियावादी– यह सिद्धान्त लोगों में अन्ध–भक्ति पैदा करता है जो विवेक सिद्वान्त के विरुद्वहै।

4. प्रजातन्त्र विरोधी– यह सिद्धान्त जनता को किसी

प्रकार के कोई अधिकार नहीं देता और उनकी सुरक्षा की व्यवस्था नही करता।

5. यह सिद्धान्त केवल राजतन्त्र पर लागू होता है जनतन्त्र पर लागू नहीं होता।

महत्व– इस सिद्धान्त का अपना एक विशेष महत्व रहा है। सभ्यता के प्रारम्भिक काल में जब राज्य की प्रमुख समस्या सुरक्षा और व्यवस्था थी, उस समय इस सिद्धान्त ने समाज को अराजकता से बचाकर लोगों को राजा के नेतृत्व में संगठित किया। जिस समय नैतिक, सामाजिक और आर्थिक आदर्शों का अभाव था, उस समय धर्म ने सुरक्षित और व्यवस्थित जीवन दिया।

पितृसत्तात्मक एवं मातृसत्तात्मक सिद्धान्त (Patriarchal and Matriarchal Theories)

अनेक विद्वानों की राय में राज्य की उत्पत्ति परिवार से हुई है। पारिवारिक परिवेश में आज्ञा पालन सत्ता आदि का रुप देखा जा सकता है– अरस्तु के अनुसार राज्य परिवार और ग्रामों का समुदाय है जिसका लक्ष्य पूर्ण और आत्मनिर्भर जीवन है। अरस्तु के अनुसार जब अनेक परिवार संयुक्त हो जाते है तो ग्राम का निर्माण होता है अर्थात् ग्राम से ही राज्य की उत्पत्ति होती है। इस सिद्धान्त के दो पक्ष है :–

1. पितृसत्तात्मक सिद्धान्त (Patriarchal Therory)
2. मातृसत्तात्मक सिद्धान्त (Matriarchal Theory)

पितृसत्तात्मक सिद्धान्त

इस सिद्धान्त का उल्लेख हमें यूनान, रोम और यहुदियों के प्राचीन इतिहास में देखने को मिलता है। इस सिद्धान्त के प्रमुख समर्थक हेनरी मेन है। यहुदियों की धार्मिक पुस्तक ओण्डटेस्टामैण्ट, बाइबिल, रोम और भारत में भी यह सिद्धान्त देखने को मिलता है।

हेनरी मेन के अनुसार प्राचीन समय में समाज परिवारों का समुह था और उस परिवार का सबसे वृद्ध व्यक्ति परिवार का पैट्रिआर्क (मुखिया) होता था। पहला परिवार पुरुष, उसकी स्त्री और बच्चे थे। धीरे धीरे परिवारों की संख्या में वृद्धि होती गयी। परन्तु परिवारों पर मूल परिवार के मुखिया का अधिकार बना रहा। इसके उत्तराधिकारी का भी इन परिवारों पर नियन्त्रण बना रहा। धीरे धीरे पितृ प्रधान परिवार का विकास हुआ परिवार से गोत्र और गोत्र से कबीलों का निर्माण हुआ और कबीलों से राज्य की उत्पत्ति हुई। कबीले का सबसे वृद्ध व्यक्ति मुखिया का चुनाव करता था।

लीकॉक ने परिवार से राज्य के विकास को इस प्रकार व्यक्त किया है – पहले एक गृहस्थी, उसके बाद एक पितृ प्रधान परिवार उसके पश्चात एक वंश के लोगों का कबीला और अन्त में एक राष्ट्र है।

पितृसत्तात्मक सिद्धान्त के मुख्य लक्षण

1. परिवार का पैट्रियार्क (मुखिया) पुरुष था।
2. परिवार की वंश परम्परा पिता से चलती थी।
3. परिवार में विवाह प्रथा स्थाई थी। कही बहुपत्नी, कही पर एकल पत्नी प्रथा थी।
4. रक्त सम्बन्ध परिवार के सदस्यों की एकता का मुख्य सूत्र था।
5. परिवार में मुखिया की शक्तियाँ निरपेक्ष थी।
6. राज्य के विकास का आधार पितृ प्रधान व्यवस्था थी।

आलोचना

1. पितृ प्रधान सिद्धान्त सब जगह विद्यमान नही– यह व्यवस्था पूरे विश्व में नहीं थी। एशिया और आस्ट्रेलिया में तो मातृ प्रधान व्यवस्था के उदाहरण मिलते हैं।

2. प्रारम्भिक सामाजिक इकाई कबीला थी – मार्गन, मैक्सवैल आदि के अनुसार प्रारम्भिक सामाजिक इकाई कबीला थी। कबीला टूटने पर गौत्र और गौत्र से परिवार का निर्माण हुआ। इनके अनुसार वंश स्त्री से चलता था, पुरुष से नही।

3. अत्यन्त सरल– यह एक सरल सिद्धान्त है जबकि राज्य की उत्पत्ति जटिल विकास का परिणाम है जिसमें अनेक छोटे और बड़े तत्वों का योगदान है।

4. यह सिद्धान्त राजनैतिक कम और समाज शास्त्रीय अधिक लगता है।

महत्व– इन सभी आलोचनाओं के बाद भी यह कहना निरर्थक है कि इसमें सत्य का कोई अंश नहीं है। राज्य की उत्पत्ति का विकास वादी सिद्धान्त भी इस बात को स्वीकार करता है कि राज्य के विकास में रक्त सम्बन्ध का अत्यधिक महत्व रहा है। समाज में परिवार संगठन, एकता की प्रमुख इकाई थी।

मातृसत्तात्मक सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के प्रमुख समर्थक मेक्लेनन, मॉर्गन और जंक्स है। इन व्याख्याकारों ने अपनी पुस्तकों में इस सिद्धान्त की व्याख्या की है। मातृ प्रधान सिद्धान्त के समर्थकों का मानना है कि प्राचीन समाज में स्थाई विवाह की संस्थाए नहीं थी। समाज में बहुपतित्व की व्यवस्था थी। इस व्यवस्था में नारी के अनेक पति होते थे उनकी होने वाली सन्तानों को पिता नहीं, माता के कुल के नाम से जाना जाता था। सम्पत्ति और सत्ता की अधिकारिणी माता होती थी। इस व्यवस्था के विकास ने आगे जाकर राज्य को जन्म दिया।

आलोचना

1. अत्यन्त सरलीकरण
2. मातृ प्रधान और पितृ प्रधान दोनों के उदाहरण मिलते है।
3. राजनैतिक नहीं सामाजिक सिद्धान्त।
4. अन्य तत्वों की उपेक्षा।
5. नारी पुरुष की अपेक्षा निर्बल।

महत्व–इस सिद्धान्त का महत्व भी पितृ सत्ता सिद्धान्त के समान है। रक्त सम्बन्ध राज्य के विकास का महत्वपूर्ण बिन्दु है जिसका यह सिद्धान्त निरुपण करता है।

शक्ति सिद्धान्त (The Force Theory)

इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य की उत्पत्ति का एकमात्र कारण शक्ति है। राज्य का उदय शक्तिशाली व्यक्तियों के द्वारा निर्बल व्यक्तियों को अपने अधीन करने की प्रकृति के कारण हुआ दूसरे शब्दों में युद्ध राज्य की उत्पत्ति का प्रमुख कारण था। युद्ध में विजेता शासक और पराजित प्रजा बन गए। वाल्टेयर के अनुसार प्रथम राजा एक भाग्यशाली योद्धा था। जैक्स के अनुसार ऐतिहासिक दृष्टि से यह सिद्ध करना तनिक भी कठिन नहीं है कि आधुनिक राजनैतिक समाजों का अस्तित्व सफल युद्धों में निहित है। ब्लंशली भी इस मत का समर्थन करता है वह कहता है कि शक्ति के बिना न कोई राज्य जीवित रहता है और न जीवित रह सकता है। इस प्रकार युद्ध शक्ति को पैदा करता है और शक्ति राज्य को जन्म देती है तथा शक्ति ही इसे कायम रखती है। बिस्मार्क के अनुसार राज्य का आधार रक्त और लोहा होना चाहिये। ट्रित्स्के के अनुसार राज्य में आक्रमण करने और रक्षा करने की जन शक्ति है। इस सन्दर्भ में शक्ति सिद्धान्त की निम्न विशेषताएँ सामने आती है–

I. शक्ति राज्य की उत्पत्ति का एक मात्र आधार है।
II शक्ति का आशय भौतिक और सैनिक शक्ति से है।
III प्रभुत्व की लालसा और आक्रामकता, मानव स्वभाव का अनिवार्य घटक है।
IV प्रकृति का नियम है कि शक्ति ही न्याय है।
V प्रत्येक राज्य में अल्पसंख्यक शक्तिशाली शासन करते है और बहुसंख्यक शक्तिहीन अनुकरण करते है।
VI वर्तमान में राज्यों का अस्तित्व शक्ति पर ही केन्द्रित है।

शक्ति सिद्धान्त का प्रयोग

1. मध्ययुग में धर्मगुरुओं ने राज्य को दूषित और चर्च को श्रेष्ठ संस्था बताने में किया।
2. व्यक्तिवादियों ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में सरकार के हस्तक्षेप को रोकने के लिये इसका उपयोग किया।
3. अराजकतावादी, समाजवादी विचारकों ने भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता हेतु इस सिद्धान्त का प्रयोग किया।
4. फासीवादी और नाजीवादियों ने भी इस सिद्धान्त का समर्थन और प्रयोग किया।

आलोचना

1. शक्ति राज्य की उत्पत्ति का एक मात्र तत्व नहीं है। यद्यपि इसने राज्य की उत्पत्ति में प्रमुख भूमिका का निर्वाह किया परन्तु इसकी उत्पत्ति के अन्य कारण चेतना, धर्म, रक्त सम्बन्ध आदि भी रहे।

2. टी.एच.ग्रीन के अनुसार राज्य की उत्पत्ति का आधार इच्छा है न कि शक्ति। लोगों की इच्छा के बिना न तो राज्य संगठित हो सकता है और न कायम रह सकता है। लोग राज्य के आदेशों का पालन शक्ति के भय से नहीं, अपने विवेक और बुद्धि से करते हैं।

3. शक्ति सिद्धान्त जिसकी लाठी उसकी भैंस जैसे सिद्धान्तों को जन्म देता है जिसका अर्थ है कि सिर्फ बलशाली को जीवित रहने का अधिकार है।

4. यह सिद्धान्त राज्य को निरकुंश बनाता है, जिसके लोगों की स्वतन्त्रता का लोप और जनतन्त्र का विनाश होता है।

5. यह सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और विश्व बन्धुत्व का विरोधी है, शक्ति पर ही जोर देने के कारण यह एक साम्राज्यवादी सिद्धान्त है।

6. यह सिद्धान्त केवल भौतिक शक्ति पर जोर देता है। आधुनिक युग में आध्यात्मिक, तकनीकी और वैधानिक शक्ति को भी महत्व दिया जाता है।

महत्व– इन आलोचनाओं के अनुसार राज्य की उत्पत्ति में शक्ति सिद्धान्त मान्य नहीं है परन्तु राज्य के जन्म और विकास में शक्ति की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। प्राचीन समय में अराजक समाज को संगठित करने में तथा अनुशासन और आज्ञापालन का भाव शक्ति के कारण ही आया। आधुनिक समय में भी जब राज्य शक्तिशाली नहीं होते है तो अराजकता और विघटन का शिकार हो जाते हैं।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

राज्य की उत्पत्ति में कोई सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं है।

इस विषय में समय समय पर, उस समय की परिस्थिति के अनुसार अनेक सिद्धान्त दिये गये पर वो सर्वमान्य नहीं हो पाये। इन सिद्धान्तों में दैवीय सिद्धान्त, शक्ति सिद्धान्त, मातृ सत्तात्मक सिद्धान्त, पितृ सत्तात्मक सिद्धान्त, सामाजिक समझौता सिद्धान्त, विकास वादी सिद्धान्त प्रमुख है।

दैवीय सिद्धान्त– के अनुसार राज्य की उत्पत्ति ईश्वर द्वारा की गयी है राजा को ईश्वर द्वारा राज्य को संचालित करने के लिये भेजा गया है। प्रजा का कर्तव्य है कि राजा का विरोध न करे, क्योंकि वह ईश्वर का प्रतिनिधि है।

शक्ति सिद्धान्त– इसके अनुसार राज्य की उत्पत्ति का मूल आधार शक्ति है। राज्य बलशाली द्वारा दुर्बल लोगों पर प्रभुत्व जमाने का परिणाम है।

पितृसत्तात्मक सिद्धान्त– राज्य की उत्पत्ति का कारण कुल है, जिसका मुखिया पिता होता है। कुलों से कबीला और कबीलों से राज्य का विकास हुआ।

मातृसत्तात्मक सिद्धान्त– यह सिद्धान्त राज्य की उत्पत्ति का कारण है तथा स्थाई वैवाहिक सम्बन्धों के अभाव को मानता है। परिवार का मुखिया पिता न होकर माता होती थी। सन्तानों को माँ के नाम से जाना जाता था।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

अति लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. मानव स्वभाव के विषय में शक्ति सिद्धान्त के क्या विचार

हैं ?

2. मातृसत्तात्मक सिद्धान्त में परिवार का मुखिया कौन होता है ?
3. महाभारत के शान्तिपर्व में राज्य के उत्पत्ति के विषय में क्या उल्लेख है ?
4. पितृसत्तात्मक सिद्धान्त का दोष क्या है?
5. दैवीय सिद्धान्त शासन के किस रुप को श्रेष्ठ मानता है ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. मातृसत्तात्मक सिद्धान्त की आलोचना कीजिये।
2. शक्ति सिद्धान्त की कमियों का उल्लेख करो।
3. दैवीय सिद्धान्त राज्य के क्या कर्तव्य बताता है।
4. पितृसत्तात्मक सिद्धान्त की विशेषताएँ बताइये।
5. शक्ति सिद्धान्त की विशेषताएँ बताइये।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. राज्य की उत्पत्ति के सन्दर्भ में शक्ति सिद्धान्त का मूल्यांकन कीजिये।
2. राज्य की उत्पत्ति का सबसे प्राचीन सिद्धान्त कौनसा है उसे विस्तार से समझाइये।
3. पितृसत्तात्मक सिद्धान्त का मूल्याकंन कीजिये।
4. मातृसत्तात्मक सिद्धान्त का मूल्याकंन कीजिये।

वस्तुनिष्ठ प्रश्नः–

1. राज्य की उत्पत्ति का कौनसा सिद्धान्त मध्ययुग में लोकप्रिय रहा।
   (अ) शक्ति सिद्धान्त (ब) सामाजिक समझौता सिद्धान्त
   (स) दैवीय सिद्धान्त (द) पितृसत्तात्मक सिद्धान्त ( )
2. प्रथम राजा एक भाग्यशाली योद्धा था, यह कथन है :–
   (अ) बिस्मार्क (ब) ओपेन हाइमर
   (स) गेटल (द) वाल्टेयर ( )
3. निम्न में से किस विचारक ने शक्ति सिद्धान्त का समर्थन किया।
   (अ) वाल्टेयर (ब) रुसो
   (स) हेनरी मेन (द) बिस्मार्क ( )
4. पितृ सत्तात्मक सिद्धान्त का प्रमुख समर्थक है।
   (अ) लीकाक (ब) हेनरी मेन
   (स) गिल क्राइस्ट (द) हाब्स ( )
5. बहुपति प्रथा किस सिद्धान्त में मानी जाती है।
   (अ) मातृसत्तात्मक सिद्धान्त
   (ब) पितृसत्तात्मक सिद्धान्त
   (स) दैवीय सिद्धान्त
   (द) शक्ति सिद्धान्त ( )

उत्तरमाला वस्तुनिष्ठ प्रश्न :–

1 (ब) 2 (द) 3 (अ) 4 (ब) 5 (अ)

अध्याय–8
सामाजिक समझौता सिद्धान्त एवं विकासवादी सिद्धान्त
(The Social Contract Theory & Evolutional Theory)

सामाजिक समझौता सिद्धान्त

राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्तों में सामाजिक समझौता सिद्धान्त सबसे महत्वपूर्ण माना जाता है। 17 वीं और 18 वीं शताब्दी में इस सिद्धान्त की प्रधानता रही। यह सिद्धान्त दैवीय सिद्धान्त के विरोध में आया। यह एक काल्पनिक सिद्धान्त माना जाता है। इसके अनुसार राज्य ईश्वरीय नहीं मानवीय संस्था है। इसकी उत्पत्ति उस सामाजिक समझौते का परिणाम है जिसे मनुष्य ने प्राकृतिक अवस्था का अन्त करने के लिये किया था।

सामाजिक समझौता सिद्धान्त आधुनिक होते हुए भी ऐतिहासिक दृष्टि से काफी पुराना है इसे पूर्व और पश्चिम दोनों क्षेत्रों का समर्थन प्राप्त हुआ है। महाभारत के शान्तिपर्व में कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इस मत को अपनाया है कि प्रजा ने राजा को चुना और राजा ने उसकी सुरक्षा का वचन दिया। यूनान में सबसे पहले सोफिस्ट वर्ग ने इस विचार का प्रतिपादन किया। उनका मत था कि राज्य एक कृत्रिम संस्था और एक समझौते का फल है। रोमन विचारकों ने भी इस बात पर बल दिया है कि जनता राजसत्ता का अन्तिम स्त्रोत है। मध्य युग में मैक्यावली तथा मैगनोल्ड ने इसका समर्थन किया।

16 वीं एवं 17 वीं शताब्दी में यह विचार बहुत अधिक लोकप्रिय हो गया और लगभग सभी विचारक इसे मानने लगे। रिचर्ड हूकर ने सर्वप्रथम इसकी वैज्ञानिक रुप से व्याख्या की। ग्रोसियस और स्पेनोजा ने इसका पोषण किया किन्तु इस सिद्धान्त का वैज्ञानिक और विधिवत रुप से प्रतिपादन हॉब्स, लॉक और रुसो ने किया।

थॉमस हॉब्स का सामाजिक समझौता सिद्धान्त– 1588 से 1679 ई.

विचारों की पृष्ठभूमि–

थॉमस हॉब्स इंग्लैण्ड का रहने वाला था। वह वहां के राजा चार्ल्स द्वितीय का शिक्षक था। उसके समय में चार्ल्स प्रथम और क्रोमबेल के नेतृत्व में संसद की सेनाओं के मध्य गृहयुद्ध हुआ। इस युद्ध से इंग्लैण्ड में अराजकता और अत्याचार का माहौल उत्पन्न हो गया। फलतः जीवन पूर्णतः असुरक्षित और कष्टदायक हो गया। इंग्लैण्ड के जनजीवन की इस स्थिति ने हॉब्स को निरंकुश राजतन्त्र का प्रबल समर्थक बना दिया। उसकी यह धारणा बन गयी कि अराजकता और अत्याचार के इस खतरे को एक निरंकुश राजतन्त्र ही समाप्त कर सकता है। उसने सामाजिक समझौता सिद्धान्त का प्रतिपादन कर उसके माध्यम से निरंकुश राजतन्त्र का समर्थन किया। इस हेतु उसने अपने ग्रन्थ लेवियाथन की रचना की।

मानव स्वभाव–

हॉब्स ने अपनी पुस्तक में मनुष्य के नकारात्मक स्वभाव का वर्णन किया है। उसके अनुसार मनुष्य एक असामाजिक प्राणी है। वह स्वार्थी, अहंकारी और झगड़ालू प्राणी है। वह सदा शक्ति से स्नेह करता है और शक्ति प्राप्त करने का प्रयास करता रहता है। हॉब्स के अनुसार मनुष्य अपने कार्य पूरे करने के लिये छल कपट का आश्रय लेता है। झूठ, प्रपंच, शत्रुता उसके प्रमुख साधन होते हैं।

प्राकृतिक अवस्था

हॉब्स ने मनुष्य के स्वभाव के आसुरी लक्षणों का भयावह वर्णन किया है। शक्ति ही सत्य है यह उस समय का सिद्धान्त था। उस समय अत्याचार और मारकाट का बोलबाला था। प्रत्येक मनुष्य दूसरे मनुष्य को शत्रु की दृष्टि से देखने लगा था। मनुष्यों में न्याय और अन्याय का ज्ञान नहीं था। हॉब्स के अनुसार वहाँ कोई व्यवसाय न था, कोई संस्कृति न थी, कोई विद्या न थी, कोई भवन निर्माण कला न थी, न कोई समाज था। मानव जीवन दीन, मलिन, पाशविक तथा अल्पकालिक था।

समझौते का कारण–

जीवन और सम्पत्ति की इस असुरक्षा और हिंसक मृत्यु के भय ने व्यक्तियों को इस बात के लिये प्रेरित किया कि वें इस असहनीय प्राकृतिक अवस्था का अन्त करने के उद्देश्य से एक राजनैतिक समाज का निर्माण करें।

सामाजिक समझौता–

नागरिक समाज का निर्माण करने के लिये सब व्यक्तियों ने मिलकर एक समझौता किया जिसमें प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से कहता है कि ''मैं इस व्यक्ति और सभा को स्वयं को शासित करने के अपने अधिकार और शक्ति का समर्पण करता हूँ, तुम भी अपने अधिकार और शक्ति इस व्यक्ति या सभा को सोंप दोगें और मेरे समान प्रत्येक कार्य का समर्थन करोगे।'' इस प्रकार

सभी व्यक्तियों ने एक व्यक्ति या सभा के प्रति अपने अधिकारों का पूर्ण समर्पण कर दिया। यह समझौता सामाजिक या राजनैतिक नहीं तथा समझौते में शासक या सभा समझौते का पक्षकार नहीं।

इस समझौते के अन्तर्गत जो राज्य स्थापित हुआ उसके पास सर्वोच्च असीमित निरंकुश शक्ति होना अनिवार्य है। हॉब्स के अनुसार राज्य व्यक्ति की तृष्णा–पूर्ति का साधन है। इसका निर्माण मनुष्यों ने अपने जीवन की सुरक्षा के प्रयोजन से किया है इसके लिये राज्य को सर्वोच्च और निरंकुश होना आवश्यक है। व्यवस्था प्रभुसत्ता की माँग करती है और प्रभुसत्ता कानून द्वारा व्यक्त होती है। कानून का पालन करना व्यक्ति के लिये अनिवार्य है। इस प्रकार राज्य की स्थापना मनुष्यों की सहमति से होती है। अतः इसकी स्थापना के पश्चात मनुष्य को इसका विरोध करने की स्वतन्त्रता नहीं है।

समझौते की विशेषताएँ

1. समझौता सामाजिक और राजनैतिक दोनों है। अतः इससे एक साथ समाज की स्थापना शान्ति और व्यवस्था हेतु राज्य की उत्पत्ति होती है।

2. समझौता व्यक्तियों के मध्य होता है। अतः शासक समझौते का पक्ष नहीं होता, वह निरंकुश होता है।

3. मनुष्य अपने सभी अधिकार शासक को सौंपता है केवल आत्मरक्षा का अधिकार ही उसके पास रहता है।

4. सम्प्रभु (शासक) का आदेश ही कानून होता है, अतः प्रजा को विद्रोह का अधिकार नहीं है।

आलोचना

1. मनुष्य के स्वभाव की व्याख्या गलत– हॉब्स ने मानव स्वभाव का चित्रण एक पक्षीय किया है जबकि मनुष्य में स्वार्थ और परमार्थ दोनों गुण पाये जाते हैं।

2. मनुष्य एकाकी नहीं– हॉब्स मानता है कि मनुष्य स्वार्थी होने के कारण एकाकी रहना पसन्द करता है जबकि इसके विपरीत मनुष्य स्वभाव और आवश्यकता से सामाजिक प्राणी है। मनुष्य के लिये समाज उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार मछली के लिये पानी।

3. प्राकृतिक अवस्था का चित्रण काल्पनिक– इतिहास में आदिम युग के शोध से यह सिद्वहो गया है कि मनुष्य निरन्तर युद्ध की स्थिति में नहीं जिया है।

4. समझौते की कल्पना असंभव– हॉब्स के अनुसार मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में स्वार्थी और झगड़ालू था तो ऐसे मनुष्य से समझौते की आशा नहीं की जा सकती है समझौते के लिये विवेक की आवश्यकता होती है जो हॉब्स के अनुसार मनुष्य में नहीं था।

5. जंगली अवस्था से भेड़ियों के हाथ सत्ता– हॉब्स मनुष्यों को प्राकृतिक अवस्था की अराजक स्थिति से निकालकर उसे निरंकुश शासक के हाथों में सौंप देता है जो पहले से ज्यादा भयावह स्थिति है।

6. राज्य और सरकार में अन्तर नहीं–सभी जानते है कि सरकार राज्य का एक अंग होती है। इसका विरोध किया जा सकता है लेकिन इससे राज्य समाप्त नहीं होता। हॉब्स राज्य और सरकार में अन्तर नहीं कर पाया।

राज्य कृत्रिम संस्था नहीं–

हॉब्स राज्य को समझौते का परिणाम बताकर एक कृत्रिम संस्था बताता है जबकि हम जानते हैं कि राज्य मानव स्वभाव की उपज है, यह एक प्राकृतिक संस्था है।

हॉब्स का योगदान और महत्व– आलोचनाओं के बाबजूद राजनैतिक दृष्टि से इसका काफी महत्व है। हॉब्स ने सर्वप्रथम राजनैतिक अध्ययन में वैज्ञानिक अध्ययन चिन्तन तथा तर्क और बुद्धि का समावेश किया। हॉब्स ने यह प्रतिपादित किया कि राज्य ईश्वरीयकृत नहीं अपितु मानवीयकृत इकाई है। हॉब्स की एक अन्य महत्वपूर्ण देन सम्प्रभुता सिद्धान्त का प्रतिपादन है। हॉब्स ने शासन की निरंकुशता का प्रतिपादन किया लेकिन साथ ही यह भी प्रतिपादित किया कि शासन की स्थापना मनुष्य के हितों के लिये होती है। व्यक्ति को साध्य और राज्य को साधन मानकर राज्य के कार्यों का संचालन करना चाहिये।

जॉन लॉक का समझौता सिद्धान्त– 1632–1704 ई.

पृष्ठभूमि– जॉन लॉक भी हॉब्स की तरह इंग्लैण्ड का रहने वाला था। उसके समय 1688 में इंग्लैण्ड में रक्तहीन या गौरवमयी क्रान्ति हुई थी, जिसके द्वारा निरंकुश शासक जेम्स द्वितीय गद्दी से उतार कर उसके स्थान पर विलियम तथा मैरी को सीमित अधिकारों के साथ गद्दी पर बैठाया गया था। लॉक ने इस क्रान्ति का समर्थन किया और सीमित राजतन्त्र को श्रेष्ठ शासन व्यवस्था बताया। उसने प्रसिद्वग्रन्थ टू ट्रिटाइजेज ऑन गवर्नमेन्ट लिखा।

मानव स्वभाव– जॉन लॉक मनुष्य को एक सामाजिक और विवेकशील प्राणी मानता है। वह अपने जीवन के निर्देश प्राकृतिक कानूनों से ग्रहण करता है। लॉक के अनुसार मानव मूल रुप से अच्छा, शान्तिप्रिय, नैतिक और नियम पालक है उसके अनुसार मानव स्वभाव प्रेम, दया, सहयोग और सहानुभूति आदि गुणों से युक्त होता है।

प्राकृतिक अवस्था– लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था शान्ति, सद्भावना, पारस्परिक सहयोग और सुरक्षा की अवस्था थी। अधिकारों का उपयोग करते हुए सभी मनुष्य शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे थे। जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति आदि के प्राकृतिक अधिकार उस समय प्रचलित थे। प्राकृतिक कानून के अनुसार सभी अपना जीवन व्यतीत करते थे। उस समय का एक प्राकृतिक कानून था कि ''तुम दूसरों के प्रति वैसा ही व्यवहार करो, जिसकी अपेक्षा तुम दूसरों से करते हो'' इस प्रकार प्राकृतिक अवस्था पूर्णतः नैतिक, सामाजिक और कर्तव्यबोध की अवस्था थी।

समझौते का कारण– लॉक के अनुसार प्राकृतिक

अवस्था अच्छी होने के बावजूद उसमें कुछ कमियाँ थी ये कमियाँ मुख्य रुप से तीन थी।

1. प्राकृतिक नियम स्पष्ट नहीं थे।
2. नियमों की व्याख्या करने के लिये निष्पक्ष न्यायाधीश नहीं थे।
3. इन नियमों को लागू करने वाली कोई शक्ति नहीं थी।
4. इन असुविधाओं से मुक्ति प्राप्त करने के लिये सभी मनुष्यों ने मिलकर एक समझौता किया।

समझौते का स्वरुप– लॉक के अनुसार सभी मनुष्यों ने मिलकर दो समझौते किये पहले समझौते में प्राकृतिक अवस्था का अन्त कर एक समाज की स्थापना की गयी। दूसरा समझौता शासक (राजा) और शासित के मध्य हुआ, इसमें प्रजा द्वारा शासक को कानून बनाने, उनकी व्यवस्था करने और उनको लागू करने का अधिकार दिया गया। परन्तु शासक की शक्ति पर प्रतिबन्ध भी लगा दिया कि, उसके द्वारा निर्मित कानून प्राकृतिक नियमों के अनुसार ही होने चाहिये। दूसरे समझौते से राज्य का निर्माण होता है जिसका कार्य प्राकृतिक नियमों की व्याख्या करने और लागू करने से है यदि शासक सार्वजनिक हित के विरुद्ध कार्य करता है, तो समाज को यह अधिकार है कि वे उसे सत्ता से हटा दे।

समझौते की विशेषताएँ–

1. एक स्थान पर दो समझौते होते हैं पहले में समाज और दूसरे में राज्य का निर्माण होता है।
2. समझौते में सभी व्यक्ति अपने अधिकार समाज को सौंपते हैं शासक को नहीं।
3. समझौते में समाज और राज्य का कर्त्तव्य है कि वे व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा करें।
4. राज्य का निर्माण मनुष्यों की इच्छा से हुआ है, वह जन सहमति का परिणाम है।
5. शासक समझौते का भागीदार है, उस पर समझौते की सारी शर्तें लागू होती हैं।
6. समझौते में एक सीमित और मर्यादित राज–सत्ता की स्थापना होती है।
7. समझौता राज्य और शासन में अन्तर स्पष्ट करता है। पहला स्थाई है जबकि दूसरा अस्थाई है। दोनों के कार्य अलग–अलग हैं। इस प्रकार यह सिद्धान्त शक्ति विभाजन का समर्थन करता है।
8. अत्याचारी शासक के विरुद्ध क्रान्ति करने का अधिकार, यह जनता को देता है।

समझौते की आलोचना

1. मानव स्वभाव की व्याख्या एक पक्षीय– मानव स्वभाव में स्वार्थ और परमार्थ दोनों पाये जाते है, जबकि लॉक मानव स्वभाव को केवल परमार्थ, शान्तिप्रिय और विवेकशील बताता है जो गलत है।

2. प्राकृतिक अवस्था का चित्रण गलत– लॉक ने जिस प्राकृतिक अवस्था का चित्रण किया है, वह वास्तविक नहीं है। आदिम युग की खोज से यह सिद्ध होता है कि मनुष्य में अच्छे और बुरे दोनों गुण पाये जाते हैं। लॉक जन समुदाय में नैतिक और सामाजिक गुण ही मानता है।

3. प्राकृतिक अधिकारों की धारणा गलत– राज्य और समाज के बिना अधिकारों की कल्पना करना गलत है, अधिकार सामाजिक होते हैं, प्राकृतिक नहीं।

4. क्रान्ति की अवधारणा गलत–लॉक जनता को क्रान्ति का अधिकार प्रदान करता है। इससे समाज में अराजकता और उथल पुथल मची रहेगी। इसके अतिरिक्त लॉक जनता को सरकार के कार्यों की जाँच और निर्णय का अधिकार देता है, ऐसी स्थिति में लॉक जनता को विद्रोह का लाइसेंस दे देता है।

5. राज सत्ता का विभाजन गलत– लॉक ने एक गम्भीर त्रुटि यह की है कि उसने कानूनी राजसत्ता का विभाजन किया, कानूनी राजसत्ता के विभाजन का अर्थ है उसका विनाश। राजसत्ता कभी विभाजित नहीं होती है।

6. कानूनी राजसत्ता का महत्व नहीं– लॉक ने एक गम्भीर त्रुटि यह की है कि उसने कानूनी राजसत्ता को कोई महत्व नहीं दिया है। इस विषय में गिलक्राइस्ट ने ठीक लिखा है ''हॉब्स ने राजनैतिक सत्ता को अस्वीकार कर कानूनी राजसत्ता का प्रतिपादन किया है। लॉक ने राजनैतिक सत्ता को स्वीकार करते हुए, कानूनी राजसत्ता को मान्यता नहीं दी है।

7. राज्य का आधार जनसहमति ही नहीं– राज्य का निर्माण केवल जनसहमति से नहीं होता, इसके लिये उसे शक्ति की भी आवश्यकता पड़ती है। बिना शक्ति राज्य स्थापित नहीं हो सकता।

लॉक का योगदान और महत्व– उपर्युक्त आलोचना के बावजूद लॉक का आधुनिक चिन्तन में अप्रतिम योगदान है।

1. उसने प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर, उस पृष्ठभूमि को तैयार किया, जिस पर आधुनिक युग के मौलिक अधिकारों का भवन खड़ा है।

2. जन सहमति के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर, उसने आधुनिक युग के बहुमत पर आधारित लोकतन्त्र का विकास किया।

3. लॉक के सीमित राजतन्त्र के सिद्धान्त ने मॉण्टेस्क्यु के शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का मार्ग प्रशस्त किया।

4. इसके विचारों से उदारवादी विचारधारा को बल मिला।

ज्याँ जैक रूसो का सामाजिक समझौता सिद्धान्त (1712–1778)

विचारों की पृष्ठ भूमि–

ज्याँ जैक रूसो, यह एक फ्रांसीसी विद्वान था। यह भी हॉब्स और लॉक की तरह सामाजिक समझौता सिद्धान्त का समर्थक था। इसने अपने विचारों में जनतान्त्रिक राज्य का समर्थन किया। यह दैवीय सिद्धान्त का कटु आलोचक था। इसने जनतान्त्रिक विचारों का प्रतिपादन करने के लिये अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ ''द सोशल कॉन्ट्रेक्ट'' सामाजिक संविदा की रचना

की। 1762 ई. में इस रचना का प्रकाशन हुआ। स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के सन्देश को मुखरित करने वाली 1789 ई. की फ्रांसीसी क्रान्ति पर, इन विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा था। रुसो को आधुनिक जनतान्त्रिक व्यवस्था का मार्ग प्रशस्त करने वाली, फ्रांसीसी क्रान्ति का जनक माना जाता है।

रुसो के अनुसार मानव स्वभाव

रुसो मानव स्वभाव को निर्दोष और निष्पाप मानता है। उसके अनुसार स्वतन्त्रता और आत्मनिर्भरता उसके स्वभाव के विशेष गुण है वह घृणा, ईर्ष्या, चिन्ता, अहंकार आदि दुर्गुणों से मुक्त होता है। मनुष्य अच्छा और निःस्वार्थी होता है तथा तर्क के बजाय भावनाओं से प्रेरित होता है।

प्राकृतिक अवस्था– रुसो प्राकृतिक अवस्था को दो चरणों में बाँटता है। प्रथम चरण में मनुष्य स्वार्थ और परमार्थ का ज्ञान न होने के कारण स्वतन्त्र था। उसका जीवन सरल था आवश्यकताएँ सीमित थी इस अवस्था में मनुष्य सुखी, सन्तुष्ट और स्वावलम्बी था। भोलापन उसका मूल लक्षण था। इसमें न छल था न कपट, उसे तेरे–मेरे, नैतिकता या अनैतिकता का ज्ञान नहीं था। रुसो इस अवस्था के मानव को उदात वनचर की संज्ञा देता है। रुसो के अनुसार इस अवस्था का बुनियादी नियम था अपना हित देखो और दूसरो को कम से कम हानि पहुँचाओ। दूसरा चरण रुसों के अनुसार यह प्राकृतिक अवस्था अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकी। धीरे–धीरे उसका पतन होने लगा। पतन का मुख्य कारण था सम्पति का उदय। इसने व्यक्ति को स्वार्थी बना दिया और प्राकृतिक अवस्था की अच्छाई को समाप्त कर दिया फलतः स्वार्थ, हिंसा, कलह एवं द्वेष आदि का उदय हुआ। स्वतन्त्रता और आत्मनिर्भरता समाप्त हो गयी। मनुष्य का जीवन असुरक्षित हो गया। रुसो इस अवस्था की आलोचना करते हुए कहता है कि मनुष्य जब पैदा होता है तब स्वतन्त्र होता है लेकिन वह प्रत्येक स्थान पर जंजीरों में जकड़ा हुआ होता है। मनुष्य इस अवस्था में अशान्त और बेचैन रहने लगा और इससे मुक्ति प्राप्त करने के साधन तलाशने लगा। इस लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु वह एक समझौते की ओर अग्रसर हुआ।

1. ये समस्त अधिकार सामान्य इच्छा के रुप में समाज में समाहित हो जाते है।

2. रुसों के अनुसार इस अराजक स्थिति से छुटकारा पाने के लिये सभी व्यक्ति एक स्थान पर एकत्रित हुए और अपने सम्पूर्ण अधिकारों का समर्पण किया। किन्तु यह समर्पण शासक को नही समाज को किया गया। समझौते के परिणाम स्वरुप सम्पूर्ण समाज की एक सामान्य इच्छा उत्पन्न हुई तथा सभी व्यक्ति इस सामान्य इच्छा के अनुसार कार्य करते है।

समझौता– चूँकि प्रत्येक व्यक्ति समाज का सदस्य होता है। अतः समझौते के फलस्वरुप निर्मित समाज का अंग होने के कारण, इन अधिकारों को पुनः प्राप्त कर लेता है। व्यक्ति व्यक्तिगत रुप से जो गँवाता है, समाज का सदस्य होने के कारण उसे पुनः प्राप्त कर लेता है। समझौते के फलस्वरुप जीवन की असुरक्षा, हिंसा, अराजकता आदि समाप्त हो जाती है और राज्य की उत्पत्ति होती है रुसो प्रत्यक्ष लोकतान्त्रिक राज्य की कल्पना करता है जिसमें सारी शक्ति (सम्प्रभुता) समाज में निहित होती है। सामान्य इच्छा के नाम से संग्रहित रहती है। यदि समाज को सरकार सामान्य इच्छा के विरुद्ध कार्य करती है तो जनता को उसे हटाने का अधिकार होता है।

विशेषताएँ–

1. रुसों के अनुसार राज्य की उत्पत्ति में प्रत्येक ने सबके साथ अपने समस्त प्राकृतिक अधिकार और शक्ति सामान्य इच्छा को समर्पित कर दी। प्रत्येक व्यक्ति सामान्य इच्छा का सदस्य होने के कारण सामूहिक रुप से उसे प्राप्त कर लेता है।

2. इस समझौते से व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता अपितु व्यक्ति को सकारात्मक स्वतन्त्रता प्राप्त होती है।

3. समझौते से सामान्य इच्छा का निर्माण होता है। सामान्य इच्छा सदैव अच्छा करती है और जन कानून का स्त्रोत होती है।

4. रुसो सामाजिक समझौते का ही उल्लेख करता है राजनीतिक समझौते का नहीं। अतः सामान्य इच्छा पर आधारित सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न समाज की स्थापना होती है।

5. सामान्य इच्छा को मूर्तरुप देने वाली सरकार यदि निरंकुश होकर सीमाओं का अतिक्रमण करती है तो उसे अपदस्थ किया जा सकता है।

समझौते की आलोचना–

1. प्राकृतिक अवस्था सही नहीं– रुसों ने जिस प्राकृतिक अवस्था का चित्रण किया है, वह इतिहास सम्मत नहीं है। आदिम अवस्था की खोज से यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में आदर्श वनेचर नहीं था।

2. परस्पर विरोधी– रुसो के अनुसार समझौता व्यक्तिगत और सामूहिक (सामाजिक) पक्षों के बीच होता है। जब समाज था ही नहीं तो सामाजिक पक्ष कहाँ से आया।

3. अतीत प्रेमी– रुसो मनुष्य को प्राकृतिक अवस्था के अधीन बताकर अतीत प्रेम प्रकट करता है। वह ईश्वर से प्रार्थना करता है कि उसे वो प्राकृतिक दिन वापस लौटा दे। मानव इतिहास प्रगति और आगे बढ़ने का सिद्धान्त है न कि वापस पीछे लौटने का।

4. साम्राज्यवाद का पोषक– रुसो की सामान्य इच्छा तानाशाही शासन का संकेत देती है, जो कि उचित नहीं माना जा सकता। क्योंकि इसमें प्रजा पर अत्याचार की सम्भावना होगी।

5. व्यक्ति की दोहरी स्थिति–रुसो व्यक्ति को दोहरा व्यक्तित्व प्रदान करता है। वह शासक भी है और आज्ञापालक भी। इससे व्यक्ति की स्थिति हास्यास्पद बन जाती है।

महत्व– रुसो के सामान्य इच्छा सिद्धान्त का आधुनिक

युग के विकास पर गहरा प्रभाव पड़ा। जन सहमति और जनतन्त्र के विचारों ने उस समय की व्यवस्था पर इतना प्रभाव डाला कि फ्रांस में क्रान्ति हुई, स्वतन्त्रता और भाईचारे के सिद्धान्त का विकास हुआ।

सामाजिक समझौता सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन

मानव स्वभाव– हॉब्स मानव स्वभाव का नकारात्मक वर्णन करता है। वह मनुष्य में पाशविक गुणों का कारण प्रतिस्पर्धा, अविश्वास और यश प्राप्ति को बताया है। वह मनुष्य को बुरे गुणों की खान बताता है।

लॉक मनुष्य के स्वभाव का सकारात्मक वर्णन करता है वह मनुष्य को विवेकशील और शान्तिप्रिय बताता है।

रुसो मानव स्वभाव के सकारात्मक और नकात्मक गुणों का वर्णन करता है। वह मनुष्य को निष्पाप और भोला–भाला कहता है, तो वह उसे आदर्श बर्बर भी बताता है तथा जंगली भी।

प्राकृतिक अवस्था– हॉब्स प्राकृतिक अवस्था को संघर्ष और युद्ध की अवस्था बताता है, मनुष्य रात को सोता है तो सुबह वह जीवित रहेगा या नही इससे वह भयभीत रहता है। इस अवस्था में सबल व्यक्ति निर्बल व्यक्ति पर अत्याचार करता है।

लॉक–की प्राकृतिक अवस्था शान्ति और सहयोग की अवस्था थी। प्राकृतिक अधिकार लोगों को प्राप्त थे और प्राकृतिक नियम के अनुसार सभी अपना जीवनयापन करते थे। सभी लोग प्राकृतिक नियमों का पालन करते थे। यह नैतिकता, विवेकशीलता और सामाजिकता की अवस्था थी।

रुसो के अनुसार– प्राकृतिक अवस्था एक आदर्श अवस्था थी इस अवस्था में मनुष्य अपनी मस्ती में मस्त रहने वाला था। उसे अपने पराये का ज्ञान नहीं था। उसकी आवश्यकता सीमित रहती थी उसे न तो कोई भय था और न ही कोई चिन्ता। वह एक अबोध जीवन व्यतीत करता था। इसी कारण रुसो भगवान से प्रार्थना करता है, कि मुझे वह प्राकृतिक अवस्था वापस लौटा दो।

समझौते का कारण

हॉब्स– प्राकृतिक अवस्था को पाशविक और अशान्ति की अवस्था बताता है। उसके अनुसार मनुष्य अपने जीवन की सुरक्षा के लिये भयभीत रहता था वह अपनी सम्पत्ति की रक्षा तथा मृत्यू के भय से मुक्ति चाहता था। मुख्यतया मनुष्य जीवन रक्षा के लिये समझौते को बाध्य हुआ।

लॉक– लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था शान्ति और सहयोग की अवस्था थी परन्तु सम्पत्ति के उदय ने लोगों में अविश्वास और स्वार्थ की भावना का विकास किया, जिस कारण लोगों ने प्राकृतिक नियमों का पालन करना बन्द कर दिया और प्राकृतिक अधिकार भी बेमानी हो गये। प्राकृतिक नियम और अधिकारों के न मानने वालों को दण्ड देने वाली भी प्रभावी शक्ति नहीं थी। अतः प्राकृतिक अवस्था अराजकता की ओर बढ़ने लगी और यह अवस्था असुविधाजनक हो गयी। अराजकता और असुविधा को समाप्त व सम्पत्ति के अधिकार की रक्षा करने के लिये सभी समझौते की ओर अग्रसर हुए।

रुसो– रुसो कहता है कि प्रारम्भिक रुप से प्राकृतिक अवस्था शान्ति और आनन्द की अवस्था थी। परन्तु सम्पत्ति के उदय से लोग स्वार्थी और अराजक हो गये तथा सभ्यता का पतन होने लगा। सम्पत्ति को लेकर लोगों में हिंसा और भय का वातावरण हो गया। जीवन व सम्पत्ति की रक्षा एवं समाज को फिर से आदर्श रुप देने के लिये सभी ने समझौता करने पर विचार किया।

समझौते का स्वरुप

हॉब्स– के अनुसार सभी मनुष्य एकत्र होते हैं और आपस में एक समझौता करते हैं कि मैं मेरे समस्त अधिकार इस शासक या समूह को सौंपता हूँ तथा तुम भी अपने समस्त अधिकार इसे सौंपोगे। समझौते में आत्मरक्षा को छोड़ कर समस्त अधिकार व्यक्ति, शासक को सौंप देते है। यह समझौता व्यक्तियों के मध्य होता है अतः शासक समझौते का पक्षकार नहीं होता है। वह पूर्णतः निरंकुश और अमर्यादित होता है। चूंकि यह समझौता शासक और व्यक्तियों के मध्य नहीं होता। अतः यह सामाजिक समझौता है राजनैतिक नहीं।

लॉक– लॉक दो समझौतों का वर्णन करता है उसके अनुसार पहले सभी व्यक्ति मिलकर एक समाज की स्थापना करते है और दूसरा शासक और समाज के मध्य। समाज शासक की सीमाएं निर्धारित करता 'लॉक का पहला' समझौता सामाजिक और दूसरा राजनैतिक था। लॉक अपने समझौते में राजा को सीमित अधिकार देने की बात करता है और जनइच्छा विरुद्धकार्य करने पर उसे हटाने की बात कहता है।

रुसो– रुसो अपने सिद्वान्त में मनुष्य के दो रुप मानता है– व्यक्तिगत और सामाजिक। रुसो के अनुसार प्राकृतिक अवस्था से निजात पाने के लिये लोगों की व्यक्तिगत हैसियत और सामाजिक हैसियत के मध्य समझौता होता है। व्यक्तिग हैसियत में व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता और अन्य अधिकारों का त्याग समाज को कर देते है। समाज का अंग होने के कारण वे, अपनी सामाजिक हैसियत से इन अधिकारों को फिर से प्राप्त कर लेते है। समझौते के परिणाम स्वरुप सामान्य इच्छा उत्पन्न हुई। सभी व्यक्ति इस सामान्य इच्छा के अन्तर्गत रहते हुए कार्य करते है। रुसों के स्वयं के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व और पूर्ण शक्ति को एक सामान्य इच्छा के अधीन कर देता है। और समुह के रुप में व्यक्तित्व और शक्ति को प्राप्त कर लेता है। हॉब्स, लॉक और रुसो के समझौतावादी सिद्वान्त की तुलना की जाये तो हॉब्स, और लॉक के सिद्वान्त एक दूसरे के नितान्त विपरीत और रुसों के विचार कहां लॉक से मिलते है तो कही हॉब्स से मिलते हुए लगते हैं। रुसो और हॉब्स के सत्ता सम्बन्धी विचार आपस में काफी

मिलते हैं। सामान्य इच्छा की विशेषता और लेवायथन (शासक) की विशेषता लगभग समान है। रुसों की सम्प्रभुता सामान्य इच्छा में निवास करती है तो हॉब्स की लेवियाथन में। वाहन ने कहा है कि हॉब्स के लेवायथन का शीश काट दिया जाय तो यह रुसो की सामान्य इच्छा बन जायेगी।

सामाजिक समझौता सिद्धान्त की आलोचना

दो शताब्दियों तक लोकप्रिय रहने के बाद 19 वीं शताब्दी में इस सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया गया और इसकी तरह तरह की आलोचनाएं की गयी। मुख्य रुप से इसकी आलोचना ऐतिहासिक, दार्शनिक, तार्किक और वैधानिक आधार पर की जाती है।

ऐतिहासिक आधार पर– 18 वीं व 19 वीं शताब्दी के राजनैतिक विचारकों ने इस सिद्वान्त की आलोचना की। अंग्रेज दार्शनिक ह्यूम ने कहा इस आदिम अवस्था में इस समझौते का कोई प्रमाण नहीं मिलता, ग्रीन ने इसे कपोल कल्पना, वूल्जे ने सरासर झूठा, ब्लंशली ने इस सिद्वान्त को भयंकर, हेनरी मेन ने व्यर्थ की वस्तु कहकर इसकी आलोचना की। वाहन ने भी ऐतिहासिक दृष्टि से इसे गलत बताया है इन विचारकों ने इसे कल्पनाशील, अप्रमाणिक सिद्धान्त माना है।

दार्शनिक आधार पर– इस सिद्धान्त की दार्शनिक आधार पर भी आलोचना की जाती है।

1. यह सिद्धान्त राज्य की कल्पना ऐसे संगठन से करता है जिसकी सदस्यता ऐच्छिक हो जबकि राज्य की सदस्यता अनिवार्य होती है। राज्य कोई व्यापार या क्लब नहीं होता जैसा कि बर्क ने कहा है कि राज्य को काली मिर्च, कहवा, काफी या अन्य व्यापार की साझेदारी समझौते के समान नहीं समझना चाहिये, जिसे अस्थाई स्वार्थ के लिये कर लिया हो और इच्छानुसार भंग कर दिया हो। इसे सम्मान की दृष्टि से देखना चाहिए।

2. राज्य एक कृत्रिम संस्था नहीं अपितु मानवीय स्वभाव पर आधारित प्राकृतिक संस्था है।

3. यह सिद्धान्त राज्य को व्यक्तिगत समझौते का परिणाम बताकर विद्रोह और अराजकता को प्रोत्साहन देता है।

4. प्राकृतिक अधिकार सम्भव नहीं है क्योंकि हम जानते हैं कि अधिकार को लागू करने के लिये शक्ति का होना आवश्यक है।

वैधानिक आधार– वैधानिक आधार पर भी यह समझौता खरा नहीं उतरता है। प्राकृतिक अवस्था में रहते हुए यदि लोगों के मध्य समझौता होता है तो वैधानिक दृष्टि से गलत है क्योंकि समझौते को वैध बनाने के लिये राज्य की स्वीकृति आवश्यक होती है। प्राकृतिक अवस्था में राज्य था ही नहीं समझौता जिन लोगों के मध्य होता है, उन्हीं पर लागू होता है अतः वैधानिक दृष्टि से समझौता मान्य नहीं है।

महत्व– इस सिद्धान्त की खूब आलोचना हुई परन्तु इसका अपना महत्व है।

1. इस सिद्धान्त ने दैवीय सिद्धान्त का खण्डन किया। इस सिद्धान्त ने दैवीय सिद्धान्त के अधिकांश तर्कों का खण्डन करने में सफलता प्राप्त की।

2. इस सिद्धान्त ने यह प्रतिपादित किया कि राज्य का आधार जनसहमति है, शासक नहीं।

3. इस सिद्धान्त से सम्प्रभुता सिद्धान्त को महत्वपूर्ण योगदान प्राप्त हुआ।

रुसो का सामान्य इच्छा सिद्धान्त

रुसो के दर्शन का सबसे महत्वपूर्ण तत्व सामान्य इच्छा सिद्धान्त है। इसके माध्यम से रुसो ने स्वतन्त्रता, सत्ताहित, कर्त्तव्य, वैयक्तिकता और सम्पूर्णता आदि का समाधान प्रस्तुत किया है। सामान्य इच्छा ने लोक प्रभुता और प्रजातन्त्र के मार्ग को प्रशस्त किया है। रुसों ने सामान्य इच्छा की पृष्ठ भूमि में यथार्थ इच्छा और सामान्य इच्छा में अन्तर स्पष्ट किया है। रुसो के अनुसार व्यक्ति की दो प्रकार की इच्छाएँ होती है।

1. यथार्थ इच्छा 2. आदर्श इच्छा

यथार्थ इच्छा– यह वह इच्छा है जब व्यक्ति किसी विषय पर व्यक्तिगत हित या स्वार्थ भावना से सोचने का काम करे। यह इच्छा भावना प्रधान, स्वार्थी, संकुचित, पक्षपातपूर्ण, विवेकहीन है। यह परिवर्तनशील, अस्थिर और कामना प्रधान इच्छा है, यह अशुभ है। डॉ. आशीर्वादम् के अनुसार यह व्यक्ति की समाज विरोधी इच्छा है, क्षणिक और तुच्छ इच्छा है। सामान्यतया यथार्थ इच्छा और आदर्श इच्छा का एक ही अर्थ लिया जाता है परन्तु रुसो ने इनका प्रयोग विशेष अर्थों में लिया है।

आदर्श इच्छा– यह वह इच्छा है जो सम्पूर्ण समाज का कल्याण करती है। इस इच्छा में व्यक्ति स्वयं के हित को सामजिक हित का अंग मानता है। इसमें व्यक्तिगत हित पर सामाजिक हित की प्रधानता होती है। डा. आशीर्वादम के अनुसार यह जीवन के समस्त पहलुओं पर व्यापक रुप से दृष्टिपात करती है। यह विवेकपूर्ण इच्छा है तथा व्यक्ति और समाज में सामंजस्य बढ़ाती है। आदर्श इच्छा समाज प्रधान, ज्ञानयुक्त, निःस्वार्थ, व्यापक, विवेकपूर्ण और नैतिक इच्छा होती है।

जहाँ तक सामान्य इच्छा का प्रश्न है यह आदर्श इच्छाओं का योग मात्र है। डॉ. आशीर्वादम के अनुसार ''सामान्य इच्छा एक समाज के सदस्यों की आदर्श इच्छाओं का योग या एकीकरण का रुप है।'' ग्रीन के अनुसार ''सामान्य आदर्शो की सामान्य चेतना सामान्य इच्छा है।'' बोंसाके के अनुसार ''सामान्य इच्छा सम्पूर्ण समाज की इच्छा है यहाँ तक कि उसके उदेश्य सामान्य है।'' सामान्य इच्छा बहुमत की इच्छा नहीं, यह तो सामान्य हित पर आधारित इच्छा है जैसा स्वयं रुसो ने कहा है मतदाताओं की संख्या से कम तथा उस सामाजिक हित की भावना से अधिक इच्छा सामान्य बनती है जिसके द्वारा वे एकता में बँधते है। रुसो लिखता है कि सामान्य इच्छा का पता लगाने के लिये सर्वश्रेष्ठ स्थिति यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी आत्मा से

पूछे कि अमुक विषय पर सामान्य इच्छा क्या है यदि वह निजी हित को सामान्य इच्छा बताता है, तो यह मिथ्याकरण है सामान्य इच्छा नहीं।

सामान्य इच्छा का निर्माण

रुसो कहता है कि जब कोई प्रश्न जनता के सामने उपस्थित होता है तो जनता का प्रत्येक व्यक्ति अपने–अपने अनुसार उस पर विचार करता है और विचारों का आदान प्रदान करता है विचारों के इस आदान प्रदान से व्यक्तियों की स्वार्थमयी इच्छा नष्ट हो जाती है और सामान्य इच्छा का निर्माण होता है। विचारों के आदान प्रदान से इच्छाओ का सर्वोत्तम रुप प्रकट होता है, जो सामान्य इच्छा है।

सामान्य इच्छा की विशेषताएँ

1 अखण्डता– सामान्य इच्छा में परस्पर विरोध नहीं होता, इसमें विभिन्नता में एकता पायी जाती है। ए.आर.लार्ड. के अनुसार यह राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण करती है और उसे बनाए रखती है।

2. अदेयता– सामान्य इच्छा अदेय है इसका हस्तांतरण नहीं किया जा सकता। रुसों के अनुसार प्रतिनिधियों के माध्यम से इसे व्यक्त करना बहुमूल्य अधिकारों का हनन है।

3. अविभाज्य– रुसो के अनुसार सामान्य इच्छा का विभाजन नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार जीव अपने व्यक्तित्व को समाप्त किये बिना अपना विभाजन नहीं कर सकता उसी प्रकार राजनैतिक समाज में भी सम्प्रभुता (सामान्य इच्छा) का विभाजन नहीं हो सकता।

4. स्थाई –सामान्य इच्छा क्षणिक, भावात्मक आवेगों का परिणाम नहीं होती अपितु मानव कल्याण की स्थाई प्रवृति होती है।

5. लोक कल्याणकारी– सामान्य इच्छा की प्रमुख विशेषता उसकी लोक कल्याणकारी भावना का होना है। यह आदर्श इच्छाओं का योग होती है। रुसों के अनुसार सामान्य इच्छा सदैव ठीक होती है और सदैव सम्पूर्ण समाज का कल्याण करने के लिये होती है।

6. विवेक पर आधारित– सामान्य इच्छा का भावनाओं से कोई सम्बन्ध नहीं होता, यह तर्क और विवेक पर आधारित होती है, यह व्यक्तिगत स्वार्थ से भ्रष्ट नहीं होती।

7. निरंकुश– सामान्य इच्छा सर्वोच्च और निरंकुश होती है। यह व्यक्ति या व्यक्ति समूह, परम्पराओं आदि से प्रतिबन्धित नहीं की जा सकती है।

सामान्य इच्छा की आलोचना

1. अस्पष्ट व कठिन – रुसो के सामान्य इच्छा के विचार अव्यावहारिक और अस्पष्ट है। रुसो सत्य को सामान्य इच्छा मानता है, परन्तु इस बात का उत्तर नहीं देता कि सत्य निश्चित कौन करेगा। सामान्य इच्छा वास्तव में निर्धारित कैसे होगी, यह भी स्पष्ट नहीं है। बेपर के अनुसार जब रुसो सामान्य इच्छा का पता नहीं दे सके तो इस सिद्धान्त के प्रतिपादन का क्या लाभ।

2. यथार्थ इच्छा और आदर्श इच्छा का भेद काल्पनिक– मनुष्य में व्यक्तिगत स्वार्थ और लोकहित दोनों की प्रवृत्ति पायी जाती है इन्हें कभी भी अलग नही किया जा सकता है। कौनसी इच्छा आदर्श है और कौनसी सामान्य, इसका पता लगाना बहुत कठिन है।

3. सामान्य हित की व्याख्या कठिन– सामान्य इच्छा सिद्धान्त में कौनसा कार्य सामान्य हित का है और कौनसा नहीं इसका पता लगाना बहुत कठिन है कौनसे कार्य का परिणाम जन कल्याण होगा, कौनसे का नही। कौनसा कार्य उचित है और कौनसा अनुचित इसका निर्धारण करना बहुत कठिन है।

4. प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र सम्भव नहीं – आज लगभग समस्त संसार में प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र है। सामान्य इच्छा प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र स्थापित करती है जो विशाल देशों के लिये उपयुक्त नहीं है।

5. केवल आदर्श– यह सिद्धान्त काल्पनिक अधिक और व्यावहारिक कम लगता है। रुसो की यह धारणा कि विचारों के आदान प्रदान से सामान्य इच्छा उत्पन्न होगी मिथ्या धारणा है।

6. राज्य की निरंकुशता का समर्थक– सामान्यतः सामान्य इच्छा का निर्धारण शासकों द्वारा किया जावेगा। शासक सामान्य इच्छा की आड़ में अपनी इच्छा जनता पर लादने का प्रयास करेंगे और अत्याचार करेंगे।

7. व्यक्तिगत स्वतन्त्रता विरोधी– रुसो की सामान्य इच्छा का विरोध नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में कोई भी व्यक्ति इसका विरोध नहीं कर सकता।

सामान्य इच्छा का महत्व

आलोचनाओं के बाद भी रुसो के सामान्य इच्छा सिद्धान्त ने राजनीति को बहुत कुछ प्रदान किया है। जिनको हम निम्न रुपों से प्रकट कर सकते है।

1. रुसो की सामान्य इच्छा का विचार प्रजातन्त्र के लिये महत्वपूर्ण है क्योकि इससे यह पता चलता है कि सत्ता का आधार जन स्वीकृति है। कानूनों के निर्माण में जनता का प्रत्यक्ष सहयोग होना चाहिये। सरकार सदैव जनता के प्रति उत्तरदायी होनी चाहिये। मैकाइवर कहते है कि सामान्य इच्छा का प्रयोगमात्र शासन को स्वशासन में परिणित कर देता है।

2. सामान्य इच्छा का सिद्धान्त राष्ट्रवाद की प्रेरणा देता है। इसने इस धारणा को जन्म दिया कि समान्तर एकता व सहचर्य आत्मीयता की भावना का जीवन श्रेष्ठ है।

3. यह सिद्धान्त व्यक्ति और समाज दोनों को महत्व प्रदान करता है।

4. यह सिद्धान्त आंगिक एकता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है।

राज्य की उत्पत्ति का विकासवादी सिद्धान्त

राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में किसी भी सिद्धान्त को

स्वीकार नहीं किया जा सकता। आधुनिक समय में इस बात को स्वीकार किया जाने लगा है कि राज्य का निर्माण नहीं किया गया, यह तो सतत विकास का परिणाम है। डॉ. गार्नर ने कहा है कि राज्य न तो ईश्वर की सृष्टि है न वह उच्चकोटि के शारीरिक बल का परिणाम है। न किसी समझोते की कृति है, न ही परिवार का विस्तृत रुप है। यह तो क्रमिक विकास से उदित ऐतिहासिक संस्था है।

राज्य की उत्पत्ति की सही व्याख्या विकासवादी सिद्धान्त द्वारा की गयी है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य का विकास आदिकाल से चला आ रहा है। इस क्रमिक विकास ने ही राष्ट्रीय राज्य का स्वरुप प्राप्त किया है। बर्गेस के अनुसार राज्य मानव समाज का निरन्तर विकास है जिसका आरम्भ अत्यन्त अधूरे और विकृत रुप से हुआ। लीकॉक के अनुसार राज्य की उत्पत्ति एक क्रमिक विकास के आधार पर हुई। राज्य के इस क्रमिक विकास में अनेक तत्वों ने सहयोग दिया है वे इस प्रकार है। मूल सामाजिक प्रवृत्ति, राजनैतिक चेतना, रक्त सम्बन्ध, धर्म, शक्ति एवं आर्थिक आवश्यकताएँ।

1. मूल सामाजिक प्रवृत्ति– राजनीति विज्ञान के प्रसिद्वलेखक अरस्तु ने कहा है कि मनुष्य एक सामजिक प्राणी है वह समाज के बिना जीवित नहीं रह सकता। मानव की इस मूल सामाजिक प्रवृत्ति ने राज्य के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। अरस्तु कहते है कि ''जो व्यक्ति समाज में नहीं रहते वे या तो देवता होते है या जंगली जानवर।'' समाज में मनुष्यों के साथ रहने से अनेक सामाजिक और राजनैतिक कठिनाइयां लोगों के सामने आयी। इन समस्याओं का स्वाभाविक रुप से समाधान के रुप में, राज्य का उदय हुआ। मानव की जटिलता के साथ साथ राज्य की जटिलता बढ़ती गयी।

2. रक्त सम्बन्ध– हेनरी मेन ने लिखा है कि समाज के प्राचीनतम इतिहास के आधुनिक शोध इस बात की ओर संकेत करते हैं कि मनुष्य को एकता सूत्र में बाँधने वाला तत्व रक्त सम्बन्ध ही था। कुछ विचारक हेनरी मेन की बात से सहमत नहीं है उनका कहना है कि रक्त सम्बन्ध की अभिव्यक्ति का साधन क्या था। परिवार, कुल या जाति परन्तु यह सर्वमान्य तथ्य है कि रक्त सम्बन्ध एकता का द्रढ़तम बन्धन है। यह कहावत भी है कि खून पानी से गाढ़ा होता है। रक्त सम्बन्ध से समाज बनता है और समाज से राज्य का निर्माण होता है। प्राचीन समय से रक्त सम्बन्ध माता और पिता से जाना जाता था। खेती का विकास हो जाने के पश्चात यह जाति से, फिर कुटुम्ब, फिर समाज और फिर राज्य के नाम से जाना जाने लगा। मेकाइवर के अनुसार रक्त सम्बन्ध समाज को जन्म देता है और समाज राज्य को जन्म देता है।

3. धर्म– रक्त सम्बन्ध के समान धर्म ने भी राज्य के विकास में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। रक्त सम्बन्ध और राज्य एक सिक्के के दो पहलू हैं। रक्त सम्बन्ध ने आदिम युग में राज्य को एकता सूत्र में बाँधा। एक रक्त सम्बन्ध के देवता, रीति रिवाज और परम्पराएँ भी एक समान होती है। जो उसे एक सूत्र में बाँधती है। विल्सन के अनुसार प्रारंम्भिक समाज में धर्म और रक्त सम्बन्ध उनकी एकता की अभिव्यक्ति थी। गेटल के अनुसार रक्त सम्बन्ध और धर्म एक सिक्के के दो पहलू है। धर्म ने आदिम युग में मनुष्य में पाशविकता की जगह आदर, आज्ञापालन और नैतिकता का भाव जगाया। प्राचीन समय से ही व्यक्ति अपने परिवार के मरे हुए व्यक्तियों की पितृ पूजा और धर्म के अनुसार समाज में न्याय देने का कार्य करता रहा है। आदिम युग में धर्म का एक अन्य रुप शक्ति की पूजा थी। व्यक्ति जिन विषयों को समझा नहीं पाता, उसकी पूजा करने लगता, जो उसे एकता के सूत्र में बाँधती थी। उस समय पर तान्त्रिकों और जादूगरों का जनता पर गहरा प्रभाव था। गिल क्राइस्ट कहता है कि प्रमुख जादूगर से राजा बनने का चरण आसान है। राज्य और धर्म का सम्बन्ध आदिम समय से ही नहीं था, यह आज भी है। पाकिस्तान, बांग्लादेश, भारत, सउदी अरब, अफगानिस्तान आदि में धर्म और राजनीति में गहरा सम्बन्ध देखा जाता है।

4. शक्ति– राज्य के विकास में शक्ति का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। युद्ध शक्ति को व्यवहारिक रुप प्रदान करने वाला साधन था। युद्ध ने राजा को जन्म दिया। जैक्स ने कहा है कि जन समाज का राजनैतिक समाज में परिवर्तन शान्तिपूर्ण उपायों से नहीं युद्धों से हुआ है। मनुष्य की एक मूल प्रवृत्ति है कि वह दूसरों पर अपना आधिपत्य जमाना चाहता है। राज्य के विकास में जब खेती, निवास स्थान और सम्पत्ति का विकास हुआ तब इनकी रक्षा के लिये युद्ध होने लगे। जनता शक्तिशाली व्यक्ति का नेतृत्व स्वीकार करने लगी। शक्ति से शासक के प्रति भक्ति के भाव जगे और भक्ति ने शासक को मजबूत बनाया और राज्य का विकास हुआ।

5. आर्थिक आवश्यकताएँ– राज्य की उत्पत्ति और विकास में आर्थिक विकास भी महत्वपूर्ण तत्व रहा है। गेटल के अनुसार आर्थिक गतिविधियाँ जिनके द्वारा मनुष्य ने भोजन, निवास आदि की पूर्ति की और बाद में सम्पत्ति तथा धन का संचय किया, राज्य के निर्माण में महत्वपूर्ण तत्व रही है– सम्पत्ति के उदय ने राज्य को अनिवार्य बना दिया। प्लेटो, हॉब्स, लॉक, रुसो आदि ने भी इसका समर्थन किया है। आदिम काल में मानव ने शिकार कर जीवनयापन किया। फिर पशुपालन और भ्रमणशील जीवन, इसके पश्चात कृषि का उदय हुआ सम्पत्ति संग्रह शुरु हुआ, स्थाई निवास बने। समाज में दास व राजा जैसे वर्ग बने, फिर औद्योगिक विकास हुआ, जिसमे जेल, पुलिस, न्यायालय, कानून, अमीर, गरीब आदि बने और राज्य विकास करता चला गया। इसमें राज्य के विकास पर आर्थिक प्रभाव को स्पष्ट देखा जा सकता है।

6. राजनैतिक चेतना– राजनैतिक चेतना का तात्पर्य, राज्य की उत्पत्ति के उद्देश्यों को प्राप्त करने के प्रति जागरुकता है। गिलक्राइस्ट के अनुसार राज्य के निर्माण की तह में, जिसमें

रक्त सम्बन्ध और धर्म भी है, ये राजनीतिक चेतना ही है। ब्लंश्ली के अनुसार सामाजिक जीवन की इच्छा और आवश्यकता ही राज्य के निर्माण का कारण बनती है।

मानव समाज का जैसे जैसे विकास हुआ। उसकी आवश्यकताएं और जटिलताएं बढ़ती चली गयी। इन सभी का समाधान राजनैतिक चेतना के माध्यम से ही हुआ। वर्तमान समय में भी राजनैतिक चेतना राज्य के विकास का कारण है। राजनैतिक चेतना के कारण ही कानून, न्याय आदि व्यवस्था का विकास हुआ।

निष्कर्ष– राज्य की उत्पत्ति का विकासवादी सिद्धान्त ही वर्तमान में मान्य है। यह इस बात को प्रमाणित करता है कि राज्य किसी समय विशेष की नहीं अपितु अनेक तत्वों के क्रमिक विकास का परिणाम है। यह अतीत से आज तक चला आ रहा है।

महत्वपूर्ण बिन्दु

राज्य की उत्पत्ति ईश्वर द्वारा नहीं, मानव द्वारा हुई है। यह लोगों के द्वारा दिये गये सामाजिक समझौते का परिणाम है। समझौता आपसी सहमति और हितों की पूर्ति हेतु किया गया। राज्य की उत्पत्ति से पूर्व प्राकृतिक अवस्था थी। जिससे व्यक्ति सन्तुष्ट नहीं था। हॉब्स, लॉक, रुसो इसके प्रमुख समर्थक है।

हॉब्स– के अनुसार मनुष्य स्वार्थी प्राणी है। प्राकृतिक अवस्था में वह अपने हितों की पूर्ति हेतु युद्ध और अनैतिक कार्यो में लगा रहता है। जिसमें मनुष्य का जीवन दीन, एकाकी, क्षणिक और पाशविक हो जाता है। हर समय मृत्यु का भय उसे राज्य की उत्पत्ति की प्रेरणा देता है यह राज्य निरंकुश होता है जिसको प्रजा मानने के लिये बाध्य होती है। प्रभुत्व शक्ति के बल पर राज्य की व्यवस्था चलती है।

लॉक के अनुसार मनुष्य एक विवेकशील और बुद्विमान प्राणी है। वह अपनी प्राकृतिक अवस्था में प्राकृतिक नियमों के अनुसार और प्राकृतिक अधिकारों का उपयोग करते हुए जीवनयापन करता था। इस अवस्था का जीवन शान्त, नैतिक, सहयोगी और सुखी था। परन्तु इसमें भी अनेक असुविधाएँ थी जिनको दूर करने के लिये सामाजिक समझौते द्वारा राज्य का निर्माण किया गया। राज्य को सीमित अधिकार प्रदान किये गये। उसे प्राकृतिक नियमों की व्याख्या करने और प्राकृतिक अधिकारों को लागू करने का अधिकार दिया गया।

रुसो के अनुसार मनुष्य एक भोला–भाला प्राणी है यह स्वतन्त्र और अपनी मस्ती में मस्त रहने वाला उदात्त वनचर प्राणी था। सम्पत्ति के उदय ने उसकी प्राकृतिक स्वतन्त्रता को नष्ट कर दिया। इस खोई स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के लिये मनुष्य ने एक समझौता किया। जिससे राज्य का निर्माण हुआ। इस समझौते से सामान्य इच्छा का सृजन हुआ। मनुष्य ने अपने सम्पूर्ण अधिकार इस सामान्य इच्छा को समर्पित कर दिये।

विकासवादी सिद्धान्त– यह सिद्धान्त मनौवैज्ञानिक ऐतिहासिक और समाज शास्त्रीय प्रमाणों पर आधारित है इसके अनुसार राज्य न तो कृत्रिम संस्था है और न ही दैवीय उत्पत्ति है। यह सामाजिक जीवन का धीरे–धीरे किया गया विकास है। इसके अनुसार राज्य के विकास में कई तत्त्वों रक्तसम्बन्ध, धर्म, शक्ति, राजनैतिक–चेतना, आर्थिक आधार का योगदान है। अतः राज्य सबके हित साधक के रुप में विकसित हुआ।

महत्वपूर्ण प्रश्न

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. हॉब्स की पुस्तक का क्या नाम है ?
2. रुसो ने अपने सम्प्रभु का क्या नाम दिया है?
3. लॉक ने कैसी प्राकृतिक अवस्था का वर्णन किया है?
4. विकासवादी सिद्धान्त के मुख्य तत्त्वों के नाम लिखिये।
5. रुसो ने मानव स्वभाव की मूल प्रवृत्तियाँ क्या बताई हैं ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. रुसो की सामान्य इच्छा क्या थी ?
2. मानव स्वभाव के विषय में हॉब्स के क्या विचार है ?
3. राज्य के विकास में धर्म का क्या योगदान है ?
4. लॉक की प्राकृतिक अवस्था में मानव कैसा था ?
5. राज्य के विकास में शक्ति का क्या योगदान है ?

निबन्धात्मक प्रश्न

1. रुसो की सामान्य इच्छा सिद्धान्त को समझाये।
2. राज्य की उत्पत्ति के विकासवादी सिद्धान्त पर एक निबन्ध लिखो।
3. सामाजिक समझौता सिद्धान्त का संक्षेप में वर्णन करो।
4. लॉक के सामाजिक समझौता सिद्धान्त पर प्रकाश डालिये।
5. हॉब्स के सामाजिक समझौता सिद्धान्त पर निबन्ध लिखो।

वस्तुनिष्ठ प्रश्नः–

1. राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त के मुख्य प्रतिपादक है–
   (अ) हीगल और काण्ट (ब) प्लेटो, लेनिन
   (स) गिलक्राइस्ट और गेटल (द) हॉब्स, लॉक, रुसो ( )
2. रुसो का मुख्य नारा था–
   (अ) एकला चलो रे (ब) अहस्तक्षेप ( )
   (स) प्रकृति की ओर लौटो (द) दुनिया के मजदूरों एक हो
3. निरंकुश राजतन्त्र का समर्थन किया है–
   (अ) हॉब्स ने (ब) लॉक ने
   (स) बैन्थम (द) रुसो ( )
4. रुसो की कृति का नाम है–
   (अ) लेवियाथन (ब) द सोशल कान्ट्रेक्ट
   (स) दास कैपिटल (द) द मार्डन स्टेट ( )
5. राज्य के विकास के लिये आवश्यक तत्व है–
   (अ) धर्म (ब) भाषा
   (स) प्रादेशिकता (द) जाति ( )

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर :–

1 (द) 2 (स) 3 (अ) 4 (ब) 5 (अ)

इकाई–4
अध्याय–9
सरकार का अर्थ, स्वरूप–अधिनायक तन्त्र, कुलीन तन्त्र एवं लोकतन्त्र

आधुनिक शासन प्रणालियों में लोकतांत्रिक व्यवस्था के नाम पर अधिनायकवादी व्यवस्थाओं को स्थापित करने का प्रयास किया जाता रहा है। वर्तमान युग में इस तरह की व्यवस्थाओं को बदलकर लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं के रूप में स्थापित कर लिया गया है। इसका फ्रांस में जीता–जागता उदाहरण है। एक लम्बे समय तक फ्रांस में अधिनायकवादी तंत्र ने शासन किया। फ्रांसिसी नागरिकों ने तीव्र विरोध करते हुए इसे समाप्त करने का ऐतिहासिक साहस भी किया था। एशियाई राष्ट्रों में सैनिकवाद, अधिनायकवाद की प्रवृत्तियाँ पुनः जन्म लेने लग गई। अरस्तु मूल रूप से इस तरह के तंत्र को स्वीकार नहीं करता है। बल्कि इसे नकारात्मक घोषित करता है क्योंकि इस तंत्र में व्यक्ति की स्वतंत्रता को कुचला जाता है। इनमें नागरिक अधिकार, मौलिक अधिकार का कोई अर्थ नहीं होता है।

अधिनायकवाद का अर्थ
(Meaning of Dictatorship)

इस तरह के शासन तंत्र में सम्प्रभुता एक ही व्यक्ति के हाथों में केन्द्रित होती है। यही व्यक्ति वास्तविक सम्प्रभु होता है। अपनी स्वेच्छाचारी शक्ति के अनुसार आदेश प्रसारित करना, उन्हें लागू करना, उनकी पालना करना ही अधिनायकवादी तंत्र का मुख्य कार्य होता है। जनसाधारण की भावनाओं, इच्छाओं को कुचलना ही परम कर्त्तव्य शासक का होता है। ऐसे तंत्र में शासक का पद योग्यता के आधार पर नहीं वरन् शक्ति एवं बल के माध्यम से हिंसा के सहारे पाने का प्रयास किया जाता है। अतः कार्यपालिका, व्यवस्थापिका, न्यायपालिका सम्बन्धी शक्तियों को एक ही व्यक्ति वहन करता है। यही सर्वाधिकारवादी शक्तियों को प्रयोग भी करता है।

प्राचीन अधिनायकवादी तंत्र और आधुनिक अधिनायकवादी तंत्र में व्यापक अन्तर आ गया है। प्राचीनयुग में सिसली के शासक गेरिबाल्डी ने 1860 में जो अधिनायकवाद लागू किया था उसका उद्देश्य जनकल्याण करना था। मार्क्स ने भी जो सर्वहारा–वर्ग के अधिनायक क्षेत्र अवधारणा का विकास किया था। इसका भी जनकल्याण करना ही मात्र उद्देश्य था।

आधुनिक युग में इसका अर्थ पूरी तरह बदल गया है। अब अत्याचारी, स्वेच्छाचारी, निरंकुशता आदि में शासक की इच्छाएँ सर्वोपरि होती है। एक दलीय अधिनायकवाद की स्थापना के लिए क्रान्तियाँ, विद्रोह होते रहे हैं। यह शासन किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं होता है। केवल मात्र स्वयं के लिए शक्तिशाली बनाने, सर्वोपरि सिद्ध करने के लिए प्रयासरत रहता है।

अधिनायकवाद की विशेषताएँ
(Definitions of Dictatorship)

(1) अल्फ्रेड काबन के अनुसार, ''अधिनायकवादी तंत्र एक ऐसे व्यक्ति का शासन होता है जिसमें शासक का पद छल, कपट, हिंसा, बल आदि के द्वारा ही प्राप्त किया जाता है।

(2) मेकाइवर के अनुसार, ''केवल अधिनायक तंत्र ही ऐसी प्रणाली है जिसमें शासक की इच्छा ही सत्ता की एकमात्र औचित्य हुआ करती है।

इन परिभाषाओं से यह ज्ञात होता है कि अधिनायक तंत्र में शासक सर्वशक्तिशाली, निरंकुश, स्वेच्छाचारी बन सकता है। वह दूसरे मनुष्यों को मनोवैज्ञानिक रूप में अपने नियंत्रण में रखकर उनकी भावनाओं, इच्छाओं, स्वतंत्रताओं को कुचल कर रख सकता है। न्याय, समानता, स्वतंत्रता की भावना इसमें नहीं के बराबर होती है। इसमें नागरिकों पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है। जो व्यक्ति शासक की इच्छाओं को मानने से इंकार करेगा उसके विरूद्ध हिंसात्मक तरीके से बल प्रयोग बदले की भावना से दण्डित किया जाता है।

अधिनायक तंत्र के प्रकार

इस तंत्र को समझाने के लिए इसका विभाजन किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में हम यह कह सकते है कि अधिनायक तंत्र को दो प्रकार के भागों में विभाजित करके आसानी से समझा जा सकता है।

(1) प्राचीन युग का अधिनायक तंत्रः– शासक के सामने आकस्मिक संकट उत्पन्न होने से इसका सामना करने के लिए इसकी स्थापना की जाती थी। रोम में कानून एवं शान्ति व्यवस्था स्थापित करने के लिए विशेष अधिकारियों को विशेष शक्तियाँ अलग से प्रदान की जाती थी। इसलिये संकट का सामना करने के लिए असीम शक्तियों का प्रयोग करते हुए उसका सामना किया जाता था। इसमें संकट विशेष परिस्थितियों के बाद अधिनायक अधिकारी का कार्य भी समाप्त हो जाता था। इसी तरह सिसली के शासक ने 1860 में गेरिबाल्डी ने इसी तरह का प्रयोग किया था।

यद्यपि यह लोककल्याण, वैध, उत्तरदायी तथा नियंत्रण रखने के लिए लाभदायक सिद्ध होता रहा है।

(2) समकालीन अधिनायक तंत्रः– प्राचीन युगीन अधिनायक तंत्र के विपरीत इसका प्रयोग किया जाता है। किसी

राज्य में स्वतंत्र रूप से राजक्रांति करके बल एवं हिंसा के आधार पर शक्ति को प्राप्त करने वाला व्यक्ति अधिनायक तंत्र की स्थापना करता है। जिसमें ऐसा अधिनायकवाद शासक किसी के भी नियंत्रण से मुक्त होता है। इसमें षड्यन्त्रों के माध्यम से सत्ता पायी जाती है। आधुनिक समय में इसके रूप में सैनिक शासन, आपातकाल और तानाशाही को जनता पर थोपने के लिए लागू किया जाता है। लोकतांत्रिक देशों में समकालीन रूप से मनमानी, सत्ता का दुरुपयोग, लोकतंत्र की हत्या, मानवीय स्वतंत्रताओं पर प्रतिबन्ध लगाने आदि के लिए इसका प्रयोग किया जाने लगा है।

ऐलेन बाल ने आधुनिक युगीन अधिनायक तंत्र के दो रूप निर्धारित करने का प्रयास करते हैं, जो इस प्रकार है–

(i) सर्वाधिकारवादी अधिनायक तंत्र :– फासीवादी एवं साम्यवादी अधिनायकवाद इस श्रेणी में आते है। इसमें एक ही व्यक्ति या दल की सर्वोच्च सत्ता का समर्थन किया जाता है। द्वितीय विश्व युद्ध कालीन व्यवस्था ने पूर्वी यूरोप में सर्वाधिकारवादी गढ़ स्थापित करने के प्रयास किये गये थे। साम्यवादी रुस, चीन, इटली, जर्मनी में इस तरह के तंत्र की स्थापना के प्रयास किये गये हैं। इनके साथ ही बुल्गारिया, रुमानिया, चेकोस्लोवाकिया, हंगरी में भी यही तंत्र स्थापित हुआ था।

यह सर्वाधिकारवादी तंत्र निम्न रूप से कार्य करता है–

(1) ऐसे तंत्र की विचारधारा को जनता भी आत्मसात कर लेती है।
(2) एक दल विशेष के द्वारा राष्ट्रीय नीति के रूप में इसकी स्थापना की जाती है।
(3) यह राजनीतिक रूप से स्थापित होकर सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक रूप से मान्यता प्राप्त हो जाता है।
(4) न्यायपालिका के निर्णय पर भी शासन का नियंत्रण होता है।
(5) जनता द्वारा इसका विरोध नहीं किया जाकर बल्कि इसकी स्थापना, क्रियान्वयन में भी व्यापक समर्थन किया जाता है।
(6) सम्पूर्ण रूप से राजनीतिक विचारधारा के रूप में इसे सक्रियता से संचालित किया जाता है।
(7) इस तंत्रवादी व्यवस्था का विस्तार किया जाता है।

(ii) स्वेच्छाचारी अधिनायक तंत्रः– यह एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका के राष्ट्रों में देखने को मिलता है। जिन देशों में लोकतांत्रिक शासन प्रणाली अपनायी गयी थी। वहाँ स्वेच्छाचारी अधिनायक तंत्र को अस्थायी शासन के रूप में अल्पकालीन अवधि के लिए ग्रहण किया जाता रहा है। इसके अन्तर्गत निम्न प्रकार के कार्य किये जाते है।

(1) शासन व्यवस्था में लगे हुए लोगों के हाथों में सत्ता होने से दूसरे राजनीतिक दलों पर प्रतिबन्ध, रोक लगाकर विरोधियों के रूप में सौतेला व्यवहार किया जाता है।
(2) इसके स्वतंत्र चुनावों पर पाबन्दी लगाई जाकर स्वेच्छाचारी तरीके से सत्ता का दुरुपयोग किया जाता है।
(3) इसमें संवैधानिक संशोधन तेजी से किया जाता है। शासक अपना पद बचाने के लिए मनमाने तरीके से आदेश प्रस्तारित करता है।
(4) नागरिक स्वतंत्रताओं, मौलिक अधिकारों, प्रेस आदि पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है।
(5) इसमें सैनिक विद्रोह करके सैनिक शासन थोपा जा सकता है।
(6) सत्ता का जो वर्ग होता है। वह शक्ति, बल, छल कपट, षड्यन्त्र आदि के माध्यम से नियंत्रण बनाये रखने का प्रयास करता है।

अधिनायक तंत्र की विशेषताएँ
(Characteristic of Dictatorship)

इस तंत्र की निम्न विशेषताएँ इस प्रकार हैं

(1) लोकतांत्रिक प्रक्रिया के विरुद्ध :– अधिनायक तंत्र को लोकतंत्र का शत्रु माना जाता है। इसमें जनता की भावना को ठेस पहुँचायी जाती है। जनता में न्याय, समानता, स्वतंत्रता की पालना नहीं की जाती है। बल्कि जनता और शासक–वर्ग के बीच अन्तर कर दिया जाता है।

(2) हिंसा व षड्यन्त्र में विश्वास :– इस तंत्र में एक–दूसरे के विरुद्ध विश्वास की भावना समाप्त हो जाती है। अपना प्रभाव बनाये रखने के लिए हिंसा एवं षड्यन्त्र का अधिक सहारा लेने का प्रयोग किया जाता है।

(3) राज्य को सर्वोच्च स्थान :– जनता समुदाय, संघ, संगठनों, संस्थाओं आदि में राज्य को ही उच्च स्थान दिया जाता है। केवल राज्य ही सर्वोच्च है। राज्य से ऊपर अन्य कोई नहीं है। राज्य का मुख्य कार्य युद्ध करना और युद्ध में विजय प्राप्त करना। इसके अलावा राज्य का कोई कार्य नहीं है।

(4) उग्रवादी विचारधारा का समर्थन :– इसमें राष्ट्रीय नारे, घोषणाएँ आदि को इतना महत्व दिया जाता है कि हिंसात्मक रूप से उग्रवादी विचारधारा का समर्थन ही किया जाता है। हिटलर, मुसोलिनी की विचारधारा इसी के अनुकूल रही है।

(5) विरोधियों का अन्त :– इस तरह के शासन में राज्य की जो भी आलोचना करता है उसे गिरफ्तार कर जेल में बंद कर दिया जाता है। इसके विरोधी राजनेताओं की गतिविधियों पर पाबन्दी लगा दी जाती है। राज्य के अन्य राजनीतिक दलों पर पाबन्दी, प्रतिबन्ध, रोक लगा दी जाती है।

(6) एक पार्टी का शासन :– अधिनायकवादी तंत्र में समूहों, दलों का कोई अस्तित्व नहीं होता है। एक दल विशेष का ही यह तंत्र होता है। इसमें अनेक दलों का समावेश नहीं हो सकता है। इसके सदस्यों की संख्या भी सीमित होती है। इसका अनुपालन भी कठोर होता है। राष्ट्रीय सेवा भक्ति के परीक्षण के बाद ही दल का सदस्य बनाया जाता है।

(7) केन्द्रीयकरण का महत्त्व :– इस तंत्र में सभी प्रकार की शक्तियों का केन्द्रीकरण कर लिया जाता है। नीचे के स्तर पर शक्ति को छीन कर शक्ति केन्द्रीय स्तर की ओर बढ़ाई जाती है। शासन के समस्त निर्णय उच्च स्तर पर ही लिये जाते हैं। इसमें

निर्णय–निर्माण प्रक्रिया कठोरता से निर्णय को लागू करती है।

अधिनायक तंत्र के लक्षण

इसके लक्षण के बार में पीटर मर्कल ने अपनी पुस्तक में निम्न संकेत दिया है।

(1) इस तंत्र में प्रचार पर नियंत्रण स्थापित होता है।
(2) इसमें जनता के नागरिकों में डर, भय, आतंक, उत्पन्न करने का प्रयास दिया है।
(3) इसमें समाज, संगठन, संस्थाओं, संघों पर भी कठोर नियंत्रण रखा जाता है।
(4) यह शासक के लिए असाधारण सत्ताधारी युक्ति का प्रतीक माना जाता है।

इसमें डॉ. सी.बी. गेना ने अलग से निम्न लक्षण बताये हैं–

(1) इस तंत्र में नेता के अस्तित्व की सर्वोच्चता सर्वव्यापी होती है।
(2) इसमें शासक की कथनी और करनी में अन्तर पाया जाता है।
(3) इस तंत्र में नेता का गुणगान का महत्व होता है।
(4) इसमें शासक का आतंक का साम्राज्य पाया जाता है।
(5) इसमें शासक आवश्यकता से अधिक महत्वकांक्षी होता है।
(6) इस तंत्र में अन्तोगत्वा सैनिक वाद का सहारा लिया जाता है।

अधिनायक के गुण (Merits of Dictatorship)

(1) अधिनायकवादी से कार्यकुशलता में वृद्धि होती है। इसमें समय की पाबन्दी सभी के लिए अनिवार्य होती है।
(2) इसमें राष्ट्र का सर्वव्यापी विकास बहुमुखी रूप से किया जाता है। राष्ट्र में योजनाओं, विकास कार्यों को प्रशासनिक सतर्कता की देखरेख में पूरा किया जाता है।
(3) इसमें राष्ट्र की एकता, एकीकरण, अखण्डता, सुरक्षा की स्थापना अनिवार्य होती है।
(4) इस तंत्र के अधीन राष्ट्रों में देशभक्ति, बलिदान करने के लिए नागरिकों को आह्वान किया जाता है।
(5) इसमें शासक के आदेशों में एकता, कठोरता पाई जाती है।
(6) इसमें युद्धकालीन परिस्थितियों का सामना करने में तत्परता बरती जाती है।
(7) यह शासन नागरिकों को अनुशासित करने का जरिया माना जा सकता है।
(8) यह तंत्र जनसहभागिता के बिना ही संचालित कर लिया जाता है।
(9) इसमें शासन के कार्यों की गोपनीयता बनाई जाती है।

अधिनायक तंत्र के दोष (Demerits of Dictatorship)

(1) यह व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं विकास में बाधक माना जाता है।
(2) यह तंत्र जनसाधारण का शोषण का प्रतीक माना जाता है।
(3) अधिनायक तंत्र राष्ट्र के लिए घातक माना जा सकता है। इसमें लोकतांत्रिक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के लिए संघर्षात्मक पहलू ज्यादा होता है।
(4) इसमें सामाजिक कल्याण की भावना लुप्त होती चली जाती है। इसमें बेकारी, भुखमरी, असहाय लोगों को अपने हाल पर छोड़ देती है।
(5) यह व्यक्तिगत स्वतंत्रताओं पर प्रहार का प्रतीक माना जाता है। नागरिकों के समूह संघ बनाने, विचार अभिव्यक्ति आदि पर पाबन्दी लगाई जाती है।

निष्कर्ष (Conclusion)

अधिनायक तंत्र के बारे में चाहे जो भी हो मगर यह तो अवश्य कहा जा सकता है कि यह तंत्र वर्तमान युग में चर्चा का विषय बना हुआ है इसमें कुछ लाभ एवं हानि दोनों ही हैं। लेकिन किसी राष्ट्र में अल्पकालीन के बजाय दीर्घकालीन तक इस व्यवस्था को अपनाया उचित नहीं कहा जा सकता है। आधुनिक समय में सद्भावना, भाईचारा, शान्ति आदि को इस तंत्र के माध्यम से नहीं कुचला जा सकता है।

कुलीन तंत्र (Aristocracy)

अर्थ :–

कुलीन तंत्र को English Language (आंग्ल भाषा) में Aristocracy कहा जाता है। आंग्ल भाषा का शब्द Aristocracy मूल रूप से Greek Language (यूनानी भाषा) का शब्द है। Greek Language (यूनानी भाषा) में इसे Aristokratí (अरिस्त्क्रेतिया) कहा जाता है। यह शब्द दो शब्दों का मिश्रण है। प्रथम शब्द– Aristos (अरिस्तोस) जिसका अर्थ "cellent" (सबसे अच्छा) होता है। वहीं दूसरा शब्द kratos (क्रेतोस) है जिसका अर्थ "power" (शक्ति) होता है। Greek में aristokrati (यूनानी भाषा में अरिस्त्क्रेतिया) शब्द का अर्थ "rule of the best" होता है। जिसका अभिप्राय सर्वश्रेष्ठ शासन होता हैं।

थॉमस हाब्स (Thomas Hobbes) ने जब अपनी पुस्तक Leviathan की रचना 1651 में की। इस पुस्तक में उन्होंने कुलीन तंत्र का वर्णन किया है, कहा कि उस समय कुलीन तंत्र का पर्याय जन सामान्य के एक छोटे से समुदाय का प्रतिनिधित्व तत्कालीन विधानसभा में होता था। जनता का एक छोटा सा भाग ही सरकार में प्रतिनिधित्व करता था। आधुनिक कुलीन तंत्र में सर्वश्रेष्ठ शासन जैसे शब्द का सम्मान और प्रतिनिधित्व नहीं दिखाई देता है। परन्तु जो देखा जा रहा है वह plutocracy/ Oligarchy/ rule by the rich (धनिक तंत्र) का शासन है। पूरी सरकार और शासन का संचालन और नियंत्रण धनिक लोगों द्वारा किया जाता है।

यू.एल .मिट्स के शब्दों में "कुलीन तंत्र के बारे में अरस्तू की मान्यता है कि यह ऐसा शासन होता है जिसमें राज्य या सरकार के जन्माधिकार ही या अधिक रूप में राजनीतिक सुविधाओं की अनिवार्य शर्त है। जिस राज्य में शासन सत्ता के अनुसार होता है उसे कुलीन तंत्र कहते हैं।"

अरस्तू की मान्यता है कि "कुलीन तंत्र ऐसा शासन विधान है जिसमें अच्छे नागरिक एवं अच्छे व्यक्ति के गुणों में

पूर्णरूपेण समानता होती है।"

कुलीन तंत्र लोकतंत्र और धनिक तंत्र के मिश्रण से बनता है। इसके निर्माण के लिये तीन तत्वों (1. सर्वतंत्र जन्म 2. सम्पति 3. योग्यता) की अनिवार्यता और मिश्रण अनिवार्य है। कुलीन तंत्र में कानून की सर्वव्यापकता होती है। इसमें बुद्धि, गुण और संस्कृति के आधार पर राज्य और सरकार का संचालन किया जाता है। कुलीन तंत्र में वंशानुगतता और आयु की निर्धारिता होती है। अरस्तू ने अपने आदर्श राज्य में आयु आधारित कुलीन तंत्र को स्वीकार किया है, उसने इसमें प्रौढ़ और अनुभवी व्यक्ति को ही राज्य और शासन संचालन का अधिकार दिया है।

कुलीन तंत्र में क्रांति :–

अरस्तू ने कुलीन तंत्र में क्रांति होने के मुख्य कारण निम्नलिखित बताए हैं–

कुलीन तंत्र में क्रांति इस कारण से होती है कि यहाँ शासकों की सत्ता अत्यंत सीमित होती है। जन साधारण शासन और शासकों से ईर्ष्या करता है। ये अपने और शासकों के बीच गुण और चरित्र के आधार पर कोई अंतर नहीं कर पाते है। सामान्य जनता के साथ असमानता का व्यवहार किया जाता है। लेकिन सामान्य जन प्रशासकीय वर्ग के व्यक्ति से अधिक योग्य एवं प्रतिभा सम्पन्न होता है। शासक वर्ग का एक अंग युद्ध अथवा किसी भी अन्य कारण से अत्यधिक उग्र हो जाता है और वह सम्पति के विभाजन की माँग करता है। कुलीन तंत्र का सबसे प्रबल तत्व धनिक तंत्र हैं।

लोकतंत्र (Democracy)

विकास **(Development) -** लोकतंत्र शासन पद्धति की उत्पत्ति, राजतन्त्रीय शासन प्रणाली के परिणामस्वरूप मनुष्यों द्वारा अपनायी गई शासन प्रणाली है। राजतन्त्रीय शासन प्रणाली में व्यक्तियों पर अत्याचार, शोषण की सर्वाधिकता के कारण इसे नकरात्मक रूप से समाप्त किये जाने के लिए मनुष्य ने लम्बे समय तक लोकतंत्र की स्थापना के लिए प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से संघर्ष में महान् बलिदान करना पड़ा था। इस संघर्ष में राजतंत्र व सम्राट दोनों की पराजय हुई, जिसमें जनता ने लोकतंत्र को व्यापक सहमति से स्वीकार किया था।

यूरोप को राजनीतिक गतिविधियों एवं राजनीतिक चिन्तन का केन्द्र प्राचीन युग से ही माना जाता है। प्राचीन युग में लोकतंत्र नगर राज्य तक सीमित था। इसके व्यापक स्वरूप को विकसित होने में पर्याप्त साधनों का अभाव होने के कारण सदियों बाद लोकतंत्र को सही अर्थों में समझने का प्रयास किया था। राजतंत्र में सामन्तवादी व्यवस्था जब मजबूत होने लगी थी, तब गरीबी और अमीरी के बीच समानता, स्वतंत्र, न्याय, भ्रातत्व का संघर्ष किया गया था। यही संघर्ष वास्तव में लोकतंत्र की स्थापना का आधार था। जनता दो तरफा गुलामी से मुक्त होना चाहती थी।

1. राजतंत्र प्रणाली से,
2. सामन्तवादी प्रणाली से

राजतंत्र में युद्ध लड़ना व साम्राज्य का विस्तार करना दो ही मुख्य कार्य थे। इन दोनों कार्यों के लिए जनता से मनमाना टैक्स वसूल किया जाता रहा। इसी क्रम में सामन्तों को अपनी स्थिति मजबूत रूप से स्थापित करने का अवसर भी मिल गया था। सामन्तों ने भी जनता का व्यापक शोषण किया था। जनता राजतंत्र व सामन्तवादी व्यवस्था दोनों से स्वतंत्र होना चाहती थी।

ब्रिटेन की जनता ने 15 जून 1215 को मेग्नाकार्टा के माध्यम से सम्राट पर सर्वप्रथम यह प्रतिबन्ध लगाया कि जनता की स्वीकृति के बिना सम्राट नया टैक्स नहीं लगा सकता है। यही से लोकतंत्र की उत्पत्ति मानी जाती है।

आधुनिक लोकतंत्र की उत्पत्ति में तीन महान् क्रान्तियों का योगदान माना जाता है।

1. 1688 ई. में ब्रिटेन की रक्तहीन क्रान्ति ने संसद की सर्वोच्चता स्थापित करके राजतंत्र पर अंकुश लगाने का पहला प्रयास किया था।
2. अमेरिका का स्वाधीनता संग्राम जिसने ब्रिटेन के आधिपत्य से अमेरिका को स्वतंत्र कराने में सफलता प्राप्त की थी, जिससे व्यक्तिगत स्वंतत्रता कायम कर दी थी।
3. फ्रांस की राजक्रान्ति 1789 ई. के द्वारा समानता, स्वतंत्रता व भ्रातृत्व को कायम करने के लिए सफल कर दिया था।

लोकतंत्र की संसार में स्थापना करने में पाश्चात्य विचारकों का भी विशेष योगदान माना जाता है। अरस्तू ने श्रेष्ठ शासन व्यवस्था के रूप में, जॉन लॉक ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता को, बेन्थम ने लोकतंत्र की उपयोगितावादी, लॉर्ड ब्राइस ने राजनीतिक मताधिकार के रूप में, डॉ. आशीर्वादम् ने लोकतंत्र को व्यक्तित्व के विकास के लिए सर्वश्रेष्ठ शासन पद्धति मानकर अपने–अपने विचारों के अनुसार महान् योगदान दिया था।

गार्नर के निर्वाचन पद्धति के रूप में उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिए अपना योगदान दिया था। मांन्टेस्क्यू ने प्रेस की स्वतंत्रता सम्बन्धी विचार प्रकट करके लोकतंत्र में अपना योगदान दिया था। इस सम्बन्ध में अलैक्जेन्डर पोप ने ठीक ही लिखा है, ''शासन के रूपों के लिए मूर्खों को लड़ने दो जो शासन ठीक से चले वही शासन सर्वश्रेष्ठ शासन है।''

लोकतंत्र का अर्थ
(Meaning of Democracy)

लोकतंत्र को अंग्रेजी में Democracy कहा जाता है। Democracy शब्द की उत्पत्ति यूनानी शब्द Demo व Cratea से हुई है, जिनका अर्थ जनता की शक्ति है। यूनानी विद्वानों ने भी इसी अर्थ में समझने और समझाने का प्रयास किया है।''

लोकतंत्र को प्रारम्भिक काल में केवल एक शासन पद्धति के रूप में समझा गया था। लेकिन आधुनिक काल में अब लोकतंत्र एक शासन पद्धति ही नहीं, वरन् जनता के लोगों की जीवन–शैली के रूप में परिवर्तित हो रहा है। लोकतंत्र को लोगों के मन के व्यवहार में स्थापित करने की आवश्यकता है। तभी इसकी सार्थकता सिद्ध हो सकती है, अन्यथा नहीं।

लोकतंत्र, राजतंत्र, अधिनायकवाद और कुलीन–तंत्र के बाद सर्वश्रेष्ठ शासन प्रणाली के रूप में स्वीकार किया गया शासन है जिसमें जनता को स्वतंत्रता, समानता, न्याय के साथ–साथ आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक रूप से व्यापक अधिकार भी प्रदान करता हैं।

लोकतंत्र की परिभाषाएँ
(Definitions of Democracy)

1. अब्राहम लिंकन के अनुसार, ''लोकतंत्र जनता का, जनता के द्वारा, जनता के लिए शासन ही वास्तविक लोकतंत्र है।''

2. डायसी के अनुसार, ''लोकतंत्र शासन का वह स्वरूप हैं जिसमें शासक–वर्ग सम्पूर्ण राष्ट्र का एक वृहद् भाग होता है।''

3. एच.एस. लास्की के अनुसार, ''लोकतंत्र शासन का वह स्वरूप है जिसके अन्तर्गत मनुष्यों को अपना शासन कार्य, निर्णय करने का अवसर मिलता है। ऐसे लोकतंत्र के अधीन रहते हैं तथा शासन द्वारा निर्मित कानून सभी पर समान रूप से लागू होता है।''

4. लॉर्ड ब्राइस के अनुसार, ''लोकतंत्र सम्पूर्ण समाज के सदस्यों में निहित होता है, जिसमें सम्पूर्ण समाज मतदान की पद्धति से कार्य करता है। इसकी शासन–पद्धति बहुसंख्यकों के हाथों में होती है। जिस समाज में लोक एक मत नहीं होते हैं। उस समाज में जन–इच्छा का पता लगाने के लिए कोई उपाय नहीं किया जा सकता हैं।''

लोकतंत्र के पीछे जनशक्ति पायी जाती है। जिसमें जनहित, जनकल्याण व विकास के कार्यों के लिए लोकतंत्र के व्यापक सिद्धान्तों, लक्ष्यों, मान्यताओं, उद्देश्यों की स्थापना एवं प्राप्ति के लिए इस शासन पद्धति को स्थापित किया गया है। जिसमें व्यक्ति, समुदाय, संख्या के कार्यों में सत्ता की भागीदारी समान रखी गयी है। लोकतंत्र व्यापक समाज का दर्शन है।

लोकतंत्र के रूप–अरस्तू ने लोकतंत्र के दो स्वरूपों की व्याख्या की है–

1. विशुद्ध लोकतंत्र,
2. विकृत लोकतंत्र।

अरस्तु लोकतंत्र के विकृत रूप में लिखता है कि लोकतंत्र इस प्रकार होता है, ''धनिक तंत्र लुटेरों का तंत्र होता है। लेकिन लोकतंत्र उसमें भी अधिक लुटेरों का तंत्र होता है।''

आधुनिक समय में विशुद्ध लोकतंत्र के स्थान पर विकृत लोकतंत्र का विस्तार होता जा रहा है।

लोकतंत्र के रूपों के बारे में ये माना जाता है। आधुनिक समय की अवधारणा के साथ–साथ लोकतंत्र के रूप भी बदलते जा रहे हैं। लोकतंत्र को व्यापक अर्थों, दर्शन, जीवन कार्य पद्धति के रूप में समझने का प्रयास किया जा रहा है फिर भी इसके चार रूप इस प्रकार हैं:

1. राजनीतिक लोकतंत्रः– सर्वप्रथम लोकतंत्र की स्थापना के पीछे राजनीतिक समानता स्थापित करने का मुख्य उद्देश्य था जिसमें राजनीतिक प्रणाली में जनता की भागीदारी समान रूप से रखी गयी थी। जनता को राजनीतिक क्षेत्र में समान अधिकार दिये गये थे। ताकि राजनीतिक लोकतंत्र की स्थापना हो सके। इसके निम्न बिन्दु हैं–

(i) सभी नागरिकों को निश्चित आयु प्राप्त कर वयस्क मतदान का अधिकार समान रूप से दिया गया।
(ii) सभी नागरिकों को शासन की आलोचना करने का अधिकार दिया गया है।
(iii) नागरिकों को चुनाव में खड़े होने का समान अधिकार दिया गया है।
(iv) नागरिकों को राजनीतिक समानता, स्वतंत्रता तथा न्याय की स्थापना के लिए राजनीतिक लोकतंत्र में सहभागिता रखने का अधिकार दिया गया।
(v) किसी भी राजनीतिक दल की सदस्यता ग्रहण करने व प्रचार करने का अधिकार दिया गया।

2. सामाजिक लोकतंत्र :– लोकतंत्र सामाजिक समानता स्थापित करने के दृष्टिकोण के आधार पर समाज में सद्भावना, एकता, भ्रातृत्व की भावना का विकास करना लोकतंत्र के लिए अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि लोकतंत्र की जड़ें समाज से ही मजबूत होती है। यदि समाज में वर्ग, संघर्ष, असमानताएँ व्याप्त रहेगी तो लोकतंत्र ठीक से स्थापित होकर कार्य नहीं करेगा। समाज में अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा कर सामाजिक सुरक्षा प्रदान करना लोकतंत्र के लिए आवश्यक है। समाज में जाति, धर्म, भाषा, रंग, लिंग का भेदभाव समाप्त करने का संकल्प लिया जाता है। लोकतंत्र समाज में महिलाओं के हितों को सुरक्षा प्रदान करने का पूरा प्रयास करता हैं ताकि महिलाओं को पुरूषों के बराबर समानता प्राप्त हो सके।

3. आर्थिक लोकतंत्र :– आधुनिक युग में आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना का राष्ट्रीय स्तर पर प्रयास किया जा रहा है। आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना के बिना राजनीतिक लोकतंत्र अधूरा माना जाता है। आर्थिक लोकतंत्र में अमीरी और गरीबी के बीच का अन्तर समाप्त किये जाने का प्रयास किया जाता है। राजनीतिक लोकतंत्र सबसे पहले स्थापित हो जाता है। आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना नहीं किये जाने इसकी सफलता पर सन्देह किया जाने लगा है। आर्थिक लोकतंत्र में आर्थिक स्वतंत्रता प्रदान करने का पूरा प्रयास किया जाता है। रोजगार के साधनों में समान अवसर की समानता स्थापित की जाती है। समाजवादी अर्थव्यवस्था को

अपनाया जाता है। स्त्री व पुरूषों को समान रोजगार देने के प्रयास किये जाते हैं। आर्थिक लोकतंत्र में शोषण, बंधक मजदूरी, बाल मजदूरी आदि का निराकरण करने का प्रयास किया जाता है।

इसमें जीवन स्तर को उच्च स्तर की ओर विकसित करने के लिए व्यक्तिगत आय, राष्ट्रीय आय के साधनों में वृद्धि की जाती है। आर्थिक लोकतंत्र में बड़े–बड़े उद्योगों और लघु उद्योगों के बीच सन्तुलन स्थापित करने का प्रयास किया जाता है। पिछड़े वर्ग अल्पसंख्यक वर्ग के आर्थिक कल्याण के लिए प्राथमिकताएँ दी जाती हैं।

4. धार्मिक लोकतंत्र :– लोकतंत्र धार्मिक स्वतंत्रता को कायम रखने का प्रयास करता है। किसी भी धर्म को मानने, स्वीकार करने, धार्मिक संगठन बनाने, पूजा–अर्चना करने से किसी भी नागरिक को लोकतंत्र मना नहीं कर सकता है। लोकतंत्र, धर्म सहनशीलता, त्याग, बलिदान करना सिखाता है। धर्म सच्चाई के मार्ग का अनुसरण करता हैं इसलिए आधुनिक युग में आध्यात्मिक लोकतंत्र के रूप में इसकी मान्यता प्राप्त होती जा रही है। इसका मूल उद्देश्य सांस्कृतिक लोकतंत्र की स्थापना का उद्देश्य बनता जा रहा है। कुमारी फालने ने ठीक ही लिखा है, लोकतंत्रवाद को एक आध्यात्मिक रूप में माना जाना चाहिए।''

लोकतंत्र का वर्गीकरण (Classification of Democrary)

लोकतंत्र के दो प्रकार के वर्गीकरण किये जा सकते हैं –

1. प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष लोकतंत्र – प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष लोकतंत्र में काफी अन्तर है फिर भी दोनों को श्रेष्ठ शासन माना जाता रहा हैं इसके सम्बन्ध में निम्न विचार दिये जाते हैं –

(i) प्रत्यक्ष लोकतंत्र – प्राचीन समय में प्रत्यक्ष लोकतंत्र नगर व राज्य तक सीमित था जिससे समस्त जनता शासन के कार्यों में प्रत्यक्ष रूप से सहभागिता रखती थी। कानून निर्माण करने, कानून को लागू करने एवं शासकीय अधिकारियों को चुनने के लिए जनता सर्वसम्मति से निर्णय करती है।

यह प्रत्यक्ष लोकतंत्र यूनान के नगर राज्यों तक प्रचलित रहा। इटली के मध्य युग में भी ऐसी ही व्यवस्था पायी गयी थी। वर्तमान में स्विट्जरलैण्ड के केन्टनों में प्रत्यक्ष प्रजातंत्र क्रियान्वित होकर सफलता के शिखर है। वर्तमान युग में व्यापक दृष्टि से बड़े राष्ट्रों ने इसे इसलिए नहीं अपनाया था कि उसमें जनसंख्या की अधिकता के कारण जनता को एक निश्चित स्थान पर निश्चित समय के लिए एकत्रित करना सम्भव नहीं था। केवल मात्र छोटे–छोटे राज्य जिनकी भौगोलिक स्थिति कम है और जनसंख्या भी क्षेत्रफल के अनुसार कम है वहाँ प्रत्यक्ष लोकतंत्र की सफलता की सम्भावना ज्यादा रहती है।

प्रत्यक्ष लोकतंत्र की सफलता के लिए दो प्रकार के जनमत संग्रह की आवश्यकता रहती है –

(अ) ऐच्छिक जनमत संग्रह,

(ब) अनिवार्य जनमत संग्रह।

इन दोनों के माध्यम से जनता शासन की गतिविधियों को संचालित भी करती है और नियंत्रित भी करती है। वर्तमान में स्विट्जरलैण्ड प्रत्यक्ष प्रजातंत्र की प्रयोगशाला माना जाता है जिसमें प्रारम्भिक सभाएँ, आरम्भक, लोक निर्णय के आधारों पर यह वर्तमान तक सफल होता आ रहा है।

(ii) अप्रत्यक्ष लोकतंत्र– संसार के अधिकांश राष्ट्रों ने अप्रत्यक्ष लोकतंत्र के रुप में प्रतिनिधित्व लोकतंत्र को अपनाया है। इसका मुख्य कारण यह था कि जनसंख्या एवं भौगोलिक दृष्टि से प्रत्यक्ष लोकतंत्र को अपनाया जाना उचित नहीं था।

इस लोकतंत्र के अन्तर्गत निश्चित अवधि के लिए शासन चलाने के प्रतिनिधियों का चुनाव जनता गुप्त मतदान प्रणाली के आधार पर करती है। अप्रत्यक्ष लोकतंत्र में जनता वास्तविक शासन की शक्ति का प्रतीक होती है। लेकिन जनता अपने चुने हुए प्रतिनिधियों को यह शक्ति प्रत्यायोजित कर देती है।

अप्रत्यक्ष लोकतंत्र में दो प्रकार की शासन प्रणालियाँ स्थापित की जाती है–

(अ) अध्यक्षीय शासन प्रणाली:– इसमें कार्यपालिका का अध्यक्ष राष्ट्रपति वास्तविक शक्तियों का उपयोग करता है। राष्ट्रपति जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों के सदन के प्रति उत्तरदायित्व नहीं रखता है। इसका कारण यह है कि राष्ट्रपति का चुनाव जनता द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से किया जाता है।

(ब) संसदीय शासन प्रणाली :– इसमें कार्यपालिका के अध्यक्ष की वास्तविक शक्तियों का प्रयोग प्रधानमंत्री, मंत्रिमण्डल द्वारा किया जाता है। कार्यपालिका का अध्यक्ष नाममात्र की शक्तियाँ रखता है। इस प्रणाली में कार्यपालिका का चयन संसद में से किया जाता है। यह कार्यपालिका संसद के चुने हुए प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायित्व रखती है तथा तब तक कार्यरत रहती है, जब तक कि उसे सदन का विश्वास प्राप्त होता है। इसमें संसद कार्यपालिका की निश्चित अवधि नहीं होती है।

2. संवैधानिक राजतंत्र एवं गणतंत्रवादी लोकतंत्र:– ऐसे संवैधानिक राजतंत्र में राज्य का मुखिया वंशानुगत आधार पर नियुक्त होता है। इसमें सैद्धान्तिक रूप से राजतंत्र पाया जाता है। लेकिन व्यवहारिक रूप से अप्रत्यक्ष लोकतंत्र पाया जाता है। सम्राट की शक्तियों को प्रधानमंत्री, मंत्रिमण्डल, संसद, लोकसेवक प्रयोग करते हैं। राजा राज करता है, शासन नहीं, राजा स्वयं अपने कार्यों के प्रति उत्तरदायित्व नहीं रखता है, बल्कि राजा के कार्यों के लिए दूसरे व्यक्ति उत्तरदायित्व रखते हैं।

ऐसे संवैधानिक राजतंत्र में सिद्धान्त और व्यवहार में अन्तर पाया जाता है। ब्रिटेन में संवैधानिक राजतंत्र कायम है।

गणतंत्रवादी व्यवस्था वह है जिसमें राज्य के अध्यक्ष का निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के आधार पर होता है। इसे जनता द्वारा निर्वाचित अध्यक्ष के रूप में ही स्वीकार किया जाता हैं। यह गणतंत्रवादी व्यवस्था का प्रतीक है। अमेरिका में ऐसी ही गणतंत्रवादी व्यवस्था को अपनाया गया है।

लोकतंत्र के लक्षण
(Characteristics of Democracy)

लोकतंत्र के लक्षण निम्नलिखित हैं –

1. जनोन्मुखी शासन :– लोकतंत्र की सबसे बड़ी विशेषता यह पायी जाती है कि यह शासन व्यवस्था प्रत्येक नागरिकों के भाग लेने, लोकतंत्र में विश्वास रखने, व्यक्तिगत स्वतंत्रता एवं समान अवसर की उपलब्धि, जनता के सुख के आधार के लिए ही कार्य करता है। इसमें जनइच्छा की सम्प्रभुता का प्रतीक मानी जाती है। जनता सर्वशक्तिमान है। जनता शासन पर नियन्त्रण भी रखती है। संसार की सर्वश्रेष्ठ शासन प्रणालियों में लोकतंत्र को सार्वभौम लोकतंत्र इसलिए भी माना जाता हैं कि इसमें दुनिया के राष्ट्रों में जनता की इच्छानुसार ही शासन स्थापित किया जाता है।

2. वयस्क मताधिकार :– लोकतंत्र में नागरिकों को शासन की गतिविधियों में सहभागिता रखने के लिए पूर्ण अधिकार दिया जाता है। लोकतंत्र में नागरिकों को निश्चित आयु प्राप्त करने के बाद मतदान का अधिकार दिया जाता है। ये अधिकार स्त्री व पुरूष दोनों को समान रूप से दिया जाता है। यह अधिकार जाति, धर्म, लिंग आदि का भेदभाव समाप्त करने के लिए तथा नागरिकों के बीच नागरिक समानता स्थापित करने के लिए उपलब्ध कराया जाता है।

लोकतंत्र में स्वतंत्र व निष्पक्ष चुनावों में गुप्त मतदान प्रणाली के आधार पर जनता अपना मताधिकार करती है। जनता अपनी इच्छानुसार निर्भीक होकर मतदान करती है। लोकतंत्र में शासन चलाने के लिए उम्मीदवारों का चयन करने के लिए जनता राजनीतिक अधिकारों का उपयोग करती है।

3. विचार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता :– सरकार की आलोचना करने के लिए नागरिक अपने विचार स्वतंत्र रूप से अभिव्यक्त कर सकता है। शासन, शासक दोनों की आलोचना करने के लिए प्रेस की स्वतंत्रता भी नागरिकों को प्राप्त होती है। इससे शासन जनोन्मुखी बना रहता है। साथ ही विचार–स्वातंत्र्य के कारण नागरिकों की रचनात्मकता का भी उन्मुक्त विकास होता है।

4. सामाजिक व राजनीतिक समानता :– लोकतंत्र में राजनीतिक व सामाजिक समानता की जाती है। कोई भी नागरिक छोटा या बड़ा नहीं है। कानून के समकक्ष समानता स्थापित की जाती है। व्यक्ति और पद भी कानून के ऊपर नहीं है। राजनीतिक व सामाजिक एकता, अखण्डता स्थापित करने के लिए समानता स्थापित की जाती है।

सामाजिक समानता में व्यक्तिगत स्वतंत्रता के साथ–साथ सद्भावना व भाईचारे की भावना के साथ–साथ सद्भावना की स्थापना के लिए लोकतंत्र प्रयास करता है। लोकतंत्र किसी भी प्रकार का सामाजिक भेदभाव उत्पन्न नहीं करता है, बल्कि समाज में जो असमानताएँ है उन्हें भी कम करने का प्रयास करता है।

5. मौलिक अधिकार :– लोकतंत्र शासन पद्धति नागरिक स्वतंत्रताएँ, नागरिक अधिकार एवं मौलिक अधिकार जनसाधारण को समान रूप से उपलब्ध कराता है। घूमने–फिरने, निवास करने, निजी सम्पत्ति रखने, रोजगार की सुविधा, संघ बनाने, धर्म को मानने आदि के सम्बन्ध में नागरिकों को समान मौलिक अधिकार दिये जाते हैं।

यदि किसी नागरिक के मौलिक अधिकारों का हनन होता है, तो वह न्यायालय की शरण लेकर अपने अधिकारों की रक्षा कर सकता है।

6. संविधानबद्ध शासन :– लोकतंत्र में संस्थागत आधारभूत ढांचे का वर्णन भी संविधान में किया जाता है। शासन के अंग समान रूप से समान शक्तियों का प्रयोग करते हुए कार्य करते है। कोई अंग एक–दूसरे के कार्यों में दखल नहीं देता है। लिखित संविधान के तहत सभी की शक्तियों का बँटवारा अलग–अलग किया जाता है। ऐसे में शासकीय शक्ति सदैव मर्यादित होती है।

7. उत्तरदायित्व :– लोकतंत्र में जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों के सदन (संसद) को जनता का ही प्रतीक माना जाता है। जो उम्मीदवार जनता द्वारा चुने जाते हैं। वे उम्मीदवार जनता के प्रति उत्तरदायित्व रखते है इसलिए लोकतंत्र उत्तरदायित्व प्रणाली का निर्वाह करता है। इसमें कार्यपालिका संसद के प्रति उत्तरदायित्व रखती है। कार्यपालिका पर संसद का नियंत्रण भी स्थापित होता है। जनता का प्रतिनिधियों पर नियंत्रण होता है।

लोकतंत्र में जब कोई राजनीतिक दल या चुने हुए उम्मीदवार शासन करने के उत्तरदायित्व को निर्वाह करने में असफल रहते हैं तो जनता शान्तिपूर्ण तरीके से निर्वाचन के माध्यम से बिना हिंसा का प्रयोग करते हुए सत्ता परिवर्तन कर देती है। नया जनादेश देकर नयी उत्तरदायित्व प्रणाली को स्थापित कर देती है। लोकंतत्र सही समय पर सही निर्णय लेने का प्रतीक भी माना जाता है। तभी सार्वजनिक उत्तरदायित्व का निर्वाह ठीक से होता है।

8. स्वतंत्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका :– लोकतंत्र में न्यायपालिका को स्वतंत्र एवं निष्पक्ष रूप से कार्य करने के लिए स्थापित किया जाता है। लोकतंत्र में न्यायपालिका संविधान की रक्षा व नागरिकों के मौलिक अधिकारों की रक्षा करने का कार्य करती है। कार्यपालिका संसद संविधान के दायरे से बाहर जाकर कानून निर्माण करने का प्रयास करती हैं, तब न्यायालय पुनरावलोकन के अन्तर्गत कानूनों का बारीकी से निरीक्षण करती है। लोकतंत्र विश्वास का प्रतीक मानी जाती है। इसलिए शासन का कोई भी अंग न्यायपालिका को प्रभावित नहीं कर सकता है।

9. बहुमत का शासन, लेकिन अल्पमत का आदर :– लोकतंत्र में कोई निर्णय लेने से पूर्व विभिन्न दावेदारों के बीच खुली बहस होती है। प्रयास यह होता है कि बहस के आधार पर कोई सर्वसम्मति बन जायें। ऐसा ना होने पर, कामचलाऊ तरीके के रूप में बहुमत के आधार पर निर्णय लिया जाता है। प्रीतिकर ना होने के

बावजूद, अल्पमत इस निर्णय को इसलिए स्वीकार लेता है, कि एक तो यह कि उसे अपने मत को व्यक्त करने का अधिकार मिला। दूसरे, यह निर्णय, मनमानेपन से नहीं वरन् कानून द्वारा अधिकृत प्रक्रिया के अनुसार लिया गया। तीसरे, वह अन्याय महसूस करे, तो न्यायालय के शरणागत हो सकता है। सर्वोपरि यह है कि, उसमें यह पारस्परिकता का भाव रहता है, कि इस मुद्दे पर वह आज अल्पमत में है, कल दूसरा पक्ष अल्पमत में हो सकता है। लोकतंत्र में संकट तब खड़ा होता है, जबकि बहुमत धर्म या जाति या नृजाति या भाषाई पहचान के नाम पर स्थाई होकर बहुसंख्यक बन जाए। तब वह बहुमत के शासन के बजाय बहुसंख्यकवादी तानाशाही में पतित हो जाता है।

लोकतंत्र के गुण (Merits of Democracy)

लोकतंत्र के गुण निम्नलिखित हैः–

1. जनहित :– लोकतंत्र शासन को जनता के कल्याण, विकास व सुविधा का प्रतीक माना जाता है। लोकतंत्र में शासन की नीतियाँ, कार्यक्रमों, आदेशों के माध्यम से सर्वसाधारण का अधिक–से–अधिक जनहित करने का प्रयास किया जाता है।

2. राजनीतिक प्रशिक्षण :– लोकतंत्र सर्वधारण को राजनीतिक प्रशिक्षण भी देता है। लोकतंत्र में संचार के साधनों, प्रेस, दूरदर्शन आदि का प्रयोग व्यापक तरीके से किया जाता है। लोकतंत्र में राजनीतिक दल, राजनेता, दबाव समूह, संगठन सक्रिय रूप से कार्य करते हैं।

राजनीतिक दल जनता की इच्छाओं, आकांक्षाओं को सरकार के सामने रखते हैं। सरकार इन पर नीतियाँ बनाते हुए समस्त राजनीतिक गतिविधियों के बारे में जानकारी जनता को इसलिए उपलब्ध करवाती है। इसमें समानता स्थापित करने के प्रयास किये जाते हैं।

3. नैतिकता का विकास :– लोकतंत्र में राष्ट्रीय चरित्र व नैतिकता का विकास नागरिकों में होना चाहिए। राष्ट्र–प्रेम, देश–भक्ति, त्याग, बलिदान, सेवा, सहनशीलता आदि गुणों का विकास नागरिकों को राष्ट्र से जोड़े रखने का प्रयास करता है। लोकतंत्र उच्च गुणों का विकास करने का प्रयास करता है। नैतिकता लोकतंत्र को भ्रष्ट होने से रोकती है। नैतिकता से नागरिकों में आत्मविश्वास की भावना जागृत होती है। लोकतंत्र में अच्छे आदर्शों का संकल्प दोहराया जाता है।

4. क्रान्ति का अभाव :–लोकतंत्र में लोकतांत्रिक पद्धतियों को महत्व दिया जाता है। जनता के आपसी विवादों, मनमुटाव, झगड़े हल करने के लिए लोकतांत्रिक पद्धति का ही सहारा लिया जाता है, इसमें हिंसा, खून–खराबा और असंवैधानिक तरीकों का प्रयोग वर्जित है। लोकतंत्र में यदि शासक–वर्ग जनता पर लम्बे समय पर अत्याचार करता है तो जनता लोकतांत्रिक तरीके से परिवर्तन करती है। हिंसा का सहारा परिवर्तन करने के लिए नहीं लेती है।

5. सांस्कृतिक एकता :– लोकतंत्र अनेक जातियों, समुदायों, वर्गों, संगठनों के बीच सांस्कृतिक एकता स्थापित करने का प्रयास करता है। उदारवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए समन्वय, जोड़तोड़, सुलह का प्रतीक लोकतंत्र माना जाता है। लोकतंत्र सबके हितों की बात करता है। सबके कल्याण की सोचता है। सबको साथ लेकर आगे बढ़ने की बात ही सांस्कृतिक लोकतंत्र की स्थापना का आधार है। इसमें कला, साहित्य, संस्कृति को समान दृष्टि से बरकरार रखने का प्रयास किया जाता है।

6. जन–सहयोगः– लोकतंत्र में जन–सहयोग के बिना कोई कार्य सम्पन्न नहीं होता है। जनता आर्थिक विकास के लिए आर्थिक मदद देती है। राष्ट्र के रचनात्मक विकास एवं निर्माण के लिए श्रमदान करती है। लोकतंत्र असहयोग का ही प्रतीक नहीं है, बल्कि जनता में जन–सहयोग की भावना उत्पन्न करने का भी एकमात्र साधन है।

लोकतंत्र में राष्ट्रीय समस्याओं को हल करने के लिए जन–सहयोग की आशा की जाती है। जनसाधारण में ऐसे भी लोग होते हैं जो जीवनपर्यन्त लोकतंत्र को समर्पित होते है। गरीबों की सेवा, प्राकृतिक विपदाओं आदि में जन–सहयोग किया जाता है। इसमें मनुष्य राष्ट्रीय भावना से जुड़कर जन–सहयोग करना सीखता है।

लोकतंत्र के दोष (Demerits of Democracy)

लोकतंत्र के दोषों की विस्तृत व्याख्या निम्नलिखित है :–

1. राजनीति का विकृतिकरण :– लोकतंत्र में जो राजनेता जिन आदर्शों, मूल्यों की स्थापना के लिए राजनीति में आता है। वह शासन व्यवस्था में आने के बाद राजनीतिकरण का शिकार हो जाता है। एक बार शासन व्यवस्था में आने के बाद शासन व्यवस्था से अलग नहीं होना चाहता है। वह जीवनपर्यन्त लोकतंत्र से जुड़े रहना चाहता है। जनता के आदर्शों, मूल्यों के लिए दिखावे का व्यवहार करता है। जबकि सार्वजनिक जीवन में वह कुछ करना चाहता है। वह अपने आप को राजनीतिकरण के कारण असमर्थ पाता है। ऐसी स्थिति में लोकतंत्र सबका नहीं होकर सीमावृहद, अर्थों में सिमट कर रह जाता है। लोकतंत्र में सार्वजनिक राजनीति के स्थान पर व्यक्तिकरण की राजनीति बढ़ती चली जाती है। यही इसके दोषों को उत्पन्न करती चली जाती है।

2. व्यावहारिक सामाजिक समानता का अभावः– जिन देशों में लोकतंत्र की स्थापना हुई उनमें अधिकांश रूप से यह देखने को मिलता है कि व्यावहारिक रूप से सामाजिक समानता कायम नहीं रहती है, ऊंच–नीच, गरीबी–अमीरी, वर्ग–संघर्ष, आर्थिक असमानताओं के कारण सामाजिक समानता कभी स्थापित नहीं होती है।

3. अयोग्य व्यक्तियों का शासन :– अरस्तू ने लोकतंत्र

को विकृत रूप मानते हुए इसे अयोग्य शासन माना गया था। लोकतंत्र में जो व्यक्ति, नेता, राजनीतिज्ञ शामिल होते हैं वे अयोग्य इसलिए माने जाते हैं कि उन्हें राजनीति का सघन प्रशिक्षण प्राप्त नहीं होता है। केवल मात्र साधारण योग्यता के आधार पर शासन व्यवस्था में भर्ती होना ही अयोग्यता का द्योतक है।

लोकतंत्र में धन, शक्ति के आधार पर अयोग्य व्यक्ति शासन में प्रवेश करते हैं इसलिए लोकतंत्र में अयोग्य व्यक्तियों की भीड़ पायी जाती है।

लेकी ने भी इस सम्बन्ध में लिखा है, ''लोकतंत्र में गुणों की अपेक्षा मतों की संख्या को अधिक महत्व दिया जाता है। मत गिने जाते हैं, तोले नहीं जाते। लोकतंत्र में शासन अज्ञानियों, अशिक्षितों एवं अयोग्य व्यक्ति के हाथों में होता है। यह भीड़ का शासन है।''

4. भ्रष्टाचार :– लोकतंत्र में राजनीतिक दल भ्रष्टाचार उत्पन्न करते है। झूठ का सहारा लेकर सच्चाई का सहारा लिया जाता है। नेताओं का नैतिक स्तर गिर जाता है। प्रशासन और शासन दोनों में भ्रष्टाचार व्याप्त होता है। इसमें सामान्य रीति–रिवाजों, परम्पराओं का भी हनन होने लगता है।

5. अभिजन–तन्त्र :– चुनावों में शासन चलाने के लिए प्रतिनिधि चुने जाते हैं, वे अल्पसंख्यक अभिजन होते हैं। लोकतंत्र में ये अभिजन ही शासन में रहते हैं। ये ही शासन निरन्तर चलाने का प्रयास करते हैं। कभी दल बदल लेते हैं तो कभी अपने आप को बदलकर जनता के सामने दूसरा मुखौटा लगाकार आ जाते हैं। लोकतंत्र में चाहे कुछ भी हो वे ही शासन करते हैं जो इस अखाड़े के उस्ताद कहलाते हैं और दाँव–पेचों के माध्यम से सत्ता तथा कुर्सी पाते रहे हैं या पाने का प्रयास करते हैं वे ही शासन चलाते हैं, दूसरे व्यक्तियों को अवसर ही नहीं मिलता है। इस सम्बन्ध में हर्टमान ने लिखा है, ''शोर मचाने वालों, गप्पियों, बात में बात निकालने वालों, चापलूसों एवं अमीरों के प्रशंसकों के लिए लोकतंत्र स्वर्ग है।''

डॉ. बी.डी. शर्मा ने भी इस सम्बन्ध में लिखा है कि, ''लोकतंत्र में श्रेष्ठ व्यक्ति से घृणा की जाती है। सामान्य मतदाता को राज्य के कार्यों में रुचि नहीं होती है। इसके परिणाम स्वरूप चतुर और चालाक लोग शासन हथियानें में सफल हो जाते है।''

6. जनता की उदासीनता :– धीरे–धीरे लोकतंत्र में जनता उदासीनता का दृष्टिकोण अपनाने लगती है। इसका कारण यह है कि लोकतंत्र शब्दों के आडम्बर का खेल सिद्ध होता चला जाता है। अनैतिकता बढ़ती जाती है। स्वार्थ और हितों की पूर्ति में नेता ही लोकतंत्र का वास्तविक लाभ अर्जित करते हैं। तब जनता उदासीनता के दृष्टिकोण पर चलने लग जाती है, क्योंकि आर्थिक समानता इसमें स्थापित होती ही नहीं है। अमीरी और गरीबी के बीच अन्तर बढ़ता चला जाता हैं। लोकतंत्र में समानवाद की स्थापना हो नहीं सकती है, इसलिए मतदान में जनता की भागीदारी कम हो जाती है। शासन के कार्यों के प्रति जनता में रुचि कम होती है।

7. समय व धन का अत्यधिक व्यय :– लोकतंत्र खर्चीली प्रणाली सिद्ध होती जा रही है। इसमें कल्याण के नाम धन की बर्बादी की जाती है। शासन के कार्यों को सम्पूर्ण करने के लिए प्रशासनिक ढाँचा धन व्यय करने का माध्यम माना जाता है। कर्मचारियों के वेतन, भत्ते सुविधा के नाम पर अधिक खर्च करना पड़ता है। शासन के लक्ष्यों को पूरा करने के लिए अधिक समय भी लगा दिया जाता है। योजनाओं में अधिक समय लगाकर समय और धन दोनों की बर्बादी की जाती है। लोकतंत्र ऐसी प्रणाली है जिसमें शासक और लोकसेवक दोनों मिलकर धन को लूटने का प्रयास करते हैं। इसके बदले में विकास बहुत कम होता है।

8. दलीय व्यवस्था दोषपूर्ण :– लोकतंत्र में राजनीतिक दलों के गठन, संगठन आधारभूत सिद्धांतों में व्यापक अन्तर पाया जाता है। यही अन्तर आगे चलकर दलों की नीतियों में अन्तर कर देता है। राजनीतिक दलों में कभी समानता नहीं रहती है। लोकतंत्र में ही राजनीतिक दल दोषपूर्ण दलीय व्यवस्था को उत्पन्न करते चले जाते हैं। कहीं पर दो दलीय प्रणाली कहीं बहुदलीय प्रणाली पाई जाती है। इसलिए लोकतंत्र में अस्थिरता उत्पन्न करने का कार्य दोषपूर्ण राजनीतिक प्रणाली अनेक प्रकार के दोषों को उत्पन्न करती चली जाती है।

राजनीतिक दल एक–दूसरे से हमेशा असहयोग व संघर्ष की स्थिति में ही रहते हैं।

जबकि राजनीतिक दलों का असहयोग लोकतंत्र की असफलता को बढ़ावा देता है। लोकतंत्र में नये–नये राजनीतिक दलों का जन्म अशुभ माना जाता है। बार–बार दलों का विभाजन होने से दलीय व्यवस्था कमजोर होती है। राजनीतिक दलों को राजनीतिक शिष्टाचार और आचार संहिता का कठोरता से पालन करना चाहिए।

लोकतंत्र की सफलता की शर्तें

लोकतंत्र को सफलता की ओर अग्रसर कैसे किया जा सकता है?यह एक चिन्ताजनक पहलू माना जाता है। लोकतंत्र का महत्व बढ़ाने के लिए इसको सफल बनाया जाना आवश्यक है तभी लोकतंत्र की सार्थकता सिद्ध होती है। इसके लिए निम्न आवश्यक बिन्दु इस प्रकार हैः–

1. शिक्षा का प्रचार व प्रसारः– राष्ट्र में शत–प्रतिशत जनता शिक्षित होगी तो उसमें लोकतंत्र के प्रति श्रद्धा और विश्वास की भावना उत्पन्न होगी। राष्ट्र के अन्तर्गत अनिवार्य रूप से शिक्षा व्यवस्था लागू होनी चाहिए। शिक्षा ग्रहण करने से जीवन के मूल्यों, आदर्शों, विश्वासों में परिवर्तन आता है। शिक्षा जाति, धर्म, सम्प्रदाय से ऊपर उठकर मानवता से जोड़ने का प्रयास करती है। किसी राष्ट्र में जितने ज्यादा अशिक्षित नागरिक होंगे, वहाँ लोकतंत्र, कानून, शासन, संविधान के प्रति नागरिकों में अनभिज्ञता रहती है। लोकतंत्र की सफलता के लिए राष्ट्रीय शिक्षा

नीति के माध्यम से शिक्षा का प्रसार होना चाहिए। शिक्षा से अधिकारों के प्रति नागरिकों में समझ उत्पन्न होती है।

2. राजनीतिक चेतनाः– लोकतंत्र की सफलता के लिए नागरिकों में राजनीतिक जागरुकता का होना अत्यन्त आवश्यक है। लोकतंत्र में नागरिक जागरुकता से तात्पर्य है कि चुनावों में जनता अपने विवेक से निर्णय लेकर मतदान के माध्यम से योग्य उम्मीदवारों को ही शासन के लिए चुने। साधारण से साधारण नागरिक राजनीति एवं शासन में अपनी भूमिका को समझे। इसमें सहयोग पूर्ण रवैया अपनाते हुए विचार अभिव्यक्त करे। जनमत तैयार करे। जनता के निर्णय में सहभागिता का निर्वाह करे। तभी लोकतंत्र सफल हो सकता है। जनता उदासीनता के दृष्टिकोण का परित्याग करें। नेताओं के व्यवहार, भ्रष्टाचार पर नियंत्रण रखने के लिए यह आवश्यक है कि जनता सार्वजनिक नैतिकता का पालन करावे। जनता का प्रभाव नेताओं पर भी पड़ना चाहिए, ताकि जनता के नियंत्रण में रहकर शासन चलाने के लिए नेताओं को बाध्य किया जा सके।

3. आर्थिक लोकतंत्र :– लोकतंत्र की सफलता के लिए आर्थिक लोकतंत्र की पूर्व–स्थापना होना अनिवार्य है। आर्थिक लोकतंत्र के बिना राजनीतिक लोकतंत्र अधूरा माना जाता है। नागरिकों में आर्थिक समानता, रोजगार के अवसरों की पर्याप्तता, गरीबी और अमीरी, आर्थिक समानता, वेतन की समानताएँ, पदों की समानताएँ, आर्थिक लोकतंत्र की पूर्व शर्त है।

गरीब भूखा व्यक्ति राजनीति एवं शासन की क्रियाओं पर कोई ध्यान नहीं देता हैं। इसलिए आर्थिक लोकतंत्र में व्यक्ति की न्यूनतम आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए शासन व्यवस्था को समान आर्थिक नीति राष्ट्र में लागू करनी चाहिए।

इसके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि जिस तरह राजनीतिक लोकतंत्र में व्यक्ति को अधिकार प्राप्त है, उसी तरह आर्थिक स्वतंत्रता होनी चाहिए। तभी लोकतंत्र सच्चे अर्थों में सफल हो सकता है।

4. राजनीतिक आचार संहिता :– लोकतंत्र में प्रायः यह देखा जाता है कि, राजनेता राजनीतिक दल या राजनीतिज्ञ राजनीतिक आचार संहिता का पालन नहीं करते हैं। जनता में स्वच्छ नेतृत्व देने के लिए आचार संहिता का पालन अनिवार्य रूप से लागू होना चाहिए। तभी लोकतंत्र को सफल बनाया जा सकता है। जिन देशों के लोकतंत्र में दो दलीय प्रणाली पायी जाती है वहाँ इसका पालन होता है, लेकिन जिन राष्ट्रों में बहुदलीय प्रणाली है। वहाँ इसका कठोरता से पालन नहीं होता है।

लोकतंत्र में नेताओं के चरित्र ज्ञान पर संदेह होने से लोकतंत्र असफल होता है। लोकतंत्र में ईमानदार, चरित्रवान, देशभक्त नेताओं का होना अनिवार्य समझा जाना चाहिए। नैतिकता, राजनीतिक परम्पराओं, मर्यादाओं का विशेष ध्यान रखना चाहिए। पद, धन के लालच में इनका उल्लंघन नहीं करना चाहिए। लोकतंत्र में नेताओं को पार्टी व शासन के लिए ही कार्य करने की इच्छा होनी चाहिए। व्यक्तिगत लाभ, सम्पत्ति में त्याग की भावना से ऊपर उठकर लोकतंत्र को सफल बनाने के लिए समर्पित होना चाहिए।

5. लोकतंत्र के प्रति समर्पण :– राष्ट्र के प्रत्येक नागरिकों में देश प्रेम की भावना उच्चकोटि की होनी चाहिए। लोकतंत्र की स्थापना में प्रायः यह देखा जाता है कि जिस पीढ़ी के द्वारा इसकी स्थापना की जाती है। इसके बाद आने वाली पीढ़ियाँ लोकतंत्र के प्रति समर्पित नहीं होकर अलगाववादी ताकतों को जन्म देने लग जाती है। इससे लोकतंत्र ऐसी गतिविधियों को संचालन हो जाता है, जो नागरिकों व राष्ट्रों के साथ–साथ लोकतंत्र के लिए भी घातक सिद्ध होती है।

लोकतंत्र की सफलता के लिए यह आवश्यक होना चाहिए कि समाज के प्रत्येक वर्ग, जाति, सम्प्रदाय में लोकतंत्र के मूल्यों, आदर्शों, मान्यताओं के प्रति समर्पित की भावना होनी चाहिए। तभी नागरिकों में एकता, अखण्डता की भावना के आधार पर प्रत्येक नागरिक लोकतंत्र की सफलता में योगदान देगा।

6. राष्ट्रीय एकता :– लोकतंत्र की सफलता के लिए यह आवश्यक माना जाता है कि नागरिकों में एकता की भावना मजबूत स्थिति में होनी चाहिए। राष्ट्रीय गतिविधियों, रुचियों, आयोजनों में संगठित रहकर जनता को एकता का परिचय देना चाहिए।

लोकतंत्र में ऐसी भावना का विकास नागरिकों में होना चाहिए इससे नागरिकों के बीच समानता व राष्ट्रीय एकता स्थापित होने के साथ–साथ लोकतांत्रिक भावना से नागरिक जुड़ने का प्रयास करेंगे। इससे राष्ट्र आन्तरिक रूप से कमजोर नहीं रहेगा। आन्तरिक रूप से लोकतंत्र मजबूत भी होगा और सफल भी रहेगा। जब राष्ट्र में समस्या या संकट जैसी परिस्थितियाँ उत्पन्न होगी और नागरिकों में एकता की भावना मजबूत स्थिति में होगी, तो नागरिक उसका सामना करने की स्थिति में एकता की भावना से जुड़कर जनता की शक्ति का परिचय देंगे। जनता को एकता के लिए स्वयं आगे आकर कार्य करना चाहिए। इससे निश्चित रूप से लोकतंत्र सफल होगा।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

1. आधुनिक शासन प्रणाली में सरकार के तीन स्वरूप है– अ. अधिनायकवाद ब. कुलीनतंत्र स. लोकतंत्र
2. अधिनायकवाद में शासक सर्वशक्तिशाली, निरकुंश व स्वेच्छाचारी बन सकता है।
3. अधिनायक तंत्र की प्रमुख विशेषताएं – लोकतंत्र के विरूद्ध, हिंसा एवं षड़यत्र में विश्वास, राज्य को सर्वोच्च स्थान, उग्रवादी विचारों का समर्थन, एक पार्टी का शासन, केन्द्रीकरण को महत्व आदि।
4. कुलीनतंत्र ग्रीक शब्द अरिस्तोक्रेतिया से बना है जिसका अर्थ है – सर्वश्रेष्ठ शासन।

5. लोकतंत्र से अभिप्राय है– जनता की शक्ति।
6. अरस्तु ने लोकतंत्र के दो स्वरूप बतलाये है– प्रथम विशुद्ध लोकतंत्र और दूसरा विकृत लोकतंत्र।
7. लोकतंत्र के प्रमुख लक्षण है– सर्वव्यापी लोकतंत्र, व्यस्क मताधिकार, विचार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, सामाजिक व राजनीतिक समानता, मौलिक अधिकार व कर्तव्य, उत्तरदायी शासन, स्वतंत्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका, लोकहितकारी शासन।
8. लोकतंत्र के प्रमुख दोष– दलगत राजनीति को बढ़ावा, व्यावहारिक दृष्टि में सामाजिक समानता का अभाव, अयोग्य व्यक्तियों का शासन, भ्रष्टाचार को बढ़ावा, जनता की उदासीनता, समय व धन अत्यधिक व्यय।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

अति लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. सरकार के कितने प्रकार होते हैं?
2. सरकार का अर्थ बताइये।
3. सरकार को आंग्ल भाषा में क्या कहा जाता है?लिखिये।
4. अधिनायक तंत्र क्या है?
5. अधिनायक तंत्र का आंग्ल भाषा का शब्द लिखिये।
6. अधिनायक तंत्र का कोई एक गुण बताइये।
7. अधिनायक तंत्र का कोई एक दुर्गुण बताइये।
8. कुलीन तंत्र को समझाइयें
9. कुलीन तंत्र का आंग्ल भाषा का शब्द लिखिये।
10. कुलीन तंत्र का एक लाभ बताइये।
11. कुलीन तंत्र का कोई एक दुर्गुण बताइये।
12. लोकतंत्र क्या है?बताइये।
13. लोकतंत्र का आंग्ल भाषा का शब्द लिखिये।
14. लोकतंत्र का एक महत्वपूर्ण लाभ बताइये।
15. लोकतंत्र का कोई एक मुख्य दुर्गुण बताइये।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. सरकार का अर्थ एवं उसके स्वरूप को समझाइये।
2. अधिनायक तंत्र की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।
3. अधिनायक तंत्र की विशेषताओं का वर्णन कीजिये।
4. कुलीन तंत्र की विशेषताओं का वर्णन कीजिये।
5. कुलीन तंत्र के सकारात्मक एवं नकारात्मक पक्षों का वर्णन कीजिये।
6. अधिनायक तंत्र और कुलीन तंत्र में अंतर बताइये।
7. लोकतंत्र विश्व का सर्वोतम शासन है। सिद्ध कीजिये।
8. लोकतंत्र की विशेषताओं का वर्णन कीजिये।
9. लोकतंत्र की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।
10. लोकतंत्र और कुलीन तंत्र में अंतर स्पष्ट कीजिये।
11. लोकतंत्र और अधिनायक तंत्र में अंतर बताइयें
12. क्या लोकतंत्र का विकल्प अधिनायक तंत्र हो सकता है?अपने विचार प्रकट कीजिये।
13. लोकतंत्र बनाम अधिनायक तंत्र और कुलीन तंत्र में अंतर बताइये।
14. वर्तमान भूमंडलीकरण के युग में कौनसी शासन प्रणाली सर्वोतम हो सकती है?इस के पक्ष में अपने विचार प्रकट कीजिये।
15. वर्तमान में कुलीन तंत्र अथवा अधिनायक तंत्र शासन प्रणाली अप्रासंगिक क्यों हो गयी हैं?वर्णन कीजिये।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. सरकार के अर्थ एवं उसके स्वरूप को समझाइये।
2. अधिनायक तंत्र के प्रमुख लक्षण बताइये।
3. लोकतंत्र के गुण व दोषों का वर्णन कीजिये।
4. कुलीन तंत्र सरकार के गुण एवं दोषों की व्याख्या कीजिये।
5. 'लोकतंत्र बहुसंख्यकवाद से किस तरह भिन्न है ?' विश्लेषण कीजिये।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. कुलीन तंत्र की विशेषता है –
   (अ) जन सामान्य का शासन(ब) धनिक लोगों का शासन
   (स) क्रांतिकारियों का शासन(द) इनमें से कोई नहीं ( )
2. संघ " बहुशासनतन्त्रवादी राज्य है " किसने कहा ?
   (अ) विलोबी (ब) अम्बेडकर
   (स) बेजहॉट (द) लास्की ( )
3. राष्ट्राध्यक्ष का निर्वाचन होता है :–
   (अ) राजतन्त्र में (ब) अधिनायकतंत्र में
   (स) गणतंत्र में (द) संवैधानिक राजतन्त्र में( )
4. "केवल अधिनायकतंत्र ही ऐसी शासन प्रणाली है जिसमें शासक की सत्ता ही एकमात्र औचित्य हुआ करती है।" यह कथन किसका है ?
   (अ) मैकाईवर (ब) लुडोविसी
   (स) बर्न्स (द) लिंकन ( )
5. "लोकतंत्र दुष्टों का कुलीन तंत्र है।" यह कथन किसने कहा?
   (अ) टेलीरैंड (ब) लुडोविसी
   (स) लिंकन (द) गार्नर ( )

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर :–

1. ब 2. अ 3. स. 4. अ. 5. अ

अध्याय–10
सरकार के रूप (Kinds of Government)
(अ) एकात्मक एवं संघात्मक (ब) संसदात्मक एवं अध्यक्षात्मक

सरकार राज्य का अभिन्न अंग है, तो यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि उसका स्वरूप कैसा हो ?सरकार के रूपों में राजतंत्र, कुलीनतंत्र, अधिनायकतंत्र और लोकतंत्र प्रमुख हैं। लोकतंत्र शासन के कई रूप हैं: एकात्मक व संघात्मक शासन, संसदात्मक व अध्यक्षात्मक शासन। वैधानिक दृष्टि से उपर्युक्त में से सरकार के किसी भी रूप को अपनाया जा सकता है। वर्तमान समय में लोकतंत्र को ही सर्वाधिक श्रेष्ठ शासन माना व्यवस्था माना जाता है। भारत में संसदात्मक लोकतंत्र के साथ सरकार का संघात्मक रूप विद्यमान हैं, तो ब्रिटेन में संसदात्मक लोकतंत्र के साथ सरकार का एकात्मक रूप प्रचलित है। संयुक्त राज्य अमेरिका में अध्यक्षात्मक लोकतंत्र के साथ सरकार के संघात्मक रूप की व्यवस्था की गई है। इनके अतिरिक्त फ्रांस (फ्रांस का पंचम गणतंत्र), स्विट्जरलैण्ड और श्रीलंका जैसे लोकतांत्रिक राज्य भी हैं, जिनमें संसदात्मक व्यवस्था और अध्यक्षात्मक व्यवस्था के समन्वय को देखा जा सकता है। आधुनिक युग में सरकार (शासन) के प्रमुख रूप निम्नांकित हैं।

(अ) एकात्मक एवं संघात्मक शासन
(ब) संसदात्मक एवं अध्यक्षात्मक शासन

एकात्मक और संघात्मक शासन (Unitary and Federal Government)

लोकतंत्र का एकात्मक व संघात्मक स्वरूप राज्य के संविधान द्वारा शासन की शक्तियों के केन्द्रीकरण या वितरण पर निर्भर करता है। शासन की शक्तियों का प्रयोग एक ही स्थान से किया जाता है या कई स्थानों से, इस आधार पर शासन प्रणालियों के दो प्रकार हैं – एकात्मक शासन और संघात्मक शासन। जिस शासन प्रणाली में शासन की सम्पूर्ण शक्ति संविधान द्वारा एक केन्द्रीय सरकार में संकेन्द्रित होती है, उसे एकात्मक शासन कहते हैं। इससे भिन्न जिस शासन प्रणाली में शासन की शक्तियाँ संविधान द्वारा केन्द्र तथा इकाइयों में विभाजित रहती हैं, उसे संघात्मक शासन कहते हैं।

एकात्मक शासन (Unitary Government)

अर्थ एवं परिभाषा :– एकात्मक शासन उसे कहते हैं जिसमें संविधान के द्वारा राज्य की सम्पूर्ण शासन शक्ति केन्द्र सरकार में निहित रहती है। सारे राज्य में शासन की एक ही इकाई होती है। समस्त शासन सूत्र केन्द्र के अधीन रहता है। प्रादेशिक व स्थानीय सरकारें न केवल अपनी शक्तियाँ केन्द्र सरकार से प्राप्त करती हैं अपितु उनका अस्तित्व भी केन्द्र सरकार की इच्छा पर निर्भर करता है। सम्पूर्ण देश के लिए एक सी शासन व्यवस्था होती है। ब्रिटेन, इटली, जापान, बेल्जियम आदि देशों में एकात्मक शासन प्रणाली विद्यमान है। विभिन्न विद्वानों ने एकात्मक सरकार की निम्नलिखित परिभाषाएँ दी हैं:–

डॉ. गार्नर : ''एकात्मक सरकार वह प्रणाली है जिसमें संविधान द्वारा शासन की सम्पूर्ण शक्ति एक अथवा एक से अधिक अंगों को प्रदान कर दी जाती है और स्थानीय सरकारें अपनी सत्ता, स्वायत्तता तथा अपना अस्तित्व भी उसी से प्राप्त करती है।''

डायसी : ''एक केन्द्रीय शक्ति के द्वारा सर्वोच्च विधायी शक्ति का प्रयोग किया जाना ही एकात्मक सरकार है।''

विलोबी : ''एकात्मक राज्यों में शासन के सब अधिकार मौलिक रूप से एक केन्द्रीय सरकार के हाथ में रहते हैं। यह सरकार इच्छानुसार जैसे वह उचित समझती है, उन शक्तियों का वितरण क्षेत्रीय इकाइयों में करती है।''

डॉ. फाइनर : ''एकात्मक राज्य वह राज्य है, जिसमें समस्त सत्ता एवं शक्ति एक केन्द्र में निहित है और जिसकी इच्छा एवं जिसके अधिकार समस्त क्षेत्र पर कानूनन सर्वशक्तिमान होते हैं।''

एकात्मक शासन के लक्षण (Unitary Government)

एकात्मक शासन के निम्नलिखित लक्षण हैं –

1. एकात्मक शासन से पूरे राज्य में एक ही सरकार होती है। संविधान के अनुसार शासन की सम्पूर्ण शक्तियाँ एक केन्द्रीय सरकार में केन्द्रित होती है। सत्ता का स्रोत केन्द्रीय सरकार होती हैं।

2. इस शासन व्यवस्था में प्रशासनिक सुविधा के लिए राज्य को अनेक इकाइयों में बाँट दिया जाता है। इन इकाइयों को राज्य, प्रान्त, प्रदेश, कम्यून व विभाग आदि नाम दिये जाते हैं।

3. केन्द्रीय सरकार तथा स्थानीय सरकारों के बीच शासन की शक्तियों का संविधान द्वारा विभाजन एवं वितरण नहीं किया जाता।

4. स्थानीय अधिकारी केन्द्रीय शासन के अंग होते हैं। वे केन्द्रीय शासन के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करते हैं। प्रादेशिक व स्थानीय सरकारें केन्द्रीय सरकार की प्रतिनिधि सरकारें होती हैं। वे अपनी शक्तियाँ केन्द्रीय सरकार से प्राप्त करती हैं।

5. एकात्मक शासन वाले देशों का संविधान लिखित, अलिखित, लचीला या कठोर कैसा भी हो सकता है।

एकात्मक शासन के गुण
(Merits of Unitary Government)

एकात्मक शासन के निम्नलिखित गुण हैं –

1. प्रशासन में एकरूपता : एकात्मक शासन का सबसे बड़ा गुण यह है कि समस्त देश की एक ही सरकार होती है। समान कानून से शासित होने के फलस्वरूप सम्पूर्ण देश में प्रशासन की एकरूपता बनी रहती है।

2. सरल शासन व्यवस्था : यह शासन प्रणाली अत्यन्त सरल है। शासन की समस्त शक्तियाँ केन्द्रीय सरकार में निहित रहने से सारे प्रशासनिक निर्णय आसानी से हो जाते हैं। राजनीतिक शक्ति के प्रयोग में जटिलता नहीं होती है। केन्द्रीय सरकार आवश्यकतानुसार शासन में किसी भी प्रकार का परिवर्तन कर सकती है। इसमें दोहरी शासन व्यवस्था नहीं होने से सरकार का संगठन सरल होता है।

3. संघर्ष रहित शासन व्यवस्था : एकात्मक शासन संघर्ष रहित ढंग से सुगमता के साथ चलता रहता है। केन्द्र और उसकी इकाइयों के मध्य उत्तरदायित्वों को लेकर झगड़े की स्थिति उत्पन्न नही होती। सभी इकाइयाँ केन्द्रीय सरकार के अधीन होती हैं। उन्हें केन्द्र का निर्णय मानना पड़ता है। इसलिए संघर्ष की संभावना नहीं रहती।

4. कुशल व दृढ़ शासन : इस शासन व्यवस्था में शक्ति का केन्द्रीकरण होने के कारण प्रशासन का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व केन्द्रीय सरकार का होता है। नीतियों का निर्धारण तथा शासन का संचालन एक ही स्थान से होता है। केन्द्रीय सरकार को इकाइयों पर निर्भर नहीं रहना पड़ता है, इसलिए वह निर्णय लेने तथा उसके क्रियान्वयन में पूर्ण स्वतंत्रता के साथ कार्य करती है। केन्द्र सरकार के सबल और सशक्त होने के कारण शासन में दृढ़ता एवं कुशलता आ जाती है। मनु, कौटिल्य एवं शुक्र ने भी सुसंगठित और सक्षम प्रशासनिक व्यवस्था को राज्य के लिए अनिवार्य माना है।

5. मितव्ययता : यह शासन प्रणाली मितव्ययी है। एकात्मक शासन में समस्त देश के लिए एक ही कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका होती है। केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के लिए दोहरे कर्मचारियों को नियुक्त करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। अतः यह शासन अन्य शासनों की तुलना में कम खर्चीला होता है।

6. लचीलापन : एकात्मक शासन लचीला होता है। इसमें शासन की शक्तियों का विभाजन नहीं होने के कारण समय और परिस्थिति के अनुसार संविधान में सरलता से संशोधन किया जा सकता है।

7. राष्ट्रीय एकता : एकात्मक शासन व्यवस्था राष्ट्रीय एकता की वृद्धि में सहायक होती है। शासन की एकात्मकता के कारण सम्पूर्ण देश के लिए एक से कानून होते हैं, एक ही प्रकार से उनकी क्रियान्विति होती है, और एक ही प्रकार की न्याय व्यवस्था होती है। सम्पूर्ण राज्य में प्रशासन का एक सा ढाँचा रहता है। समान व्यवस्था के कारण नागरिकों में देश में प्रति प्रेम, भक्ति, श्रद्धा और निष्ठा की भावना बलवती होती है। जिससे राष्ट्रीय एकता के संवर्द्धन में सहायता मिलती है।

8. संकटकाल में अधिक उपयुक्त : एकात्मक शासन को संकटकाल के लिए अत्यन्त उपयुक्त माना जाता है। युद्ध, सशस्त्र विद्रोह, संकटकालीन स्थिति या अन्य प्रकार की असाधारण परिस्थितियों में दृढ़तापूर्वक शीघ्र निर्णय करने और उन्हें कार्यरूप में परिणत करने की आवश्यकता होती है। ऐसा एकात्मक शासन में ही संभव है, क्योंकि उसमें शासन की समस्त शक्तियाँ केन्द्रीय सरकार के हाथों में रहती हैं। इसी बात को दृष्टि में रखकर भारतीय संविधान के अन्तर्गत संकटकाल के समय संघात्मक शासन को एकात्मक शासन में परिवर्तन करने की व्यवस्था की गयी है।

9. सुदृढ़ विदेशी नीति : संघात्मक शासन की अपेक्षा एकात्मक शासन में विदेश नीति अधिक सुदृढ़, स्पष्ट एवं सुस्थिर होती है। केन्द्रीय सरकार की नीतियों एवं उनके क्रियान्वयन में एकरूपता रहने से अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में शीघ्र निर्णय किये जा सकते हैं।

एकात्मक शासन के दोष

एकात्मक शासन के निम्नलिखित दोष हैं –

1. केन्द्रीय सरकार के निरंकुश होने का भय : शक्तियों का केन्द्रीकरण निरंकुशता की प्रवृत्ति को जन्म देता है। शक्ति के केन्द्रीकरण से ही निरंकुश शासन का उदय होता है। एकात्मक शासन में सम्पूर्ण शक्ति केन्द्रीय शासन में निहित होती है। इस शासन व्यवस्था में सरकार के निरंकुश व तानाशाह होने का भय बना रहता है, तथा शासकों के भ्रष्ट होने की संभावना बढ़ जाती है।

2. प्रशासनिक दक्षता का अभाव : एकात्मक शासन में शासन का संचालन केन्द्रीय सरकार द्वारा किया जाता है। इससे केन्द्रीय सरकार का कार्यभार अत्यधिक बढ़ जाता है। राज्य के किसी विशेष स्थान पर स्थित केन्द्रीय सरकार से दूरस्थ निवास करने वाली पूरे राज्य की जनता की समस्याओं तथा आवश्यकताओं को भली–भाँति समझकर कुशलतापूर्वक उनका निदान कर पाना संभव नहीं होता। इससे कार्य करने की गति मंद होती है तथा प्रशासनिक दक्षता में भी कमी आ जाती है।

3. नौकरशाही का शासन : एकात्मक शासन में केन्द्रीय सरकार का कार्यभार बढ़ने से उसे सरकारी कर्मचारियों पर निर्भर रहना पड़ता है। शासन की शक्ति सरकारी कर्मचारियों के हाथों

में केन्द्रित हो जाती है, और नौकरशाही का आधिपत्य हो जाता है। इस व्यवस्था में जनता को शासन के कार्यों में भाग लेने के अवसर कम मिलने के कारण प्रशासन पर नौकरशाही हावी रहती है, जिसकी अन्तिम परिणति प्रशासनिक शिथिलता, विलम्ब और भ्रष्टाचार में होती है। प्रशासन जनता के प्रति न तो उत्तरदायी होता है न जवाबदेह।

4. लोकतंत्र विरोधी : लोकतंत्र की सफलता के लिए शक्तियों का विकेन्द्रीकरण आवश्यक है। जिसमें स्थानीय स्वशासन की इकाइयों को पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान की जाती है। एकात्मक शासन में स्थानीय स्वशासन की इकाइयों को केन्द्र पर निर्भर रहना पड़ता है जिससे उनकी स्वतंत्रता का अपहरण होता है। एकात्मक शासन लोकतंत्र का विरोधी है। शासन शक्तियों का केन्द्रीकरण होने से लोकतंत्रीय सिद्धान्तों का क्रियान्वयन असम्भव हो जाता है।

5. विशाल राज्यों के लिए अनुपयुक्त : विशाल राज्यों के लिए एकात्मक शासन प्रणाली उपयुक्त नहीं है। जो देश जनसंख्या तथा क्षेत्रफल की दृष्टि से विशाल हैं, तथा भाषा, नस्ल, धर्म और संस्कृति की विविधता लिए हुए हैं, वहाँ पर एकात्मक शासन का सफल संचालन सम्भव नहीं है। विविधताओं वाले विशाल राज्यों के लिए संघात्मक शासन प्रणाली ही उपयुक्त होती हैं।

6. जनता की उदासीनता : एकात्मक शासन में स्थानीय जनता को शासन सम्बन्धी कार्यों में सहभागिता निभाने का अवसर नहीं मिलता। जनता की राजनीतिक मामलों में सक्रिय भूमिका नहीं होने से उसकी राजकीय कार्यों के प्रति रुचि कम हो जाती है और वह उदासीन होने लगती है। डॉ. गार्नर के अनुसार 'एकात्मक शासन में स्थानीय कार्यदक्षता क्षीण होती है, सार्वजनिक कार्यों के प्रति रुचि कम हो जाती है, स्थानीय शासकों की उपयोगिता घट जाती है और केन्द्रीय नौकरशाही का विकास होता है।'

7. स्थानीय स्वशासन की उपेक्षा : एकात्मक शासन के सारे महत्वपूर्ण निर्णय केन्द्रीय सरकार द्वारा ही लिए जाते हैं। स्थानीय संस्थाएँ अपनी शक्तियाँ केन्द्रीय सरकार से प्राप्त करती हैं। पर्याप्त शक्ति के अभाव में ये संस्थाएँ सही रूप से कार्य नहीं कर पाती। उन्हें विकास के समुचित अवसर प्राप्त नहीं होते।

संघात्मक शासन (Federal Government)

अर्थ एवं परिभाषाः संघ शब्द अंग्रेजी शब्द फेडरेशन (Federation) का अनुवाद है। 'फेडरेशन' शब्द लैटिन भाषा के शब्द 'फोडस' Foedus से लिया गया है। फोडस का अर्थ होता है – संधि या समझौता। अर्थात संघ सार्वभौम राज्यों के पारस्परिक समझौते का परिणाम है। जब दो या दो से अधिक राज्य मिलकर एक संधि या समझौते द्वारा एक नये राज्य का निर्माण करते हैं तो उस राज्य को 'संघ' की संज्ञा दी जाती है। जैसा कि हैमिल्टन ने कहा है कि ''संघ कुछ राज्यों का मेल है जो एक नये राज्य का निर्माण करते हैं।'' संयुक्त राज्य अमेरिका, स्विट्जरलैण्ड और आस्ट्रेलिया इसी प्रकार से निर्मित संघ हैं लेकिन जब कोई विशाल आकार वाला एकात्मक राज्य अपने आपको अनेक राज्यों में विभक्त कर लेता है तो वह राज्य भी संघ के नाम से जाना जाता है। इस प्रकार का संघ समझौते का परिणाम नहीं होता। भारत और कनाडा का संघ इसी प्रकार स्थापित किया गया है।

संघात्मक शासन उस प्रणाली को कहते है, जिसमें राज्य की समस्त शक्तियों का विभाजन संघ सरकार और संघ की इकाइयों (राज्य) के मध्य होता है। दोनों सरकारें सीधे संविधान से ही शक्तियाँ प्राप्त करती है। दोनों अपने–अपने क्षेत्र में स्वतंत्र रहती हैं। दोनों की सत्ता मौलिक रहती है। दोनों का अस्तित्व संविधान पर निर्भर रहता है। इस प्रकार संघात्मक राज्यों में दोहरी शासन व्यवस्था होती है। भारत, कनाडा, अमेरिका, स्विट्जरलैण्ड आदि देशों में संघात्मक शासन व्यवस्था ही प्रचलित है। विभिन्न विद्वानों द्वारा संघात्मक शासन व्यवस्था की परिभाषाएँ इस प्रकार की गई हैं –

डॉ. गार्नर : ''संघ एक ऐसी प्रणाली है कि जिसमें केन्द्रीय तथा स्थानीय सरकारें एक ही प्रभुत्व शक्ति के अधीन होती हैं। ये सरकारें अपने–अपने क्षेत्र में, जिसे संविधान तथा संसद का कोई कानून निश्चित करता है, सर्वोच्च होती है।''

डॉ. फाइनर : ''यह एक शासन है जिसमें सत्ता और शक्ति का एक भाग स्थानीय क्षेत्रों में निहित होता और दूसरा भाग केन्द्र में।''

डायसी : ''संघीय राज्य एक ऐसी राजनीतिक रचना है जिसमें राष्ट्रीय एकता और शक्ति तथा प्रदेशों के अधिकारों की रक्षा करते हुए दोनों में सामंजस्य स्थापित किया जाता है।''

विलोबी : संघ ''बहुशासनतंत्रवादी राज्य है।''

संघात्मक शासन के लक्षण

संघात्मक शासन के निम्नलिखित लक्षण हैं –

प्रमुख लक्षण : संघात्मक शासन के प्रमुख लक्षण निम्न हैं। इसके अभाव में संघात्मक शासन की स्थापना नहीं की जा सकती।

1. लिखित, निर्मित, कठोर एवं सर्वोच्च संविधान : संघात्मक शासन का संविधान लिखित, कठोर एवं सर्वोच्च होता है। लिखित संविधान में केन्द्र और इकाइयों के बीच उनके अधिकारों एवं शक्तियों का स्पष्ट उल्लेख रहता है। संविधान की कठोरता से तात्पर्य उसमें आसानी से संशोधन संभव नहीं होता, अतः संविधान की पवित्रता का रक्षण होता है। इस व्यवस्था में संविधान के प्रावधान सभी सरकारों पर बाध्यकारी हैं अर्थात् कोई भी शक्ति संविधान के ऊपर नहीं होती।

2. शक्तियों का विभाजन : संघात्मक शासन में केन्द्रीय

सरकार और स्थानीय सरकारों के मध्य शक्तियों का विभाजन किया जाता है। राष्ट्रीय महत्व के विषय केन्द्रीय सरकार या संघीय सरकार को और स्थानीय महत्व के विषय इकाइयों को सौंप दिये जाते हैं। भारतीय संविधान द्वारा भी संघ और राज्यों के मध्य शक्ति का विभाजन किया गया है।

3. स्वतंत्र न्यायपालिका : संघात्मक व्यवस्था के लिए सर्वोच्च न्यायालय आवश्यक है। जिसका कार्य संविधान की व्याख्या व रक्षा करना होता है। इस न्यायालय को केन्द्रीय सरकार या राज्यों की सरकारें द्वारा पारित किसी ऐसे कानून को अवैधानिक घोषित करने का अधिकार है जो संविधान के प्रावधानों के विरूद्ध हो। स्वतंत्र व सशक्त न्यायपालिका संघात्मक व्यवस्था की प्रहरी है। हस्किन (Haskin) के शब्दों में – ''संघीय शासन में सर्वोच्च न्यायालय शासनतंत्र में संतुलन रखने वाला पहिया है।''

गौण लक्षण : कुछ विचारक संघात्मक व्यवस्था के लिए निम्न लक्षणों को भी मानते हैं। जिनका होना संघीय शासन व्यवस्था में आवश्यक नहीं है।

1. दोहरी नागरिकता : संघात्मक शासन में दोहरी नागरिकता की व्यवस्था होती है। प्रत्येक व्यक्ति संघ सरकार का भी नागरिक होता है, और उस राज्य का भी नागरिक होता है जहाँ का वह निवासी है। जबकि भारत में संघात्मक व्यवस्था है, पर दोहरी नागरिकता का प्रावधान नहीं है। भारतीय संघीय व्यवस्था में इकहरी नागरिकता के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है।

2. द्वि–सदनात्मक व्यवस्था : संघीय शासन व्यवस्था में केन्द्रीय व्यवस्थापिका द्वि–सदनात्मक होती है। जहाँ निम्न सदन समूचे संघ की जनता का प्रतिनिधित्व करता है, वहाँ उच्च सदन संघ की इकाइयों का प्रतिनिधित्व करता है। भारत में लोकसभा सभी भारतीय नागरिकों का प्रतिनिधित्व करती है जबकि राज्य सभा राज्यों (इकाइयों) का प्रतिनिधित्व करती है।

3. सम्प्रभुता का दोहरा प्रयोग : संघात्मक राज्य में सम्प्रभुता अविभाजित होती है, किन्तु एक संघ राज्य में सम्प्रभुता की अभिव्यक्ति केन्द्रीय सरकार और स्थानीय सरकार – इस प्रकार की दो सरकारों द्वारा होती है। संघात्मक राज्य में दोनों प्रकार की सरकारें अपने–अपने क्षेत्र में स्वायत्त होती है, और एक–दूसरे के क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करती।

संघात्मक शासन के गुण
(Merits of Federal Government)

वर्तमान समय में संघात्मक शासन सर्वाधिक प्रचलित शासन व्यवस्था है। विश्व के छोटे–बड़े राज्यों ने इसे अपनाया है।

सिजविक का मत है कि ''संघवाद ने राज्यों को हड़पने या राज्य विस्तार की समस्या का अंत कर दिया है। यह राज्यों के एकीकरण की शान्तिपूर्ण पद्धति है। यह स्थानीय स्वशासन एवं राष्ट्रीय स्वाधीनता का आश्वासन है।''

संघात्मक शासन के निम्नलिखित गुण होते हैं :–

1. राष्ट्रीय एकता एवं स्थानीय स्वायत्तता : इसमें राष्ट्रीय एकता व स्थानीय स्वायत्तता के दोहरे गुण पाये जाते हैं। इसके संगठन में एकता होती है। छोटे–छोटे राज्य मिलकर अपने आपको एक बड़े राज्य में बदल लेते हैं और एक शक्तिशाली राज्य के लाभों को प्राप्त करते हैं। साथ में वे अपने स्वतंत्र एवं पृथक अस्तित्व को भी सुरक्षित रखते हैं, और अपने क्षेत्र का शासन स्वयं करते हैं। संघीय शासन में राष्ट्रीय विषयों में एकरूपता और स्थानीय विषयों में विविधता पाई जाती है।

2. केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण का समन्वय : संघात्मक शासन केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण का समन्वय करता है। इस व्यवस्था में राष्ट्रीय महत्व के विषय केन्द्रीकृत कर दिये जाते हैं और स्थानीय महत्व के विषय विकेन्द्रीकृत। अतः यह शासन प्रणाली दोनों प्रकार के लाभों से युक्त रहती है।

3. प्रशासनिक दक्षता : जनकल्याणकारी राज्य की धारणा के कारण वर्तमान समय में सरकार के कार्यों में बहुत अधिक वृद्धि हो गयी है। इस शासन व्यवस्था में शक्ति विभाजन के कारण शासन की शक्तियाँ एक स्थान पर केन्द्रित न होकर इकाइयों के मध्य विभाजित रहती है। इससे केन्द्रीय सरकार का कार्यभार हल्का हो जाता है और उसकी प्रशासनिक दक्षता और कुशलता में वृद्धि हो जाती है।

4. विशाल राज्यों के लिए नितान्त उपयुक्तः संघीय व्यवस्था विशाल राज्यों के लिए विशेष रूप से उपयुक्त है। जहाँ विभिन्न भाषा, धर्म और संस्कृति के लोग रहते हैं। जिनके हितों में विभिन्नताएँ पाई जाती हैं। ऐसे राज्यों में विविधताओं के साथ–साथ राष्ट्रीय एकता स्थापित करनी होती है, जो संघात्मक व्यवस्था में ही सम्भव है। केवल विशाल राज्यों के लिए ही नहीं वरन् स्विट्जरलैंड जैसे छोटे राज्यों के लिए भी, जहाँ भाषा, धर्म और संस्कृति की विभिन्नताएँ हो, संघ शासन उपयोगी होता है।

5. निर्बल राज्यों को शक्तिशाली बनाने की पद्धति : संघीय शासन में अनेक छोटे–छोटे राज्य मिलकर एक शक्तिशाली संगठन का निर्माण करते हैं, जिससे वे स्वयं को सुदृढ़ एवं सुरक्षित समझने लगते है। आंतरिक क्षेत्र में उनकी शक्ति बढ़ जाती है, और विकास के समुचित अवसर मिल जाते हैं। कोई शक्तिशाली राज्य उन पर आक्रमण करने का दुस्साहस नहीं करता। यह नितान्त सत्य है कि 'संगठन से ही शक्ति प्राप्त होती है'। अमेरिकी संघ में जो विभिन्न 50 राज्य हैं, वे यदि पृथक् रहते तो उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कदापि वह शक्ति और अधिकार प्राप्त नहीं होता जो आज अमेरिकी संघ के कारण उन्हें प्राप्त हैं। भारतीय संघ के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है।

6. राजनीतिक चेतना : संघीय शासन अपने नागरिकों को श्रेष्ठ राजनीतिक प्रशिक्षण प्रदान करता है। इसमें स्थानीय

स्वशासन संस्थाओं को अधिक शक्ति प्राप्त होती है। ये संस्थाएँ नागरिकों में राजनीतिक समस्याओं के प्रति रुचि जाग्रत करती है। इससे नागरिकों का राजनीतिक व्यवस्था में प्रवेश होगा और उनमें राजनीतिक चेतना विकसित होगी।

7. शासन निरंकुश नहीं होता : संघ शासन प्रणाली में केन्द्र तथा राज्यों में शासन की शक्तियाँ विभाजित होने से शासन निरंकुश नहीं हो पाता। लार्ड ब्राइस के शब्दों में ''संघ में एक निरंकुश शासक द्वारा जनता के अधिकार हड़प लिये जाने का खतरा नहीं रहता है।''

8. समय और धन की बचत : शक्ति विभाजन के कारण संघीय व्यवस्था में केन्द्रीय सरकार का कार्यभार कुछ हल्का हो जाता है। परिणामस्वरूप लालफीताशाही की प्रवृति क्षीण हो जाती है। जिससे समय की बचत होती है। शासन का संघात्मक रुख आर्थिक दृष्टि से भी लाभकारी है। इसमें छोटे–छोटे राज्यों की सुरक्षा का उत्तरदायित्व संघीय सरकार का होता है। राज्यों द्वारा अपनी पृथक सेनाएँ रखने, विदेशों में राजदूत नियुक्त करने और वैदेशिक विभागों का गठन करने से सम्बन्धित खर्चे की बचत होती है।

9. लोकतंत्र के अनुकूल : संघीय व्यवस्था लोकतंत्र के अनुकूल है। इस व्यवस्था ने लोकतंत्र को लोकप्रिय बनाने की दिशा में अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया है। गैटेल के शब्दों में ''विशाल राज्यों में लोकतंत्र की स्थापना करने में सम्भवतया प्रतिनिधित्व की व्यवस्था के अतिरिक्त संघीय व्यवस्था ने सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य किया है।''

10. अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रतिष्ठा : संघ राज्य अनेक इकाइयों के मेल से सुदृढ़ और शक्तिशाली बनता है इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इसका महत्व और प्रतिष्ठा बढ़ जाती है। आज विश्व राजनीति में संयुक्त राज्य अमेरिका, रूस एवं भारत को जो गौरव प्राप्त है, उसमें संघात्मक व्यवस्था का बड़ा योगदान है।

11. विश्व संघ की ओर कदम : छोटे–छोटे राज्यों को विशाल राज्य के रूप में संगठित करके संघ राज्य ने मानवीय दृष्टिकोण को व्यापक तथा उदार बनाता है और इस प्रकार संघ राज्य विश्व संघ निर्माण की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है।

संघात्मक शासन के दोष

संघात्मक शासन के प्रमुख दोष निम्न हैं –

1. कमजोर शासन : संघात्मक शासन एकात्मक शासन की तुलना में कमजोर होता है। शक्ति विभाजन और विकेन्द्रीकरण के कारण सुदृढ़ शासन की स्थापना नहीं हो सकती। डॉ. आशीर्वादम् के अनुसार यह शक्ति विभाजन आंतरिक और बाह्य दोनों क्षेत्रों में बाधाएँ उपस्थित करता है। केन्द्र और इकाइयों (राज्यों) की सरकारों में परस्पर झगड़े और मतभेद बने रहने के कारण एकरूपता एवं दृढ़ता का अभाव रहता है।

2. अकुशल शासन : संघ व्यवस्था में दोहरी शासन प्रणाली होने के कारण सरकार की कार्य क्षमता में कमी आ जाती है। शासन सम्बन्धी निर्णय लेने में विलम्ब होता है तथा उत्तरदायित्व हीनता की प्रवृत्ति बढ़ती है। सरकार दृढ़ता पूर्वक अपने निर्णय लेकर उनकी क्रियान्विति नहीं कर पाती। इस कारण से शासन की दक्षता एवं कुशलता घटती है।

3. संघर्ष की स्थिति : संघ शासन में शक्ति विभाजन के कारण केन्द्र और इकाइयों की सरकारों के बीच निरन्तर विवाद होते रहते हैं, इससे संघ की इकाइयों में कटुता पैदा हो जाती है। सीमा–विवादों को लेकर परस्पर संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। उदाहरणार्थ – भारत में क्षेत्र तथा भाषा सम्बन्धी विवाद सदैव सक्रिय रहे हैं तथा केन्द्र और राज्यों के मध्य कई बार तनाव की स्थिति भी पैदा हुई है।

4. राष्ट्रीयता एकता को खतरा : संघात्मक शासन व्यवस्था में केन्द्र और इकाइयों की सरकारों के बीच केवल विधायी और प्रशासनिक शक्तियों का ही विभाजन नहीं होता, अपितु वित्तीय स्रोतों का भी बँटवारा होता है। अनेक बार किसी विषय या मुद्दे को लेकर तनाव की स्थिति पैदा हो जाती है। सदैव इस बात की आशंका बनी रहती है कि कहीं कोई इकाई, विघटनकारी शक्तियाँ या साम्प्रदायिक तत्व विद्रोह न कर बैठे। इकाइयों में प्रान्तीयता की भावनाएँ उग्र रूप से लेती हैं जो राष्ट्रीय हित तथा एकता को आघात पहुँचाता है। श्री दुर्गादास बसु के शब्दों में ''संघ सरकार की सफलता और दृढ़ता सरकारों (केन्द्रीय सरकार तथा इकाइयों की सरकारों) के बीच अधिकाधिक सहयोग तथा समन्वय पर निर्भर करती है।''

5. संकटकाल में अनुपयुक्त : संकटकालीन स्थिति में यह व्यवस्था अनुपयुक्त है। युद्ध की स्थितियाँ या अन्य कोई संकट के समय तुरन्त निर्णय लेने होते हैं, परन्तु संघीय व्यवस्था के कारण कई विषयों पर संघ को राज्यों से मंत्रणा करनी पड़ती है क्योंकि उनसे विचार–विमर्श किये बिना दृढ़ता से निर्णय नहीं लिए जा सकते हैं। इस प्रकार यह व्यवस्था संकटकाल का सामना कुशलता पूर्वक नहीं कर पाती है।

6. अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में दुर्बलता : संघ राज्य अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी कमजोर होता है। विदेशी सरकारों से संधियाँ एवं समझौते करना केन्द्र सरकार का विषय होता है यदि इकाइयाँ उन संधियों और समझौतों को स्वीकार नहीं करें तो गृह–युद्ध जैसी स्थिति बनती है, और निर्णय में देरी होने से समय पर ठोस कार्यवाही नहीं होती है। आंतरिक–विभेद विदेशी नीति को प्रभावित करते हैं। परिणामस्वरूप विदेशों में राज्य की प्रतिष्ठा कम हो जाती है। वैदेशिक सम्बन्धों के संचालन में एकात्मक शासन प्रणाली उपयोगी होती है।

7. इकाइयों द्वारा पृथक होने की आशंका : संघात्मक शासन में संघ राज्य के सुदृढ़ एवं कुशल नेतृत्व के अभाव में संघ की इकाइयों के पृथक होने की सम्भावना बनी रहती हैं। अमेरिका में जब संघीय सरकार ने 'दास प्रथा' के अंत का निश्चय किया तो इस नीति से असहमत अमेरिका के अनेक दक्षिण राज्यों ने विरोध किया और गृह युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। यह बात सन् 1991 में सोवियत संघ के विघटन से पूर्णतया स्पष्ट हो गई हैं।

8. न्यायपालिका का रूढ़िवादी होना : संघात्मक शासन में न्यायपालिका संविधान की संरक्षक होती है और उसे व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानूनों को गैरसंवैधानिक घोषित करने का अधिकार होता है। कभी–कभी न्यायपालिका की यह रूढ़िवादिता विकास एवं प्रगतिशील परिवर्तन में बाधक होती है।

अर्द्धसंघात्मक शासन (Quasi-federal System)

वर्तमान समय में संघात्मक राज्यों में एक नवीन प्रवृत्ति विकसित हो रही है जिसके अनुसार संघीय राजनीतिक व्यवस्थाओं के क्रियान्वयन में एकात्मक शासन व्यवस्था के तत्वों का अधिकाधिक समावेश होता जा रहा है। ऐसी व्यवस्था को कुछ विद्वानों ने 'अर्द्धसंघात्मक शासन' की संज्ञा दी है। इस व्यवस्था में संघात्मक शासन के तीन प्रमुख लक्षण तो विद्यमान रहते हैं, अर्थात् लिखित व कठोर संविधान, शक्ति–विभाजन और सर्वोच्च न्यायपालिका, परन्तु परिस्थितिवश कुछ राज्यों में संघात्मक लक्षणों के साथ–साथ कुछ एकात्मक लक्षण भी होते हैं जैसे इकहरी नागरिकता, केन्द्र को अधिक शक्तियाँ प्रदान करना एवं एकीकृत न्याय व्यवस्था आदि विद्यमान रहते हैं। ऐसे शासन को के.सी. व्हीयर जैसे विद्वानों ने अर्द्धसंघात्मक का नाम दिया है क्योंकि उनका संघीय व्यवस्था का मानदण्ड संयुक्त राज्य अमेरिका है जहां कि संघ की तुलना में राज्यों को अधिक शक्तियाँ प्राप्त है। अतः उन्होंने भारत को अर्द्धसंघात्मक राज्य की संज्ञा दी है। श्री दुर्गादास बसु का भी मत है कि ''भारतीय संविधान ने तो नितान्त प्रणाली है।'' परन्तु प्रो. व्हीयर (Wheare) यह नही मानते है कि राज्य के उत्तरोत्तर विकास क्रम में संघात्मक शासन का स्थान एकात्मक शासन ले लेता है। वे लिखते हैं कि ''मैने अभी तक किसी सच्चे संघ को एकात्मक शासन में बदलते नहीं देखा।'' आज एक ओर केन्द्र की शक्तियाँ बढ़ रही हैं तो दूसरी ओर संघात्मक इकाइयाँ भी अपनी स्वतंत्रता तथा अस्तित्व के प्रति पूर्ण सजग एवं प्रयत्नशील हैं। अतः यह निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि संघीय सरकार का भविष्य उज्जवल है। सिजविक ने भी कहा है ''जब हम भूत से भविष्य की ओर दृष्टिपात करते हैं तो शासन व्यवस्था के स्वरूप के सम्बन्ध में हमें संघ व्यवस्था के विकास की सम्भावना सबसे अधिक प्रतीत होती है।'' स्ट्रांग ने भी इस सम्बन्ध में लिखा है कि यदि विश्व अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता को छोड़कर विश्व राज्य तक पहुँचना चाहता है तो वह निश्चित रूप से संघात्मक प्रणाली द्वारा ही पहुँच सकता है।

एकात्मक तथा संघात्मक शासन की तुलना

एकात्मक शासन और संघात्मक शासन व्यवस्था में निम्न अंतर है –

1. शासन शक्ति के वितरण के आधार पर : एकात्मक राज्य शक्तियों के केन्द्रीकरण के सिद्धान्त पर आधारित है। इसमें संविधान द्वारा शक्तियों का विभाजन नहीं किया जाता है तथा संविधान द्वारा सम्पूर्ण शक्ति केन्द्रीय सरकार को प्रदान कर दी जाती है। संघ राज्य शक्तियों के विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त पर आधारित है। इसमें संविधान द्वारा केन्द्र और इकाइयों की सरकारों में शक्तियों का विभाजन कर दिया जाता है। भारत के संविधान में केन्द्र को राज्य की अपेक्षा अधिक शक्तियाँ दी गई है।

2. संविधान के स्वरूप के आधार पर : एकात्मक राज्य का संविधान लिखित, अलिखित, कठोर या लचीला किसी भी प्रकार का हो सकता है, लेकिन संघ राज्य का संविधान अनिवार्य रूप से सर्वोच्च, लिखित और कठोर ही होता है।

3. नागरिकता के आधार पर : एकात्मक शासन में व्यक्ति को केवल इकहरी नागरिकता प्राप्त होती है, जबकि संघात्मक शासन में व्यक्ति को प्रायः दोहरी नागरिकता प्राप्त होती है। एक व्यक्ति संघ का भी नागरिक होता है, तथा उस राज्य का भी नागरिक होता है, जिसमें वह निवास कर रहा हो। भारत में नागरिकता का सम्बन्ध संघ से है, राज्यों की अपनी कोई नागरिकता नहीं होती।

4. स्थानीय सरकारों की स्थिति के आधार पर : एकात्मक शासन में प्रान्तीय और स्थानीय सरकारें पूर्णतया केन्द्रीय शासन के अधीन होती है। ये केवल केन्द्र के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करती है। संघ राज्य में इकाइयाँ संविधान में शक्ति प्राप्त करती है। इकाइयाँ केन्द्रीय सरकार की प्रतिनिधि नहीं वरन् केन्द्र के समकक्ष होती है।

5. प्रशासकीय अंगों की शक्ति के आधार पर : एकात्मक राज्यों में व्यवस्थापिका सर्वोच्च होती है। न्यायपालिका का कार्य तो व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानूनों के आधार पर न्याय प्रदान करना होता है। न्यायपालिका कानूनों की वैधता की जाँच नहीं करती, जबकि संघ राज्यों में संविधान सर्वोच्च होता है। संविधान की व्याख्या और रक्षा करने वाली होने के कारण न्यायपालिका व्यवस्थापिका से अधिक प्रभावी हो जाती है। वह व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानूनों की समीक्षा कर उन्हें अवैध घोषित कर सकती है।

6. शासन तंत्र के आधार पर : एकात्मक शासन में शासन

तंत्र इकहरा होता है। इसमें एक ही व्यवस्थापिका एक ही कार्यपालिका और एक ही न्यायपालिका होती है। शासन का रूप इकहरा होने से कानूनों और नीतियों में एकरूपता रहती है। संघात्मक व्यवस्था में शासनतंत्र दोहरा होता है। केन्द्र और इकाइयों में अलग–अलग कार्यपालिका और विधायिका होने से कानूनों और नीतियों में दोहरापन रहता है। एकात्मक शासन में इकहरी प्रशासनिक सेवाएँ होती है, जबकि संघात्मक शासन में दोहरी प्रशासनिक सेवाएँ होती हैं। उदाहरणतः भारत में जहाँ केन्द्रीय शासन के लिए अखिल भारतीय सेवाऐं विद्यमान हैं, वहाँ राज्य सरकार के लिए प्रान्तीय सेवाएँ हैं।

7. राज्य के आकार के आधार पर – एकात्मक शासन छोटे राज्यों के लिए उपयोगी रहता है, जहाँ भाषा, धर्म, संस्कृति आदि की एकरूपता पायी जाती है। इसके विपरीत संघात्मक शासन बड़े राज्यों के उपयोगी होता है। जहाँ विभिन्न भाषा, धर्म, संस्कृति एवं विचारधारा के लोग रहते हैं।

संसदात्मक और अध्यक्षात्मक शासन (Parliamentary and Presidential Government)

लोकतंत्र के संसदात्मक और अध्यक्षात्मक स्वरूप का निर्धारण कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका के पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर किया गया है। जिस शासन व्यवस्था में कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है उसे संसदात्मक शासन व्यवस्था कहते हैं। इससे भिन्न शासन व्यवस्था में कार्यपालिका व्यवस्थापिका से स्वतंत्र होती है। उसे अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था कहते हैं।

विद्वान बेजहॉट का कथन है कि 'व्यवस्थापिका और कार्यपालिका शक्तियों का एक–दूसरे से स्वतंत्र होना अध्यक्षात्मक शासन का विशिष्ट लक्षण है और इन दोनों का एक–दूसरे से संयोग और घनिष्ठता संसदीय सरकार का लक्षण है।'' ब्रिटेन, कनाडा, आस्ट्रेलिया, जापान व भारत में संसदात्मक शासन प्रणाली है। अमेरिका अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली का श्रेष्ठ उदाहरण है।

संसदात्मक शासन **(Parliamentary Government)**

अर्थ एवं परिभाषा : संसदात्मक शासन व्यवस्था में वास्तविक कार्यपालिका (मंत्रिमण्डल) व्यवस्थापिका में से ही बनता है और उसी के प्रति उत्तरदायी होती है तथा उसके विश्वास तक ही अपने पद पर बनी रहती है। इस व्यवस्था में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। सरकार के दोनों अंग एक–दूसरे से मिल कर तथा सहयोगात्मक प्रवृत्ति से कार्य करते हैं। कार्यपालिका अपने कार्यों एवं नीतियों के लिए व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है तथा कार्यपालिका पर व्यवस्थापिका का नियंत्रण बना रहता है। राज्याध्यक्ष (राजा या राष्ट्रपति) नाममात्र का प्रधान होता है वह शासन के किसी कार्य के लिए उत्तरदायी नहीं होता। वास्तविक कार्यपालिका शक्तियाँ मंत्रिमण्डल में निहित रहती है। मंत्रिमण्डल के सदस्य व्यवस्थापिका के सदस्य होते हैं अतः वे व्यवस्थापिका की बैठकों में हिस्सा लेते हैं और मतदान भी करते हैं। संसदात्मक शासन को मंत्रिमण्ड़लात्मक तथा उत्तरदायी शासन भी कहा जाता है।

इस प्रणाली के विषय में डॉ. अम्बेडकर का कथन है – ''संसदात्मक शासन प्रणाली में शासन के उत्तरदायित्व का मूल्यांकन एक निश्चित समय के बाद तो होता ही है, इसके साथ ही दिन–प्रतिदिन भी होता रहता है।'' विभिन्न विद्वानों ने संसदात्मक शासन की निम्नलिखित परिभाषाएँ दी हैं।

डॉ. गार्नर : ''संसदीय सरकार वह व्यवस्था है, जिसमें वास्तविक कार्यपालिका (मंत्रिमण्डल) व्यवस्थापिका और उसके लोकप्रिय सदन के प्रति, अंत में निर्वाचकों के प्रति अपनी राजनीतिक नीतियों और कार्यों के लिए उत्तरदायी होती है।''

गैटेल : ''संसदीय शासन उस प्रणाली को कहते हैं जिसमें वास्तविक कार्यपालिका अपने समस्त कार्यों के लिए कानूनी रूप से व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है।''

इस व्यवस्था में संसद ही सर्वोच्च होती है। संसद की एक निश्चित अवधि होती है। संसद के लोकप्रिय सदन (निम्न सदन) के सदस्य जनता में से सीधे मतदान द्वारा चुने जाते हैं। संसद में बहुमत प्राप्त दल के नेता को प्रधानमंत्री नियुक्त किया जाता है। वह संसद में से अपनी मंत्रिपरिषद् बनाकर शासन शक्तियों का उपयोग करता है। लॉवेल ने मंत्रिमण्डल को ''राजनीतिक मेहराब का आधार स्तम्भ'' कहा है। रैम्जेम्योर ने इसे ''राज्य रूपी जहाज का चालक यंत्र'' कहा है। मेरियट ने इसे ऐसी धुरी कहा है जिसके चारों ओर सम्पूर्ण राजनीतिक तंत्र चक्कर लगाता है। इंग्लैण्ड तथा भारत आदि देशों में संसदात्मक शासन व्यवस्था है ब्रिटेन की संसदात्मक सरकार को इस व्यवस्था की जननी कहा जाता है।

संसदात्मक शासन के लक्षण

संसदात्मक शासन के निम्नलिखित लक्षण हैं –

1. दोहरी कार्यपालिका : संसदात्मक शासन व्यवस्था में दोहरी कार्यपालिका कार्य करती है। इस व्यवस्था में राज्याध्यक्ष राज्य का संवैधानिक प्रधान होता है। सिद्धान्ततः शासन की सभी शक्तियाँ उसी (राजा या राष्ट्रपति) में निहित होती हैं। तथा शासन के समस्त कार्य उसी के नाम से किये जाते हैं, परन्तु वास्तव में वह केवल नाममात्र का राज्याध्यक्ष होता है। वह राज्य

का प्रधान होता है, शासन का नहीं। शासन का प्रधान प्रधानमंत्री होता है जो शासन सम्बन्धी कार्यों के लिए उत्तरदायी होता है। राज्य का प्रधान नाममात्र (Nominal) की कार्यपालिका होती है जबकि मंत्रिमण्ड़ल वास्तविक (Real) कार्यपालिका होती है जो व्यवहार में शासन की समस्त शक्तियों का प्रयोग करती है। इंग्लैण्ड, जापान, भारत के राज्याध्यक्षों–राजा अथवा राष्ट्रपति की शक्तियाँ नाम मात्र की हैं। राज्याध्यक्ष पैतृक, नामजद या निर्वाचित हो सकता है पर शासनाध्यक्ष सदैव निर्वाचित होता है।

2. कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में घनिष्ठ सम्बन्ध : संसदीय शासन व्यवस्था में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में घनिष्ठ सम्बन्ध बना रहता है। वास्तविक कार्यपालिका अर्थात् मंत्रिपरिषद् व्यवस्थापिका में से नियुक्त की जाती है तथा अपने कार्यों और नीतियों के लिए व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है। व्यवस्थापिका काम रोको प्रस्ताव, प्रश्न पूछकर, निंदा प्रस्ताव व कटौती प्रस्ताव आदि विभिन्न उपकरणों द्वारा कार्यपालिका पर नियंत्रण रखती है तथा अविश्वास का प्रस्ताव पारित कर उसे पदच्युत् भी कर सकती है। इसके साथ–साथ अपने बहुमत के आधार पर मंत्रिपरिषद् भी व्यवस्थापिका पर नियंत्रण रखती है। वास्तविक कार्यपालिका (मंत्रिपरिषद्) शासन की नीति निर्धारित करती है और प्रशासन का संचालन करती है तथा विधि–निर्माण प्रक्रिया में भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है।

3. सामूहिक उत्तरदायित्व : संसदात्मक शासन व्यवस्था का एक प्रधान लक्षण है – सामूहिक उत्तरदायित्व। इसका तात्पर्य यह है कि किसी मंत्री के कार्य के लिए वह अकेला ही उत्तरदायी नहीं होता, मंत्रिमण्डल सामूहिक रूप से व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी है। एक मंत्री की गलती के लिए सम्पूर्ण मंत्रिमण्डल उत्तरदायी रहता है। यह कहा जाता है कि सभी मंत्री एक साथ डूबते और तैरते हैं। इस व्यवस्था में मंत्रिमण्डल एक इकाई के रूप में कार्य करता है। उसकी नीतियों और निर्णयों में सदैव एकता बनी रहती है। किसी विषय पर निर्णय होने के बाद उसके विरूद्ध कोई भी बोल नहीं सकता।

4. प्रधानमंत्री का नेतृत्व : संसदात्मक शासन व्यवस्था में प्रधानमंत्री शासन व्यवस्था का नेता होता है। वह मंत्रिमण्डल रूपी मेहराब की आधारशिला है। मंत्रिमण्डल का निर्णय, जीवन, कार्यशीलता और अंत उसी पर निर्भर करता है। प्रधानमंत्री ही सरकार और मंत्रिमण्डल का नेतृत्व करता है। सभी मंत्री उसी के नियत्रंण में रहते हैं और उसी की इच्छा पर्यन्त वे मंत्री पद पर रह सकते हैं। प्रधानमंत्री के त्यागपत्र के साथ सम्पूर्ण मंत्रिमण्डल अपदस्थ हो जाता है। इसके अतिरिक्त प्रधानमंत्री बहुमत दल का नेता होने के कारण संसद का भी नेता होता है।

5. राजनीतिक एकरूपता : राजनीतिक एकरूपता से तात्पर्य है कि मंत्रिमण्डल के सभी सदस्य एक ही राजनीतिक दल और सिद्धान्त के हों या समान विचारधारा रखते हों। राजनीतिक विचारों की एकता के कारण मंत्रिमण्डल की नीतियों, कार्यक्रमों और सिद्धान्तों में एकता रहती है। कभी–कभी किसी एक राजनीतिक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं होने की स्थिति में मिलीजुली सरकार (संयुक्त मंत्रिमण्डल) का गठन किया जाता है।

6. गोपनीयता : गोपनीयता इस व्यवस्था का आवश्यक लक्षण हैं। मंत्रिमण्डल की समस्त कार्यवाही गुप्त रहती है। सभी मंत्री अपना पद संभालते समय संविधान के प्रति निष्ठा बनाये रखने तथा पद और गोपनीयता की शपथ लेते हैं। सभी मंत्री मंत्रिमण्डलों की बैठकों में भाग लेते हैं, नीतिगत निर्णय लेते हैं परन्तु वे इस कार्यवाही को गुप्त रखते हैं। वे अपने मतभेदों को जनता के समक्ष व्यक्त नहीं करते और न ही मंत्रिमण्डल की कार्यवाही की सूचना जनता को देते हैं। सरकारी नीतियों की गोपनीयता उनके लिए आवश्यक होती है।

संसदात्मक शासन के गुण :

संसदात्मक शासन के निम्नलिखित गुण हैं –

1. उत्तरदायी शासन : संसदात्मक शासन व्यवस्था में कार्यपालिका पूर्ण रूप से व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी रहती है। मंत्री प्रत्यक्ष रूप से व्यवस्थापिका के प्रति तथा परोक्ष रूप से जनता के प्रति उत्तरदायी होते हैं। इस प्रकार कार्यपालिका को जनता की इच्छानुसार अपनी नीतियों और कार्यक्रम को संचालित करना पड़ता है। इस व्यवस्था में, जैसा डायसी ने लिखा है ''मंत्रिमण्डल को जनता के प्रति अधिक सचेत रहना पड़ता है क्योंकि इस पर ही उसका अस्तित्व निर्भर है।'' इसमें व्यवस्थापिका जनता का प्रतिनिधित्व करती है। वास्तविक कार्यपालिका व्यवस्थापिका में से चुनी जाती है और उसी के प्रति उत्तरदायी भी होती है।

2. व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका में पारस्परिक सहयोग : कुशल प्रशासन के लिए आवश्यक है कि शासन के अंगों में पारस्परिक सहयोग हो। इस व्यवस्था में कार्यपालिका संसद में से गठित होती है और उसी के प्रति उत्तरदायी होती है। अतः उनमें एकता, सामंजस्य एवं सहयोग निरन्तर बना रहता है। सरकार के दोनों अंगों के पारस्परिक सहयोग के कारण श्रेष्ठ कानूनों का निर्माण होता रहता है और प्रशासन का संचालन जनहित में होता है। इस व्यवस्था में गतिरोध की सम्भावनाएँ बहुत कम रहती हैं।

3. शासन की निरंकुशता पर रोक : इस व्यवस्था में सरकार कभी भी निरंकुश नहीं हो पाती, क्योंकि संसद में और संसद के बाहर विरोधी दल सदैव सरकार के कार्यों पर निगाह रखते हैं। वे समय–समय पर आलोचना करके उसे सीमा में ही कार्य करते रहने को बाध्य करते हैं। संसद सदस्य प्रश्न पूछकर,

निंदा प्रस्ताव, कामरोको प्रस्ताव तथा कटौती प्रस्ताव के द्वारा मंत्रिमण्डल पर नियंत्रण रखते हैं। मंत्रियों को सदैव ही यह भय बना रहता है कि उनके मनमाने तरीके से काम करने पर व्यवस्थापिका उनके विरूद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पारित करके उन्हें कहीं पदच्युत् न कर दे। भारत और इंग्लैण्ड में ऐसे अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं, जब किसी मंत्री को भ्रष्टाचार, अक्षमता तथा चरित्र–हीनता के कारण त्याग–पत्र देने के लिए बाध्य होना पड़ा है।

4. योग्य एवं अनुभवी व्यक्तियों का शासन : इस व्यवस्था का एक गुण यह भी है कि इसमें शासक वर्ग योग्य एवं अनुभवी होता है। परिश्रमी, ईमानदार एवं अधिक लोकप्रिय व्यक्ति ही शासन सत्ता तक पहुँच पाते हैं। डायसी तथा लॉस्की ने इस गुण पर बल दिया है। लॉस्की ने ब्रिटिश हाऊस ऑफ कॉमन्स के बारे में कहा है कि इस सभा में चाहे जितनी भी त्रुटियाँ हों, एक बात स्पष्ट है कि इसका नेतृत्व सदैव उच्च कोटि के व्यक्तियों के हाथों में रहा है। उनमें एक ओर उच्च कोटि की नेतृत्व शक्ति देखने को मिलती है, तो दूसरी ओर श्रेष्ठ प्रशासनिक क्षमता का परिचय भी मिलता है। इसमें योग्यता और चरित्र दोनों की छाप रहती है। संसदीय व्यवस्था में वही व्यक्ति उच्च प्रशासनिक पद पर पहुँच पाता है जो लोकप्रिय हो तथा प्रशिक्षण प्राप्त कर चुका हो।

5. विरोधी दलों का महत्व : संसदात्मक शासन व्यवस्था में विरोधी दलों का महत्व बना रहता हैं। विरोधी दल सरकार की नीतियों और गलतियों की आलोचना करके शासन पर नियंत्रण रखते हैं तथा सरकार गिरने पर सत्ता सम्भालने के लिए सदैव तैयार रहते हैं। शक्तिशाली विरोधी दल के कारण सरकार सदैव अपने दायित्वों के प्रति सजग व सचेत रहती है। विद्वान जेनिंग्स के अनुसार जब आम चुनाव में बहुमत प्राप्त करने पर एक सरकार का जन्म होता है तो साथ–साथ विरोधी दल की भी स्थापना हो जाती है। जब वर्तमान सरकार अपदस्थ हो जाती है तब विरोधी दल की सरकार बनती है और उसका नेता प्रधानमंत्री होता है। यह परिवर्तन बड़े ही स्वभाविक ढंग से हो जाता है।

6. लचीलापन : संसदात्मक शासन का एक प्रमुख गुण उसका लचीलापन अथवा समय तथा आवश्यकतानुसार उसकी परिवर्तनशीलता है। बैजहॉट के अनुसार संकटकालीन स्थिति में सरकार अपना एक ऐसा शासक चुन सकती है जो ऐसे नाजुक अवसर पर राष्ट्र का नेतृत्व कुशलता से कर सके। उदाहरण के लिए इंग्लैण्ड में द्वितीय महायुद्ध के समय चेम्बरलेन के स्थान पर चर्चिल को प्रधानमंत्री बनाया गया। भारत में वी.पी.सिंह के त्याग–पत्र देने के पश्चात् चन्द्रशेखर का सरकार बनाना–यह संसदात्मक व्यवस्था के लचीलेपन का अनूठा उदाहरण है। इसके विपरीत अध्यक्षात्मक शासन कठोर है उसमें लचीलापन नहीं हैं। इसके अतिरिक्त संकटकाल में सभी राजनीतिक दल आपसी मतभेद भुलाकर मिले–जुले राष्ट्रीय मंत्रिमण्डल का भी निर्माण कर सकते हैं।

7. राजनीतिक चेतना व शिक्षा : इस शासन प्रणाली में जनता को राजनीतिक शिक्षा प्राप्त करने का अधिक अच्छा अवसर मिलता है। सरकार के कार्यों और विरोधी दल की भूमिका से जनता को राज्य व्यवस्था के बारे में निरन्तर जानकारी और शिक्षा मिलती रहती है। संसद की कार्यवाही और सरकार तथा विरोधी दलों द्वारा व्यक्त विचार जो समाचार–पत्र, टेलीविजन तथा मीडिया के अन्य माध्यमों द्वारा जनता के समक्ष आते हैं, इससे जनता में राजनीतिक चेतना जाग्रत होती है और उसे समस्या के हर पहलू का ज्ञान हो जाता है। डॉ. आशीर्वाद्म के शब्दों में ''जनता को राजनीतिक तौर पर शिक्षित करने के लिए संसदीय प्रणाली बहुत उपयोगी है। विभिन्न दलों का होना, समय–समय पर चुनावों का होना तथा दलों की ओर से किये जाने वाले प्रचार जनता में राजनीतिक चेतना पैदा कर देते हैं।''

8. राज्याध्यक्ष निष्पक्ष परामर्शदाता के रूप में : इस शासन प्रणाली में राज्याध्यक्ष (राजा या राष्ट्रपति) राष्ट्र की एकता का प्रतीक होता है तथा राष्ट्रीय जीवन को स्थायित्व प्रदान करता है। उसका किसी भी राजनीतिक दल से सम्बन्ध नहीं होता हैं यदि दल के आधार पर राष्ट्रपति चुना भी जाता है तो उससे यह अपेक्षा की जाती है कि वह दलगत राजनीति से हटकर निष्पक्ष एवं तटस्थ रहकर राष्ट्रहित में सोचेगा। इस व्यवस्था में सरकार शासनतंत्र के मंत्री तथा अधिकारी परिवर्तित होते रहते हैं परन्तु राज्याध्यक्ष के अधीन शासन सुचारू रूप से चलता रहता है। ब्राइस के अनुसार ''वह (राज्याध्यक्ष) शासन की उस मशीन का प्रतिनिधि होता है जो सरकार के परिवर्तनों के बावजूद भी शान्तिपूर्वक चलती रहती है।'' राज्य का प्रधान एक निश्चित अवधि तक अपने पद पर कार्य करता है। वह शासन को संकट के समय उचित परामर्श देता है और शासन द्वारा अनुचित कार्य के करने के प्रयास होने पर उसे चेतावनी देकर सच्चे मार्गदर्शक के रूप में कार्य करता है।

संसदात्मक शासन के दोष

संसदात्मक शासन के प्रमुख दोष निम्न हैं –

1. शक्ति–पृथक्करण सिद्धान्त के प्रतिकूल : शक्ति–पृथक्करण सिद्धान्त के अनुसार शासन के तीनों अंगों– व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका का पृथक्करण कर दिया जाता है। जिसमें तीनों अपने–अपने क्षेत्र में स्वतंत्रता और निष्पक्षता से कार्य करें। परन्तु इस शासन व्यवस्था में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका एक–दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होती हैं। ऐसी व्यवस्था आसानी से स्वेच्छाचारी बन सकती है और नागरिकों की स्वतंत्रता के लिए संकट उत्पन्न हो सकता है।

माण्टेस्क्यू ने लिखा है ''यदि व्यवस्थापिका और कार्यपालिका की शक्तियाँ एक ही व्यक्ति, एक ही संस्था में केन्द्रित हो जाए तो कोई स्वतंत्रता नहीं रह सकती, क्योंकि इस बात का भय उत्पन्न हो जाता है कि कहीं राजा या सीनेट अत्याचारी कानून बनाये और उन्हें अत्याचारी ढंग से लागू करे।''

2. राजनीतिक दलबन्दी में उग्रता : संसदात्मक शासन व्यवस्था का एक दोष यह बताया जाता है कि यह व्यवस्था राजनीतिक दलों के बहुमत पर निर्भर करती है। राजनीतिक दल राष्ट्रहित को कम और दलहित को अधिक महत्व देते हैं, जिससे राष्ट्रीय हितों को हानि पहुँचती है। सत्तारूढ़ दल को उद्देश्य शासन सत्ता पर अपना अधिकार बनाए रखना होता है और विरोधी दलों का उद्देश्य सत्तारूढ़ दल के प्रत्येक कार्य की आलोचना कर शासन सत्ता को प्राप्त करना होता है। इससे हमेशा संघर्ष और मतभेद का वातावरण बना रहता है और विरोधी दल सत्ता के विरूद्ध आन्दोलन चलाते रहते हैं। लार्ड ब्राइस का कथन है कि ''जब देश के समक्ष कोई महत्वपूर्ण प्रश्न न हो तो पदों की प्राप्ति के लिए विरोधी दलों में ऐसा संघर्ष चलता रहता है मानो रक्त में लाल और श्वेत कणिकाओं के मध्य संघर्ष चल रहा हो।''

3. निरंकुशता का उदय : इस शासन व्यवस्था में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में घनिष्ठ सम्बन्ध रहने से दोहरे खतरे की सम्भावना सदैव बनी रहती है। डायसी का कहना है कि कार्यपालिका, व्यवस्थापिका के हाथों में खिलौना बन सकती है, फ्रांस में तृतीय और चतुर्थ गणतंत्र में ऐसा ही देखने को मिला। इसके विपरीत लॉस्की का विश्वास है कि यदि व्यवस्थापिका का अंकुश नहीं रहे तो कार्यपालिका निरंकुश एवं तानाशाह बन सकती है। इंग्लैण्ड में मंत्रिमण्डल की तानाशाही का कठोर आरोप लगाया जाता है। इस शासन प्रणाली में बहुमत दल की तानाशाही सदैव कायम रहती है।

4. कमजोर शासन : इसमें शासन कमजोर रहता है। शासन का कार्यकाल व्यवस्थापिका की इच्छा पर निर्भर होने से अनिश्चित रहता है। अनिश्चितता के वातावरण में मंत्रिमण्डल सुदृढ़ और दीर्घकालीन योजनाएँ बनाकर उसे क्रियान्वित नहीं कर सकता। मंत्रिमण्डल की कमजोरी का लाभ उठाकर व्यवस्थापिका शासन कार्यों में अनुचित हस्तक्षेप करने लगती है।

5. अस्थिर शासन : संसदात्मक शासन की बहुदलीय व्यवस्था में किसी एक राजनीतिक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त न होने कारण मिली–जुली सरकार का गठन किया जाता है। मिली–जुली सरकार में मतभेद के स्वर विद्यमान होते हैं। यह राजनीतिक मतभेद, तनाव, राजनीतिक दल–बदल के कारण राजनीतिक अस्थायित्व बना रहता है जिससे सरकार गिरने की स्थिति में पहुँच जाती है। कहा गया है कि मिली–जुली सरकारों के जन्म से ही उसके विनाश के बीज निहित होते हैं। बॉन के शब्दों में ''वे दुर्बल, शक्तिहीन तथा अल्पकालीन होती है।'' वर्तमान में बाहरी समर्थन के आधार पर गठित सरकारें प्रकृति से अस्थायी होती है। बाहर से समर्थन देने वाला राजनीतिक दल कभी भी समर्थन वापस लेकर सरकार का पतन कर देता है। निरन्तर दबाव से चलने वाली सरकार में सदैव अस्थिरता बनी रहती है और कोई भी सरकार की नीतियों में विश्वास नही करता। डॉ. गार्नर के अनुसार ''इसका परिणाम यह होता है कि मंत्रिमण्डलों का निर्माण तथा पतन शीघ्रता से होता रहता है और शासन–संचालन में स्थिरता तथा नीतियों में संतुलन का अभाव रहता है।''

6. संकटकाल के लिए अनुपयुक्त : संकटकाल या युद्धकालीन स्थिति में यह व्यवस्था अनुपयुक्त रहती है। संकटकाल में तुरन्त निर्णय लेने की आवश्यकता होती है, परन्तु संसदात्मक शासन में मंत्रिमण्डल के सभी सदस्यों की राय जानने, विचार विमर्श करने तथा सर्वसम्मति पैदा करने में बहुत समय बर्बाद हो जाता है। समय पर शीघ्र और सुदृढ़ निर्णय लेकर तत्काल कार्यवाही सम्भव नहीं हो पाती। इसी कारण विद्वान विलोबी का कथन है कि ''संकटकाल या युद्धकालीन परिस्थितियों में यह संसदीय व्यवस्था राष्ट्रहित में उपयोगी नहीं हो सकती।''

7. मंत्रिमण्डल की तानाशाही की प्रवृत्ति : संसदात्मक शासन में संसद में बहुमत प्राप्त राजनीतिक दल की सरकार बनती है। बहुमत के कारण व्यवहार में शासन की सम्पूर्ण शक्ति मंत्रिमण्डल में केन्द्रित हो जाती है तथा संसद मंत्रियों के निर्णय को स्वीकार करने वाली संस्था बन कर रह सकती है। मंत्रिमण्डल पर संसद का नियंत्रण केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से होता है। व्यवहार में मंत्रिमण्डल ही संसद पर नियंत्रण रखता है और मंत्रिमण्डल की तानाशाही स्थापित हो जाती है। प्रो. लॉस्की के शब्दों में ''संसदीय शासन निश्चय ही कार्यपालिका को अत्याचारी बनने का अवसर प्रदान करता है। व्यवस्थापिका केवल निर्णयों को रजिस्टर में दाखिल करने वाला विभाग बन जाती है।'' रैम्जेम्योर के शब्दों में ''आजकल का यह अधिनायकत्व पिछली दो पीढ़ियों की अपेक्षा अधिक कठोर है।''

8. अक्षम व्यक्तियों का शासन : इस शासन व्यवस्था में मंत्रियों का चयन उनकी योग्यता तथा प्रशासनिक अनुभव के आधार पर न करके राजनीतिक दल में उनकी लोकप्रियता और राजनीतिक प्रभाव के आधार पर किया जाता है। मंत्रिमण्डल में अधिकतर मंत्री ऐसे होते हैं जिन्हें पहले शासन कार्य का कोई अनुभव प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार शासन की बागडोर अक्षम व्यक्तियों के हाथों में सौंप दी जाती है। डॉ. आशीर्वादम् के शब्दों

में ''मंत्रिमण्डलीय शासन व्यवस्था को नौसीखियों का शासन कहा जाता है क्योंकि यह ऐसे लोगों की सरकार होती है जो शासनकला के विशेषज्ञ नहीं होते।'' मंत्रियों की इस अज्ञानता के कारण शासन की सम्पूर्ण शक्ति स्थायी अधिकारियों के हाथों में जाती है और प्रशासन में नौकरशाही का बोलबाला हो जाता है।

9. प्रशासनिक कार्य की उपेक्षा : मंत्रिमण्डल के सदस्यों को अपनी लोकप्रियता बनाये रखने के लिए मतदाताओं से निरन्तर सम्पर्क बनाये रखना पड़ता है। उन्हें मतदाताओं को सन्तुष्ट एवं प्रसन्न रखने के लिए उनके अनेक कार्य करने पड़ते हैं, इसके अतिरिक्त बहुत सा समय कानून निर्माण में चला जाता है। परिणामस्वरूप मंत्री शासन सम्बन्धी कार्यों पर पर्याप्त ध्यान नहीं दे पाते। सिजविक का कथन है कि ''मंत्रियों को कानून निर्माण से सम्बन्धित कार्य इतने अधिक करने पड़ते हैं कि वे कार्यपालिका से सम्बन्धित कार्यों को ठीक प्रकार से नहीं कर पाते हैं।''

10. बहुमत दल की तानाशाही का भय : संसदीय शासन प्रणाली में शासन की सम्पूर्ण शक्ति उस दल के हाथों में आ जाती है जिसका व्यवस्थापिका में बहुमत होता है। बहुमत के कारण सत्तारूढ़ दल अपनी मनमानी कर जनता के हितों की उपेक्षा कर सकता है। कभी–कभी तो अपने बहुमत के सहारे संविधान में मनमाने संशोधन कराने में भी सफल हो जाता है। इसके अतिरिक्त सत्तारूढ़ दल अपने हाथ में सत्ता बनाये रखने के लिए भ्रष्ट उपायों को अपनाने तक में नहीं चूकता। शासन सार्वजनिक हित के स्थान पर दलीय हित के लिए होने लगता है। इस प्रकार इस शासन प्रणाली में बहुमत दल की तानाशाही स्थापित हो जाती है।

अध्यक्षात्मक शासन (Presidential Government)

आधुनिक प्रजातांत्रिक युग में सरकार का दूसरा लोकप्रिय स्वरूप अध्यक्षात्मक शासन है। इस शासन व्यवस्था में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका दोनों एक–दूसरे से बिल्कुल पृथक् तथा स्वंतत्र रहती है। अध्यक्षात्मक शासन का आधार शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त है।

अर्थ एवं परिभाषा : अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था में कार्यपालिका व्यवस्थापिका से पृथक् और स्वतंत्र रहती है, और अपने कार्यों के लिए व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी भी नहीं रहती। इसमें कार्यपालिका का प्रधान (राष्ट्रपति) वास्तविक शासक होता है, नाममात्र का नहीं। वह जनता द्वारा निर्वाचित (प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से) प्रतिनिधि होता हैं, तथा संविधान द्वारा उसका कार्यकाल निश्चित रहता है। इस शासन व्यवस्था में अध्यक्ष के कार्यों में सहायता देने के लिए एक मंत्रिपरिषद् होती है। मंत्रिपरिषद के सदस्यों को सचिव कहा जाता है। सचिवों की नियुक्ति राष्ट्रपति की इच्छानुसार की जाती है और वे राष्ट्रपति की इच्छा पर्यन्त तक ही अपने पद पर बने रहते हैं। सचिव अपने कार्यों के लिए राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी होते हैं, व्यवस्थापिका के प्रति नहीं। उनमें सामूहिक उत्तरदायित्व की व्यवस्था नहीं होती है। विभिन्न विद्वानों ने अध्यक्षात्मक शासन की निम्नलिखित परिभाषाएँ दी हैं।

डॉ. गार्नर : ''अध्यक्षात्मक शासन वह व्यवस्था होती है जिसमें कार्यपालिका अर्थात् राज्य का अध्यक्ष एवं उनके मंत्री अपने कार्यकाल के सम्बन्ध में व्यवस्थापिका के नियंत्रण से पूर्णतया स्वतंत्र होते हैं और अपनी राजनीतिक नीतियों के लिए वे उसके प्रति उत्तरदायी भी नहीं होते हैं।''

गैटेल : ''अध्यक्षात्मक शासन वह प्रणाली है जिसमें कार्यपालिका का प्रधान अपने कार्यकाल तथा बहुत कुछ सीमा तक अपनी नीतियों एवं कार्यों के लिए व्यवस्थापिका से स्वतंत्र होता है।''

अध्यक्षात्मक शासन के लक्षण :

अध्यक्षात्मक शासन के निम्नलिखित लक्षण हैं –

1. शक्तियों का पृथक्करण : अध्यक्षात्मक शासन शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त पर आधारित है। इसमें व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका एक–दूसरे से पृथक् एवं स्वतंत्र रहती है। कार्यपालिका के सदस्य व्यवस्थापिका के सदस्य नहीं होते और न उसके प्रति उत्तरदायी ही होते हैं। इस शासन पद्धति में व्यवस्थापिका का कार्यपालिका पर कोई नियंत्रण नहीं रहता। व्यवस्थापिका का कार्य कानूनों का निर्माण करना तथा कार्यपालिका का कार्य शासन का संचालन करना है। इसमें कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका तीनों का अलग–अलग कार्य क्षेत्र होता है।

2. निश्चित कार्यकाल : इस व्यवस्था में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका दोनों का कार्यकाल संविधान द्वारा निश्चित होता है। इसमें कार्यपालिका का प्रधान (राष्ट्रपति) एक निश्चित अवधि के लिए निर्वाचित होता है। अमेरिका में यह अवधि चार वर्ष की है। इस अवधि से पूर्व व्यवस्थापिका उसे अविश्वास का प्रस्ताव पारित करके हटा नहीं सकती। निश्चित अवधि से पूर्व केवल महाभियोग लगाकर ही राष्ट्रपति को हटाया जा सकता है, परन्तु महाभियोग लगाने और उसे पारित करने की प्रक्रिया अत्यन्त जटिल है।

3. वास्तविक कार्यपालिका : इस व्यवस्था में एकल कार्यपालिका ही होती है। संसदात्मक शासन की तरह नाममात्र की कार्यपालिका और वास्तविक कार्यपालिका जैसा कोई भेद नहीं होता। राष्ट्रपति ही वास्तविक शासक होता है। वह राज्य और शासन दोनों का प्रधान होता है तथा संविधान द्वारा प्रदत्त कार्यपालिका की समस्त शक्तियों का वास्तविक प्रयोग करता है।

4. अवरोध और सन्तुलन का सिद्धान्त : पूर्ण शक्ति

पृथक्करण के साथ न तो संभव है और न ही व्यावहारिक। इसलिए अवरोध और संतुलन के सिद्धान्त को अपनाया जाता है। यदि शक्ति पृथक्करण के सिद्धांत को पूर्णतः लागू कर दिया जाए तो प्रशासन में अवरोध उत्पन्न हो सकता है, क्योंकि प्रत्येक क्षेत्र में कार्य करने की स्वतंत्रता के साथ–साथ सहयोग की भी आवश्यकता पड़ती है, अतः इस सिद्धान्त को अपनाया जाता है, जिससे एक अंग का दूसरे अंग के साथ सम्बन्ध और अंकुश बना रह सके। अमेरिकी संविधान ने शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त को अवरोध और सन्तुलन के सिद्धान्त के साथ स्वीकार किया है।

5. राजनीतिक एकरूपता अनावश्यक : संसदात्मक शासन में सभी मंत्री एक ही राजनीतिक दल या समान विचारधारा के होते हैं तो उनमें राजनीतिक एकरूपता पायी जाती है। इस प्रकार की राजनीतिक एकरूपता अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था में आवश्यक नहीं है, क्योंकि अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था में मंत्रिपरिषद् जैसी कोई समिति नहीं होती। राष्ट्रपति विभिन्न विभागों की व्यवस्था को सुचारू रूप से संचालित करने के लिए सचिवों की नियुक्ति करता है और उनका कार्यकाल राष्ट्रपति की इच्छा पर निर्भर करता है।

अध्यक्षात्मक शासन के गुण :

अध्यक्षात्मक शासन के निम्नलिखित गुण है।

1. शासन में स्थायित्व : अध्यक्षात्मक शासन का प्रमुख गुण यह है कि इसमें सरकार स्थायी रहती है। इसमें एक निश्चित अवधि के लिए स्थायी कार्यपालिका की स्थापना की जाती है। निश्चित समय होने के कारण राज्याध्यक्ष (राष्ट्रपति) और उसके सचिव शासन व्यवस्था के सम्बन्ध में दीर्घकालीन योजनाएँ बनाकर पूरे आत्मविश्वास और मनोयोग के साथ उनकी क्रियान्विति कर सकते हैं। प्रसिद्ध न्यायविद् मोहम्मद करीम छागला ने इस सम्बन्ध में कहा है कि ''अध्यक्षात्मक प्रणाली व्यवस्थापिका के नियंत्रण से मुक्त एक स्थायी कार्यपालिका की स्थापना करके उसे स्थायित्व प्रदान करती है।''

2. शासन में कुशलता : अध्यक्षात्मक प्रणाली में शासन में कुशलता आ जाती है। सचिवों की नियुक्ति का आधार दलबन्दी न होकर कार्यकुशलता होता है। राज्याध्यक्ष देश के विभिन्न क्षेत्रों से प्रतिभाओं के चयन में स्वतंत्र होता है। विभिन्न प्रशासनिक विभागों में ऐसे व्यक्तियों को सचिव नियुक्त किया जाता है जो अपने–अपने क्षेत्र में विशेषज्ञ होते हैं। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति एवं उसके सचिवों को न तो विधायी कार्यों में भाग लेना पड़ता है न ही उन्हें व्यवस्थापिका को प्रसन्न रखने की चिन्ता ही रहती है। इसलिए प्रशासनिक कार्य को करने के लिए उनके पास पर्याप्त समय रहता है। मैरियट ने भी इस सम्बन्ध में लिखा है कि ''सरकार के इस प्रकार में मंत्रियों को बार–बार व्यवस्थापिका में नही जाना पड़ता, इससे वे अपने शासन सम्बन्धी कार्यों को बड़ी कुशलता से करते हैं। दूसरी ओर, व्यवस्थापिका के सदस्य भी अपना ध्यान विधि–निर्माण में ही लगाते हैं, क्योंकि उन्हें अपने कार्य–विशेष से ही सरोकार रहता है।''

3. प्रशासन में एकता : इस व्यवस्था में समस्त कार्यपालिका शक्तियाँ राष्ट्रपति में निहित होती हैं, अतः प्रशासनिक निर्णय तत्परता से लिए जाते हैं। सभी सचिवों (मंत्रियों) को तो राष्ट्रपति द्वारा निर्मित नीतियों का ही पालन करना होता है। इसमें कार्यपालिका के प्रधान का कार्यकाल निश्चित होने के कारण सरकार की नीति एवं कार्यक्रम को बिना किसी भय और बाधा के सफलता पूर्वक चलाया जा सकता है। शासन की सभी शक्तियाँ राष्ट्रपति में निहित रहने से प्रशासन में पूर्ण एकता बनी रहती है।

4. दलबन्दी के दोषों से मुक्त : यद्यपि अध्यक्षात्मक व्यवस्था में भी राजनीतिक दल होते हैं, परन्तु उनमें दलीय प्रवृत्ति के पनपने की सम्भावना बहुत कम रहती है। इसमें अनावश्यक विरोधी दल नहीं होने के कारण दलबंदी का उग्र वातावरण नहीं पाया जाता। दलगत भावना और दृष्टिकोण राष्ट्रपति के चुनाव के समय ही प्रकट होते हैं। राष्ट्रपति को निश्चित अवधि से पूर्व पदच्युत नहीं किया जा सकता। इसलिए चुनाव के बाद राजनीतिक दलों को सरगर्मी ठंडी पड़ जाती है। फलस्वरूप दलबंदी से उत्पन्न दोष इस प्रणाली में नहीं पनप पाते हैं। ब्राइस का मत है कि ''संसदीय व्यवस्था की तुलना में अध्यक्षात्मक सरकार में दलबन्दी की बुराइयाँ कम हो जाती हैं और राष्ट्रीय एकता का सवंर्द्धन होता है।''

5. संकटकाल में उपयुक्त : अध्यक्षात्मक शासन युद्ध तथा अन्य संकटकाल के लिए सर्वाधिक उपयुक्त शासन प्रणाली है, क्योंकि इसमें अविलम्ब राष्ट्रहित में निर्णय लिये जो सकते हैं ओर उन्हें कठोरता एवं दृढ़ता से लागू कर संकटकाल का सामना किया जा सकता है। गिलक्राइस्ट लिखते हैं कि ''किसी भी प्रकार के राष्ट्रीय संकट के समय नियंत्रण की एकता, निर्णय में शीघ्रता और संगठित नीति की माँग होती है और वे सब बड़ी अच्छी तरह और सरलता से अध्यक्षात्मक व्यवस्था में उपलब्ध किये जा सकते हैं।''

6. नागरिक स्वतंत्रता की रक्षा : अध्यक्षात्मक शासन में नागरिकों की स्वतंत्रता और उनके अधिकार सुरक्षित रहते हैं। इसमें शासन की समस्त शक्तियाँ सरकार के सभी अंगों में बँटी रहती है, एक ही अंग में केन्द्रित नहीं रहती। शासन का प्रत्येक अंग दूसरे अंगों पर नियंत्रण रखते हुए शासन में सन्तुलन बनाये रखता है और किसी को भी अपने क्षेत्र में निरंकुश नहीं होने देता।

7. व्यवस्थापिका की स्वतंत्रता : इस प्रणाली में व्यवस्थापिका अधिक स्वतंत्रता से कार्य करती है। संसदात्मक

शासन के समान उस पर कार्यपालिका का नियंत्रण नहीं रहता। वह दलीय अनुशासन से भी कम प्रभावित होती है, अतः व्यवस्थापिका अधिक निष्पक्षता और स्वतंत्रता से कानून निर्माण का कार्य कर सकती है।

8. विभिन्नता वाले राज्यों के लिए उपयुक्त : यह शासन प्रणाली उन राज्यों के लिए अधिक उपयुक्त रहती है जिनमें भाषा, संस्कृति, सम्प्रदाय, धर्म आदि के नाम पर विभिन्नताएँ पायी जाती हैं। ऐसे विविधता वाले राज्यों में यह प्रणाली एकता का संचार करती है।

अध्यक्षात्मक शासन के दोष

अध्यक्षात्मक शासन के दोष निम्न हैं –

1. निरंकुश तथा अनुत्तरदायी शासन : यह शासन निरंकुश एवं अनुत्तरदायी होता है। यह निरंकुश इसलिए है कि इसमें कार्यपालिका व्यवस्थापिका के नियंत्रण से मुक्त होती है। राष्ट्रपति के मनमाने ढंग से शासन करने पर भी उसे सरलता से हटाया नहीं जा सकता। दूसरी और राष्ट्रपति अपनी नीतियों और कार्यों के लिए किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं होता। नियंत्रण और उत्तरदायित्व के अभाव में कभी–कभी महत्वाकांक्षी राष्ट्रपति अपनी शक्तियों का मनमाने ढंग से उपयोग करके राष्ट्रीय हित को हानि पहुँचा सकता है।

2. शासन में गतिरोध की सम्भावना : अध्यक्षात्मक शासन में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका एक–दूसरे से पृथक् तथा स्वंतत्र रहती है उनमें आपस में सहयोग और सामंजस्य का अभाव रहता है। उनमें आपसी मतभेद के कारण अनेक बार शासन में गतिरोध उत्पन्न हो जाता है। यह गतिरोध उस समय तीव्र हो जाता है जब राष्ट्रपति एक राजनीतिक दल का हो और व्यवस्थापिका में दूसरे राजनीतिक दल का बहुमत हो। इस शासन व्यवस्था में राष्ट्रपति व्यवस्थापिका को वांछित कानूनों के निर्माण के लिए बाध्य नहीं कर सकता और व्यवस्थापिका राष्ट्रपति को किसी कानून को लागू करने के लिए बाध्य नहीं कर सकती, अतः ऐसी स्थिति में अनिश्चितता और क्रियाहीनता का वातावरण बना रहता है और अकर्मण्यता के लिए दोनों एक–दूसरे को दोषी ठहराते हैं।

3. उत्तरदायित्व की अनिश्चितता : इस व्यवस्था में उत्तरदायित्व की अनिश्चितता बनी रहती है। इसमें कार्यपालिका, व्यवस्थापिका व न्यायपालिका तीनों के कार्य स्वतंत्र एवं पृथक् होते हैं, इसलिए किसी एक को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। वास्तविकता तो यह है कि वे अपना दोष स्वीकार नहीं करते और एक–दूसरे को उत्तरदायी ठहराते हैं। उत्तरदायित्व की इस अवहेलना से राष्ट्रीय हितों को हानि पहुँचने की सदैव सम्भावना बनी रहती है।

4. लचीलापन का अभाव : यह एक कठोर शासन प्रणाली है। इसमें संविधान प्रायः लिखित एवं कठोर होता है, जिसमें आवश्यकतानुसार सरलता से परिवर्तन नहीं किया जा सकता। राष्ट्रपति एक निश्चित अवधि के लिए निर्वाचित होता है, उसकी अकुशलता सिद्ध होने पर भी उसे कार्यकाल की समाप्ति के पूर्व पदच्युत नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में बेजहॉट ने लिखा है कि ''आप पहले से ही अपने शासन को स्थिर कर लेते हैं और चाहे वह अनुकूल हो या न हो, चाहे वह ठीक प्रकार से काम करे या ना करे, चाहे आप उसे चाहें या न चाहें, कानून के अनुसार आपको उसे कायम रखना ही होगा।''

5. प्रशासकीय कार्यकुशलता के लिए हानिकारक : अध्यक्षात्मक शासन–प्रणाली में व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका के बीच सहयोग तथा सांमजस्य का अभाव रहता है जिसके कारण कानून निर्माण व प्रशासन दोनों ही कार्य ठीक ढंग से नहीं हो पाते। कानूनों का निर्माण जनता की आवश्यकता के अनुरूप हो और शासन जनहित में चले इसके लिए शासन के दोनों अंगों के बीच निरन्तर सहयोग बना रहना चाहिए। इस सम्बन्ध में डॉ. गार्नर ने भी लिखा है ''अध्यक्षात्मक पद्धति में राष्ट्रपति तथा उसकी मंत्रिपरिषद् का कानून निर्माण की प्रक्रिया में कोई सीधा हाथ नहीं रहता। 'कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के बीच गतिरोध तथा सामंजस्यपूर्ण सहयोग के अभाव के कारण शक्ति और कुशलता में कमी आती है और कानून निर्माण भी जनमत की शक्ति से प्रभावित नहीं हो पाता।''

6. विदेश नीति में अनिश्चितता : इस व्यवस्था में सशक्त और सुदृढ़ विदेश नीति नहीं बन पाती। राष्ट्रपति को वैदेशिक सम्बन्धों के संचालन एवं उन्हें अन्तिम रूप देने में व्यवस्थापिका की स्वीकृति पर निर्भर रहना पड़ता है। अतः सरकार की विदेश नीति अनिश्चित और कमजोर रहती है। यह स्थिति उस समय और भयावह हो जाती है, जब राष्ट्रपति किसी एक दल का होता है और व्यवस्थापिका में बहुमत किसी दूसरे दल का रहता है। उदाहरणतः अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन जैसे प्रभावशाली और शक्तिशाली राष्ट्रपति को राष्ट्रसंघ से सम्बन्धित अपनी नीति में व्यवस्थापिका का समर्थन प्राप्त नहीं हुआ। राष्ट्रपति विल्सन चाहते थे कि अमेरिका राष्ट्रसंघ का सदस्य बने किन्तु सीनेट (व्यवस्थापिका) द्वारा यह प्रस्ताव ठुकरा दिया गया।

7. जनता में राजनीतिक जागरूकता का अभाव : अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था में कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका में पारस्परिक सम्बन्धों का अभाव रहता है। इसके विपरीत संसदात्मक शासन व्यवस्था में मंत्रिगण व्यवस्थापिका की बैठकों में भाग लेते हैं। व्यवस्थापिका द्वारा मंत्रियों से उनके कार्यों से सम्बन्धित प्रश्न पूछे जाते हैं तथा विभिन्न प्रशासनिक विषयों पर गम्भीर विचार विमर्श किया जाता है। इन सबकी जानकारी

समाचार–पत्रों एवं मीडिया के साधनों द्वारा जनता तक पहुँचती है। इससे जनता में जागरूकता पैदा होती है और उन्हें राजनीतिक शिक्षा भी मिलती है, किन्तु अध्यक्षात्मक व्यवस्था में इन सभी बातों का अभाव रहता है।

8. सावयवी सिद्धान्त के विपरीत : प्रशासन में मानव शरीर के समान ही एकता और अंगों में पारस्परिक निर्भरता होती है, परन्तु अध्यक्षात्मक व्यवस्था में शासन के तीनों अंग पृथक एवं स्वतंत्र होने में उनमें आपसी सम्बन्ध और सहयोग का अभाव रहता है इससे शासन की एकता समाप्त हो जाती है।

संसदात्मक तथा अध्यक्षात्मक शासन की तुलना

संसदात्मक और अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था में निम्न अन्तर हैं–

1. कार्यपालिका के आधार पर : संसदात्मक शासन में कार्यपालिका का रूप दोहरा होता है। एक नाममात्र की तथा दूसरी वास्तविक। पहले को राज्याध्यक्ष तथा दूसरे को शासनाध्यक्ष कहते है, इसलिए कहा जाता है कि ब्रिटेन में राजा राज करता है, शासन नहीं। भारत में राष्ट्रपति तथा ब्रिटेन का राजा–रानी नाममात्र के तथा प्रधानमंत्री (मंत्रिपरिषद्) वास्तविक कार्यपालिका होते हैं। इसके विपरीत अध्यक्षात्मक शासन में कार्यपालिका एकल होती है। कार्यपालिका की शक्ति एक ही व्यक्ति (राष्ट्रपति) में निहित रहती है। अमेरिका अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली का सर्वोत्तम उदाहरण है।

2. कार्यकाल के आधार पर : संसदात्मक शासन में वास्तविक कार्यपालिका (मंत्रिपरिषद्) का कार्यकाल निश्चित नहीं होता। व्यवस्थापिका किसी भी समय अविश्वास का प्रस्ताव पारित करके कार्यपालिका को पदच्युत कर सकती है। अतः एक निश्चित अवधि के पहले भी व्यवस्थापिका का विश्वास खो देने पर मंत्रिपरिषद् को अपने पद से हटना पड़ता है, किन्तु अध्यक्षात्मक शासन में कार्यपालिका का कार्यकाल संविधान द्वारा निश्चित होता है। समय से पूर्व उसे (राष्ट्रपति) हटाना कठिन है।

3. कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका के सम्बन्धों के आधार पर : संसदात्मक शासन में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में निरंतर घनिष्ठ सम्बन्ध बना रहता है। निम्न सदन के बहुमत दल का नेता प्रधानमंत्री बनाया जाता है तथा वह व्यवस्थापिका में से ही अपनी मंत्रिपरिषद् का निर्माण करता है। मंत्रिपरिषद् व्यवस्थापिका के प्रति पूर्ण उत्तरदायी होती है तथा व्यवस्थापिका का मंत्रियों पर पूर्ण नियंत्रण रहता है। जबकि अध्यक्षात्मक शासन शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त पर आधारित होता है। इसमें कार्यपालिका का निर्माण स्वतंत्र रूप से किया जाता है कार्यपालिका (राष्ट्रपति और उसके सचिव) व व्यवस्थापिका (कांग्रेस) का पूर्ण पृथक्करण होता है और कार्यपालिका के सदस्य व्यवस्थापिका के सदस्य नहीं होते हैं। व्यवस्थापिका का भी कार्यपालिका पर किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं रहता।

4. उत्तरदायित्व के आधार पर : संसदात्मक शासन में वास्तविक कार्यपालिका (मंत्रिपरिषद्) व्यवस्थापिका के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होती है। व्यवस्थापिका प्रश्न पूछकर, अविश्वास का प्रस्ताव, कामरोको प्रस्ताव आदि विभिन्न उपकरणों द्वारा कार्यपालिका पर नियंत्रण रखती है। अपने प्रत्येक कार्य के लिए मंत्रियों का संसद के प्रति उत्तरदायित्व होता है इसलिए इसे उत्तरदायी शासन भी कहा जाता है। इसके विपरीत अध्यक्षात्मक शासन में कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होती और न ही उसे अपने कार्यों के निष्पादन के लिए व्यवस्थापिका के विश्वास की आवश्यकता होती है।

5. शासन की शक्तियों के आधार पर : संसदात्मक शासन का आधार, व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका शक्तियों का संयोजन है। इसमें कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका एक–दूसरे के सहयोग से मिलजुल कर कार्य करती है। जबकि अध्यक्षात्मक शासन का आधार, व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका के मध्य शक्ति पृथक्करण है। इसमें शासन के दोनों अंग स्वतंत्र रूप से कार्य करते हैं।

6. मंत्रियों की स्थिति के आधार पर : संसदात्मक शासन में मंत्रियों की स्थिति उच्च स्तर की होती है। वे अपने विभागों के सर्वेसर्वा होते हैं, और कानून निर्माण के कार्य में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। किन्तु अध्यक्षात्मक शासन में मंत्री नहीं विभागीय सचिव होते हैं और वे राष्ट्रपति के अधीन रह कर कार्य करते हैं।

7. परिवर्तन के आधार पर : संसदात्मक शासन में समयानुसार सरकार में परिवर्तन किया जा सकता है। संकटकाल में यह व्यवस्था अधिक उपयोगी सिद्ध होती है। संकटकाल में भी बिना निर्वाचन के प्रधानमंत्री को बदला जा सकता है – जैसे द्वितीय विश्व युद्ध के समय ब्रिटेन में चेम्बरलेन के स्थान पर चर्चिल को प्रधानमंत्री (बिना निर्वाचन) बनाया गया था। अध्यक्षात्मक शासन कठोर है। इसमें समयानुसार परिवर्तन नहीं किये जा सकते। राष्ट्रपति का कार्यकाल संविधान द्वारा निश्चित होता है।

8. सरकार में दलीय स्थिति के आधार पर : संसदात्मक शासन में जिस राजनीतिक दल का व्यवस्थापिका में बहुमत होता है उसी दल की सरकार बनती है, परन्तु कभी–कभी किसी एक राजनीति दल को बहुमत ने मिलने की स्थिति में समान विचारधारा वाले अन्य राजनीतिक दलों को सम्मिलित कर मिले–जुले मंत्रिमण्डल का गठन किया जाता है। संसदात्मक शासन की इस विशेषता को राजनीतिक सजातीयता कहा जाता है। जबकि अध्यक्षात्मक शासन में राजनीतिक सजातीयता का अभाव रहता

है। राष्ट्रपति किसी भी योग्य व्यक्ति को बिना दलीय आधार के सचिव के पद पर नियुक्त कर सकता है।

इस प्रकार संसदात्मक एवं अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था पूर्णताः एक–दूसरे के विपरीत हैं।

भारत के लिए उपयुक्त व्यवस्था : संसदात्मक या अध्यक्षात्मक

राष्ट्रीय आन्दोलन के काल में भारत में संसदीय शासन की स्थापना ही हमारा लक्ष्य था और ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत भारतीय जनता का नेतृत्व करने वाले वर्ग के द्वारा इसी शासन–व्यवस्था का प्रशिक्षण प्राप्त किया गया था। इसलिए जब भारतीय संविधान सभा के सम्मुख संसदात्मक या अध्यक्षात्मक, दोनों में से किसी एक व्यवस्था को अपनाने का निश्चय किया गया। संविधान निर्माताओं द्वारा गम्भीर बहस व चिंतन के पश्चात् भारत के लिए संसदीय शासन प्रणाली का समर्थन किया गया।चतुर्थ आम चुनाव के पूर्व तक संसदात्मक व्यवस्था को सामान्यतया सन्तोषजनक समझा जाता रहा, लेकिन चौथे आम चुनाव में भारतीय राजनीति को एक नया मोड़ प्रदान किया। चुनाव के बाद भारतीय संघ के अनेक राज्यों में राजनीतिक अस्थिरता और कमजोर शासन का एक चिन्ताजनक दौर प्रारम्भ हो गया। व्यवहार में यह देखा गया कि मुख्यमंत्री की समस्त शक्ति अपने राजनीतिक दल के आन्तरिक विवादों या शासन में भागीदार दलों के पारस्परिक विवादों को सुलझाने की चेष्टा में ही व्यय हो जाती है और शासन की उत्तमता या श्रेष्ठता की ओर ध्यान देने का अवसर ही नहीं मिलता। ऐसी स्थिति में अनेक व्यक्तियों द्वारा इस बात का समर्थन किया गया कि राजनीतिक स्थिरता और प्रशासनिक कुशलता की दृष्टि से भारत में 'संसदात्मक व्यवस्था' के स्थान पर अध्यक्षात्मक व्यवस्था को अपना लिया जाना चाहिए।

लेकिन समस्त स्थिति पर पूर्णतया विचार करने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि अध्यक्षात्मक शासन यदि भारतीय राजनीति की कुछ समस्याओं को हल करेगा, तो दूसरी ओर कुछ नवीन समस्याएँ उत्पन्न कर देगा और भारत के लिए संसदात्मक व्यवस्था ही उपयुक्त है।

प्रथमतः, भारत में प्रजातन्त्र नया– नया ही स्थापित हुआ है और ऐसी स्थिति में यदि कार्यपालिका पर नियन्त्रण के प्रभावशाली साधन न हो तो इसके निरंकुश हो जाने की प्रबल आशंका रहती है। अतः लोकतंत्र को सजीव बनाये रखने की दृष्टि से संसदात्मक व्यवस्था ही उपयुक्त है।

द्वितीयतः, भारत जैसे नव स्थापित प्रजातंत्र में अनेक बार जनता सही निर्णय नहीं कर पाती और चुनाव के शीघ्र बाद ही नेतृत्व में परिवर्तन की आवश्यकता होती है। नेतृत्व में इस प्रकार का परिवर्तन संसदात्मक व्यवस्था में ही सम्भव है।

तृतीयतः, भारत जैसे विकासशील देश में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के बीच पारस्परिक सहयोग और समस्त शासन का एक इकाई के रूप में कार्य करना बहुत अधिक आवश्यक होता है। इस स्थिति को संसदात्मक व्यवस्था में ही प्राप्त किया जा सकता है।

चतुर्थतः, भारत में लोकतंत्र नया–नया ही स्थापित हुआ है और इसकी सफलता के लिए जन चेतना बहुत आवश्यक है। जन चेतना की इस स्थिति को संसदात्मक व्यवस्था में ही अधिक अच्छे प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है।

उपर्युक्त विचारों के आधार पर कहा जा सकता है कि भारतीय लोकतंत्र और व्यक्ति स्वातन्त्रय के हित में भारत के लिए संसदात्मक व्यवस्था ही उपयुक्त प्रतीत होती है।

महत्वपूर्ण बिन्दु

एकात्मक– शासन की समस्त शक्तियाँ केन्द्र सरकार में निहित।

लक्षण– शक्तियों का केन्द्रीकरण, इकाइयाँ केन्द्र सरकार की प्रतिनिधि, लचीला संविधान।

गुण– 1. प्रशासन में एकरूपता, 2. सरल शासन व्यवस्था, 3. संघर्ष रहित शासन व्यवस्था, 4. कुशल व दृढ़ शासन, 5. मितव्यतता, 6. लचीलापन, 7. राष्ट्रीय एकता, 8. संकटकाल में अधिक उपयुक्त, 9. सुदृढ़ विदेश नीति।

दोष– (1) केन्द्रीय सरकार के निरंकुश होने का भय, (2) प्रशासनिक दक्षता का अभाव, (3) नौकरशाही का शासन, (4) लोकतंत्र विरोधी, (5) विशाल राज्यों के लिए अनुपयुक्त, (6) जनता की उदासीनता, (7) स्थानीय स्वशासन की उपेक्षा।

संघात्मक– शासन की शक्तियों का केन्द्र और इकाइयों के मध्य विभाजन।

लक्षण

प्रमुख लक्षणः लिखित, कठोर एवं सर्वोच्च संविधान, शक्तियों का विभाजन, स्वतंत्र न्यायपालिका।

गौण लक्षणः दोहरी नागरिकता, द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका, सम्प्रभुता का दोहरा प्रयोग।

गुण– (1) राष्ट्रीय एकता एवं स्थानीय स्वायत्तता, (2) केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण का समन्वय, (3) प्रशासनिक दक्षता, (4) विशाल राज्यों के लिए नितान्त उपयुक्त, (5) निर्बल राज्यों को शक्तिशाली बनाने की पद्धति, (6) राजनीतिक चेतना, (7) शासन निरंकुश नहीं होता, (8) समय और धन की बचत, (9) लोकतंत्र के अनुकूल, (10) अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रतिष्ठा, (11) विश्व संघ की ओर कदम।

दोष– 1. कमजोर शासन, 2. अकुशल शासन, 3. संघर्ष की स्थिति, 4. राष्ट्रीय एकता को खतरा, 5. संकटकाल में अनुपयुक्त, 6. अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में दुर्बलता, 7. इकाइयों द्वारा

पृथक् होने की आशंका, 8. न्यायपालिका का रूढ़िवादी होना।

अर्द्धसंघात्मक व्यवस्था– ऐसे राज्य जिसमें संघात्मक शासन के प्रमुख लक्षणों के साथ–साथ एकात्मक शासन के लक्षणों का भी पाया जाना, जैसे–भारत में।

एकात्मक एवं संघात्मक शासन की तुलना– शासन शक्ति के वितरण के आधार पर संविधान के स्वरूप, नागरिकता, स्थानीय सरकारों की स्थिति, प्रशासकीय अंगों की शक्ति, शासनतंत्र और राज्यों के आकार के आधारों पर।

संसदात्मक– कार्यपालिका का व्यवस्थापिका में से निर्माण।

लक्षण– दोहरी कार्यपालिका, कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में घनिष्ठ सम्बन्ध, सामूहिक उत्तरदायित्व, प्रधानमंत्री का नेतृत्व, राजनीतिक एकरूपता, गोपनीयता।

गुण– 1. उत्तरदायी शासन, 2. व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका में पारस्परिक सहयोग, 3. शासन की निरंकुशता पर रोक, 4. योग्य एवं अनुभवी व्यक्तियों का शासन, 5. विरोधी दलों का महत्व, 6. लचीलापन, 7. राजनीतिक चेतना व शिक्षा, 8. राज्याध्यक्ष निष्पक्ष परामर्शदाता के रूप में।

दोष– 1. शक्ति–पृथक्करण सिद्धान्त के प्रतिकूल, 2. राजनीतिक दलबन्दी में उग्रता, 3. निरंकुशता का उदय, 4. कमजोर शासन, 5. अस्थिर शासन, 6. संकटकाल के लिए अनुपयुक्त, 7. मंत्रिमण्डल की तानाशाही की प्रवृत्ति, 8. अक्षम व्यक्तियों का शासन, 9. प्रशासनिक कार्यों की उपेक्षा, 10. बहुमत दल की तानाशाही।

अध्यक्षात्मक– इसमें कार्यपालिका व्यवस्थापिका से पृथक् रहती है।

लक्षण– शक्तियों का पृथक्करण, निश्चित कार्यकाल, वास्तविक कार्यपालिका, अवरोध और सन्तुलन का सिद्धान्त, राजनीतिक एकरूपता।

गुण– 1. शासन में स्थायित्व, 2. शासन में कुशलता, 3. प्रशासन में एकता, 4. दलबन्दी के दोषों से मुक्त, 5. संकटकाल में उपयुक्त, 6. नागरिक स्वतंत्रता की रक्षा, 7. व्यवस्थापिका की स्वतंत्रता, 8. विभिन्नता वाले राज्यों के लिए उपयुक्त।

दोष– 1. निरंकुश तथा अनुत्तरदायी शासन, 2. शासन में गतिरोध की सम्भावना, 3. उत्तरदायित्व की अनिश्चिता, 4. लचीलेपन का अभाव, 5. प्रशासकीय कार्यकुशलता के लिए हानिकारक, 6. विदेश नीति में अनिश्चितता, 7. जनता में राजनीतिक जागरूकता का अभाव, 8. सावयवी सिद्धान्त के विपरीत।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

अति लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. सरकार के रूपों का वर्णन कीजिए।
2. एकात्मक सरकार क्या है ?व्याख्या कीजिये ।
3. एकात्मक सरकार का कोई एक लक्षण बताइये ।
4. एकात्मक सरकार की कोई एक बुराई बताइये ।
5. संघात्मक सरकार क्या है ?वर्णन कीजिये।
6. संघ शब्द को आंग्ल भाषा में लिखिये ।
7. संघात्मक सरकार की कोई एक विशेषता बताइये ।
8. संघात्मक सरकार की कोई एक बुराई बताइये ।
9. संसदात्मक सरकार का अर्थ बताइये ।
10. संसदात्मक सरकार का कोई एक लक्षण बताइये ।
11. संसदात्मक सरकार की कोई एक विशेषता बताइये ।
12. संसदात्मक सरकार का कोई एक दुर्गुण बताइये ।
13. अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली का अर्थ बताइये ।
14. अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली की कोई एक विशेषता बताइये।
15. अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली की कोई एक अच्छाई बताइये।
16. अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली की कोई एक बुराई बताइये।
17. वर्तमान में अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली को लोकतंत्र का विकल्प बताया जा रहा है, वर्णन कीजिये।

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. सरकार का अर्थ एवं उसके स्वरूपों का वर्णन कीजिए।
2. एकात्मक सरकार के लक्षण बताइये ।
3. एकात्मक सरकार की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये ।
4. संघात्मक सरकार क्या है ?वर्णन कीजिये।
5. संघात्मक सरकार की विशेषताओं का वर्णन कीजिये ।
6. संघात्मक सरकार की कमियां बताइये ।
7. संघात्मक सरकार की अच्छाइयों की व्याख्या कीजिये ।
8. एकात्मक और संघात्मक सरकार की तुलनात्मक व्याख्या कीजिये ।
9. संसदात्मक सरकार की विशेषताएँ बताइये ।
10. संसदात्मक सरकार के सकारात्मक पक्ष बताइये ।
11. संसदात्मक सरकार की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये ।
12. अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली की विशेषताओं का वर्णन कीजिये।
13. अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली के लाभ बताइये ।
14. अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली की हानियाँ बताइये ।
15. वर्तमान में अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली को लोकतंत्र का विकल्प बताया जा रहा है ?अपने विचार प्रकट कीजिये।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. एकात्मक एवं संघात्मक सरकार का तुलनात्मक वर्णन कीजिये ।
2. संसदात्मक एवं अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली का तुलनात्मक विश्लेशण कीजिये ।

3. संसदात्मक एवं अध्यक्षात्मक सरकार में से आप किसे अधिक जनहितकारी मानते हैं?वर्णन कीजिये।
3. अध्यक्षात्मक सरकार की विशेषताएं बताइये ।
4. एकात्मक सरकार की विशेषताओं का वर्णन कीजिये ।
5. संसदात्मक सरकार की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये ।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न :

1. सरकार के कितने अंग होते हैं ?
   (अ) 3 (ब) 4
   (स) 5 (द) 6 ( )
2. "एक केन्द्रीय शक्ति द्वारा सर्वोच्च विधायी शक्ति का प्रयोग किया जाना ही एकात्मक सरकार है। "यह परिभाषा किसकी है?
   (अ) डायसी (ब) डा गार्नर
   (स) विलोबी (द) डा फाईनर ( )
3. "संघ कुछ राज्यों का मेल है जो एक नए राज्य का निर्माण करते हैं" यह कथन किसका है?
   (अ) हैमिल्टन (ब) फाइनर
   (स) लिंकन (द) लास्की ( )
4. "मंत्रीमंडल राज्य रूपी जहाज का चालक यन्त्र है।" यह परिभाषा किसकी है?
   (अ) रैम्जेमयोर (ब) लोवेल
   (स) गार्नर (द) अम्बेडकर ( )
5. अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली की विशेषता है–
   (अ) अवरोध और संतुलन (ब) तानाशाही
   (स) शक्तियों का विभाजन (द) सामूहिक दायित्व( )

उत्तरमाला वस्तुनिष्ठ प्रश्न :–

1 (अ) 2 (अ) 3 (अ) 4 (अ) 5 (अ)

इकाई–5
अध्याय–11
सरकार के अंग

सभ्य मानव समाज के लिए राज्य एक आवश्यक एवं सार्वभौम संस्था है। वस्तुतः राज्य एक प्रादेशिक समाज है, जो सरकार और प्रजा के रूप में व्याख्यायित होता है। राज्य रूपी अमूर्त संस्था का स्वाभाविक मूर्त रूप सरकार है। सरकार राज्य का वह अभिकरण है, जिसके माध्यम से राज्य अपने उद्देश्यों (लोक कल्याण) को अभिव्यक्त एवं क्रियान्वित करता है। प्रो० गार्नर के मतानुसार ''सरकार के अभाव में जनसंख्या असम्बद्ध, असंगठित, अराजकीय जनसमूह ही होगी और किसी सामूहिक कार्य का होना संभव नहीं होगा''। गैटेल के शब्दों में – '' सरकार अपने अंगों के समूह से निर्मित होती है, जिनके कार्य भिन्न होते है, परन्तु उनके दायित्व व ध्येय समान है तथा सफलता के लिए उनका सामंजस्य पूर्ण सहयोग अनिवार्य है''।

अतः स्पष्ट है कि सरकार राज्य का एक आवश्यक तत्त्व है,। जनसंख्या, निश्चित भू–भाग और सम्प्रभुता के होते हुए भी यदि सरकार नहीं है तो राज्य की कल्पना संभव नहीं है। सरकार को राज्य की आत्मा कहा गया है, जिसके ऊपर कानून निर्माण, कानून का क्रियान्वयन तथा कानून का उल्लंघन करने वालों को उचित दण्ड दिलाने का उत्तरदायित्व है। इन तीन मूलभूत उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सरकार के संगठन को निम्न तीन विभागों में व्यक्त किया जा सकता है–

व्यवस्थापिका

व्यवस्थापिका का अर्थ **(Meaning of Legislature)** :–

सरकार के तीनों अंगो में व्यवस्थापिका को अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान दिया गया है। विधायिका जिसे सामान्यतः संसद के रूप में जाना जाता है, अंग्रेजी शब्द पार्लियामेन्ट जो कि लैटिन शब्द पार्लियामेन्टम का हिन्दी रूपान्तर है जिसका अर्थ है बोलना अथवा विचार विमर्श करना। प्राचीनकाल में कानून बनाए नहीं जाते थे, बल्कि समाज में ढूँढे जाते थे, उन्हें लोक नियम (Folk Law) कहा जाता था। मध्ययुग में राजा की सपरिषद सभा को संसद कहा जाता था जिसमें शिकायतों के निवारण के लिए प्रस्तुत याचिकाओं पर राजा, न्यायाधीशों के साथ विचार–विमर्श करता था। आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्था में ब्रिटेन की संसद विश्व की पहली लोकतान्त्रिक संसद है, इसीलिए ब्रिटेन की संसद को संसदों की जननी कहा जाता है।

वर्तमान काल में सभी लोकतान्त्रिक देशों में विधायिका ही सबसे प्रभावशाली अंग है, जो लोकमत या राष्ट्रीय इच्छा को अभिव्यक्त करती है। प्रो० गार्नर के शब्दों में ''अनेक अंगों में जिनके माध्यम से राज्य की इच्छा अभिव्यक्त होती है तथा लागू की जाती है, विधायिका का स्थान निर्विवाद रूप से सर्वोच्च है''। ऐसी स्थिति में विधायिका को राज्य की इच्छा का दर्पण कहा जा सकता है जो जनता की इच्छा की अभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम है। यह जनता की प्रतिनिधि सभा है जो लोकतन्त्रीय शासन में समाज के साधारण नियमों को कानूनी रूप प्रदान करती है। व्यवस्थापिका प्रशासन (कार्यपालिका) की नियामक है। भारत में व्यवस्थापिका को संसद, संयुक्त राज्य अमेरिका में काँग्रेस, ब्रिटेन में पार्लियामेन्ट तथा जापान में डायट कहा जाता है।

कार्यपालिका

न्याय पालिका

व्यवस्थापिका के कार्य
(Functions of the Legislature)

व्यवस्थापिका के कार्यो को निम्न बिन्दुओं में व्यक्त किया जा सकता है–

कानून निर्माण सम्बन्धी कार्य **(Law making function)** :– व्यवस्थापिका का प्रमुख एवं महत्वपूर्ण कार्य कानून का निर्माण करना है, सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल

संसद नए कानूनों का निर्माण करती है तथा पुराने कानूनों में आवश्यक संशोधन करती है। अनावश्यक कानूनों को समाप्त करती है। कानून निर्माण के अन्तर्गत अधिकांश प्रजातान्त्रिक देशों में त्रिस्तरीय व्यवस्था प्रचलित है जिसमें

(i) प्रथम वाचन– विधेयकों का प्रारूप तैयार कर संसद में प्रस्तुति।

(ii) द्वितीय वाचन– विधेयकों पर समितियों द्वारा व्यापक विचार विमर्श।

(iii) तृतीय वाचन– सदन द्वारा पारित करना शामिल है। द्विसदनात्मक संसद में यही प्रक्रिया दूसरे सदन द्वारा पूर्ण किए जाने तथा राष्ट्राध्यक्ष के हस्ताक्षर से विधेयक कानून बन जाते हैं।

कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य (**Executive function**) :– संसदीय लोकतंत्र में कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है। व्यवस्थापिका मंत्रिमण्डल पर प्रश्न पूछकर, काम रोको प्रस्ताव द्वारा, निन्दा प्रस्ताव पास कर तथा अन्तिम रूप से अविश्वास प्रस्ताव द्वारा नियन्त्रण रखती है। 'बेजहाट' के शब्दों में – ''व्यवस्थापिका का गठन वैसे तो औपचारिक रूप से विधि निर्माण के लिए होता है, परन्तु उसका मुख्य कार्य कार्यपालिका का निर्माण तथा नियन्त्रण करना है''। अध्यक्षीय शासन व्यवस्था में व्यवस्थापिका कार्यपालिका पर नियंत्रण रखती है। संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति द्वारा की गई नियुक्ति तथा संधियों के प्रस्ताव पर सीनेट का अनुमोदन आवश्यक है।

3. वित्तीय कार्य (**Financial Function**):– व्यवस्थापिका का केन्द्रीय वित्त पर पूर्ण नियन्त्रण होता है। व्यवस्थापिका की अनुमति के बिना कार्यपालिका जनता पर न तो किसी प्रकार का कर लगा सकती है और न ही किसी प्रकार का व्यय कर सकती है। व्यवस्थापिका में प्रतिवर्ष आय व्यय का ब्यौरा प्रस्तुत किया जाता है। व्यवस्थापिका द्वारा ही राष्ट्रीय बजट पारित किया जाता है। कार्यपालिका द्वारा प्रस्तुत वार्षिक बजट से यदि व्यवस्थापिका सहमत नहीं होती, तो सरकार के अस्तित्व पर संकट खड़ा हो जाता है। व्यवस्थापिका महालेखा परीक्षक के प्रतिवेदन पर विचार करती है।

4. न्यायिक कार्य (**Judical Function**) :– विश्व के अनेक देशों में विधायिका न्यायिक कार्य भी सम्पन्न करती है। इग्लैण्ड में संसद विशेषाधिकार के मामलों पर चर्चा करती है। वहाँ हाउस ऑफ लार्डस (House of Lords) उच्चतम अपीलीय न्यायालय है। अमेरिका में सीनेट राष्ट्रपति पर लगाए गए महाभियोग के प्रश्न पर विचार करने के लिए न्यायालय के रूप में काम करती है। भारत में राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति तथा न्यायाधीशों के विरूद्ध लाए गए महाभियोग प्रस्तावों पर सुनवाई कर उन्हें अपने पद से हटा सकती है। संसद अपनी प्रक्रिया की स्वयं स्वामी है, अतः वह सदन की मान हानि के दोषी व्यक्ति को दण्ड देने का अधिकार रखती है।

5. निर्वाचन सम्बन्धी कार्य (**Election Function**):– विश्व के बहुत से देशों की व्यवस्थापिका निर्वाचन सम्बन्धी कार्य भी सम्पन्न करती है। भारत में राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति तथा राज्य सभा के सदस्यों के निर्वाचन में केन्द्रीय एवं राज्य विधान मण्डल के सदस्य हिस्सा लेते हैं। फ्रांस तथा चीन में राष्ट्रपति संसद द्वारा चुना जाता है। स्विट्जरलैण्ड में सर्वोच्च कार्यपालिका पदाधिकारियों का निर्वाचन व्यवस्थापिका द्वारा किया जाता है।

6. संविधान संशोधन सम्बन्धी कार्य (**Constitutional Amending Function**):– व्यवस्थापिका समय–समय पर देश के संविधान को युगानुकूल बनाए रखने के लिए संविधान संशोधन सम्बन्धी कार्य भी सम्पन्न करती है। विभिन्न देशों में संविधान संशोधनों की प्रक्रिया भिन्न–भिन्न है। अमेरिका में संविधान संशोधन कांग्रेस के 2/3 सदस्यों द्वारा स्वीकृत होने के बाद 2/3 राज्य विधान मण्डलों द्वारा पारित होना आवश्यक है। भारत में संविधान संशोधन की तीन विधियाँ प्रचलन में है– साधारण बहुमत द्वारा, 2/3 बहुमत द्वारा तथा 2/3 बहुमत के साथ–साथ आधे से अधिक राज्यों का अनुमोदन।

7. वैदेशिक मामलों से सम्बन्धी कार्य (**Function Relation of Foreign Affairs**):– विदेशों के साथ पारस्परिक राजनयिक एवं कूटनीतिक सम्बन्धों का निर्धारण, युद्ध एवं शान्ति की घोषणा विभिन्न संन्धि एवं समझौते के कार्य यद्यपि कार्यपालिका द्वारा किये जाते हैं किन्तु उनका अनुमोदन व्यवस्थापिका द्वारा किया जाना आवश्यक है। व्यवस्थापिका अपने देश की विदेश नीति के निर्धारण में भी कार्यपालिका को सहयोग प्रदान करती है।

8. अन्य कार्य (**Other Function**):– उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त व्यवस्थापिका विभिन्न निगमों की स्थापना में कार्यपालिका को निर्देशित करती है। आयोग एवं अधिकरणों द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदनों पर विचार कर निर्णय लेती है। भारत में राष्ट्रपति द्वारा की गई संकट काल की घोषणा को संसद की स्वीकृति आवश्यक है। संघीय ढ़ाँचे में राज्यों के पुनर्गठन का काम भी व्यवस्थापिका द्वारा ही किया जाता है।

वस्तुतः व्यवस्थापिका सरकार का अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है। कानून निर्माण के साथ–साथ शासन की नीतियों एवं प्रस्तावों का विश्लेषण, समालोचना पारित अथवा स्वीकृत करना तथा जन आकांक्षाओं को साकार करने की दिशा में सार्थक पहल करना उसका प्रमुख कार्य है। प्रो० लास्की के शब्दों में– ''संसद का वास्तविक कार्य प्रशासन की प्रक्रिया पर नजर रखना है ताकि नागरिकों की निजी स्वतंत्रताएँ सुरक्षित रह सकें''।

व्यवस्थापिका का संगठन
(Organization of Legislature)

प्रजातान्त्रिक शासन व्यवस्था के प्रारम्भ में अधिकांश देशों में एक सदनीय व्यवस्थापिका थी किन्तु धीरे–धीरे यह अनुभव किया गया कि प्रथम सदन की शक्ति पर अंकुश रखने तथा प्रथम सदन द्वारा किए गये कार्यों पर पुनर्विचार करने के लिए विधायिका का द्विसदनीय होना आवश्यक है। यद्यपि व्यवस्थापिका के एक सदनीय अथवा द्विसदनीय होने का प्रश्न राजनैतिक विश्लेषकों में विवाद का विषय रहा है। एक ओर सर हेनरी मैन का कथन है कि – ''किसी भी प्रकार का द्वितीय सदन अवश्य होना चाहिए।'' वहीं दूसरी ओर लास्की का मत है कि ''यह गलत है कि संघ की रक्षा के लिए दूसरा सदन कोई प्रभावशाली गारण्टी है''।

आज अधिकांश देशों में द्विसदनीय व्यवस्थापिका प्रणाली

प्रचलन में है। एक को प्रथम सदन, निम्न सदन अथवा प्रतिनिधि सदन कहते हैं जिनका चुनाव सीधे जनता द्वारा किया जाता है। भारत में इसे लोकसभा, इग्लैण्ड में हाउस ऑफ कॉमन तथा अमेरिका में हाउस ऑफ रिप्रजेन्टेटिव कहते हैं। दूसरे सदन को उच्च सदन, द्वितीय सदन या वरिष्ठ सदन नाम दिया गया है। भारत में इसे राज्यसभा, इग्लैण्ड में हाउस ऑफ लार्डस तथा अमेरिका में सीनेट कहते हैं।

एक सदनात्मक व्यवस्थापिका – द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका

द्विसदनात्मक व्यवस्थापिक के पक्ष में तर्क (**Arguments in favour of Bicameralism**):–

1. प्रथम सदन की निरंकुशता पर रोकः– व्यवस्थापिका स्वेच्छाचारी एवं भ्रष्ट न हो इसके लिए व्यवस्थापिका का द्वि–सदनीय होना आवश्यक है। द्वितीय सदन के होने से प्रथम सदन की स्वेच्छाचारिता पर स्वाभाविक रूप से रोक लगेगी। लीकॉक के शब्दों में – ''एक सदनात्मक व्यवस्थापिका उतावली और अनुत्तरदायी हो सकती है''।

2. लोकतांन्त्रिक परम्परा के अनुरूपः– यदि एक सदनात्मक व्यवस्थापिका है तो एक सदन के हाथ में शक्ति केन्द्रित हो जाती है, जिससे मानवीय स्वतंत्रता को खतरा सम्भव है क्योंकि शक्ति व्यक्ति अथवा संस्था को भ्रष्ट बनाती है। द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका में शक्ति विकेन्द्रित होगी तथा समाज के सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व होगा।

3. प्रथम सदन की सहायताः– राज्य के कार्यों में अत्यधिक वृद्धि हो जाने से प्रथम सदन सभी विधेयकों के साथ न्याय नहीं कर पाता। जनकल्याणकारी विधेयकों को विचारपूर्वक पारित करने के लिए पर्याप्त समय और योग्यता की आवश्यकता रहती है। व्यवस्थापिका के दो सदन होने से बढ़े हुए कार्य का विभाजन किया जा सकता है। वे विधेयक जिन पर विशेष मतभेद नहीं है पहले द्वितीय सदन में प्रस्तुत किए जा सकते है। प्रथम सदन अपना ध्यान अधिक महत्वपूर्ण समस्याओं की ओर केन्द्रित कर सकता है।

4. जनमत निर्माण में सहायक :– एक सदन में विधेयक पारित हो जाने के बाद दूसरे सदन में विधेयक पारित होने की प्रक्रिया में समय लगता है। इस प्रकार दूसरे सदन में विधेयक पास करने से पहले जनता को विधेयक के बारे में सोचने विचारने का समय मिल जाता है। सामान्य जनता, राजनैतिक दल एवं प्रेस द्वारा प्रस्तावित विधेयक पर अपना मत व्यक्त करने का अवसर मिलता है।

5. अनुभवी एवं कार्यकुशलः– प्रथम सदन का आधार लोकप्रियता होने के कारण अनेक बार योग्य एवं कार्यकुशल व्यक्ति चुनाव नहीं जीत पाते। ऐसे में देश को उनकी योग्यता से वंचित होना पड़ता है। इंग्लैण्ड, भारत, अमेरिका आदि देशों के द्वितीय सदनों में यदि देखा जाए तो स्पष्ट होता है कि इन देशों के उच्च सदनों के सदस्य राजनैतिक दृष्टि से बहुत अधिक अनुभवी होते हैं। इनकी राजनैतिक परिपक्वता एवं अनुभव से देश लाभान्वित होता है। जे.एस.मिल के शब्दों में ''यदि निम्न सदन जनता के प्रतिनिधियों का सदन है तो उच्च सदन राजनीतिज्ञों एवं कलाकारों का सदन है, क्योंकि इसमें साहित्य, विज्ञान और समाज सेवा के आधार पर सदस्यों का मनोनयन या निर्वाचन होता है।

6. संघात्मक व्यवस्था के अनुकूलः– संघात्मक राज्यों की विभिन्न इकाईयों में क्षेत्र और जनसंख्या की दृष्टि से बहुत अन्तर होता है। द्विसदनात्मक व्यवथापिका में प्रथम सदन पूरे राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है, तो द्वितीय सदन प्रान्तीय इकाईयों का प्रतिनिधित्व करता है। द्वितीय सदन की सहमति के बिना प्रान्तीय इकाईयों के मौलिक स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। इस प्रकार संघ की सभी इकाईयों के हितों की रक्षा सम्भव हो सकती है।

7. विवेकपूर्ण विचार का साधनः– द्वितीय सदन पहले सदन की जल्दबाजी और अविचार पूर्वक बनाये गए कानूनों पर रोक लगाने का प्रभावी साधन है। इसके सदस्यों की संख्या अपेक्षाकृत कम होती है। अपनी योग्यता एवं अनुभव के आधार पर द्वितीय सदन शान्तिपूर्वक किसी समस्या पर विचार कर निदान तक पहुँच सकता है। जनता के प्रतिनिधि भावुक, क्रान्तिकारी एवं अव्यावहारिक होते हैं। वे अनेक बार ऐसे कानून बनाने के लिए तैयार हो जाते हैं, जिनसे लाभ के स्थान पर हानि अधिक होती है। ऐसे में द्वितीय सदन अविचार पूर्वक बनाये गये कानूनों पर रोक लगा सकता है।

8. ऐतिहासिक अनुभवः– लोकतान्त्रिक इतिहास भी द्वितीय सदन की उपयोगिता के पक्ष में एक बड़ा तर्क है। इंग्लैण्ड में गृह युद्ध के पश्चात् क्रामवैल के समय (1549–60) और अमेरिका में 1777 से 1787 तक तथा फ्राँस में कुछ समय तक एक सदनीय व्यवस्थापिका रही किन्तु इन सभी देशों में एक सदनीय व्यवस्थापिका का अनुभव अच्छा नहीं रहा तथा शासन में निरंकुशता बढ़ी। परिणामस्वरूप इंग्लैण्ड, फ्राँस, अमेरिका, मैक्सिको, स्पेन, पुर्तगाल आदि राज्यों में भी एक सदनात्मक व्यवस्थापिका के स्थान पर द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका को स्वीकार किया गया।

संक्षिप्ततः एक सदन की घृणा, अत्याचार और भ्रष्टाचार की स्वाभाविक प्रवृति को दूसरे सदन द्वारा काबू में रखे जाने की आवश्यकता है। ब्लंशली ने ठीक कहा है कि– ''दो आँखों की अपेक्षा चार आँखें सदा अच्छा देखती हैं विशेषतः जब किसी प्रश्न पर विभिन्न दृष्टिकोण से विचार करना आवश्यक हो।''

द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के विपक्ष में तर्क

अनेक विद्धानों ने द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका की आलोचना करते हुए इसे अनुपयोगी बताया है। ब्रेंजामिन फ्रैंकलिन ने द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका की आलोचना करते हुए लिखा है कि– ''द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका ठीक वैसी ही है जैसे गाड़ी में आगे और पीछे दोनों दिशाओं में मुँह करके घोड़े जोत दिए जाएं और वे विपरीत दिशा में गाड़ी को खींचें।''

द्वितीय सदन के विरोध में निम्न तर्क दिए जा सकते हैं –

1. अलोकतान्त्रिकः– लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्था में सम्प्रभुता जनता में निवास में करती है और यह सम्प्रभुता अविभाज्य है। जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचित सदन ही सर्वसाधारण जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है। इसके लिए प्रभुसत्ता भी एक सदन में ही निहित होनी चाहिए। फ्राँसिंसी विद्वान एब्बेसीज का कथन है, ''यदि द्वितीय सदन प्रथम सदन से सहमति प्रकट करता है तो वह अनावश्यक है और यदि विरोध करता है तो शैतान''।

2. विलम्बकारी संस्थाः– द्वितीय सदन के विपक्ष में एक

तर्क यह दिया जाता है कि यह अनावश्यक रूप से कानूनों के पारित होने में विलम्ब करता है। इसका परिणाम यह होता है कि कभी–कभी अच्छे कानून भी समय पर पारित नहीं हो पाते अथवा निरस्त हो जाते है। संकटकाल के लिए द्वितीय सदन की कोई आवश्यकता नहीं है। अमेरिका की सीनेट को छोड़कर अधिकांश देशों में द्वितीय सदन की शक्तियाँ बहुत कम है इसलिए उपयोगिता भी सीमित है।

3. संगठन की समस्याः– द्वितीय सदन के संगठन में भी अनेक देश हैं। विभिन्न देशों में दूसरे सदन का गठन विभिन्न परम्पराओं और सिद्धान्तों पर होता है। अधिकांश देशों में दूसरे सदन का गठन अप्रजातान्त्रिक है। इग्लैण्ड में हाऊस ऑफ लार्डस का संगठन वंशानुगत है और यह केवल कुलीन वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। विभिन्न संस्थाओं और पैसे वाले व्यक्तियों के आने से सदन में एकता का अभाव पाया जाता है। कनाडा में द्वितीय सदन में मनोनयन होता है, जिस पर गम्भीर आपत्तियाँ प्रकट की जाती हैं। भारत सहित कुछ देशों में अप्रत्यक्ष पद्धति से चुनाव होता है, जो अनेक बार भ्रष्टाचार का कारण बनता है। दूसरे सदन का सन्तोषप्रद निर्माण वास्तव में एक विकट समस्या है।

4. धन का अपव्ययः– द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका से धन का अनावश्यक खर्च बढ़ जाता है। प्रो० लास्की का मत है कि ''आधुनिक राज्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति एक सदनात्मक व्यवस्थापिका से हो सकती है, क्योंकि द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका में काम की पुनरावृत्ति होती है। समय नष्ट होता है और राष्ट्रीय कोष पर अनावश्यक भार पड़ता है।''

5. दोनों सदनों में संघर्ष की संभावनाः– द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका में प्रथम तथा द्वितीय सदन के बीच हमेशा संघर्ष की संभावना बनी रहती है। यह स्थिति तब और अधिक विकट हो जाती है जब प्रतिनिधि सदन में तो सरकार के पास बहुमत हो, लेकिन द्वितीय सदन में वह अल्पमत में हो जैसा हाल के वर्षों में भारत में देखा जा रहा है। प्रथम सदन द्वारा पारित विधेयकों को राजनैतिक कारणों से द्वितीय सदन द्वारा रोकने अथवा विलम्बित करने की प्रवृति बढ़ती है। ऐसे संघर्ष में विधेयक पर बुरा असर पड़ता है।

6. संघात्मक व्यवस्था के लिए अनावश्यकः– संघात्मक व्यवस्था के लिए द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका अपरिहार्य नहीं है। दलीय अनुशासन के चलते द्वितीय सदन भी राज्यों के हितों की रक्षा के बजाए अपने–अपने राजनैतिक दलों के हितों का ध्यान रखते हैं। वैसे भी संघात्मक व्यवस्था में वैधानिक संरक्षण एवं स्वतन्त्र न्यायपालिका द्वारा अल्पसंख्यकों तथा संघ की विभिन्न इकाईयों के हितों की रक्षा सम्भव है। लॉस्की के मत में ''यह गलत है कि संघ की रक्षा के लिए दूसरा सदन कोई प्रभावशाली गारण्टी है।''

निष्कर्ष (**Conclusion**):– द्विसदनात्मक व्यस्थापिका की इन आलोचनाओं के होते हुए भी प्रतिनिध्यात्मक लोकतंत्र के लिए व्यवस्थापिका का द्विसदनात्मक स्वरूप ही विश्वव्यापी मान्यता प्राप्त कर चुका है। द्विसदनात्मक व्यवस्था से शासन में गम्भीरता एवं बुद्धिमता की अधिक सम्भावना रहती है। द्वितीय सदन की उपस्थिति में विभिन्न वर्गों को प्रतिनिधित्व दिए जाने पर कानून निर्माण का कार्य अधिक लोक कल्याण की भावना के साथ किए जाने की आशा की जा सकती है। किन्तु इस बात को सभी राजनैतिक विचारक स्वीकार करते हैं कि द्वितीय सदन की शक्तियाँ लोकप्रिय सदन से कम होनी चाहिए, क्योंकि प्रथम सदन ही सही अर्थ में जनता की आकाँक्षाओं का प्रतिनिधित्व करता है।

व्यवस्थापिका का ह्रास
(Decline of Legislature)

बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध एवं 21वीं सदी के प्रारम्भ में दुनिया में अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं। इन परिवर्तनों का प्रभाव व्यवस्थापिका पर भी पड़ा है। यद्यपि लोकतान्त्रिक व्यवस्था में व्यवस्थापिका आज भी अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है, किन्तु चिन्ता एवं तीव्रता के इस युग में व्यवस्थापिका अपने संगठन, कार्य प्रणाली तथा दलगत राजनीति के कारण कार्यपालिका की तुलना में कमजोर हुई है। वास्तव में संख्यात्मक दृष्टि से व्यवस्थापिका की शक्तियाँ बढ़ी हैं, किन्तु व्यवहार में कार्यपालिका अधिक शक्तिशाली संस्था के रूप में उभरी है। व्यवस्थापिका की शक्तियों के ह्रास के लिए निम्नलिखित कारणों को उत्तरदायी ठहराया जा सकता है–

1. कार्यपालिका का बढ़ता प्रभावः– संसदीय शासन व्यवस्था में संसद का सत्र बुलाने, सत्रावसान करने, व्यवस्थापिका के लोकप्रिय सदन को भंग करने, बजट को प्रस्तुत करने, यहाँ तक राज्याध्यक्ष द्वारा दिए जाने वाले भाषण का प्रारूप लिखने तक का कार्य मंत्रिमण्डल के निर्देशन में होता है। अधिकांश विधेयक कार्यपालिका द्वारा ही प्रस्तुत किए जाते हैं तथा बहुमत के आधार पर कार्यपालिका की इच्छानुरूप पारित हो जाते हैं। ऐसे में कानून निर्माण का वास्तविक कार्य व्यवस्थापिका की इच्छा के अनुरूप न होकर कार्यपालिका की इच्छा के अनुरूप होता है।

2. प्रदत्त व्यवस्थापनः– प्रदत्त व्यवस्थापन संसार को स्विस लोकतंत्र की देन है। संसदीय व्यवस्था में यह प्रदत्त व्यवस्थापन कार्यपालिका को हस्तांतरित हो गया है। इसमें व्यवस्थापिका की कानून निर्माण की शक्ति सीमित हुई है। व्यवहार में कार्यपालिका अनेक कानूनों को प्रदत्त व्यवस्थापन के तहत बनाने लगी है। बजट पारित होने एवं महत्वपूर्ण सरकारी विधेयकों पर कार्यपालिका का अस्तित्व निर्भर करता है, इसलिए कानून निर्माण के कार्य का एक बड़ा काम व्यवस्थापिका के हाथ से निकल कर कार्यपालिका के हाथों में चला गया है और व्यवस्थापिका कार्यपालिका के हाथ की कठपुतली बन गई है।

3. दलीय अनुशासनः– व्यवस्थापिका के सदस्य जन इच्छा की अभिव्यक्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं किन्तु वास्तव में सदन में व्यवहार करते समय वे सरकारी नीति के समर्थक या आलोचक की दोहरी भूमिका में रहते हैं क्योंकि उनके ऊपर दलीय अनुशासन के रूप में सचेतकों (Whips) का नियंन्त्रण रहता है। दल के प्रमुख नेता उनके साथ ''राजनैतिक स्वामियों'' जैसा व्यवहार करते हैं। दल के समर्थन के आधार पर कार्यपालिकाएँ विधायिकाओं से कुछ भी कराने की शक्ति रखती हैं। परिणामस्वरूप एलेन बाल के मत में ''बीसवीं शताब्दी में अनुशासित दलों, कार्यपालिका की बढ़ती हुयी शक्तियों तथा उसके बढ़ते हुए क्षेत्र ने विधायिका का पतन कर दिया है।''

4. न्यायपालिका की भूमिकाः– न्यायालय की भूमिका के

कारण भी व्यवस्थापिका की शक्तियों का ह्रास हुआ है। भारत तथा अमेरिका जैसे राज्यों में न्यायिक समीक्षा जैसी व्यवस्था ने विधायिका की शक्ति को कमजोर किया है। विडम्बना यह भी है कि कार्यपालिका शक्ति में वृद्धि को भय तथा आशंका से देखा जा रहा है जबकि न्यायपालिका की बढ़ती हुई सत्ता को स्वीकार किया जा रहा है। अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय को कांग्रेस (अमेरिकी व्यवस्थापिका) का तृतीय सदन कहा जाता है।

संचार माध्यमों का प्रभावः– संचार माध्यमों का विकास विधायिका के प्रभाव में कमी लाने का प्रमुख कारण रहा है। आज कार्यपालिका विधायिका को विश्वास में लिए बिना संचार माध्यमों के द्वारा जन इच्छाओं का संकलन कर सकती हैं। संचार के साधनों के विकास ने कार्यपालिका प्रधान को सीधे जनता के समक्ष लाकर खड़ा कर दिया है। वह सीधे जनता से बात कर जनमत जान सकता है। भारत में ''मन की बात'' कार्यपालिका एवं जनता के बीच संवाद का प्रभावी माध्यम बना है। वस्तुतः अब राजनैतिक दल ही नहीं बल्कि मीडिया भी प्रतिपक्ष की भूमिका निभा रहा है।

इसके अतिरिक्त सेना पर नियन्त्रण, वैदेशिक मामलों में प्रमुखता, लोककल्याणकारी राज्य की अवधारणा, विषय विशेषज्ञों पर निर्भरता तथा व्यवस्थापिका में साधारण योग्यता वाले व्यक्तियों की बहुतायत ने व्यवस्थापिका के महत्व में कमी की है। किन्तु लोकतंत्र के सजग प्रहरी और जन इच्छा की प्रतिनिधि के रूप में व्यवस्थापिका आज भी लोकतंत्र का केन्द्र बिन्दु है।

कार्यपालिका (Executive)

कार्यपालिका सरकार का दूसरा महत्वपूर्ण अंग है। कार्यपालिका शब्द के प्रयोग से सामान्य सरकार का बोध होता है। प्राचीनकाल में कार्यपालिका (शासनाध्यक्ष) ही सर्वेसर्वा होती थी। नीति निर्धारण, नीति क्रियान्वयन एवं न्यायिक कार्य शासनाध्यक्ष के द्वारा ही सम्पन्न होते थे। आधुनिक प्रजातांन्त्रिक राजव्यवस्था में कार्यपालिका के स्वरूप एवं शक्तियों में परिवर्तन आया है। बहुधा देशों में कार्यपालिका एकल से बहुल हुई है तथा शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त के कारण कार्यपालिका कानूनों का पालन कराने वाली संस्था के रूप स्थापित हुई है। कार्यपालिका के अन्तर्गत राष्ट्राध्यक्ष के साथ–साथ शासन का प्रधान, मंत्रीपरिषद के सदस्य तथा प्रशासकीय अधिकारी आते हैं।

कार्यपालिका का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of the Executive)

कार्यपालिका सरकार का वह महत्वपूर्ण अंग है जो व्यवस्थापिका द्वारा बनाए गए कानूनों को कार्यरूप में परिणित करता है। राजनीति शास्त्र में कार्यपालिका शब्द का प्रयोग संकुचित तथा व्यापक अर्थों में किया जाता है। व्यापक अर्थ में कार्यपालिका के अन्तर्गत राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री और उनका मंत्रिपरिषद तथा प्रशासनिक अधिकारियों का वह समूह जो राज्य की इच्छा को क्रियान्वित करने से सम्बन्ध रखता हो, आते हैं, जबकि संकुचित अर्थ में कार्यपालिका का अर्थ केवल राज्य एवं शासन के प्रधान तथा मंत्रिमण्डल से लगाया जाता है। इसका वास्तविक स्वरूप राजनैतिक कार्यपालिका ही है जो नीतियों का निर्धारण करती है। भारत में राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री और उसका मंत्रीमण्डल कार्यपालिका के उदाहरण हैं।

कार्यपालिका की विभिन्न विद्वानों ने निम्न परिभाषाएँ दी हैं–

1. गिल क्राइस्ट (**Gil Chirist**):– ''कार्यपालिका सरकार का वह अंग है जो कानून के रूप में अभिव्यक्त राज्य की इच्छा को कार्यरूप में परिणित करता है''।
2. डॉ० फाइनर (**Dr. Finer**):– ''कार्यपालिका सरकार का वह निकाय है जो व्यवस्थापिका और न्यायपालिका से बचे हुए कार्यों को सम्पादित करता है''।
3. गार्नर (**Garner**):– ''कार्यपालिका वह धुरी है जिसके चारों ओर प्रशासन तंत्र घूमता है''।

इस प्रकार कार्यपालिका का जन्म राज्य के विकास के साथ हुआ है। यह सरकार का वह वास्तविक अंग है जिसके द्वारा समस्त संस्थाएँ, पदाधिकारी तथा एजेंसी कानून के रूप में अभिव्यक्त राज्य की सामुहिक इच्छा को क्रियान्वित करते हैं। कार्यपालिका के मुख्यतः दो भाग है–राजनैतिक कार्यपालिका जिसमें राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री और उसका मंत्रिमण्डल आता है तथा स्थायी कार्यपालिका जिसमें प्रशासनिक कार्मिक आते हैं।

कार्यपालिका के प्रकार (Types of Executive)

कार्यपालिका के निम्नलिखित रूप प्रचलन में हैं:–

नाममात्र की कार्यपालिकाः– जब शासन अथवा राज्य का प्रधान नाममात्र का या केवल दिखाऊ होता है तथा शक्तियों का प्रयोग स्वयं न करके उसके नाम पर होता है तो वह नाममात्र की कार्यपालिका कहलाती है। संसदात्मक व्यवस्था में संविधान द्वारा समस्त शक्तियाँ सम्राट या राष्ट्रपति को प्रदान की गयी हैं, किन्तु इन शक्तियों का प्रयोग वह प्रधानमंत्री और मंत्रिमण्डल के परामर्श पर ही करता है। भारत में राष्ट्रपति तथा इग्लैण्ड में सम्राट के नाम पर ही शासन के सभी कार्य किए जाते हैं। किन्तु स्वयं उन्हें इन शक्तियों का उपयोग करने की स्वतंत्रता नहीं है। वास्तव में कार्यपालिका शक्ति प्रधानमंत्री और मंत्रिमण्डल के हाथ में होती हैं।

वास्तविक कार्यपालिका :– जब राज्य का प्रधान नाममात्र का न होकर राज्य की समस्त शक्तियों का स्वयं प्रयोग करता हो तो उसे वास्तविक कार्यपालिका कहते है। अमेरिका का राष्ट्रपति वास्तविक कार्यपालिका का उदाहरण है।

संसदात्मक कार्यपालिका :– जहाँ कार्यपालिका प्रधान नाम मात्र का हो तथा वास्तव में शक्तियों का प्रयोग प्रधानमंत्री और उसका मंत्रिमण्डल करता हो, उसे संसदीय कार्यपालिका कहते हैं। इसमें प्रधानमंत्री और मंत्रिमण्डल अपने कार्यो के लिए व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होते है तथा व्यवस्थापिका का कार्यपालिका पर पूर्ण नियन्त्रण रहता है। इंग्लैण्ड, फ्राँन्स और भारत में इसी प्रकार की कार्यपालिका है।

अध्यक्षात्मक कार्यपालिका :– जब राष्ट्रपति वास्तविक शक्तियों का उपयोग करता है तथा अपने कार्यों के लिए व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होता, उसे अध्यक्षात्मक कार्यपालिका कहते है। इसमें कार्यपालिका पर व्यवस्थापिका का कोई प्रभावी नियंन्त्रण नहीं रहता है। अमेरिका में

अध्यक्षात्मक कार्यपालिका है।

एकल एवं बहुल कार्यपालिका :– जब कार्यपालिका सम्बन्धी विषयों में निर्णय लेने का अन्तिम अधिकार एक व्यक्ति में निहित रहता है, उसे एकल कार्यपालिका कहते है। संसदीय एवं अध्यक्षीय व्यवस्था में शासन का केन्द्र बिन्दु प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति होते हैं। अतः वहाँ एकल कार्यपालिका होती है। अमेरिका, भारत और इग्लैण्ड में एकल कार्यपालिका है। जबकि कार्यपालिका सम्बन्धी शक्ति किसी एक व्यक्ति में निहित न होकर व्यक्तियों के समूह में निहित होती हैं उसे बहुल कार्यपालिका कहते है जैसे– स्विट्जरलैण्ड और पूर्व सोवियत संघ की कार्यपालिका। स्विट्जरलैण्ड़ में कार्यपालिका की शक्तियाँ 7 सदस्यों की एक संघीय परिषद (Federal Council) में निवास करती हैं।

6. सर्वाधिकारवादी कार्यपालिका:– जब कोई एक व्यक्ति वैधानिक साधनों के बिना शासन सत्ता पर अधिकार कर लेता है और निरंकुश हो जाता है उसे सर्वाधिकारवादी या तानाशाही कार्यपालिका कहते हैं। 1936 में जनरल फ्रेंको ने इसी प्रकार शासन सत्ता पर अधिकार जमा लिया था। मुसोलिनी–हिटलर तानाशाही सत्ता के प्रमुख उदाहरण हैं। भारत के पड़ौसी राज्यों में भी समय–समय पर इस प्रकार की तानाशाही कार्यपालिका का उदय होता रहा है।

कार्यपालिका के कार्य (Functions of Executive)

विगत वर्षों में कार्यपालिका के कार्यों में वृद्धि हुई है साथ ही राज्य के स्वरूप में भी बदलाव आया है। राज्य के जनकल्याणकारी स्वरूप में कार्यपालिका को मानव आकांक्षाओं को संतुष्ट करने के अनेक साधन जुटाने पड़ रहे हैं। परिणामस्वरूप कार्यपालिका के कार्यो में वृद्धि हुई है। कार्यपालिका के कार्यों को निम्नांकित रूप में व्यक्त किया जा सकता है–

1. आन्तरिक प्रशासन (**Internal Administration**) :– राज्य आन्तरिक रूप से एक संगठित समाज है, उसका उद्देश्य तब तक पूरा नहीं होता जब तक आन्तरिक शान्ति व्यवस्था कायम नहीं हो। प्रत्येक कार्यपालिका का यह स्वाभाविक कार्य है कि वह नागरिकों को आन्तरिक एवं बाह्य सुरक्षा तथा शान्ति प्रदान करे। कार्यपालिका व्यवस्थापिका द्वारा बनाए गए कानून के अनुसार शासन करती है। शासन के विभिन्न विभागों का मुखिया मंत्री होता है, जो प्रधानमंत्री के नेतृत्व में सामूहिक उत्तरदायित्व के साथ राज्य की नीति निर्धारण एवं क्रियान्वयन में सहयोग करता है। कार्यपालिका अपने कार्यो के क्रियान्वयन के लिए कर्मचारियों की नियुक्ति, अनुशासन एवं उन पर सम्पूर्ण नियन्त्रण रखती है।

2. राजनयिक कार्य (**Diplomatic Function**):– सामान्यतः व्यवस्थापिका ही किसी राज्य की विदेश नीति का निर्धारण करती है किन्तु वह विदेश विभाग के वास्तविक शासन में बहुत ही कम हस्तक्षेप करती है। विदेशी राज्यों के साथ सम्पर्क संबन्धों का संचालन प्रमुख रूप से कार्यपालिका ही करती है। विभिन्न राज्यों के साथ सन्धि समझौते, वार्ता करना, युद्ध अथवा शान्ति की घोषणा करना आदि सभी कार्य कार्यपालिका के द्वारा ही किए जाते हैं। इन संन्धि समझौतों पर व्यवस्थापिका की स्वीकृति या अनुमोदन औपचारिकता मात्र है। कार्यपालिका राजनयिक कार्यों के संचालन के लिए विदेशों में अपने राजदूत नियुक्त करती है और विदेशी राजदूतों का अपने यहाँ स्वागत करती है।

3. विधायी कार्य (**Legislative Function**):– यद्यपि कानून निर्माण का कार्य मुख्यतः व्यवस्थापिका का है, किन्तु उसमें कार्यपालिका भी अपना सहयोग प्रदान करती है। संसदीय प्रणाली में संसद का सत्र बुलाने, सत्रावसान करने, प्रथम सदन को भंग करने तथा वित्तीय सहित सभी महत्वपूर्ण विधेयकों को प्रस्तुत करने की अनुमति कार्यपालिका देती है। कार्यपालिका की स्वीकृति के बिना कोई भी विधेयक कानून नहीं बन सकता। भारत में राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के बाद ही विधेयक कानून का रूप लेता है। प्रदत्त व्यवस्थापन ने कार्यपालिका की विधायी शक्ति में और अधिक वृद्धि की है। विशेष परिस्थिति में कार्यपालिका अध्यादेश भी जारी करती है, जिन्हें व्यवस्थापिका द्वारा बनाए गए कानून के समान ही महत्व प्राप्त होता है।

4. वित्तीय कार्य (**Financial Function**) :– सैद्धान्तिक रूप से देश के आय–व्यय पर सम्पूर्ण नियंन्त्रण, व्यवस्थापिका का होता है किन्तु व्यवहार में यह कार्य कार्यपालिका करती है। भारत तथा इंग्लैण्ड में धन विधेयकों को कार्यपालिका प्रस्तुत करती है तथा प्रथम सदन में बहुमत के आधार पर दलीय अनुशासन से अपनी इच्छानुसार पारित भी करा लेती है। अमेरिका में बजट राष्ट्रपति के निर्देशन में तैयार होता है। आवश्यक धनराशि के लिए जनता पर कर लगाने, उसे बढ़ाने या घटाने तथा एकत्र करने का कार्य कार्यपालिका करती है। कार्यपालिका सम्पूर्ण आय–व्यय पर नियन्त्रण रखती है और उसका निरीक्षण करती है।

5. न्यायिक कार्य (**Judicial Function**) :– प्रत्येक राज्य में कार्यपालिका कुछ न्यायिक कार्यों को भी सम्पन्न करती है, जिनमें न्यायाधीशों की नियुक्ति तथा क्षमादान जैसे कार्य शामिल है। भारत में उच्च तथा सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होती है। भारत, ब्रिट्रेन तथा अमेरिका के कार्यपालिका प्रधान को सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिए गए दण्ड को कम करने, समाप्त करने तथा अपराधियों को क्षमादान देने का अधिकार है।

6. सैन्य कार्य (**Military Function**):– राज्याध्यक्ष देश का सर्वोच्च सेनापति होता है। देश की सुरक्षा की जिम्मेदारी कार्यपालिका के पास होती है। प्रतिरक्षा विभाग के माध्यम से कार्यपालिका अपने इस कार्य को पूर्ण करती है। वरिष्ठ सैन्य अधिकारियों की नियुक्ति कार्यपालिका करती है। न केवल बाहरी सुरक्षा बल्कि आन्तरिक शान्ति की स्थापना के लिये सेना की सहायता ली जा सकती है। कार्यपालिका ही युद्ध या शान्ति की घोषणा करती है। भारत में राष्ट्रपति संकटकाल की घोषणा करता है। संकटकाल में कार्यपालिका सैनिक शासन भी लागू कर सकती है।

7. अन्य कार्य (**Other Functions**) :– उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त कार्यपालिका कुछ अन्य कार्य भी करती है जैसे आर्थिक प्रगति के लिए योजनाएँ बनाना, ख्याति प्राप्त लोगों को उपाधियाँ अथवा सम्मान प्रदान करना, विदेशी नागरिकों को देश में नागरिकता प्रदान करना, विशेष सेवाओं के लिए आर्थिक सहायता की व्यवस्था करना, जनस्वास्थ्य, जन शिक्षा तथा उद्योग आदि क्षेत्रों में महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करना।

कार्यपालिका के कार्यों में वृद्धि
(Growth of the Executive Function)

वर्तमान युग में कार्यपालिका के कार्य एवं शक्तियों में अत्यधिक वृद्धि हुई है। जनकल्याणकारी राज्य की अवधारणा ने कार्यपालिका को सरकार के अन्य अंगों की तुलना में व्यापक शक्ति प्रदान की है। आज कार्यपालिका का प्रशासन पर सर्वव्यापी प्रभाव हो गया है, इसके जिम्मेदार कारणों को निम्न रूप में व्यक्त किया जा सकता है–

1. राज्य के कार्यक्षेत्र में वृद्धि (**Increase in the State-Sphere**) :– लोक कल्याणकारी एवं समाजवादी अवधारणा ने राज्य के कार्यक्षेत्र में वृद्धि की है। समाजवादी राज्यों में सामाजिक और आर्थिक सुधारों की अधिकांश जिम्मेदारी कार्यपालिका निभा रही है। पुलिस राज्य की भूमिका कम हुई है तथा राष्ट्रीय जीवन के अन्य पहलुओं में कार्यपालिका का हस्तक्षेप बढ़ा है। राज्य की वास्तविक प्रशासक के रूप में राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय दोनों स्तरों पर कार्यपालिका के कार्यो में वृद्धि हुई है।

2. प्रदत्त व्यवस्थापन **(Delagated Legislation)** :– राज्य के कार्यों में वृद्धि के कारण व्यवस्थापिका द्वारा सभी विधेयकों का विस्तृत अध्ययन सम्भव नहीं है। इसलिए व्यवस्थापिका विधेयकों के निर्माण में सामान्य सिद्धान्तों तक सीमित रह गई है। उसके विस्तार करने का काम कार्यपालिका को सौंप दिया है। इसे ही प्रदत्त व्यवस्थापन कहते है। इस प्रदत्त व्यवस्थापन के चलते कार्यपालिका की शक्ति में अत्यधिक वृद्धि हुई है।

3. दलीय अनुशासन **(Party Discipline)**:– संसदात्मक शासन व्यवस्था में अपने दल अथवा समूह के समर्थन पर टिकी सरकार सिद्धान्ततः व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी है परन्तु व्यवहार में Whips के माध्यम से कार्यपालिका अपने सदस्यों के साथ राजनैतिक स्वामियों जैसा व्यवहार करती है। कार्यपालिका को देश के संचालन का जनादेश प्राप्त होता है। जिसके चलते वह स्वतन्त्र होकर कार्य करती है, लेकिन कभी–कभी मनमाना शासन भी करने लगती है।

4. व्यवस्थापिका की शक्तियों का ह्रास **(Decline of powers of Legislature)** :– वर्तमान युग में व्यवस्थापिका के स्वरूप में परिवर्तन आया है। राज्य को अधिक जटिल समस्याओं का सामना करना पड़ता है जिनके लिए अधिक ज्ञान अनुभव व योग्यता की आवश्यकता होती है। यह अनुभव कार्यपालिका के सदस्यों के पास होता है न कि व्यवस्थापिका के सामान्य योग्यता वाले सदस्यों के पास। कार्यपालिका ने कुशल नेतृत्व एवं विशेषज्ञता के चलते व्यवस्थापिका को पीछे कर दिया है। परिणाम स्वरूप व्यवस्थापिका की शक्तियों में कमी आई है। रेम्जेम्योर इसे ''मंत्रीमण्डल की तानाशाही'' कहते है।

5. औद्योगिक क्रान्ति **(Industrial Revolution)**:– आज का युग औद्योगिक क्राँन्ति का युग है, जिसके परिणाम स्वरूप राज्य के कार्यक्षेत्र में वृद्धि हुई है। अधिकांश प्रगतिशील देश आर्थिक नियोजन की पद्धति को अपना रहे हैं। औद्योगिक क्राँन्ति ने राज्य को सामाजिक, आर्थिक एवं औद्योगिक कार्यों में संलग्न कर दिया है। इससे कार्यपालिका की शक्तियों में स्वाभाविक वृद्धि हुई है।

निष्कर्षः– उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि विगत वर्षों में कार्यपालिका की शक्तियों में व्यापक वृद्धि हुई है। जिससे कई बार नागरिकों की स्वतंन्त्रता एवं मूल अधिकारों पर खतरे की आशंका जन्म लेती है। जून 1975 से मार्च 1977 तक भारत में संकटकाल की घोषणा को मंन्त्रीमण्डलीय तानाशाही के रूप में देखा जाता है। लोकतान्त्रिक व्यवस्था में अन्तिम शक्ति जनता के हाथ में होने के कारण 1977 में भारतीय जन मानस ने अधिनायकवादी प्रवृत्ति को सत्ता से अपदस्थ कर दिया था। कार्यपालिका की बढ़ती हुई शक्ति पर विवेक सम्मत नियंन्त्रण लगाने की आवश्यकता है जिससे कार्यपालिका के निरंकुश आचरण पर रोक के साथ उसे और अधिक लोक कल्याणकारी तथा उत्तरदायी बनाया जा सके।

न्यायपालिका (Judiciary)

न्यायपालिका सरकार का तीसरा एवं महत्वपूर्ण अंग है। लोकतान्त्रिक सरकार तथा सर्वाधिकारवादी सरकार के मध्य प्रमुख अन्तर न्यायपालिका की उपस्थिति में ही सम्भव है। न्यायपालिका ही विधि के शासन की स्थापना का एक मात्र मार्ग है। मेरियट के शब्दों में ''सरकार के जितने भी महत्वपूर्ण कार्य है, उनमें निःसन्देह न्याय कार्य सबसे अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसका सीधा संबंध नागरिकों से है। चाहे कानून के निर्माण की मशीनरी कितनी भी विस्तृत और वैज्ञानिक हो, चाहे कार्यपालिका का संगठन कितना भी पूर्ण हो। परन्तु फिर भी नागरिक का जीवन दुःखी हो सकता है और उसकी सम्पत्ति को खतरा उत्पन्न हो सकता है। यदि न्याय करने में देरी हो जाए या न्याय में दोष रह जाए अथवा कानून की व्याख्या पक्षपातपूर्ण या भ्रामक हो''।

न्यायपालिका अर्थ एवं महत्व
(Meaning and Importance of Judiciary)

मनुष्य एक विचारवान प्राणी है। प्रत्येक मनुष्य के विचार भिन्न हो सकते है। विचारों की भिन्नता के कारण पारस्परिक संघर्ष भी नितान्त स्वाभाविक है। साथ ही साथ शासक वर्ग भी नागरिकों के अधिकारों में कटौती कर सकता है तथा अपनी शक्तियों का दुरूपयोग कर सकता है। ऐसे में एक स्वतन्त्र न्यायिक सत्ता का होना आवश्यक है, जो व्यक्तियों के पारस्परिक विवादों का हल कर सके तथा शासन को अपनी मर्यादाओं में रहने के लिए बाध्य कर सके। प्रो० लास्की के मत में ''एक राज्य की न्यायपालिका अधिकारियों के ऐसे समूह से परिभाषित की जा सकती है, जिसका कार्य राज्य के किसी कानून विशेष के उल्लंघन या तोड़ने संबंधी शिकायत का विभिन्न लोगों के बीच या नागरिकों और राज्य के बीच एक दूसरे के विरूद्ध होती है, समाधान व फैसला करता है''। इस प्रकार न्यायपालिका समाज में प्रचलित विधियों को लेकर उठने वाले विवादों का समाधान करने की संस्थागत व्यवस्था है।

लार्ड ब्राइस ने न्यायपालिका के महत्व को इन शब्दों में व्यक्त किया है– ''यदि विधि का शासन ईमानदारी के साथ काम नहीं करता है तो यही माना जाएगा कि नमक ने अपना क्षारीय स्वभाव खो दिया है। न्यायदीप ही यदि अन्धकार में विलीन हो जाए तो अन्धकार की गहनता का क्या अनुमान लगाया जा सकता है''। लोकतान्त्रिक एवं संघात्मक शासन व्यवस्था में न्यायपालिका का

महत्व और अधिक बढ़ जाता है। संघात्मक व्यवस्था में संघ तथा राज्य इकाईयों के बीच अधिकारों का विभाजन होता है, इसलिए दोनों के बीच वैधानिक संघर्ष की सम्भावना अधिक रहती है। अतः एक स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका इस संघर्ष को दूर कर सकती है। वास्तव में न्यायपालिका न केवल न्याय करने बल्कि जनता की स्वतन्त्रता एवं अधिकारों के संरक्षण एवं कानून का उल्लंघन करने वालों को दण्ड देने के लिए भी आवश्यक है। प्रो. लॉस्की ने लिखा है – '' जब हम जानते है कि राष्ट्र राज्य किस प्रकार अपने यहाँ न्याय करता है तब हमें यह ज्ञात होता है कि वह नैतिक चरित्र के किस स्तर पर है।'' प्रो0 गार्नर ने न्यायपालिका के महत्व को बड़े सरल शब्दों में व्यक्त किया है– ''न्यायपालिका के अभाव में एक सभ्य राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती है।''

न्यायपालिका का संगठन एवं कार्य
(Organisation and Function of the Judiciary)

संगठन (Organisation) –

1. जनता द्वारा निर्वाचित न्यायाधीश – विश्व के कुछ राष्ट्रों में न्यायाधीशों का निर्वाचन जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली से होता है जैसे अमेरिका तथा स्विडजरलैण्ड के कुछ कैन्टस्। लेकिन यह प्रणाली दोषपूर्ण है क्योंकि इसमें योग्य व्यक्तियों का निर्वाचन संदिग्ध है तथा न्यायाधीश दलबन्दी का शिकार भी हो सकते है। प्रो0 गार्नर ने कहा है कि ''जनता द्वारा निर्वाचित न्यायाधीशों का मुख्य दोष यह है कि इसमें दुर्बल एवं स्वतन्त्रताविहीन न्यायालयों का जन्म होता है''।

2. व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचित न्यायपालिका– स्विटजरलैण्ड के कुछ कैन्टंस तथा पूर्व सोवियत संघ में व्यवस्थापिका द्वारा न्यायाधीशों की नियुक्ति की जाती रही है। लेकिन इसमें भी न्यायपालिका के व्यवस्थापिका की कठपुतली बनने का खतरा है। साथ ही न्यायाधीशों की नियुक्ति योग्यता के आधार पर न होकर दलगत राजनैतिक मान्यताओं के आधार पर होने की सम्भावना है।

3. कार्यपालिका द्वारा नियुक्त न्यायपालिका – दुनिया के अधिकांश देशों में न्यायाधीशों की नियुक्ति कार्यपालिका द्वारा होती रही है। इस व्यवस्था से राजनैतिक दलबन्दी पर रोक लगती है तथा योग्य व्यक्ति न्यायाधीश के रूप में नियुक्त होते है।

कार्य (**Function**) – सामान्यतः प्रत्येक देश की न्यायपालिका निम्नांकित कार्यों को सम्पन्न करती है–

1. न्याय करना तथा अपराधियों को दण्ड देनाः– न्यायपालिका का सर्वप्रथम कार्य कानून के अनुसार न्याय करना तथा कानून के उल्लंघनकर्त्ता को विधि के अनुसार दण्ड देना है। न्यायपालिका व्यक्तियों के बीच तथा व्यक्ति एवं राज्य अथवा राज्यों के बीच विवादों का निपटारा करती है। दीवानी, फौजदारी तथा संवैधानिक मामलों में आवश्यक तथ्यों की जानकारी कर अपने–अपने पक्ष के दिए गए कानूनी तर्क के आधार पर फैसला करती है। प्राचीनकाल से ही कानून का उल्लघंन करने वाले को दण्ड देना न्यायपालिका का प्रमुख कार्य है।

2. संविधान की व्याख्याः– संविधान एवं कानून की भाषा प्रायः सर्वसाधारण के समझने की दृष्टि से कठिन है। कई बार संविधान में उत्पन्न विवादों और विभिन्न मुकदमों के सिलसिले में कानून की व्याख्या करना न्यायपालिका का मौलिक कार्य बन जाता है। जहाँ कानून मूक अथवा अस्पष्ट होता है वहाँ न्यायपालिका न केवल कानून को स्पष्ट करती है बल्कि अपने निर्णयों से विभिन्न प्रकार के कानूनों का निर्माण भी करती है। जिसे न्यायिक कानून (Case Law) कहते है। न्यायपालिका द्वारा की गयी व्याख्या तथा न्यायिक कानून का महत्व विधायिका द्वारा बनाए गए कानून के समान ही होता है।

3. संविधान का संरक्षण :– न्यायपालिका देश के संविधान की संरक्षक होती है। विशेषकर संघात्मक राज्यों में संविधान की सर्वोच्चता होती है। वहाँ व्यवस्थापिका या कार्यपालिका यदि संविधानेत्तर कोई कार्य करती है तो न्यायपालिका इसे असंवैधानिक घोषित करते हुए संविधान की रक्षा करती है। 2015 में भारत के सर्वोच्च न्यायालय द्वारा 'राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग' को अवैधानिक घोषित कर संविधान में प्रदत्त व्यवस्था का संरक्षण किया है।

4. मौलिक अधिकारों की रक्षाः– प्रायः प्रत्येक देश के संविधान ने अपने नागरिकों को कुछ मौलिक अधिकार दिए हैं, जब भी किन्हीं व्यक्ति अथवा राज्य द्वारा नागरिकों के मौलिक अधिकारों पर आघात किया जाता है तो नागरिक इन अधिकारों की रक्षा के लिए न्यायपालिका की शरण लेते हैं। न्यायालय विभिन्न प्रकार के लेख जारी कर नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करता है। भारत में संवैधानिक उपचारों का अधिकार मूल अधिकारों के संरक्षण का महत्वपूर्ण साधन है। जिसके तहत न्यायालय, बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, उत्प्रेषण तथा अधिकार पृच्छा लेख द्वारा नागरिकों के मूल अधिकारों की रक्षा करता है।

5. संघ–राज्य विवादों का निपटाराः– संघात्मक राज्य व्यवस्था में केन्द्र तथा राज्यों के बीच शक्तियों का विभाजन संविधान द्वारा किया जाता है। किन्तु अनेक बार केन्द्र और राज्यों में शक्तियों को लेकर विवाद उत्पन्न होता है, ऐसे में न्यायपालिका दोनों के हितों का संरक्षण कर न्याय एवं कानून सम्मत निर्णयों द्वारा विवादों का निपटारा करती है। इसलिए संघात्मक शासन व्यवस्था के लिए स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका का होना नितान्त आवश्यक है। न्यायपालिका संघ तथा राज्यों को अपनी–अपनी सीमा का अतिक्रमण न करने के लिए बाध्य कर सकती है।

6. परामर्श सम्बन्धी कार्यः– न्यायपालिका का एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य कार्यपालिका को परामर्श देना भी है। वह मुकदमों की सुनवाई एवं निपटारे के साथ–साथ संवैधानिक मसलों पर आवश्यकता पड़ने पर कार्यपालिका को सलाह देती है। ब्रिटेन की प्रिवी कौंसिल की न्यायिक समिति को राज्याध्यक्ष को कानूनी एवं वैधानिक मसलों पर परामर्श देने का अधिकार प्राप्त है। यद्यपि अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय को परामर्श सम्बन्धी क्षेत्राधिकार नहीं है। किन्तु स्वीडन, कनाड़ा, आस्ट्रेलिया सहित भारत में संविधान के अनु. 143 के तहत न्यायपालिका को परामर्श देने का अधिकार है।

प्रशासनिक कार्यः– न्यायपालिका को अपने आन्तरिक प्रशासन के सम्बन्ध में पर्याप्त अधिकार हैं। उच्चतम तथा उच्च न्यायालय अपने अधीनस्थ अधिकारी/ कर्मचारियों की सेवा शर्तें, नियुक्ति, पदोन्नति, स्थानान्तरण आदि का निर्धारण स्वयं करते है। न्यायालय के आन्तरिक प्रशासन में कार्यपालिका का किसी प्रकार

का हस्तक्षेप नहीं है। न्यायालय के आन्तरिक प्रशासन सम्बन्धी छोटे–छोटे नियमों को लागू करने का कार्य स्वयं न्यायपालिका का है।

विविध कार्यः– उक्त कार्यों के अतिरिक्त न्यायपालिका कुछ अन्य महत्वपूर्ण कार्य भी करती है जैसे विवाह, तलाक व नागरिकता के प्रमाण पत्र जारी करना, अपनी मानहानि करने पर किसी व्यक्ति को दण्डित करना, सार्वजनिक सम्पत्ति के न्यासी (Trustee) नियुक्त करना, दिवालिया फर्म के लिए 'रिसीवर' नियुक्त करना, नाबालिगों के संरक्षकों की नियुक्ति, वसीयतनामों का प्रमाणीकरण, न्यायिक समीक्षा आदि कार्य। अमेरिका में राष्ट्रपति अथवा किसी न्यायाधीश के विरूद्ध लगाए महाभियोग पर चर्चा के लिए बुलाई गई सीनेट की बैठक की अध्यक्षता वहाँ के सर्वोच्च न्यायालय का प्रधान न्यायाधीश करता है। भारत में भ्रष्टाचार तथा शक्तियों के दुरुपयोग सम्बन्धी मामलों के लिए न्यायाधीशों की अध्यक्षता में आयोग का गठन किया जाता है।

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता (INDEPENDENCE OF THE JUDICIARY)

किसी भी लोकतान्त्रिक एवं संघात्मक व्यवस्था में स्वतंत्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका नितान्त आवश्यक है। न्यायपालिका की स्वतंन्त्रता से अभिप्राय है कि न्यायपालिका के कार्य में व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका का कोई हस्तक्षेप न हो तथा उसके द्वारा की गई कानून की व्याख्या को समुचित मान्यता मिले। 'हेमिल्टन' ने न्यायपालिका की स्वतंत्रता के महत्व के बारे में लिखा है कि – ''किसी भी राज्य का कानून कितना ही अच्छा क्यों न हो, एक स्वतन्त्र तथा निष्पक्ष न्यायपालिका के बिना वह निष्प्राण है''। न्यायपालिका की स्वतंत्रता को निम्न साधनों द्वारा सुरक्षित किया जा सकता है–

1. न्यायधीशों की नियुक्ति :– न्यायपालिका की स्वतन्त्रता की पहली आवश्यकता न्यायधीशों की नियुक्ति का तरीका है। न्यायधीशों की नियुक्ति का आधार योग्यता एवं अनुभव मात्र हो न कि राजनैतिक निष्ठा। प्रायः न्यायाधीश की नियुक्ति के तीन प्रकार दुनिया भर में प्रचलित रहे हैं, जनता द्वारा, व्यवस्थापिका द्वारा तथा कार्यपालिका द्वारा न्यायाधीशों की नियुक्ति। जनता द्वारा अथवा व्यवस्थपिका द्वारा न्यायाधीशों की नियुक्ति को उपयुक्त नहीं माना गया है। इससे न्यायधीशों के न्यायाधीश होने की अपेक्षा राजनीतिज्ञ होने का खतरा रहेगा। इसलिए न्यायाधीशों की नियुक्ति का सर्वोत्तम तरीका कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति है। कभी–कभी कार्यपालिका भी राजनैतिक मान्यता के आधार पर न्यायाधीशों की नियुक्ति कर बैठती है। भारत में संविधान के अनुच्छेद 124(3) में राष्ट्रपति को न्यायाधीशों की नियुक्ति सर्वोच्च न्यायालय के वरिष्ठतम न्यायाधीशों के परामर्श से करने का अधिकार दिया है। किन्तु आपातकाल में तत्कालीन सरकार ने तीन वरिष्ठतम न्यायाधीशों की उपेक्षा कर अपने पसंदीदा अजीतनाथ राय को मुख्य न्यायाधीश नियुक्त कर दिया था। 2015 में भी सर्वोच्च न्यायालय ने राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग को यह मानते हुए अवैधानिक घोषित कर दिया कि 6 सदस्यीय आयोग में विधि मंत्री सहित 3 सदस्य कार्यपालिका का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं तथा प्रत्येक सदस्य को वीटो पावर भी प्राप्त है। अतः आवश्यक है कि स्वतंत्र एवं निश्पक्ष न्यायपालिका की नियुक्ति पूर्वाग्रह रहित कार्यपालिका द्वारा की जाए।

2. लम्बी एवं सुरक्षित पदावधिः– न्यायधीश का कार्यकाल समुचित रूप से लम्बा होना चाहिए। यह न तो अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश जैसा आजीवन हो और न ही साम्यवादी राष्ट्रों जैसा 4 या 5 वर्ष का छोटा कार्यकाल हो। न्यायाधीश की सेवानिवृत्ति की आयु निश्चित हो तथा भ्रष्ट एवं अयोग्य न्यायधीश को हटाने की उचित व्यवस्था संविधान में निहित हो। न्यायधीशों को हटाने का तरीका न तो इतना सरल हो कि आए दिन कार्यपालिका इसका दुरुपयोग करे और न ही इतना कठोर हो कि न्यायाधीश द्वारा संवैधानिक उल्लंघन के बावजूद उसे हटाया नहीं जा सके। भारतीय संविधान में इस दृष्टि से पर्याप्त प्रबन्ध किया गया है। यहाँ न्यायाधीशों को लम्बा एवं सुरक्षित कार्यकाल दिया है साथ ही महाभियोग प्रक्रिया द्वारा हटाने का भी प्रावधान किया गया है।

3. पर्याप्त वेतन भत्तेः– न्यायपालिका की स्वतंन्त्रता एवं निष्पक्षता बनाए रखने के लिए आवश्यक है कि न्यायाधीशों को पर्याप्त एवं उचित वेतन भत्ता मिले। हैमिल्टन ने अपनी पुस्तक राजनीति के तत्त्व (Elements of Poltics) में लिखा है कि –'' यह मानव स्वभाव है कि जो व्यक्ति अपनी आजीविका की दृष्टि से शक्ति सम्पन्न है। उनके पास संकल्प शक्ति का भी बड़ा बल होता है।'' यदि न्यायाधीशों का जीवन अभावग्रस्त रहेगा तो वह धन के प्रलोभन में भ्रष्ट बन सकते है। अतः उन्हें अपने सामाजिक जीवन स्तर के अनुरूप वेतन भत्ते मिलें तथा व्यवस्थापिका को उन्हें मिलने वाली परिलब्धियों में सामान्य परिस्थिति में हस्तक्षेप का अधिकार न हो।

4. कार्यपालिका से पृथकताः– एक ही व्यक्ति के हाथ में कार्यकारी एवं न्यायिक शक्ति होने से न्याय के सिद्धान्त की उपेक्षा सम्भव है। न्यायपालिका का कार्यपालिका के बन्धनों से मुक्त रखा जाना आवश्यक है। भारत के संविधान में नीति निर्देशक तत्वों (अनु० 50) में यह अपेक्षा की गई है कि कार्यपालिका न्यायपालिका के कार्यों में हस्तक्षेप न करे। न्यायाधीशों के काम में कार्यपालिका अथवा व्यवस्थापिका द्वारा तब तक हस्तक्षेप न किया जाए जब तक कि उनका आचरण एवं व्यवहार संविधान सम्मत है।

5. सेवानिवृत्ति के बाद वकालत एवं नियुक्ति पर प्रतिबन्धः– शक्ति के दुरूपयोग को रोकने के लिए आवश्यक है कि सेवानिवृत्ति के बाद न्यायाधीश को वकालत करने से रोका जाए, कम से कम उस न्यायालय में अवश्य जहाँ–वह न्यायाधीश रह चुका है। साथ ही साथ यदि न्यायाधीश की नियुक्ति सेवानिवृत्ति के पश्चात् राजदूत, राज्यपाल या मंत्री के रूप में की जाती है तो सम्भावना रहेगी कि वह अपने सेवाकाल में कार्यपालिका के प्रति वफादार रहेगा। परिणामतः सेवानिवृत्ति के निकट आते आते वह राज्य के प्रशासक से पुरस्कार पाने की इच्छा से न्याय के नैसर्गिक सिद्धान्त का उल्लंघन कर बैठेगा। न्यायाधीश को सेवानिवृत्ति के पश्चात् उचित पेंशन का प्रावधान हो तथा उसकी सेवाओं का उपयोग न्यायिक आयोग अथवा न्यायाधिकरण में लिया जाए।

निष्कर्षतः स्पष्ट है कि किसी देश के संविधान और शासन का मूल्यांकन उस देश की निष्पक्ष और स्वतंन्त्र

न्यायपालिका द्वारा ही किया जा सकता है। स्वस्थ, निष्पक्ष और स्वतन्त्र न्यायपालिका के अभाव में हम अच्छे प्रशासन की कल्पना नहीं कर सकते। डॉ० गार्नर के शब्दों में– ''न्यायधीशों में सत्यता और निर्णय देने की स्वतन्त्रता न हो तो, न्यायपालिका का सारा ढांचा खोखला प्रतीत होगा और उस उद्देश्य की सिद्धि नहीं होगी जिसके लिए उसका निर्माण किया गया है।''

न्यायिक पुनर्विलोकन (JUDICIAL REVIEW)

न्यायिक पुनर्विलोकन का प्रथम प्रयोग संयुक्त राज्य अमेरिका में किया गया। वर्तमान में संघात्मक शासन वाले देशों में विशेषकर कठोर संविधान और मौलिक अधिकार जहाँ प्रदान किए गए हैं, वहाँ न्यायिक पुनर्विलोकन की व्यवस्था की गई है। भारतीय संविधान में भी न्यायिक पुनर्विलोकन की व्यवस्था की गई है।

न्यायिक पुनर्विलोकन का अर्थः– न्यायिक पुनर्विलोकन सर्वोच्च न्यायालय को संविधान की रक्षा करने का अधिकार प्रदान करता है। संघ तथा राज्यों के विधान मण्डल अपनी संवैधानिक मर्यादाओं का उल्लंघन करते हैं अथवा मौलिक अधिकारों में किसी प्रकार की कमी करते हैं तो संसद अथवा विधानमण्डल द्वारा बनाए गए ऐसे किसी भी कानून को सर्वोच्च न्यायालय अवैध घोषित कर सकता है। साथ ही सर्वोच्च न्यायालय अपने पूर्व में दिए गए निर्णय की समीक्षा कर नए तथ्यों के प्रकाश में निर्णय परिवर्तित कर सकता है। न्यायालय की इस शक्ति को न्यायिक पुनर्विलोकन कहते हैं। कोर्बिन के अनुसार ''न्यायिक पुनर्विलोकन का तात्पर्य कानून की उस शक्ति से है जो अपने न्याय क्षेत्र के अन्तर्गत लागू होने व्यवस्थापिका के कानून की वैधानिकता का निर्णय देने के संबंध में तथा उन कानूनों को लागू करने से इन्कार करने के संबंध में प्राप्त है, जिन्हें वे अवैध और व्यर्थ समझें''।

न्यायिक पुनर्विलोकन का आधार– संविधान सिद्धान्तः दो आधार पर काम करता है। व्यवस्थापिका की सर्वोच्चता या संविधान की सर्वोच्चता। ब्रिटेन में व्यवस्थापिका सर्वोपरि है तथा उसे कानून निर्माण की असीमित शक्तियाँ प्राप्त है। जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका व भारत में संविधान की सर्वोच्चता है। भारतीय संविधान में शासन की सभी इकाईयों (केन्द्र–राज्य) को शक्तियाँ संविधान से प्राप्त होती हैं। शासन की कोई इकाई यदि अपनी शक्तियों का अतिक्रमण करती है तो न्यायपालिका को उसे अवैध घोषित करने का अधिकार दिया गया है।

भारत में सर्वोच्च न्यायालय को उतनी शक्ति नहीं दी गई जितनी कि अमेरिका में वहाँ के सर्वोच्च न्यायालय को दी गई है। भारतीय संविधान में जापानी संविधान की तरह 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' शब्द को अपनाया गया है, जिसमें भारतीय संविधान सर्वोच्च न्यायालय को संघीय तथा राज्य विधान मण्डल द्वारा अपनी कानून निर्माण की शक्ति का उल्लंघन कर बनाए गए कानून को अवैधानिक घोषित करने का अधिकार प्रदान करता है। जबकि 'अमेरिका में कानून की उचित प्रक्रिया' शब्द को अपनाया गया है। इसके अर्न्तगत अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय कानून निर्माण की क्षमता के साथ–साथ कानून निर्माण की उचित प्रक्रिया को अपनाया गया है अथवा नहीं, के आधार पर कानून की वैधानिकता की जाँच करता है। अमेरिकी संविधान की यह व्यवस्था व्यवस्थापिका के काम में न्यायपालिका का हस्तक्षेप दर्शाती है। प्रो० लॉस्की के शब्दों में ''न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति के कारण सर्वोच्च न्यायालय कांग्रेस का तीसरा सदन बन गया है।''

न्यायिक पुनर्विलोकन की आलोचना

न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति ने व्यवस्थापिका के काम में न्यायपालिका के हस्तक्षेप की सम्भावनाओं को जन्म दिया है। भारत सहित अमेरिका व अन्य देशों में न्यायपालिका द्वारा किसी प्रमुख कानून अथवा प्रशासनिक निर्णय को अवैध घोषित किये जाने पर सत्तासीन राजनैतिक दलों द्वारा न्यायपालिका के इस अधिकार को आलोचना का शिकार होना पड़ा है। भारत में 1967 से 1973 के वर्षो में व्यवस्थापिका से न्यायपालिका के टकराव की स्थिति विशेष रही है। न्यायिक पुनर्विलोकन की निम्न आधार पर आलोचना की जा सकती है–

1. शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त के प्रतिकूलः– लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्था में शासन के तीनों अंगों में सन्तुलन रखते हुए शक्ति पृथक्करण पर बल दिया गया है। अमेरिका में संविधान की मुख्य विशेषता ही शक्ति पृथक्करण है। न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति न्यायपालिका को व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका के कार्यो में हस्तक्षेप के अवसर देकर शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त की अवेहलना करती है।

2. प्रगतिशीलता में बाधकः– लोकतंत्र में अन्तिम शक्ति जनता में निहित है। संसद जनता की शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है। न्यायपालिका की न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति अनेक बार संसद द्वारा जनहितकारी कानूनों को अवैध घोषित कर प्रगतिशीलता में बाधा पहुँचाती है। अमेरिका में राष्ट्रीय पुनरुद्धार एक्ट तथा कृषि आयोजन एक्ट, कानूनों को रद्द किया गया। इसी प्रकार भारत में भूमि सुधार कानून, प्रिवीपर्स की समाप्ति, बैंकों के राष्ट्रीयकरण जैसे लोक कल्याणकारी कानून को खत्म किया गया।

3. विरोधाभासी निर्णयः– न्यायिक पुनर्विलोकन में न्यायालय समय–समय पर अपने पूर्व में दिए निर्णयों में बदलाव कर परस्पर विरोधाभासी स्थिति को जन्म देते हैं। भारत में 1952 एवं 1965 में संसद द्वारा मौलिक अधिकारों को सीमित अथवा संशोधित करने की शक्ति को सही ठहराया गया, किन्तु 1967 में 'गोलकनाथ विवाद' में कहा गया कि संसद मौलिक अधिकारों को सीमित नहीं कर सकती। ऐसी स्थिति अनेक बार न्यायाधीशों को स्वेच्छाचारी होने अथवा अपने सामाजिक राजनैतिक सरोकारों को थोपने का अवसर प्रदान करती है।

4. न्यायपालिका की सर्वोच्चता का हिमायतीः– अमेरिका में सर्वोच्च न्यायालय को कानून की उचित प्रक्रिया शब्दावली के साथ कानून के औचित्य की समीक्षा करने की शक्ति प्राप्त है। यह शक्ति लोकतान्त्रिक दृष्टि से सर्वथा अनुचित है। व्यवस्थापिका जन आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करती है। अतः उसके द्वारा जनकल्याण के लिए लाए गए कानून के औचित्य की समीक्षा करना न्यायपालिका को सर्वोच्चता प्रदान करता है और उसे व्यवस्थापिका के तीसरे अंग के रूप में प्रतिपादित करता है।

उक्त आलोचनाओं के होते हुए भी न्यायिक पुनर्विलोकन की व्यवस्था ने संघात्मक शासन व्यवस्था को स्थिरता प्रदान की है। संविधान की रक्षा, नागरिकों के मौलिक अधिकारों की रक्षा तथा

शासन की शक्तियों को मर्यादित करने में न्यायिक पुनर्विलोकन की महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

न्यायिक सक्रियता एवं जनहित याचिका (JUDICIAL ACTIVISM AND PUBLIC INTEREST LITIGATION)

विगत वर्षो में न्यायपालिका जनहित याचिकाओं के माध्यम से अधिक सक्रिय हुई है। सामान्यतः पीड़ित पक्ष द्वारा न्यायालय की शरण लेने पर ही न्याय की स्थापना होती है। लेकिन वर्तमान में आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टि से कमजोर वर्ग के लिए स्वैच्छिक संगठन तथा कोई भी सम्पन्न व्यक्ति या समूह न्यायालय में वाद दायर कर सकता है। भारत में न्यायिक सक्रियता का प्रारम्भ 1986 से माना जाता है जब सर्वोच्च न्यायालय में न्यायमूर्ति पी०एन० भगवती ने एक पोस्टकार्ड पर भेजी गई जनहित याचिका की सुनवाई की। 1990 के दशक तथा उसके बाद के वर्षो में राजनैतिक व्यवस्था में आये बदलाव से न्यायपालिका की भूमिका बढी है। कार्यपालिका की स्वेच्छाचारी कर्तव्य विमुखता, अत्यधिक भ्रष्टाचार, राजनैतिक अस्थिरता एवं अपराधीकरण ने न्यायिक सक्रियता को बल दिया है। कावेरी जल विवाद, वीरप्पन की गिरफ्तारी तथा दिल्ली में स्वच्छता जैसे विषयों में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा सरकार को सीधे निर्देश देकर अपनी न्यायिक सक्रियता को प्रदर्शित किया है। न्यायमूर्ति पी०बी० सांवत के अनुसार ''जिनका कर्त्तव्य विधि को लागू करना है जब वे लोग ही विधि का सम्मान नहीं करते तो ऐसी परिस्थितियाँ न्यायपालिका को हस्तक्षेप करने और कानून के रक्षक के रूप में दृढ़तापूर्वक अपनी भूमिका निभाने के लिए विवश करती है''। न्यायिक सक्रियता संविधान की रचनात्मक व्याख्या कर तथा स्वयं शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त पर अमल करते हुए लोकतान्त्रिक व्यवस्था को बनाए रखने का सक्षम माध्यम बन सकती है।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

सरकार– राज्य का मूर्तरूप, राज्य के उद्देश्यों की अभिव्यक्ति का साधन ।

सरकार के अंग– व्यवस्थापिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका।

व्यवस्थापिका– विधायिका, विधानमण्डल, विभिन्न राज्यों में भिन्न–भिन्न नाम, भारत में संसद।

व्यवस्थापिका के कार्य

कानून निर्माण।
कार्यपालिका पर नियन्त्रण, प्रश्न पूछकर, काम रोको प्रस्ताव, अविश्वास प्रस्ताव।
वित्तीय कार्य।
न्यायिक कार्य।
निर्वाचन सम्बन्धी कार्य।
संविधान संशोधन सम्बन्धी कार्य।
वैदेशिक मामले एवं अन्य कार्य।

व्यवस्थापिका का संगठन

एक सदनीय व्यवस्थापिका
द्विसदनीय व्यवस्थापिका – निम्न सदन, प्रथम सदन, लोकप्रिय सदन, द्वितीय सदन, वरिष्ठ सदन, उच्च सदन
प्रथम सदन– जनता का प्रतिनिधित्व – (भारत में लोकसभा, इग्लैण्ड में हाउस ऑफ कॉमन, अमेरिका में हाउस ऑफ रिप्रंजेन्टेटिव)
द्वितीय सदन – राज्यों का प्रतिनिधित्व – (भारत में राज्यसभा, इग्लैण्ड में हाउस ऑफ लार्डस, अमेरिका में सीनेट)

व्यवस्थापिका का ह्रास

कार्यपालिका का बढ़ता प्रभाव।
प्रदत्त व्यवस्थापन।
दलीय अनुशासन।
न्यायपालिका की भूमिका।
संचार माध्यमों का प्रभाव।

कार्यपालिका

कार्यपालिका का अर्थः–
- सरकार का महत्वपूर्ण अंग
- कानून को लागू करवाने वाली संस्था
- शासन का केन्द्र बिन्दु
- व्यापक एवं संकुचित अर्थ

कार्यपालिका के प्रकारः–
- नाममात्र की कार्यपालिका
- वास्तविक कार्यपालिका
- संसदात्मक कार्यपालिका
- अध्यक्षात्मक कार्यपालिका
- एकल एवं बहुल कार्यपालिका
- सर्वाधिकारवादी (तानाशाही) कार्यपालिका

कार्यपालिका के कार्यः–
- आन्तरिक प्रशासन
- राजनयिक कार्य
- विधायी कार्य
- वित्तीय कार्य
- न्यायिक कार्य
- सैन्य कार्य
- अन्य कार्य

कार्यपालिका के कार्यो में वृद्धि
- राज्य के कार्यक्षेत्र में वृद्धि
- प्रदत्त व्यवस्थापन
- दलीय अनुशासन
- व्यवस्थापिका कीशक्तियों का ह्रास
- औद्योगिक क्रान्ति

मूल्यांकन

कार्यपालिका के बढ़ते हुए कार्य एवं शक्तियों को तानाशाह बनने के बजाए विवेक सम्मत नियन्त्रण से लोक कल्याणकारी एवं उत्तरदायी शासन की स्थापना में सहायक।

न्यायपालिका

अर्थ
- न्यायपालिका सरकार का तीसरा महत्वपूर्ण अंग।
- न्यायिक प्रक्रिया की संरचनात्मक व्यवस्था।
- विधि के शासन का साधन ।

कानून की व्याख्याता।

महत्व–

न्यायिक अधिकारों की सुनिश्चिता
लोकतान्त्रिक व्यवस्था का आधार
संघीय शासन के लिए अधिक उपयोगी
सभ्य समाज का आधार

न्यायपालिका का संगठनः–

जनता द्वारा निर्वाचित
व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचित
कार्यपालिका द्वारा नियुक्त

न्यायपालिका के कार्य–

न्याय करना तथा अपराधियों को दण्ड देना
संविधान की व्याख्या
संविधान का संरक्षण
मौलिक अधिकारों की रक्षा
संघ राज्य विवादों का निपटारा
परामर्श सम्बन्धी कार्य
प्रशासनिक कार्य
विविध कार्य

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता–

न्यायाधीशों की नियुक्ति
लम्बी तथा सुरक्षित पदावधि
पर्याप्त वेतन भत्ते
कार्यपालिका से पृथकता
सेवानिवृत्ति के बाद वकालत एवं नियुक्ति पर प्रतिबन्ध

न्यायिक पुनर्विलोकनः–

प्रथम प्रयोग संयुक्त राज्य अमेरिका में
संविधान की रक्षा के लिए आवश्यक
संसद तथा विधान मण्डलों को शक्ति का मर्यादित उपयोग करने के लिए उपयुक्त
संविधान की सर्वोच्चता को स्वीकार्यता
भारत में ''विधि की स्थापित प्रक्रिया'' शब्दावली का प्रयोग
अमेरिका में 'विधि की उचित प्रक्रिया'शब्दावली का प्रयोग

न्यायिक पुनर्विलोकन की आलोचना–

शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त के प्रतिकूल
प्रगतिशीलता में बाधक
विरोधाभासी निर्णय
न्यायपालिका की सर्वोच्चता का हिमायती

महत्वः–

संविधान की रक्षा
संघात्मक शासन को स्थिरता
मौलिक अधिकारों की रक्षा
शासन की शक्तियों को मर्यादित रखने का साधन

न्यायिक सक्रियता–

कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका द्वारा कार्य की उपेक्षा करने पर सक्रिय
जनहित याचिका
भारत में 1990 के दशक में न्यायपालिका की सक्रियता में वृद्धि
कावेरी जल विवाद में प्रमुख रूप से सक्रिय

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्नः–

1. कानून निर्माण का प्रमुख कार्य कौन करता है?
2. द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका क्या है?
3. राष्ट्रीय वित्त पर किसका नियंन्त्रण रहता है?
4. संविधान में संशोधन की शक्ति किसके पास है?
5. किस राज्य के सर्वोच्च न्यायालय को व्यवस्थापिका का तीसरा सदन कहा गया है?
6. कार्यपालिका का क्या अर्थ है?
7. वंशानुगत कार्यपालिका किस देश में प्रचलित है?
8. कार्यपालिका का प्रमुख कार्य क्या है?
9. निरंकुश कार्यपालिका का एक दोष बताइए ?
10. कार्यपालिका की शक्तियों में वृद्धि का प्रमुख कारण क्या है?
11. देश का सर्वोच्च सेनापति कौन होता है?
12. क्षमादान का अन्तिम अधिकार किसके पास है?
13. किस देश में कानून की उचित प्रक्रिया के तहत न्यायिक पुनर्विलोकन किया जाता है?
14. न्यायपालिका का परामर्श सम्बन्धी कार्य सरकार के किस अंग से सम्बद्ध है ?
15. न्यायाधीशों की नियुक्ति का सर्वोत्तम तरीका क्या है ?
16. जनहित याचिका किसे कहते है ?
17. न्यायपालिका की स्वतन्त्रता क्यों आवश्यक है?
18. संघात्मक शासन में न्यायपालिका का प्रमुख कार्य क्या है?
19. ''न्यायपालिका के बिना सभ्य समाज की कल्पना नहीं की जा सकती'' कथन किसका है?

लघुत्तरात्मक प्रश्नः–

1. व्यवस्थापिका का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
2. आधुनिक राज्य में व्यवस्थापिका के महत्व को स्पष्ट कीजिए।
3. द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के पक्ष में तर्क दीजिए।
4. भारत के संदर्भ में व्यवस्थापिका के संविधान संशोधन सम्बन्धी कार्य को स्पष्ट कीजिए
5. संसदीय एवं अध्यक्षीय कार्यपालिका में क्या अन्तर है?
6. नाममात्र की कार्यपालिका से क्या अभिप्राय है?
7. प्रदत्त व्यवस्थापन क्या है ?
8. एकल एवं बहुल कार्यपालिका के स्वरूप को समझाइए।
9. ''कार्यपालिका ने व्यवस्थापिका को पीछे धकेल दिया है।'' कैसे?
10. न्यायपालिका का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
11. न्यायिक पुनर्विलोकन क्या है?
12. न्यायालय की सक्रियता से क्या आशय है ?
13. न्यायिक पुनर्विलोकन प्रगतिशीलता में बाधक है। कैसे?
14. भारत में न्यायाधीशों की नियुक्ति प्रक्रिया समझाइए।

निबन्धात्मक प्रश्नः–

1. व्यवस्थापिका का अर्थ स्पष्ट करते हुए उसके कार्यों पर प्रकाश डालिए।
2. व्यवस्थापिका के संगठन से क्या अभिप्राय है?द्विसनात्मक व्यवस्थापिका के पक्ष तथा विपक्ष में तर्क दीजिए।

3. व्यवस्थापिका के पतन के कारण बताइए।
4. कार्यपालिका का अर्थ स्पष्ट करते हुए प्रमुख कार्य बताइए।
5. कार्यपालिका से आप क्या समझते है, इसके विभिन्न प्रकारों पर प्रकाश डालिए ?
6. कार्यपालिका के कार्यो में वृद्धि के कारणों की विवेचना कीजिए?
7. न्यायपालिका का अर्थ स्पष्ट करते हुए उसके संगठन एवं कार्यो पर प्रकाश डालिए ?
8. न्यायपालिका की स्वतन्त्रता का आशय स्पष्ट करते हुए साधनों का वर्णन कीजिए ?
9. न्यायिक पुनर्विलोकन की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए?

बहुचयनात्मक प्रश्नः–

1. राज्य की इच्छा की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति है –
   (अ) न्यायपालिका (ब) व्यवस्थापिका
   (स) कार्यपालिका (द) संचार माध्यम ( )
2. विपक्ष का सर्वाधिक शक्तिशाली उच्च सदन है–
   (अ) सीनेट (ब) हाउस ऑफ लार्डस
   (स) राज्यसभा (द) लोकसभा ( )
3. द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के आलोचकों के मत में यह –
   (अ) विलम्बकारी संस्था (ब) प्रतिक्रियावादी सदन
   (स) सम्प्रभुता सिद्धान्त विरोधी (द) उपर्युक्त सभी ( )
4. व्यवस्थापिका के कार्यपालिका पर प्रभावी नियन्त्रण का साधन है–
   (अ) प्रश्न पूछकर (ब) काम रोको प्रस्ताव
   (स) ध्यानाकर्षण प्रस्ताव (द) अविश्वास प्रस्ताव ( )
5. वंशानुगत कार्यपालिका का उदाहरण है ?
   (अ) भारत (ब) अमेरिका
   (स) इंग्लैण्ड (द) फ्रान्स ( )
6. ''कार्यपालिका वह धुरी है जिसके चारों ओर प्रशासन तंत्र घूमता है'' कथन किसका है?
   (अ) गार्नर (ब) फाइनर
   (स) लास्की (द) गिल क्राइस्ट ( )
7. कानून का पालन कराने की प्रमुख जिम्मेदार संस्था है –
   (अ) व्यवस्थापिका (ब) कार्यपालिका
   (स) न्यायपालिका (द) प्रेस ( )
8. अध्यक्षात्मक कार्यपालिका है –
   (अ) स्विट्जरलैण्ड (ब) इंग्लैण्ड
   (स) भारत (द) अमेरिका ( )
9. बहुल कार्यपालिका का उदाहरण है–
   (अ) भारत (ब) स्विट्जरलैण्ड
   (स) इंग्लैण्ड (द) अमेरिका ( )
10. न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के लिए आवश्यक है ?
    (अ) न्यायाधीशों की जनता द्वारा नियुक्ति
    (ब) अल्प कार्यकाल
    (स) महाभियोग की सरल प्रक्रिया
    (द) निश्चित एवं दीर्घ कार्यकाल ( )
11. कानून की व्याख्या का काम है ?
    (अ) कार्यपालिका का (ब) नौकरशाही का
    (स) न्यायपालिका का (द) व्यवस्थापिका का ( )
12. ''न्यायदीप ही अन्धकार में विलीन हो जाए तो अन्धकार की गहनता का क्या अनुमान लगाया जा सकता है'' कथन है–
    (अ) लार्ड ब्राइस का (ब) लास्की का
    (स) मेरियट का (द) गार्नर ( )
13. न्यायपालिका का मूल कार्य है–
    (अ) कानून निर्माण (ब) कानून के अनुसार न्याय
    (स) कानून का क्रियान्वयन (द) प्रधानमंत्री की नियुक्ति( )
14. संघ राज्यों के मध्य विवाद का निपटारा होता है–
    (अ) संसद में (ब) सर्वोच्च न्यायालय में
    (स) विधानमण्डल में (द) राष्ट्रपति द्वारा ( )

उत्तरमाला वस्तुनिष्ठ प्रश्न :–

1. ब, 2. अ, 3. द, 4. द 5. स, 6. अ, 7. ब,
8. द, 9. ब 10. द, 11. स, 12. अ, 13. ब 14. ब

अध्याय–12
शक्ति पृथक्करण तथा अवरोध एवं संतुलन सिद्धान्त

शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त
(Theory of Separation of Power)

शक्ति पृथक्करण राजनीति शास्त्र का महत्वपूर्ण विषय है। ज्यों ज्यों राज्य के कार्यों में वृद्धि हुई है त्यों–त्यों शासन के अंग–उपांगों में संघर्ष की सम्भावना बढ़ी है। प्रारम्भिक काल में शासन का एक मात्र स्त्रोत राजा होता था, वही विधि निर्माता, कार्यपालिका तथा न्यायाधिपति होता था। कालान्तर में शासन को तीन विभागों में विभक्त कर उसकी शक्ति एवं कार्य निर्धारित किए गए। कानून निर्माण, कानून का क्रियान्वयन एवं न्याय। इन तीनों विशेष कार्यों के सरकार के लिए तीन अंग क्रमशः व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका बने। शक्ति एवं कार्यों का यह विभाजन शासन को अत्याचारी होने से रोकता है।

शक्ति पृथक्करण का अर्थ
(Meaning of Separation of Power)

शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का अर्थ है कि जब व्यवस्थापन, शासन तथा न्याय से संबंधित शक्तियाँ एक दूसरे से स्वतंत्र होकर कार्य करें तथा किसी दूसरे अंग के कार्य में हस्तक्षेप न करें, तो हम इसे शक्तियों का पृथक्करण कहते हैं। शक्ति पृथक्ककरण सिद्धान्त की मान्यता यह है कि शासन का कोई अंग दूसरे अंग के कार्यो को सम्पादित, प्रत्यायोजित या उसमें हस्तक्षेप न करें। मैडिसन के शब्दों में– ''वैधानिक, प्रशासनिक तथा न्यायिक शक्तियों का एक हाथ में केन्द्रित होना, चाहे वह व्यक्ति हो या बहुत से व्यक्ति हों या चाहे वे आनुवांशिकी, स्वनियुक्ति या निर्वाचित क्यों न हो, अत्याचार पूर्ण शासन की परिभाषा कही जा सकती है''।

शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का विकास
(Evolution of the Theory of Separation of Powers)

यूनानी दार्शनिक अरस्तू ने अपने शासन विधान को पहली बार 1. विमर्शकारी, 2. कार्यकारी, 3. न्यायकारी नामक तीन विभागों में बाँटा था जो वर्तमान युग के व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका को परिभाषित करते हैं। शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का प्रतिपादन 16वीं सदी में फ्रान्सिसी दार्शनिक 'जीन बोदाँ' ने किया। बाद में 17 वीं शताब्दी में इंग्लैण्ड में 'प्युरिटन क्रान्ति' के समय कार्यपालन एवं विधायन शक्तियों का पृथक्करण किया गया। 18वीं शताब्दी में 'हेरिंग्टन जेम्स' ने कार्यपालिका और विधायिका के बीच शक्ति विभाजन का समर्थन किया जबकि 'जॉन लॉक' ने शासन शक्तियों को व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा संघात्मक शक्तियों में विभाजित किया।

यद्यपि जीन बोदाँ को शक्ति पृथक्करण सिद्धात का जनक कहा जाता है। किन्तु शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त को वास्तविक एवं अन्तिम रूप देने का श्रेय फ्रान्सिसी दार्शनिक 'मांटेस्क्यू' को है। उसने अपनी पुस्तक 'द स्पिरिट ऑफ लॉज' (The Sprit of Laws) में इस सिद्धान्त की स्पष्ट एवं विस्तृत व्याख्या की है। मांटेस्क्यू के समय फ्रान्स में निरंकुश शासन था। सम्राट लुई चौदहवाँ कहा करता था, ''मैं ही राज्य हूँ''। (I am the State) मांटेस्क्यू इंग्लैण्ड की तत्कालीन सीमित राजतन्त्रात्मक व्यवस्था से प्रभावित हुआ तथा उसने अनुभव किया कि निरंकुश राजतन्त्रात्मक व्यवस्था व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिए खतरा है। अतः मांटेस्क्यू के विचार में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा तथा न्याय की स्थापना के लिए शक्तियों का विभाजन आवश्यक हैं। मांटेस्क्यू ने शासन के प्रत्येक विभाग की शक्ति को सीमित और मर्यादित रहते हुए अपने–अपने क्षेत्र का अतिक्रमण न करने तथा प्रतिरोध और संतुलन (Checks and Balance) की स्थिति को बनाए रखने पर बल दिया।

मांटेस्क्यू के बाद अंग्रेज विचारक 'ब्लैकस्टोन', ने शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का समर्थन किया। ब्लैकस्टोन के अनुसार ''जब कानून बनाने और उसको चलाने का अधिकार एक ही व्यक्ति या व्यक्ति समूह में निहित हो तो वहाँ जनता की स्वतन्त्रता नहीं रह सकती''। प्रसिद्ध अमेरिकी विद्वान 'मैडिसन' ने भी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिए शक्तियों के विभाजन को आवश्यक बताया है। 'जेफरसन' ने विधायिनी कार्यकारिणी तथा न्यायिक शक्तियों के एक ही हाथ में केन्द्रीकरण को निरंकुशता की संज्ञा दी है तथा फ्रान्स में 'अधिकार घोषणा' की धारा 16 में कहा गया है कि ''जिस देश और समाज में अधिकार विभाजन नहीं है, वहाँ कोई संविधान नहीं है''। भारतीय संविधान में शक्तियों के पृथक्करण सिद्धान्त के स्थान पर 'शक्तियों के समन्वय सिद्धान्त' को अपनाया गया है।

शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त भी राजनीति शास्त्र के अन्य सिद्धान्तों की भाँति राजनैतिक विश्लेषकों में विवाद का विषय

रहा है। कतिपय विद्वान इस सिद्धान्त के समर्थन में अपना मत व्यक्त करते हैं। जबकि कुछ इसे अनुपयोगी बताते हुए शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त की आलोचना भी करते है। अग्रांकित बिन्दुओं में शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त के गुण–दोषों को व्यक्त किया गया है–

शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त के गुण (Merits of the Theory of Separation of Power)

शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त के गुण निम्नांकित है–

1. शक्तियों का विकेन्द्रीकरणः– शक्तियों का केन्द्रीकरण भ्रष्टाचार एवं अत्याचार की सम्भावना को जन्म देता है। शक्ति पृथक्करण शासन सत्ता को तीन स्वतन्त्र विभागों में विभक्त कर सरकार के समस्त कार्यों को श्रेष्ठता एवं गतिशीलता प्रदान करता है।

2. स्वेच्छाचारी शासन पर रोकः– शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसके व्यवहार में उपयोग में लाने से स्वेच्छाचारी अथवा निरंकुश शासन की स्थापना नहीं हो सकती। मान्टेस्क्यू, जैफरसन तथा ब्लैकस्टोन जैसे विद्वानों ने इसी आधार पर शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त ने पहले राजाओं तथा बाद में व्यवस्थापिका की निरंकुशता पर रोक लगाई है।

3. नागरिक स्वतन्त्रता की रक्षाः– शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश शासन का अन्त कर नागरिकों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा करता है। शक्ति पृथक्करण के चलते शासन का कोई भी अंग नागरिक स्वतन्त्रता में बाधा उत्पन्न नहीं कर सकता।

4. स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका की स्थापनाः– शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका को न्यायपालिका के काम में हस्तक्षेप करने से रोकता है। इस सिद्धान्त के अभाव में न्यायपालिका स्वतन्त्र एवं निष्पक्षतापूर्वक न्याय करने में असमर्थ रहेगी। प्रो० लास्की ने भी कहा है– ''शक्ति विभाजन सिद्धान्त का अधिकतम मूल्य इस विशेषता में निहित है कि इससे न्यायपालिका की स्वतन्त्रता स्थापित होती है''।

5. विभिन्न योग्यता का सदुपयोगः– लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा ने शासन के कार्यों में अत्यधिक वृद्धि की है। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अलग–अलग योग्यता एवं अनुभव की आवश्यकता है। शासन सम्बन्धी कार्य विभिन्न विभागों द्वारा संचालित होते हैं। एक ओर जहाँ कानून निर्माण के लिए व्यापक दृष्टिकोण एवं दूरदर्शिता की आवश्यकता है, तो दूसरी ओर प्रशासनिक कार्य के लिए कार्य कुशलता, दृढ़ता एवं निर्भयता जरूरी है। न्याय की स्थापना के लिए निष्पक्ष एवं सत्य असत्य में अन्तर कर सकने वाले विवेक सम्पन्न व्यक्ति की आवश्यकता है। अतः शासन शक्तियों के समुचित क्रियान्वयन तथा मर्यादित आचरण के लिए विभिन्न प्रतिभाओं की सेवाओं का अवसर शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त के तहत राज्य को प्राप्त होता है।

शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त की आलोचनाएँ (Criticims of the theory of separation of power)

शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त की निम्न आधारों पर आलोचना की जा सकती है–

1. अलोकतान्त्रिक – आधुनिक समय में प्रजातन्त्र के विकास के परिणामस्वरूप लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को बल मिला है। अतः सरकार के कार्यो में वृद्धि हुई है तथा जन आकांक्षाएँ भी बढ़ी हैं। प्रजातन्त्र में जन आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व व्यवस्थापिका करती है। ऐसे में कई बार न्यायपालिका की स्वतन्त्र सत्ता व्यवस्थापिका के जनकल्याणकारी कार्यों में बाधा उत्पन्न कर लोकतंन्त्र की मूलभावना को नष्ट कर सकती हैं।

2. सरकार के अंगों में अन्तर्कलह :– शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त शासन के विभिन्न अंगों में आन्तरिक संघर्ष की सम्भावना को जन्म देता है। शासन के तीनों अंग एक–दूसरे से स्वतन्त्र रहकर कार्य करेंगे तो शासन में गतिरोध बढ़ जाएगा। सरकार का प्रत्येक अंग अपनी शक्तियों की रक्षा में अधिक रूचि लेगा। इसलिए सरकार के समुचित संचालन के लिए शक्ति पृथक्करण के स्थान पर सरकार के तीनों अंगों में परस्पर समन्वय, सहयोग व सन्तुलन आवश्यक है।

3. अवैज्ञानिक – सरकार का गठन सावयव सिद्धान्त के आधार पर होता है। उसके विभिन्न अंगों में आंगिक एकता पाई जाती है। प्रत्येक अंग अपने कार्य के लिए एक–दूसरे पर आश्रित है। प्रो० लास्की का मत है– ''कार्यपालिका और न्यायपालिका के अधिकारों की सीमा व्यवस्थापिका द्वारा घोषित की गई इच्छा में निहित है''। सरकार के अंगों का पृथक्करण व्यवहार में सम्भव नहीं है। इसलिए यह सिद्धान्त न तो वैज्ञानिक है और न ही वांछनीय।

4. स्वतन्त्रता के लिए आवश्यक नहीं :– मान्टेस्क्यू व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिए शक्ति पृथक्करण को आवश्यक मानता है। किन्तु उसकी यह धारणा उचित नहीं है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए अच्छे कानून के साथ साथ उसके सफल क्रियान्वयन तथा न्याय की नैसर्गिकता आवश्यक है। संसदीय शासन व्यवस्था में व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका में

घनिष्ठता के होते हुए भी नागरिकों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में कोई कमी नहीं रहती। गेटेल ने स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए शक्ति विभाजन को आवश्यक नहीं माना है। जबकि प्रो० लॉस्की स्वतन्त्रता के लिए 'सतत जागरूकता' को अधिक महत्वपूर्ण मानता है, न कि शक्ति पृथक्करण को।

निष्कर्ष

शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त यद्यपि शासन शक्तियों का विकेन्द्रीकरण करने पर बल देता है, किन्तु वास्तव में शासन का एक अंग दूसरे अंग से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। मांटेस्क्यू की कल्पना के अनुसार शासन के तीनों कार्यों के बीच भेद करना सम्भव नहीं है, इसे पूर्णतः लागू करने पर व्यावहारिक कठिनाईयाँ उत्पन्न होंगी। संसदीय शासन व्यवस्था में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के बीच संतुलन रखना नितांत आवश्यक है। इसलिए शक्ति पृथक्करण के स्थान पर 'नियन्त्रण एवं संतुलन का सिद्धान्त' अधिक उपयोगी है। जिसमें विभिन्न अंग न केवल एक दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप न करें बल्कि किसी अंग को निरंकुश होने से भी रोकें। कानून निर्माण के क्षेत्र में व्यवस्थापिका की भूमिका प्रमुख रहे। किन्तु संविधानेत्तर कानूनों को न्यायपालिका अवैध घोषित कर सके। इसी प्रकार शासन संचालन का कार्य कार्यपालिका द्वारा सम्पादित हो। कार्यपालिका के निरंकुश आचरण पर व्यवस्थापिका का प्रभावी नियन्त्रण रहे। निष्पक्ष न्याय के लिए न्यायपालिका का कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका के दवाब से स्वतन्त्र होना आवश्यक है। किन्तु न्यायपालिका पर भी समुचित नियन्त्रण आवश्यक है। भारत तथा अमेरिका में संवैधानिक व्यवस्थाओं का अतिक्रमण करने तथा सिद्ध कदाचार की स्थिति में व्यवस्थापिका महाभियोग के आधार पर न्यायाधीशों को पद मुक्त कर सकती है। नियन्त्रण एवं संतुलन के इस सिद्धान्त का प्रमुख उद्देश्य शासन के तीनों अंगों को अपनी संवैधानिक मर्यादा में रखना है न कि शासन की कार्य कुशलता पर प्रतिकूल प्रभाव डालना।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का अर्थ–

सरकार के तीनों अंगों– व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका को स्वतन्त्रतापूर्वक विधि निर्माण, विधि का शासन एवं विधि के अनुसार न्याय करने की व्यवस्था।

शासन की निरंकुशता पर नियन्त्रण

शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का विकासः–

इन विद्वानों का योगदान रहा है–

1. अरस्तू, सिसरो
2. 16 वीं शताब्दी में फ्रान्सिसी विचारक जीन बोदाँ
3. 17 वीं शताब्दी में इंग्लैण्ड में प्युरिटन, क्रान्ति के समय विधायन एवं कार्यपालन पृथक–पृथक
4. 18 वीं शताब्दी में हेरिंगटन जेम्स एवं जॉन लॉक द्वारा समर्थन
5. वास्तविक एवं व्यवस्थित व्याख्या का श्रेय फ्रान्सिसी विचारक मांन्टेस्क्यू को
6. अंग्रेज विचारक ब्लेकस्टोन, अमेरिकी विचारक मैडिसन एवं जेफरसन

शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त के गुण

1. शक्तियों का विकेन्द्रीकरण
2. स्वेच्छाचारी शासन पर रोक
3. नागरिक स्वतन्त्रता की रक्षा
4. स्वतन्त्र एवं निश्पक्ष न्यायपालिका
5. योग्यता का सदुपयोग

शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त की आलोचना

1. अलोकतान्त्रिक
2. सरकार के अंगों में अन्तर्कलह
3. अवैज्ञानिक
4. स्वतन्त्रता के लिए आवश्यक नहीं

निष्कर्ष–

पूर्ण शक्ति– पृथक्करण न तो सम्भव है न वांछनीय। शक्ति पृथक्करण के स्थान पर नियन्त्रण एवं संतुलन का सिद्धान्त अधिक उपयोगी।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्नः–

1. शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त के प्रतिपादक कौन है?
2. शक्ति पृथक्करण का शाब्दिक अर्थ बताइए ?
3. मांन्टेस्क्यू का शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त किस देश की शासन व्यवस्था से प्रभावित था ?
4. 'मैं ही राज्य हूँ' से क्या तात्पर्य है ?

लघूत्तरात्मक प्रश्नः–

1. शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का विकास क्रम क्या है ?
2. शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का अर्थ स्पष्ट कीजिए ?
3. नियन्त्रण एवं सन्तुलन का सिद्धान्त क्या हैं ?
4. शक्ति पृथक्करण स्वतन्त्रता के लिए आवश्यक नहीं है, कैसें?
5. शक्ति पृथक्करण के दो गुण बताइए ?

निबन्धात्मक प्रश्नः–

1. शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का अर्थ स्पष्ट करते हुए गुण–दोष पर प्रकाश डालिए ?
2. "शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त न तो व्यवहारिक है न

वांछनीय'' स्पष्ट कीजिए ?

वस्तुनिष्ठ प्रश्नः–

1. 'मैं ही राज्य हूँ'' कथन है ?
   (अ) जान लॉक (ब) जेफरसन
   (स) लुई चौदहवाँ (द) लास्की ( )
2. शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का वास्तविक जनक है ?
   (अ) मांटेस्क्यू (ब) जीन बोदों
   (स) मैडिसन (द) ब्लैकस्टोन ( )
3. किस देश का संविधान मुख्यतः शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त पर आधारित है –
   (अ) अमेरिका (ब) फ्रान्स
   (स) इंग्लैण्ड (द) भारत ( )
4. किस देश के 'अधिकार घोषणा' में शक्ति पृथक्करण पर बल दिया गया है –
   (अ) भारत (ब) इंग्लैण्ड
   (स) फ्रांस (द) जापान ( )
5. 'स्पिरिट ऑफ लॉज' के लेखक हैं –
   (अ) सिसरो (ब) लास्की
   (स) बिलोवी (द) मांटेस्क्यू ( )

उत्तरमाला वस्तुनिष्ठ प्रश्न :–

1. स, 2. अ, 3. अ, 4. स, 5. द

खण्ड (ब) इकाई–6
अध्याय – 13
राष्ट्रीय आन्दोलन के उद्‌भव के कारण

''विश्व के इतिहास में भारतीय क्रान्ति प्रथम पूर्णतया खुला हुआ आन्दोलन है जो अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अडिग होकर पूर्णतया सम्मानजनक साधनों की नीति पर चला, एक क्रान्ति जिसमें साधन साध्य के समान ही महत्वपूर्ण रहे, एक क्रान्ति जो बिना घृणा, बिना जासूसी व्यवस्था, बिना विश्वासघात तथा बिना हत्या के हुई, एक क्रान्ति जिसमें क्रान्ति के स्वाभाविक दोषों का अभाव था।''
–फ्रांसिस गुन्थेर

भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास बड़ा ही मार्मिक, गौरवमय और प्रेरणादायी है। वस्तुतः यह अनगिनत कष्टों एवं कुर्बानियों का इतिहास है। जिसके परिणामस्वरूप हमें अपनी नियति स्वयं बनाने का, अपने देश को अपनी इच्छाओं–आकांक्षाओ के अनुसार ढालने–संवारने का अवसर मिला। पर यह मंगल मुहूर्त यों ही नहीं आ गया। इसकी कीमत राष्ट्रीय आन्दोलन के कर्णधारों को अपने लहू और त्याग से चुकानी पड़ी। आज जब हम स्वाधीन भारत में सांस ले रहे हैं तो यह आवश्यक है कि हम उन शहीदों, सत्याग्रहियों को न भूलें, जिन्होंने यह दिन संभव बनाया ।

हमारे देश में राष्ट्रीय आन्दोलन का उदय एवं विकास साम्राज्यवादी व्यवस्था की उपज है जिसके दो महत्वपूर्ण अन्तर्सम्बन्धित लक्षण हैं– उद्‌भव के विभिन्न स्तरों पर साम्राज्यवाद और स्वशासन की आकांक्षा का सुदृढ़ीकरण। भारतीय समाज में उत्पन्न एवं विकसित विभिन्न आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ कारणों की क्रिया–प्रतिक्रिया के फलस्वरूप भारतीय राष्ट्रवाद का जन्म हुआ। जिसके परिणामस्वरूप भारतीय जनमानस में उत्साह का संचार हुआ। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन किसी दल विशेष या वर्ग विशेष द्वारा संचालित आन्दोलन नहीं है, वरन राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए भारतीय जनता के संग्राम तथा ब्रिटिश विस्तारवादी नीति एवं भारतीयों के प्रति अंग्रेजों की ज्यादतियों की प्रतिक्रिया का परिणाम हैं। अंग्रेजी राज्य की ज्यादती एवं गुलामी से मुक्ति पाने के लिए यह भारतीयों द्वारा संचालित एक संगठित आन्दोलन है। इस आन्दोलन का काल 1857 ईस्वी से 15 अगस्त 1947 तक हैं।

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के उदय के कारण

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की शुरूआत 19 वीं शताब्दी में ही हो चुकी थी। इस व्यापक जनआन्दोलन में अनेक कारकों ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की, किन्तु राष्ट्रीय आन्दोलन के उदय एवं विकास में महत्वपूर्ण व प्रभावी कारकों को निम्नानुसर जान सकते हैं–

1. सामाजिक व सांस्कृतिक पुनर्जागरणः सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में आधुनिक भारतीय पुनर्जागरण ने भारतीय राष्ट्रवाद के विकास के लिए भावभूमि तैयार की। भारतीय पुनर्जागरण के जनक राजा राममोहन राय एवं स्वामी दयानन्द सरस्वती थे। इनके द्वारा स्थापित ब्रह्म समाज एवं आर्य समाज ने भारत में सामाजिक व सांस्कृतिक पुनर्जागरण में सहयोग किया। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने धार्मिक बुराइयों और सामाजिक अंधविश्वासों पर प्रहार किया। स्वराज्य शब्द पर स्वामीजी द्वारा विशेष बल देने के कारण आर्य समाज के आन्दोलन ने राष्ट्रीय चरित्र धारण कर लिया। इस सम्बन्ध में रामकृष्ण मिशन का योगदान भी महत्वपूर्ण है। जिसके श्रेष्ठ निधि स्वामी विवेकानन्द ने प्रबोधित किया कि ''एक बार पुनः भारत द्वारा विश्व जीता जाएगा।'' इनके साथ–साथ महादेव गोविन्द रानाडे के प्रार्थना समाज, ज्योतिबा फुले के सत्यशोधक समाज, सर सैयद अहमद खाँ, सावित्री बाई फुले, पंडिता रमाबाई, नारायण गुरू, ई.वी. रामास्वामी नायकर आदि के सामाजिक एवं धार्मिक आन्दोलनों ने अन्धविश्वास एवं रूढ़िवाद की शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष में प्रगतिशील भूमिका निभाई तथा देशभक्ति की भावनाओं को जगाया जिसका राष्ट्रीय आन्दोलन पर व्यापक प्रभाव पड़ा।

2. अंग्रेजी राज का प्रभाव : अंग्रेजी औपनिवेशिक शासकों ने भारत में अपनी पकड़ दृढ़ करने तथा भारत के आर्थिक शोषण के लिए राजनीतिक, सैनिक, आर्थिक तथा बौद्धिक सभी क्षेत्रों मे आधुनिक पद्धतियों का ही प्रयोग किया। औपनिवेशिक प्रशासन में आधुनिकीकरण की थोड़ी बहुत मात्रा आवश्यक ही थी और इस आधुनिकीकरण ने, यद्यपि यह कुछ विकृत ही थी, कुछ न कुछ प्रभाव उत्पन्न किए और एक प्रभाव था भारतीय राष्ट्रवाद का उदय।

3. भारत की राजनीतिक एकता : साम्राज्यवादी इंग्लैण्ड ने उत्तर में हिमालय से दक्षिण में कन्या कुमारी तक और पूर्व में बंगाल से पश्चिम में दर्रा खैबर तक समस्त भारत विजय कर लिया। उन्होंने मौर्यों, अथवा मुगलों से भी बड़ा साम्राज्य स्थापित कर लिया था। भारतीय प्रान्त प्रत्यक्ष रूप से अधीन थे, भारतीय रियासतें 'अप्रत्यक्ष' रूप से इनके अधीन थी। अंग्रेजी शक्ति ने भारत पर एक राजनीतिक एकता लाद दी थी। एक सी अधीनता, एक सी समस्याएं, एक से कानूनों ने भारत को एक ढांचे में ढालना आरम्भ कर दिया।

4. भारत में शान्ति तथा प्रशासनिक एकता की स्थापनाः 18 वीं शताब्दी की अव्यवस्था (जो आंशिक रूप में विदेशी व्यापारिक कम्पनियों के युद्धों के कारण उत्पन्न हुई थी) के उपरान्त, अंग्रेजों ने यहां शान्ति तथा व्यवस्था स्थापित कर ली थी। प्रायः अंग्रेजी विद्वान इस तथ्य पर गर्व करते हैं कि अंग्रेजों द्वारा भारत में पहली बार इतनी दीर्घकालीन शान्ति स्थापित की गई थी।

इसी प्रकार एक सुव्यवस्थित तथा शक्तिशाली सरकार

का भी गठन हुआ। पर्सिवैल स्पीयर के अनुसार अंग्रेजी प्रशासन का सब से प्रमुख अंग था उसकी अवैयक्तिकता अर्थात् उच्च स्तरीय प्रशासकों (वाइसराय अथवा सचिवों) के बदलने पर प्रशासन में परिवर्तन नहीं आते थे जैसे कि इस से पूर्व के सभी साम्राज्यों के विषय में होता था। इसके अतिरिक्त प्रशासनिक एकता का अन्य विभागों पर भी प्रभाव हुआ। भारतीय जनपद सेवा के अत्यन्त प्रशिक्षित तथा व्यावसायिक प्रशासक भारत के सभी भागों में जिलों का प्रशासन चलाया करते थे। एक ही प्रकार का न्यायिक ढांचा, संहिताबद्ध, फौजदारी तथा दीवानी कानून जिस पर दृढ़ता से आचरण होता था, भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक चलता था। इस ने भारत की पुरानी चली आ रही सांस्कृतिक एकता को एक नए प्रकार की राजनीतिक एकता भी प्रदान की। एडवर्ड बेवन के शब्दों में, ''ब्रिटिश राज एक प्रकार का ऐसा लोहे का ढांचा था जिसने भारत के क्षतिग्रस्त शरीर को ऐसा जकड़कर बांधे रखा, जब तक कि विस्थापित हड्डियां तथा आन्तरिक परिवर्धन से टूटे हुए तन्तू धीरे–धीरे जुड़ नहीं गए और रोगी ने पुनः अपनी आन्तरिक एकता तथा सम्बद्धता प्राप्त नहीं कर ली।''

5. तीव्र परिवहन तथा संचार साधनों का विकासः वास्तव में प्रशासनिक सुविधाएं, सैनिक रक्षा के उद्देश्य, आर्थिक विस्तार तथा व्यापारिक शोषण की बातों का ध्यान रखते हुए ही परिवहन के तीव्र साधनों की योजनाएं बनीं। पक्के मार्गों का एक जाल बिछ गया जिस से प्रान्त एक दूसरे से तथा ग्रामीण प्रदेश बड़े–बड़े नगरों से जुड़ गए।

परन्तु देश को बांधने वाला सबसे बड़ा साधन रेलवे थी। 1853 के उपरान्त देश में रेल लाइनें आरम्भ हो गई और 1880 तक लगभग 2500 मील लम्बी और 1900 तक 25,000 मील लम्बी लाइनें बिछ गई थी। रेलवे के बहुत से अन्य लाभों के अतिरिक्त रेलवे ने देश में राष्ट्रीयता की भावना जगाई। 1865 में भी एडसिन आरनल्ड ने लिखा था– ''रेलवे भारत के लिए वह कार्य कर देगी जो बड़े–बड़े वंशो ने पहले कभी नहीं किया जो अकबर अपनी दयाशीलता अथवा टीपू अपनी उग्रता द्वारा नहीं कर सके, वे भारत को एक राष्ट्र नहीं बना सके।''

1850 के उपरान्त आरम्भ हुई आधुनिक डाक व्यवस्था, तथा बिजली के तार ने देश को समेकित करने में सहायता की। अन्तर्देशीय पत्रों के लिए 2 पैसे का एक समान टिकट और समाचार पत्रों तथा पार्सलों पर इससे भी कम दर में भेजने की व्यवस्था ने देश के सामाजिक, शैक्षणिक, बौद्धिक तथा राजनीतिक जीवन में एक परिवर्तन पैदा कर दिया। डाकखानों के द्वारा, जो देश के कोने–कोनें में काम करते थे, राष्ट्रीय साहित्य स्थान–स्थान पर भेजा जा सकता था। सन्देशों के शीघ्रातिशीघ्र भेजने में बिजली के तारों ने क्रान्ति ला दी। इस प्रकार आधुनिक संचार साधनों ने भारत के भिन्न–भिन्न भागों में रहने वाले लोगों को एक दूसरे से सम्बन्ध बनाए रखने में सहायता दी जिससे राष्ट्रवाद को बढ़ावा मिला।

6. आधुनिक शिक्षा का प्रचलन : आधुनिक शिक्षा प्रणाली के प्रचलन से आधुनिक पाश्चात्य विचारों को अपनाने में सहायता मिली, जिससे भारतीय राजनीतिक सोच को एक नई दिशा मिली। सर चार्ल्स ई. ट्रे बिलियन, टी.वी. मैकाले तथा लार्ड विलियम बैंटिक (समकालीन गवर्नर जनरल) ने जब सन् 1835 में देश में अंग्रेजी शिक्षा का श्रीगणेश किया तो वह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण निर्णय था। जब ट्रेविलियन महोदय से यह पूछा गया कि अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार से भारत में अंग्रेजी राज के बने रहने पर क्या संभावित परिणाम हो सकते है तो उन्होंने लार्ड सभा की भारतीय समिति के सम्मुख 1835 में कहा था, ''भारत में अंग्रेजी राज सदैव नही बना रह सकता। इसका एक न एक दिन अंत होना परमावश्यक है, या तो उन भारतीय लोगों के हाथों जो राजनीतिक परिवर्तन को आदर्श को मानते है अथवा उन लोगों के हाथों जो अंग्रेजी पढ़–लिख जायेगें और राजनीतिक परिवर्तन के अंग्रेजी आदर्श को मानने लगेंगे। यदि यह परिवर्तन लोगों के हाथों होगा तो इस में बहुत समय लगेगा और भारत तथा अंग्रेजों के सम्बन्धों को तोड़ना न तो इतना हिंसात्मक होगा और न ही अंग्रेजों के लिए इतना हानिकारक क्योंकि सांस्कृतिक तथा व्यापारिक सम्बन्ध बने रहेगें।''

मैकॉले ने एक अन्य बात भी कही यद्यपि परिणाम दोनों अवस्थाओं में भिन्न नही था। 1833 में कॉमन सभा में दिए गए भाषण में उन्होंने कहा था, ''यह संभव है कि भारतीय सर्वसाधारण मत हमारी प्रणाली के अधीन विकसित हो जायें और हमारी प्रणाली से भी आगे निकल जाएं, अर्थात् हम अपने उत्तम प्रशासन के फलस्वरूप अपनी यूरोपीय भाषा में शिक्षित होकर किसी भविष्य काल में यूरोपीय संस्थाओं की मांग करें।

पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार यद्यपि प्रशासनिक आवश्यकताओं के लिए किया गया था, परन्तु इस से नवशिक्षित वर्ग के लिए पाश्चात्य उदारवादी विचारधारा के द्वार खुल गए थे। मिल्टन, शैली, बेन्थम, मिल, स्पेन्सर, रूसो तथा वाल्टेयर ने भारतीय बुद्धिजीवियों में स्वतंत्रता, राष्ट्रीयता तथा स्वशासन की भावनाएं जगा दीं और उन्हें अंग्रेज साम्राज्य का विरोधाभास अखरने लगा।

नए बुद्धिजीवी लोग प्रायः कनिष्ठ प्रशासक, वकील, डॉक्टर, अध्यापक इत्यादि ही थे। इनसे से कुछ लोग इंग्लैण्ड में भी विद्या ग्रहण कर चुके थे। उन्होंने वहां अपनी आंखों से इन राजनीतिक संस्थाओं का प्रचलन भी देखा था। यहां लौटने पर उन्हें यह अनुभव हुआ कि उनके मौलिक अधिकार शून्य के बराबर है और वातावरण में दासता–ही–दासता है। ये 'विलायत–पास', जिनमें पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त लोगों की दिन प्रतिदिन बढ़ती हुई संख्या सम्मिलित हो रही थी, ही भारत का मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवी वर्ग था। इस अंग्रेजी पढ़े लिखे बुद्धिजीवी वर्ग ने, जो कुछ–न–कुछ अपने राजनीतिक अधिकारों से परिचित था, यह अनुभव किया, कि सन् 1833 के चार्टर ऐक्ट तथा साम्राज्ञी विक्टोरिया की सन् 1858 में की गई घोषणा में दिए गए वचनों के बावजूद ऊंचे–ऊंचे पदों के द्वार भारतीयों के लिए बन्द ही थे। इस तथ्य के अनुभव करने से असन्तोष बढ़ा और असंतोष संक्रामक था। सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी, मनमोहन घोष, लालमोहन घोष और अरविन्द घोष जैसे लोग राष्ट्र आन्दोलन की ओर इसलिये आये क्योंकि उन्होंने देखा कि ऊंचे–ऊंचे पदों के द्वार उनके लिए बन्द थे। ये प्रज्ञावान और विद्वत्तापूर्ण लोग, नवोदित राजनीतिक असंतोष का केन्द्र बिन्दु बने और समाज का यही वर्ग था जिसने भारतीय राजनीतिक संस्थाओं को नेतृत्व प्रदान किया।

भारत के सभी भागों में अंग्रेजी भाषा के प्रसार तथा

लोकप्रियता के कारण शिक्षित भारतीयों को यह एक सम्पूर्ण भाषा के रूप में मिल गई थी, जिसके माध्यम से वे एक–दूसरे को अपने विचारों से अवगत करा सकते थे। प्राचीन काल में संस्कृत एक सम्पर्क भाषा की भूमिका निभाती थी, परन्तु 19 वीं शताब्दी तक इसका ज्ञान तथा प्रयोग बहुत ही सीमित रह गया था। उस समय एक पंजाबी के लिए एक तमिल भाषी अथवा एक साधारण बंगाली के लिए मराठी भाषा–भाषी से विचारविमर्श करना लगभग असम्भव सा हो गया था। अब अंग्रेजी भाषा इन सबको एक ही मंच पर लाकर खड़ा कर दिया। ऐसी भाषा की अनुपस्थिति में इस आन्दोलन को अखिल भारतीय स्वरूप नहीं मिल सकता था।

7. आधुनिक समाचार पत्रों का उभरना : भारत में अंग्रेजी राज का एक अन्य प्रभाव आधुनिक समाचार पत्रों का उभरना था। ये यूरोपीय लोग ही थे जिन्होंने भारत में मुद्रणालय स्थापित किए और समाचार पत्र तथा सस्ता साहित्य प्रकाशित करना आरम्भ किया। शनैः शनैः भारतीय भाषा समाचार पत्र स्थापित होने लगे थे। ये समाचार पत्र पाश्चात्य नमूने पर विकसित हुए थे। यद्यपि इन पर बहुत से साम्राज्यवादी शासकों ने प्रतिबन्ध लगाए, फिर भी भारतीय समाचार पत्र बहुत विकसित हुए। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतीय समाचार पत्र बहुत विकसित हुए। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतीय मालिकों द्वारा चलाए गए अंग्रेजी तथा भारतीय भाषाओं में समाचार पत्रों की संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। 1877 तक भारतीय भाषा समाचार पत्रों की संख्या 169 तक पहुंच गई थी तथा उनकी प्रचलन संख्या एक लाख तक पहुंच गई थी।

भारतीय समाचार पत्रों ने जनमत के बनाने तथा राष्ट्रीयता के प्रसार में मुख्य भूमिका निभाई। दि इण्डियन मिरर, दि बंगाली, दि बाम्बे क्रानिकल, दि हिन्दू पेट्रिअट, दि मराठा, दि केसरी, दि आन्ध्र प्रकाशिका, दि हिन्दू, दि इन्दू प्रकाश, दि कोहिनूर इत्यादि अनेकों अंग्रेजी तथा भारतीय भाषा समाचार पत्रों ने इस क्षेत्र में बहुत कार्य किया तथा अंग्रेज शासकों द्वारा किए गए अतिरेकों को प्रकाशित किया। इसके अतिरिक्त इन्होंने प्रतिनिधि सरकार, स्वतन्त्रता तथा प्रजातन्त्रीय संस्थाओं को जनता में लोकप्रिय बनाया। यह कहना अतिश्योक्ति नहीं होगी कि भारतीय समाचार पत्र भारतीय राष्ट्रवाद का दर्पण बन गए और जनता को शिक्षित करने का माध्यम।

8. मध्यमवर्गी बुद्धिजीवियों का उत्थानः अंग्रेजों के प्रशासनिक तथा आर्थिक क्षेत्र की नवीन प्रक्रिया से नगरों में एक नवीन मध्यमवर्गीय नागरिकों की एक श्रेणी उत्पन्न हुई। इस नवीन श्रेणी ने तत्परता से अंग्रेजी भाषा सीख ली क्योंकि इससे नियुक्तियां प्राप्त करने में सुविधा हो जाती है और दूसरों से सम्मान भी मिलता था। यह नवीन श्रेणी अपनी शिक्षा, समाज में उच्च स्थान तथा प्रशासक वर्ग के समीप होने के कारण आगे आ गई। पी. स्पीयर महोदय लिखते है, ''यह नवीन मध्यम वर्ग एक संगठित अखिल भारतीय वर्ग था जिसकी पृष्ठभूमि तो अलग अलग थी परन्तु जिसकी ज्ञान, विचार तथा मूल्यों की अग्रभूमि समान थी। यह भारतीय समाज का एक छोटा सा अंग था, परन्तु एक गतिशील अंग था। इसमें उद्देश्य की एकता तथा आशा की भावना थी।'' यह मध्यम वर्ग आधुनिक भारत की नवीन आत्मा बन गया तथा इस ने समस्त भारत में अपनी शक्ति का संचार कर दिया। इसी वर्ग ने अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को इस के विकास के सभी चरणों में नेतृत्व प्रदान किया।

9. इतिहास की शोध का प्रभाव : सर विलियम जोन्स, मोनियर विलियम्ज, मैक्समूलर, रॉथ तथा सस्सन जैसे मुख्यतः विदेशी विद्वानों के प्राचीन भारतीय इतिहास में शोध करने के फलस्वरूप, भारत की समूह सांस्कृतिक परम्परा का ज्ञान होने लगा। इस क्षेत्र में विशेष रूप से कनिंघम जैसे पुरातत्वविदों की खुदाइयों ने भारत की महानता तथा गौरव का वह चित्र प्रस्तुत किया जो रोम तथा यूनान की प्राचीन सभ्यताओं से किसी भी पक्ष में कम गौरवशाली नहीं था। इन यूरोपीय विद्वानों ने वेदों तथा उपनिषदों की साहित्यिक श्रेष्ठता तथा मानव मन के सुन्दर विश्लेषण के लिए उसका गुणगान किया। बहुत से यूरोपीय विद्वानों ने यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि भारतीय आर्य उसी मानव शृंखला के लोग है जिससे यूरोपीय जातियां उपजी है। इससे शिक्षित भारतीयों के आत्मसम्मान में एक मनोवैज्ञानिक वृद्धि हुई। इन सभी तत्त्वों ने इनमें एक नया आत्मविश्वास जगाया और उनकी देशभक्ति तथा राष्ट्रवाद को प्रोत्साहित किया।

10. समकालीन यूरोपीय आन्दोलनों का प्रभावः राष्ट्रवाद की उन तेज लहरों ने जो समकालीन समस्त यूरोपीय देशों तथा दक्षिणी अफ्रीका को प्रभावित कर रही थी, भारतीय राष्ट्रवाद को भी स्फूर्ति प्रदान की। स्पेन तथा पुर्तगाल के दक्षिणी अमरीका के साम्राज्यों के खण्डहरों पर अनेक राष्ट्रीय राज्य स्थापित हो रहे थे। यूरोप में भी यूनान तथा इटली के राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम के साधारणतः तथा आयरलैण्ड के स्वतंत्रता संग्राम में विशेषतः भारतीयों के मनोभावों को अत्यधिक प्रभावित किया। सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी तथा लाजपतराय ने मेजिनी तथा उसके द्वारा आरम्भ किए गए तरूण इटली आन्दोलन पर तथा गैरीवाल्डी और कार्बोनारी आन्दोलनों पर व्याख्यान दिए तथा लेख लिखे। इस यूरोपीय राष्ट्रवाद ने उभरते हुए भारतीय राष्ट्रवाद को प्रभावित किया।

11. अंग्रेजो द्वारा भारत का आर्थिक शोषण : राष्ट्रवाद के उदय का कारण विदेशी हुकूमत का उत्पीडन तथा भारत की अर्थव्यवस्था को चौपट करना था। प्रारम्भ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने तथा बाद में अंग्रेजी सरकार द्वारा अपनी राजसत्ता का प्रयोग कर भारत में प्राचीन हस्तशिल्प और उद्योग धंधों को नष्ट कर दिया। भारत में ब्रिटिश आर्थिक नीति का मुख्य उद्देश्य एक ओर भारत से सस्ती दरों पर कच्चा माल प्राप्त करना व दूसरी ओर तैयार माल की खपत के लिए भारत को एक मूल्यवान मंडी बनाना था। भारत के सूती, रेशमी, ऊनी कपड़े, लोहे, चमडे तथा चीनी उद्योग को नष्ट किया जा रहा था। भारत के उद्योग धन्धों को चौपट करने के लिए भारतीय सामान पर आयात शुल्क लगाया गया। भारतीय उद्योग धन्धों एवं दस्तकारों को सुनियोजित ढंग से नष्ट कर दिया गया। दस्तकारी एवं उद्योग के ठप्प होने से जो भारतीय कृषि की ओर पलायन कर गए थे, उन्हें ब्रिटिश साम्राज्य की कुटिल भू–राजस्व नीति, अकाल एवं प्राकृतिक प्रकोपों का सामाना करना पड़ा।

12. जातीय भेद : जातीय भेद की भावना ने भारतीयों को राष्ट्रीय रूप से एक होने के लिए प्रेरित किया। जातिगत भेद

के आधार पर अंग्रेजों की भारतीयों से घृणा की प्रतिक्रिया से भारतीयों में राष्ट्रवादी भावनाओं का उदय हुआ। 1857 के विद्रोह के बाद शासकों एवं शासितों के मध्य जातीय कटुता ने भारतीयों में असंतोष उत्पन्न कर दिया। अंग्रेजों द्वारा श्वेत जाति की श्रेष्ठता का विचार, भारतीयों के प्रति अभिमानी एवं उद्दण्ड रवैया, भारतीयों के रंग, भाषा, धर्म एवं सामाजिक रीति–रिवाजों की उपेक्षा तथा सार्वजनिक जीवन में भारतीयों के बार–बार तिरस्कार भारतीयों के लिए असहनीय था। गैरेट के अनुसार ''भारतीय राष्ट्रीयता की बढोतरी में उपर्युक्त कटुता की भावना एक बहुत बड़ा कारण था।'' इस प्रकार अंग्रेजों द्वारा जातीय भेदभाव ने भारतीयों में असंतोष उत्पन्न किया। जाति के आधार पर अपमानित भारतीयों में विदेशी हुकूमत के विरूद्ध आक्रोश था।

13. 1857 की आजादी की लड़ाई : 1857 की आजादी की लड़ाई भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन हेतु महत्वपूर्ण आधारशिला थी। यह भारत में राष्ट्रीय जागरण का अतिमहत्वपूर्ण प्रारम्भिक चरण था। इस स्वतंत्रता की लड़ाई में ब्रिटिश साम्राज्य के विरूद्ध सैनिक तथा देशी राजाओं ने अपना योगदान दिया। हालांकि यह संघर्ष अपने उद्देश्य में पूर्णरूपेण सफल नहीं हुआ, किन्तु इसने ब्रिटिश शासकों के मस्तिष्क पटल पर गहरी छाप छोड़ी और उन्हें झकझोर कर रख दिया। साथ ही यह संघर्ष भारतीय जनमानस में ऊर्जा का संचार करने तथा उन्हें एकता के सूत्र मे पिरोने में सफल रहा। जिसने परिणामस्वरूप भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की आजादी की रूपरेखा व दिशा तय हो सकी।

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की विशेषतायें

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की निम्नलिखित प्रमुख विशेषतायें हैं –

1. लम्बी अवधि : वैसे तो भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रारम्भ 18 वीं सदी के मध्य में ही हो गया था, फिर भी 1857 ई. में प्रथम स्वतंत्रता–संग्राम शुरू हुआ और 1885 ई. में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के साथ आंदोलन का जो रूप उपस्थित हुआ, उनकी समाप्ति 15 अगस्त 1947 को हुई।

2. शांति पूर्ण तथा क्रान्तिकारी : भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में मुख्यतः शांतिपूर्ण तरीकों को ही अपनाया गया जिसका नेतृत्व महात्मा गांधी ने किया। सत्य, अहिंसा और सत्याग्रह के द्वारा उन्होंने भारत की स्वतंत्रता प्राप्त की। लेकिन, इसका यह अर्थ नही कि भारतीयों ने स्वतंत्रता संग्राम के दौरान अतिवादी तथा क्रांतिकारी तरीकों का प्रयोग नहीं किया। क्रांतिकारी साधनों का भी प्रयोग किया गया।

3. सांविधानिक विकास : भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन और सांविधानिक विकास साथ–साथ चलते रहे। 1861, 1892, 1909, 1919 तथा 1935 ई. के भारतीय परिषद् अधिनियमों तथा भारत शासन अधिनियमों को पारित कर उत्तरदायी शासन की नींव डाली गई। पुनः 1942 ई. में 'भारत छोड़ो' आन्दोलन हुआ, जिसके परिणामस्वरूप 1947 ई. में भारत स्वतंत्रता अधिनियम के तहत भारत में विदेशी सत्ता की समाप्ति हुई।

4. सामाजिक तथा आर्थिक आन्दोलन : भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का रूप सिर्फ राजनीतिक नहीं था। इस आन्दोलन के सामाजिक तथा आर्थिक पक्ष भी थे। महात्मा गाँधी ने सामाजिक कुरीतियों तथा आर्थिक दुर्बलताओं के विरूद्ध भी अभियान चलाया और राजनीतिक कार्यक्रम के साथ–साथ सामाजिक तथा आर्थिक कार्यक्रम को भी रखा। आर्थिक तथा सामाजिक त्रुटियों को दूर करना भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का एक प्रमुख अंग बना रहा।

5. विश्वव्यापी प्रभाव : भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का विश्वव्यापी प्रभाव पड़ा। इसमें प्रभावित होकर बर्मा, इंडोनेशिया एवं अफ्रीकी राष्ट्रों ने स्वतंत्रता की लड़ाई प्रारम्भ कर दी।

6. जन–आन्दोलन : भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन प्रारम्भ में बुद्धिजीवियों द्वारा चलाया गया, लेकिन बाद में इसने जन–आंदोलन का रूप धारण कर किसानों और मजदूरों को भी अपने में शामिल कर लिया। उदाहरण के लिए 1858–62 के वर्षों में पूर्वी बंगाल का 'नील विद्रोह' उत्तरी तथा उत्तर–पश्चिमी भारत में जन–अशान्ति, महाराष्ट्र के किसान आंदोलन आदि को लिया जा सकता है। बाद में महात्मा गाँधी के असहयोग आंदोलन, सत्याग्रह आन्दोलन तथा 'भारत छोड़ो' आन्दोलन ने भारतीय जनता को आकर्षित किया।

7. धार्मिक आन्दोलन : भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में धर्म सुधार आन्दोलनों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। स्वामी दयानंद सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद तथा एनी बेसेंट आदि महर्षि धर्मसुधार आंदोलनकर्त्ताओं के रूप में छुपे हुए राष्ट्रवादी थे। स्वामी दयानन्द ने कहा था, ''स्वदेशी राज्य विदेशी राज्य से श्रेष्ठ होता है।

8. आन्दोलन का राष्ट्रीय स्वरूप : भारत के राष्ट्रीय आंदोलन में हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, बौद्ध तथा पारसी भी शामिल थे। औरतों ने इसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। किसानों तथा मजदूर संघों ने ब्रिटिश शासन का विरोध किया। छात्रों ने आंदोलन को सफल करने के लिए अपनी जान की बाजी लगा दी। लंदन टाइम्स के विशेष प्रतिनिधि, सर विलियम हावर्ड रसल, जो 1857 ई. की क्रान्ति के समय मौजूद थे, लिखते है, ''वह एक ऐसा युद्ध था जिसमें लोग अपने धर्म के नाम पर, अपनी कौम के नाम पर, बदला लेने के लिए और अपनी आशाओं को पूरा करने के लिए उठे थे। उस युद्ध में समूचे राष्ट्र ने अपने ऊपर से विदेशियों के जुए को फेंककर उसकी जगह देशी नरेशों की पूरी सत्ता और देशी धर्मों का पूरा अधिकार फिर से कायम करने का संकल्प कर लिया था।''

9. राष्ट्रीय आंदोलन का संदेहात्मक स्वरूप : बहुत से लोगों का विचार है कि भारतीय स्वतंत्रता संग्राम को राष्ट्रीय आंदोलन की संज्ञा नहीं दी जा सकती, क्योंकि संपूर्ण भारत कभी एक राष्ट्र नहीं रहा और उसमें मौलिक एकता का हमेशा अभाव रहा। सर जॉन सीले ने कहा है, ''यह विचार कि भारत एक राष्ट्र है, एक गंभीर भूल पर आधारित है जिसे राजनीति विज्ञान दूर करता है। यह एक राष्ट्र एवं एक भाषा का निर्माण नहीं करता, बल्कि इससे अनेक राष्ट्रों और भाषाओं का बोध होता है।'' जॉन स्ट्रेची ने भी ऐसा विचार दिया है, 'भारत वर्ष न एक है, न कभी एक था और न इसमें किसी प्रकार का भौगोलिक, राजनीतिक, सामाजिक अथवा धार्मिक एकता ही थी।'' परन्तु, जॉन स्ट्रेची और जॉन सीले का यह आरोप कि भारत कभी एक राष्ट्र नहीं रहा है, तथ्यहीन है। प्रारम्भ से ही धार्मिक तथा सांस्कृतिक एकता भारत की पहचान रही है। आर.सी. मजुमदार ने कहा है, ''यह कहना गलत होगा कि भारत की मौलिक एकता आधुनिक घटनाओं का

परिणाम है और यह प्राचीन भारत में विद्यमान नहीं थी। भारत की मौलिक एकता इसी बात से स्पष्ट हो जाती है कि समस्त देश का नाम भारत वर्ष या भारत की भूमि है।''

राष्ट्रीय आन्दोलन के तीन चरणः

19 वीं शताब्दी के मध्य तक अंग्रेजी राज ने भारत की दुर्दशा कर दी। सारा देश अंग्रेजों का गुलाम हो गया। भारत का बड़े पैमाने पर आर्थिक शोषण किया गया। भारत की राष्ट्रीय संस्कृति को समाप्त करने का प्रयास किया गया। परिणामस्वरूप, 19 वीं सदी के उत्तरार्ध में राष्ट्रीय आन्दोलन प्रारम्भ हुआ और ब्रिटिश साम्राज्य के विरूद्ध भारतीयों ने संघर्ष छेड़ दिया। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रादुर्भाव 1857 की आजादी की लड़ाई के साथ हुआ। स्वतंत्रता हेतु यह संघर्ष 1947 तक अनवरत चला। स्वतंत्रता आन्दोलन की इस अनवरत चली लम्बी संघर्ष अवधि को राष्ट्रीय आंदोलन का काल कहते है। राष्ट्रीय आन्दोलन के इस लम्बे इतिहास में इसकी प्रकृति, लक्ष्य और तरीके बदलते रहे। राष्ट्रवाद के विकास में ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन 1851, पूना सार्वजनिक सभा 1867, इण्डियन लीग 1875, इण्डियन एसोसिएशन 1876, बाम्बे प्रेसीडेन्सी एसोसिएशन, मद्रास में महाजन सभा 1881, राष्ट्रीय कांग्रेस 1885 आदि संस्थाओं का योगदान भी रहा है।

प्रारम्भ में इसका लक्ष्य शासन में सुधार लाना और भारतीयों को उसमें अधिक से अधिक हिस्सा दिलाना था ताकि अ–राजनीतिक भारतीय जनता में राजनीतिक जागरूकता उत्पन्न की जा सके। इनके तरीके शान्तिपूर्ण एवं अनुनय–विनय पूर्ण थे। 1905 तक ने इस युग को उदारवादी युग कहा जाता है।

राष्ट्रीय आन्दोलन का दूसरा चरण 1906 से प्रारम्भ होता है इसे अतिवादी आन्दोलन का युग कहा जाता है। इन्होंने स्वराज्य की प्राप्ति को अपना लक्ष्य निर्धारित किया। इनका प्रमुख कार्यक्रम स्वदेशी, बहिष्कार एवं राष्ट्रीय शिक्षा था।

राष्ट्रीय आन्दोलन का अन्तिम चरण गाँधीवादी आन्दोलन कहलाता है, जो कि 1920 के पश्चात् प्रमुखतया प्रारम्भ हुआ। गांधीजी के नेतृत्व में 1920–22 के असहयोग आन्दोलन, 1930–34 के सविनय अवज्ञा आन्दोलन एवं 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन के अहिंसात्मक जन–उभारो से बढ़ते हुए अन्ततः राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त की गई। इन आदोलनों के मध्यवर्तीकाल में रचनात्मक कार्यक्रम संचालित किये गए तथा औपनिवेशिक विधायिका में भी सहभागिता की गई।

इन तीनों धाराओं के समानांतर क्रांतिकारी राष्ट्रवाद का भी निरंतर विकास हो रहा था। व्यक्तिगत वीरतापूर्ण कार्रवाईयों से प्रारम्भ करके क्रांतिकारी राष्ट्रवादी आंदोलन ने भगतसिंह एवं चन्द्रशेखर आजाद के नेतृत्व ने वैचारिक परिपक्वता हासिल की और जन–क्रांतिकारी आंदोलन के प्रयास किए।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि उपनिवेशवाद विरोधी विचारधारा और उसमें साथ जुड़े हुऐ नागरिक अधिकारों के हिमायती, लोकतांत्रिक, धर्म निरपेक्ष, सामाजिक रूप से क्रान्तिकारी, आर्थिक रूप से विकासशील, स्वतंत्र और ऐक्यबद्ध राजव्यवस्था तथा समाज के विजन और गरीबों के प्रति पक्षधर क्रान्तिकारी सम्मान के कारण ही राष्ट्रीय आन्दोलन में यह शक्ति आई कि वह राजनीतिक रूप से जागृत तथा सक्रिय जनसाधारण एवं उसकी हिस्सेदारी पर निर्भर हो सका तथा जनांदोलन का स्वरूप ले सका। यह जनसाधारण की सक्रियतापूर्ण राजनीतिक भूमिका ही भारतीय जनता के स्वतंत्रता संघर्ष की सही विरासत हैं।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की पृष्ठभूमि तथा भारत में राष्ट्रीयता का प्रारम्भ और विकास आधुनिक भारत के इतिहास का एक रोचक अध्ययन है। राष्ट्रीय आन्दोलन का काल 1857 ई. से 15 अगस्त 1947 तक हैं।

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के उद्भव के कारण :

(1) 1857 की आजादी की लड़ाई।, (2) सामाजिक सांस्कृतिक पुनर्जागरण, (3) अंग्रेजी राज का प्रभाव, (4) भारत की राजनीतिक एकता, (5) भारत में शान्ति तथा प्रशासनिक एकता की स्थापना, (6) तीव्र परिवहन तथा संचार साधनों का विकास, (7) आधुनिक बुद्धिजीवियों का उत्थान, (8) आधुनिक समाचार पत्रों का उभरना, (9) मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवियों का उत्थान, (10) इतिहास की शोध का प्रभाव, (11) समकालीन यूरोपीय आन्दोलनों का प्रभाव (12) अंग्रेजों द्वारा भारत का आर्थिक शोषण, (13) जातीय भेद

राष्ट्रीय आन्दोलन के चरण :

(1) उदारवादी आन्दोलन का युग।, (2) अतिवादी आन्दोलन का युग, (3) क्रान्तिकारी आन्दोलन एवं गांधी जी की समानान्तर भूमिका का युग।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्नः

1. स्वामी दयानन्द सरस्वती को गीता का नायक किसने कहा?
2. आर्य समाज के संस्थापक कौन थे?
3. ब्रह्म समाज की स्थापना किसने की?
4. भारत में रेल यातायात का प्रादुर्भाव कब हुआ?
5. आधुनिक संचार साधनों से क्या अभिप्राय है?
6. भारत में अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली को लागू किसने किया?
7. राष्ट्रीय आन्दोलन में महती भूमिका निभाने वाले चार समाचार पत्रों को उल्लेखित कीजिए?
8. राष्ट्रीय आन्दोलन की पहली आजादी की लड़ाई कब हुई?
9. भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के चरणों को उल्लेखित कीजिए?
10. राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रारम्भिक चरण को किस युग की उपमा दी जाती है?
11. अतिवादी युग से क्या अभिप्राय हैं?
12. उदारवादियों का प्रारम्भिक लक्ष्य क्या था?
13. अतिवादियों का लक्ष्य क्या था?
14. राष्ट्रीय आन्दोलन का अन्तिम चरण किस नाम से जाना जाता है?
15. राष्ट्रीय आन्दोलन के किन्ही दो कारणों को उल्लेखित कीजिए?

लघूत्तरात्मक प्रश्नः

1. भारत के राष्ट्रीय जागरण से आप क्या समझते है?
2. भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन के राजनीतिक कारण कौनसे थे?
3. राष्ट्रीय आन्दोलन का अभिप्राय क्या है?

4. आर्य समाज से आप क्या समझते है?
5. भारत के सामाजिक और धार्मिक सुधार आन्दोलन पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखो?
6. ब्रिटिश शासन ने राष्ट्रीय आन्दोलन में किस प्रकार योगदान दिया?
7. परिवहन एवं संचार के साधनों की स्थापना का राष्ट्रीय आन्दोलन पर क्या प्रभाव पड़ा?
8. आधुनिक शिक्षा प्रणाली का राष्ट्रीय आन्दोलन में योगदान दर्शाइये।
9. ब्रहम समाज की स्थापना क्यों हुई?
10. समाचार पत्रों ने किस प्रकार राष्ट्रीय आन्दोलन में योगदान दिया?
11. राष्ट्रीय आन्दोलन में मध्यम वर्ग की भूमिका को बताइये।
12. ऐतिहासिक शोध का राष्ट्रीय आन्दोलन पर क्या प्रभाव पड़ा?
13. राष्ट्रीय आन्दोलन पर समकालिक यूरोपीय आन्दोलन का कितना प्रभाव पड़ा?
14. जातीय भेद ने किस प्रकार भारतीय जनमानस को उद्वेलित किया?
15. 1857 की आजादी की लड़ाई का राष्ट्रीय आन्दोलन पर प्रभाव समझाइये ।

निबन्धात्मक प्रश्नः

1. भारतीय राष्ट्रीय जागरण के उद्भव में उत्तरदायी कारणों की विवेचना कीजिए।
2. 19 वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में हुए राष्ट्रीय उत्थान के कारणों पर प्रकाश डालिए।
3. राष्ट्रीय आन्दोलन के कारणों को संक्षेप में समझाते हुए इसके चरणों को उल्लिखित कीजिए।
4. भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की उदारवादी, अतिवादी, क्रान्तिकारी एवं गांधीजी की भूमिका, लक्ष्य आदि को स्पष्ट कीजिए?

वस्तुनिष्ठ प्रश्नः

1. भारत में सामाजिक व सांस्कृतिक पुनर्जागरण के जनक थे–
   (अ) स्वामी दयानन्द सरस्वती (ब) फिरोजशाह मेहता
   (स) मैकाले (द) कौटिल्य ( )
2. किस समाचार पत्र ने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में जनजागरण में महती भूमिका निभाई–
   (अ) अमृत बाजार पत्रिका (ब) राजस्थान पत्रिका
   (स) दैनिक भास्कर (द) दिव्य भास्कर ( )
3. राष्ट्रीय आन्दोलन के उदय के कारणों में शामिल नहीं है–
   (अ) समकालिक यूरोपीय आन्दोलनों का प्रभाव
   (ब) अंग्रेजों द्वारा भारत का अर्थिक शोषण
   (स) जातीय भेदभाव
   (द) अंग्रेजो का उदारतापूर्ण व्यवहार ( )
4. राष्ट्रीय आन्दोलन का चरण नहीं हैं –
   (अ) उदारवादी आन्दोलन का युग
   (ब) अतिवादी आन्दोलन का युग
   (स) क्रान्तिकारी आन्दोलन एवं गांधीजी की भूमिका
   (द) अलगाववादी युग ( )

उत्तरमाला वस्तुनिष्ठ प्रश्न –

1. (अ) 2. (अ) 3. (द) 4. (द)

अध्याय – 14
राष्ट्रीय आंदोलन के उदारवादी (गोपाल कृष्ण गोखले), अतिवादी (बालगंगाधर तिलक) एवं क्रान्तिकारी (भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद, सुभाषचन्द्र बोस) दर्शन की धाराएं, नीतियां, कार्यक्रम व लक्ष्य

राष्ट्रीय आंदोलन के उदारवादी : गोपाल कृष्ण गोखले

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का प्रारम्भिक चरण उदारवाद के आधिपत्य के रूप में जाना जाता है। यह अंग्रेजी साम्राज्य की प्रतिभाओं का ''पौष्य शिशु'' भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का वह दौर था जबकि इसका नेतृत्व पाश्चात्यमुखी प्रबुद्ध लोग कर रहे थे। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त प्रबुद्ध लोगों ने की जो भारतीय समाज के पूँजीपति वर्ग एवं उच्च मध्यम वर्ग के प्रतिनिधि थे। इसी कारण कांग्रेस की आरम्भिक नीति शांतिपूर्ण, संवैधानिक तरीके से सुधार प्राप्त करना तथा ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन भारत को बनाये रखना था।

उदारपंथियों के आधिपत्य के काल में शुरू के राष्ट्रीय नेताओं की तीन दिशाओं में आस्था उल्लेखनीय है– धीरे–धीरे सुधारों के लिये आंदोलन, संवैधानिक साधनों का प्रयोग तथा अंग्रेजों की न्याय व निष्पक्ष भावना में विश्वास। उदारवादी नेताओं का मानना था कि ब्रिटिश सरकार के सहयोग एवं सहायता से भारत का क्रमिक विकास संभव है। उदार राष्ट्रवादी काल में राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व जिन नेताओं के हाथ में था, उनकी नियमबद्ध प्रगति में आस्था थी। अंग्रेजी शासन सभ्यता एवं संस्कृति में विश्वास रखने वाला यह वर्ग अंग्रेजों की न्यायप्रियता में विश्वास करता था।

राष्ट्रीय आंदोलन के उदारवादी नेताओं को सामान्यतः 'आरामकुर्सी के राजनीतिज्ञ' समझा जाता है। वस्तुतः ऐसी बात नहीं थी और गोखले के संबंध में तो ऐसी किसी बात की कल्पना ही नहीं की जा सकती। देश के प्रति अटूट निष्ठा, तप–त्याग, लगन और अथक परिश्रम में वे राष्ट्रीय आंदोलन के अन्य किसी भी नेता से पीछे नहीं थे। तिलक के शब्दों में, ''बहुत ही छोटी आयु में उन्होंने अपने आपको देश सेवा के लिए पूर्णतया समर्पित कर दिया और विविध रूपों में देश की अपरिमित सेवा की।''

जीवन परिचय– गोपाल कृष्ण गोखले का जन्म 1866 ई. में बम्बई प्रान्त के कोल्हापुर जिले में हुआ था। जब उनकी आयु मात्र 13 वर्ष की थी, तभी उनके पिता का देहान्त हो गया और उन्हें शिक्षा प्राप्ति के लिए कठोर संघर्ष करना पडा। लेकिन उनमें दिल और दिमाग की अद्‌भुत योग्यताएं थी और उन्होंने जीवन में बढ़ी तेजी से उन्नति की। आप 18 वर्ष की आयु में स्नातक हुए और 20 वर्ष की आयु में पूना के अंग्रेजी स्कूल में अध्यापक हुए, जो आगे चलकर विख्यात फर्ग्युसन कॉलेज के रूप में विकसित हुआ। गोखले इस कॉलेज से 1902 ई. में प्रिन्सिपल के पद से रिटायर हुए।

1905 में गोखले उस प्रतिनिधि मण्डल के सदस्य होकर इंग्लैण्ड गए जो ब्रिटिश राजनीतिज्ञों को समझाने बुझाने के लिए गया था। लेकिन उनके विवेकपूर्ण आग्रह का ब्रिटिश नेताओं पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। गोखले ने 1909 के सुधारों को पहले तो स्वागत किया, लेकिन बाद में सुधारों के व्यवहारिक रूप पर घोर निराशा प्रकट करते हुए उन्होंने नौकरशाही के कार्यों की कटु आलोचना की। 1 सितम्बर, 1912 में भारतीय लोक सेवाओं की विभिन्न समस्याओं तथा कार्यप्रणाली के सम्बन्ध में जांच करने के लिए इस्लिंगटन की अध्यक्षता में एक 'शाही आयोग' नियुक्त किया गया था। श्री गोखले इस आयोग के एक सदस्य थे।

अपनी इंग्लैण्ड की यात्राओं में गोखले ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की ब्रिटिश समिति तथा उसके पत्र 'इण्डिया' को सक्रिय बनाने में भी प्रशंसनीय कार्य किया। सर विलियम बैडरबर्न के सहयोग से उन्होंने इस पत्र को भारतीय आंकाक्षाओं की एक ओजस्वी एवं यथार्थवादी प्रवक्ता बना दिया।

सन् 1910 और 1912 में गोखले ने 'इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल' में नेराल के करारबद्ध भारतीय श्रमिकों की सहायता के लिए प्रस्ताव रखे। इन श्रमिकों की स्थिति आज के 'बन्धुआ श्रमिकों' से भी बदतर थी। 1912 में वे गाँधीजी के निमन्त्रण पर दक्षिण अफ्रीका गए और वहां उन्हें गाँधीजी के नेतृत्व में भारतीय सत्याग्रहियों तथा दक्षिण अफ्रीका की सरकार के बीच समझौता कराने की सफलता मिली। उन्होंने गाँधीजी को सूचित किया कि पंजीकरण के 'काले अधिनियम को रद्‌द कर दिया जाएगा और तीन पौण्ड के घृणित कर को समाप्त कर दिया जाएगा।

गोखले को गाँधीजी अपना राजनीतिक गुरु मानते थे और गोखले के मन में गाँधीजी के लिए गहरा स्नेह तथा सम्मान था। गाँधीजी उन्हें 'पुण्यात्मा गोखले' कहा करते थे। उनकी निर्दोष देशभक्ति और आकर्षक व्यक्तित्व का ब्रिटेन के नेताओं पर भारी प्रभाव पड़ा था। अपनी चारित्रिक श्रेष्ठता, गंभीर सत्यनिष्ठा और मातृभूमि की अनवरत सेवा से वे भारत तथा विदेशों में अनेक लोगों

की प्रशंसा और सम्मान के पात्र बन गए थे। उनकी कर्त्तव्यनिष्ठा ने उन्हें भारी सम्मान दिलाया था, लेकिन यह सब कुछ उनके स्वास्थ्य के मूल्य पर ही हो पाया था और 19 फरवरी, 1915 को 49 वर्ष की अल्प आयु में उनका देहावसान हो गया। गोखले के देहावसान के बाद इंग्लेण्ड की लॉर्ड सभा में बोलते हुए लॉर्ड कर्जन ने कहा था कि, ''उन्हें कभी किसी भी राष्ट्र का ऐसा व्यक्ति नहीं मिला, जिसमें उनसे ज्यादा संसदीय प्रतिभा हो।''

भारतीय राजनीति की अतिवादी धारा से जुड़े हुए व्यक्तियों, विशेषतया लोकमान्य तिलक के साथ उनके मतभेद थे, लेकिन इन मतभेदों में कोई संकीर्णता नहीं थी। सन् 1908–11 के वर्षों में गोखले ने तिलक की कारावास से मुक्ति के लिए भारी प्रयत्न किये थे।

ब्रिटिश सरकार ने उन्हें 'नाइटहुड' की उपाधि देने का प्रस्ताव किया था, जिसे उन्होंने अस्वीकार कर दिया। उन्होंने 'भारतमंत्री' की परिषद् की सदस्यता ग्रहण करने से भी इंकार कर दिया था। उनकी इन अस्वीकृतियों में उनकी सेवा भावना, त्याग भावना तथा देशभक्ति की भावना निहित थी।

गोखले का राजनीति दर्शन – गोखले इतिहास और अर्थशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होंने बर्क की प्रसिद्ध पुस्तक को बड़ी उत्कण्ठा के साथ ह्रदयंगम किया था। बर्क की भांति गोखले सावधानी की नीति, धीमे विकास और बुद्धिसंगत प्रगति में विश्वास करते थे। गोखले में प्रशासनिक उत्तरदायित्व की भावना थी और इस भावना ने उन्हें आन्दोलन के मार्ग से अलग रखने का कार्य किया था।

वे अपने ह्रदय को मस्तिष्क पर हावी नहीं होने देते थे। उनके इस स्वभाव और समस्त शिक्षा–दीक्षा ने उनमें ब्रिटिश उदारवाद के प्रति भारी विश्वास उत्पन्न कर दिया था और उन्हें 'रचनात्मक राजनीतिज्ञ' के रूप में कार्य करने के लिये प्रेरित किया। वे ऐसे व्यक्ति थे जो आंदोलन का मार्ग अपनाकर तुरन्त ही देश की स्वतंत्रता प्राप्त करने की बात को अविवेकपूर्ण और अव्यवहारिक समझते थे और जो संवैधानिक विकास के मार्ग को अपनाकर धीरे–धीरे इस दिशा में आगे बढ़ने की बात सोचते थे। उनके राजनीतिक दर्शन की कुछ अधिक महत्वपूर्ण बातें इस प्रकार हैं–

1. ब्रिटिश जाति की उदारता और न्यायप्रियता में विश्वास – गोखले को मानव स्वभाव की मूलभूत अच्छाई में विश्वास था और शिक्षा दीक्षा ने उनमें ब्रिटिश उदारवाद के प्रति गहरी आस्था उत्पन्न कर दी थी। उन्हें अंग्रेज जाति की उदारता में विश्वास था। दादा भाई की भांति वे सदैव आशा किया करते थे कि इंग्लैण्ड में एक नए ढंग की राजनीतिज्ञता का उदय होगा और भारत के साथ न्याय किया जाएगा।

2. संवैधानिक साधनों में अडिग विश्वास– गोखले का संवैधानिक साधनों और वैधानिक आंदोलन में अडिग विश्वास था। वे उग्र विचारों और साधनों तथा असंवैधानिक मार्ग को भारत के लिए अहितकर समझते थे तथा इसके विरूद्ध थे। वे ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत स्वशासन के लक्ष्य को संवैधानिक तरीकों से ही प्राप्त करना चाहते थे। देवगिरिकर के शब्दों में, ''शासन तंत्र के विरूद्ध युद्ध करते समय गोखले ने वैधानिक मार्ग अपनाया। उनका प्रयास यह था कि तथ्यों तथा तर्कों को अपनी बात का आधार बनाया जाय और समझा–बुझाकर उन लोगों के विचार बदले जाए जिनका कुछ महत्व हैं। ''डॉ. पट्टाभि सीतारमैय्या ने कहा है कि ''वे विरोधी को हराने में नहीं, अपितु उसे जीतने में विश्वास रखते थे।'' हिंसा, विद्रोह, सशस्त्र क्रान्ति अथवा विदेशी आक्रमण की सहायता आदि के लिए उनके राजनीतिक व्यवहार में कोई स्थान नहीं था। उनके संवैधानिक तरीकों में याचिकाएं, न्याय के लिए प्रार्थना, निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा पारित प्रस्ताव और शासन से भेंट करने के लिए प्रतिनिधि मण्डल आदि आते है। वे इस प्रसंग में इंग्लैण्ड में प्रचार कार्य को भी बहुत अधिक महत्व देते थे। सन् 1908 में उन्होंने इलाहाबाद में कहा था कि संवैधानिक साधनों से मेरा अभिप्राय शांतिपूर्ण साधनों से है। कुछ अवसरों पर उन्होंने विचार व्यक्त किये कि करों को न देना भी वैधानिक आन्दोलन का ही एक अंग है, लेकिन उन्होंने अपने जीवन काल में भारतीय जनता को ऐसा कोई उपाय अपनाने का परामर्श कभी नहीं दिया। उनका विचार था कि शिकायतें दूर करवाने के लिए शासन सत्ता पर संवैधानिक तरीकों से निरन्तर दबाव डाला जाना चाहिए, पर यह दबाव प्रभावशाली तभी होगा, जबकि उसके पीछे लोकमत की शक्ति और दृढ़ निश्चय हो।

3. स्वशासन की धारणा – गोखले यद्यपि क्रमिक सुधारों के मार्ग को अपनाने में ही विश्वास करते थे, लेकिन इन सुधारों का अंतिम लक्ष्य भारत के लिए स्वशासन की प्राप्ति था। गोखले का विश्वास था कि ब्रिटिश नौकरशाही के फलस्वरूप प्रशासन में जो आर्थिक ओर अन्य दोष प्रवेश कर गए है, उनका निराकरण स्वशासन द्वारा ही हो सकता है। स्वशासन के अर्थ को स्पष्ट करते हुए उन्होने कहा था, ''ब्रिटिश प्रशासनिक यंत्र के स्थान पर भारतीय प्रशासनिक यंत्र को प्रतिष्ठित करना, विधान परिषदों का विस्तार और सुधार करते–करते उन्हें वास्तविक संस्था बना देना और जनता को अपने मामलों का प्रबन्ध स्वयं करने देना।'' सन् 1905 में बनारस कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में गोखले ने कहा, ''कांग्रेस का लक्ष्य यह है कि भारत, भारतीयों के हितों को ध्यान में रखते हुए प्रशासित होना चाहिए। एक निश्चित समय की अवधि में भारत में ऐसी सरकार गठित हो जानी चाहिए, जैसी कि ब्रिटिश साम्राज्य की अन्य स्वशासित उपनिवेशों की सरकारें है।'' सन् 1907 में अपने देश में वैसी ही सरकारें हो, जैसे कि अन्य लोगों की अपने देश में है।'' उन्होंने एक से अधिक बार यह स्पष्ट कर दिया था कि यह स्थिति ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत ही प्राप्त होनी चाहिए। उनका लक्ष्य ब्रिटिश सामाज्य के अन्तर्गत अधिराज्य की स्थिति प्राप्त करना था, वही स्थिति जो ब्रिटिश साम्राज्य के अर्न्तगत आस्ट्रेलिया, कनाडा और न्यूजीलैण्ड को प्राप्त थीं भारत

के लिए पूर्ण स्वशासन या 'अधिराज्य की स्थिति' उनका दूरगामी लक्ष्य था, तात्कालिक लक्ष्य नहीं।

4. सत्ता का विकेन्द्रीकरण– गोखले सत्ता के केन्द्रीकरण के विरोधी थे। उनके अनुसार, भारतीयों को उनके अधिकार तभी प्राप्त हो सकते थे जब ब्रिटिश सरकार सत्ता के विकेन्द्रीकरण की नीति अपनाती। गोखले की मान्यता थी कि सत्ता का केन्द्रीकरण प्रशासनिक स्वेच्छाचारिता और परिणामतः जनता के कष्टों को बढ़ाता है। प्रशासकीय स्वेच्छाचारिता पर अंकुश रखने और सत्ता के विकेन्द्रीकरण की दिशा में बढने के लिए गोखले ने विभिन्न अवसरों पर कतिपय सुझाव प्रस्तुत किए, यथा (1) प्रान्तीय विधान परिषदों के आकार और शक्ति में वृद्धि करके प्रान्तीय विकेन्द्रीकरण का मार्ग प्रशस्त किया जाये। प्रान्तीय विधान परिषदों को अधिकार दिया जाये कि वे प्रान्त के बजट पर वाद–विवाद कर सके। (2) जिला स्तर पर कलेक्टर की स्वेच्छाचारिता को रोकने के लिए प्रत्येक जिले में जिला स्तरीय परिषद् का निर्माण किया जाये, जो कलेक्टर को प्रशासकीय मामलों में सलाह दे। (3) हाबहाउस विकेन्द्रीकरण आयोग के सामने गोखले ने सत्ता के विकेन्द्रीकरण के लिए सुझाव दिये कि (क) सत्ता की सबसे अच्छी इकाई पंचायतों के रूप में हैं। प्रशासन के सबसे निम्न स्तर पर ग्राम पंचायते हों, जिसे शासन सम्बन्धी पर्याप्त अधिकार दिये जाएं। (ख) प्रशासन के मध्य स्तर पर जिला परिषदों का गठन हो। (ग) शिखर पर पुनर्गठित विधान परिषद हो।

5. उदारवाद– गोखले उदारवादी विचारक थे। गोखले के समय सम्पूर्ण भारतीयों के मन और मस्तिष्क में पश्चिमी उदारवाद के प्रति गहरी लगन और आकर्षण बढ़ रहा था। गोखले जनता की स्वतंत्रता, व्यक्ति की गरिमा का सम्मान, विधि का शासन, मर्यादित सरकार, समानता और न्याय में गहरी आस्था रखते थे। गोखले की ब्रिटिश सरकार से यह अपेक्षा थी कि वह उच्चतर उदारवादी मूल्यों को प्रभावी रूप से क्रियान्वित करे जो कि ब्रिटिश शासन पद्धति के मूल आधार व लक्ष्य थे। गोखले की इच्छा थी कि वे भारतीय जनता में उदारवादी मूल्यों के प्रति गहरी आस्था और विश्वास जगा सके, ताकि आगे चलकर यही उदारवादी मूल्य 'आत्म निर्णय' के अधिकार का वास्तविक प्रयोग करने की प्रेरणा दे सकें।

6. राष्ट्रवाद– गोखले एक सच्चे राष्ट्रवादी थे और उनकी राष्ट्रवाद में अटूट आस्था थी। वे एक उदारवादी, राजनीतिक यथार्थवादी और राष्ट्रवादी थे। उनका ब्रिटिश शासन के प्रति समर्थन ही भारतीय राष्ट्रीयता का पर्याय था। भारतीय जनता के हितों और स्वाभिमान के सच्चे हितैषी और प्रवक्ता थे। उनका मानना था कि भारत–ब्रिटिश सम्पर्क का प्रमुख आधार गौरवपूर्ण समानता हो। गोखले की राष्ट्रीय अवधारणा एक ऐसे भावी स्वर्णिम भविष्य की आशा करती थी, जहाँ जनता को अपना सम्पूर्ण विकास करने के समुचित और समान अवसर मिलें। गोखले की राष्ट्रीयता एक भावना मात्र ही नहीं वरन एक पवित्र कर्तव्य थी। जो राष्ट्रहित के लिए अतिआवश्यक थी। गोखले की राष्ट्रीयता व्यापक थी उसमें संकीर्णता के लिए कोई स्थान नहीं था।

7. क्रमिक सुधार – गोखले की मान्यता थी कि स्वराज्य के लक्ष्य की वास्तविक पूर्ति क्रमिक सुधारेां द्वारा ही संभव है। क्रमिक सुधार भारत के वर्तमान और भावी सुदृढ़ राष्ट्रवाद के लक्ष्य की प्राप्ति का माध्यम है। गोखले 'आदर्शोन्मुख यथार्थवादी थे। उनका राजनीतिक यथार्थवाद उन्हें इस लक्ष्य को आत्मसात करने के लिऐ प्रेरित करता था कि भारत के स्वराज्य की कामना की पूर्ति तात्कालिक उद्घोषणा द्वारा नहीं, अपितु क्रमिक सुधारों द्वारा ही हो सकती थी। वे जनता की राजनीतिक जागृति तथा राजनैतिक व प्रशासनिक क्षमताओं में वृद्धि को इन सुधारों की पूर्वशर्त मानते थे। वस्तुतः वे क्रमिक सुधारों और उनके साथ–साथ होने वाले जनता के राजनीतिक व प्रशासनिक प्रशिक्षण को भारत में स्वर्णिम भविष्य की सुदृढ़ नींव बनाना चाहते थे। इसी कारण वे सुधारेां के आग्रह को सैद्धान्तिक दृष्टि से पूर्ण नहीं मानते हुऐ भी, तात्कालिक रूप से अर्जित किया जा सकने वाला व्यवहारिक लक्ष्य मानते थे और कामना करते थे कि जनता चरित्र, क्षमता, संगठन और त्याग–वृत्ति के विकास के द्वारा इन्हीं सुधारों के मार्ग पर चलकर धीरे–धीरे स्वराज्य अर्जित कर लेगी।

8. स्वदेशी का समर्थन, किन्तु बहिष्कार जैसे साधनों का विरोध – गोखले स्वभावतः रचनात्मक राजनीति के पक्षधर थे। स्वदेशी की भावना को गोखले देश भक्ति का प्रतीक और एक पवित्र विचार मानते थे। उनके लिए स्वदेशी केवल एक आर्थिक शस्त्र मात्र नहीं था, अपितु उसमें जनता की आत्मनिर्भरता की आकांक्षा और आत्म सम्मान की चेतना की सकारात्मक अभिव्यक्ति निहित थी। वे स्वदेशी के आर्थिक पक्ष से भी सहमत थे। उनकी मान्यता थी कि स्वदेशी के माध्यम से भारत की आर्थिक आत्मनिर्भरता का मार्ग प्रशस्त होगा, साथ ही भारतीयों में ऐसी भावना भी जागृत होगी कि वे एक दूसरे की आर्थिक समस्याओं को हल करने में सहयोग करे। गोखले स्वीकार करते थे कि स्वदेशी की भावना का यह मौलिक पक्ष आत्म त्याग के नैतिक आदर्श का ही आर्थिक रूपान्तरण था। गोखले स्वदेशी के रचनात्मक पक्ष से सहमत होते हुऐ भी उसके नकारात्मक पक्ष 'बहिष्कार' से सहमत नहीं थे। बहिष्कार का विचार उनके मत में एक उग्र विचार था, जो अपने आपमें ही प्रतिशोध की भावना का संकेत देता था। गोखले का मत था कि 'विदेशी' का परित्याग' 'स्वदेशी' को अपनाने का एक सहज परिणाम हो सकता है। किन्तु बहिष्कार स्वदेशी के प्रति समर्पण का सहज परिणाम नहीं, अपितु एक नकारात्मक दृष्टिकोण है। यद्यपि अन्तिम शस्त्र के रूप में गोखले 'बहिष्कार' से भी सैद्धान्तिक रूप से असहमत नहीं है। गोखले ने आर्थिक बहिष्कार की भांति ही सरकारी नौकरियों के बहिष्कार के प्रस्ताव को भी अव्यवहारिक माना और व्यक्त किया इससे भारतीयों के हितों की कोई वास्तविक पूर्ति नहीं हो सकती थी। उन्होंने कहा कि बहिष्कार निश्चित रूप से

विरोधी पक्ष के क्रोध को जन्म देगा, और देश का कोई भी सच्चा शुभचिन्तक तब तक ऐसे क्रोध को उकसाने का विकल्प नहीं चुनेगा जब तक कि यह नितान्त अनिवार्य न हो जाए।

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के गरमपन्थी बाल गंगाधर तिलक

''हमारे समय के किसी भी व्यक्ति का जनता पर इतना अधिक प्रभाव नहीं पड़ा जितना तिलक का। स्वराज्य के संदेश का किसी ने इतने आग्रह से प्रचार नहीं किया, जितना लोकमान्य ने।'' – गाँधीजी

1905 तक हमारे नेताओं ने आन्दोलन को विधान की सीमा के अन्दर ही रखा था। अब उनको ऐसा लगने लगा था कि इसके द्वारा समस्या का समाधान नहीं हो सकता, इससे अधिक कुछ और करना होगा। अनुनय विनय से अब काम नहीं चलने वाला है– ऐसा विचार राष्ट्रवादी नेताओं में पनपने लगा। इस विचार के प्रमुख नेता थे– लोकमान्य बाल गंगाधार तिलक, जो सिर्फ नेता ही नहीं, वरन भारत की प्राचीन संस्कृति के महान पंडित भी थे। उन्होंने यह अनुभव किया कि जनता को क्रान्ति के लिए तैयार किए बिना कुछ नहीं हो सकता। यही सोचकर उन्होंने ऐसे दो पुराने उत्सवों को, जो प्रायः बन्द हो गये थे, पुनः प्रारम्भ किया। वे दो उत्सव थे– 'गणपति पूजा' और 'शिवाजी उत्सव', 'गणपति पूजा' तो धार्मिक उत्सव था, लेकिन 'शिवाजी उत्सव' धार्मिक नहीं था। गणपति स्तोत्र का सार था–

''हाय, गुलामी में रहकर भी तुमको लज्जा नहीं आती। इससे अच्छा तो यह है कि आत्महत्या कर डालो। तुम्हारे देश का नाम तो हिन्दुस्तान है। फिर यहाँ अंग्रेज क्यों राज करते हैं?''

और शिवाजी स्तोत्र का भाव यह था –

''सिर्फ बैठे–बैठे शिवाजी की गाथा दोहराने से स्वतंत्रता नहीं मिल सकती। हमें तो शिवाजी और बाजीराव की तरह कमर कसकर जुट जाना पड़ेगा। आजादी के लिए ढाल तलवार उठा लेना पडेगा। हम राष्ट्रीय युद्ध के मैदान में अपने जीवन का बलिदान कर देगें।''

20 वीं शताब्दी के प्रारम्भ में कुछ ऐसी घटनाऐं घटी जिनके कारण भारतीय राष्ट्रीय जीवन में नई भावनाओं का प्रादुर्भाव हुआ और भारतीय राष्ट्रीयता अपनी शैशवावस्था छोड़कर तरूणाई लेने लगी। भारतीय नवयुवकों के दृष्टिकोण तथा मनोवृति में क्रान्तिकारी परिवर्तन होने लगे। अंग्रेजों की न्याय प्रियता से उनका विश्वास उठ गया और कांग्रेस की भिक्षावृति की नीति से ऊब गये। इन अतिवादी नेताओं ने उग्र साधन अपनाए जाने का समर्थन किया। क्रमिक सुधारों के स्थान पर पूर्ण स्वराज्य की उन्होंने मांग की और स्वराज्य को अपना जन्म सिद्ध अधिकार घोषित किया। अतिवादी नेतृत्व ने स्वराज्य को अपना उद्देश्य निश्चित करते हुऐ अपनी नीतियों को परिभाषित किया। अतिवादी स्वराज्य को अधिकार पूर्वक प्राप्त करना चाहते थे। इसकी प्राप्ति के लिए उन्होंने उग्र पद्धति का प्रयोग किया। अतिवादी आन्दोलन के विशिष्ट पक्षों को निम्नलिखित तथ्यों से स्पष्ट किया जा सकता है–

1 ब्रिटिश शासन को भारतीयों के लिए कल्याणकारी न मानना तथा विदेशी शासन से असहयोग।
2. ब्रिटिश न्यायप्रियता एवं चारित्रिक उच्चता में विश्वास नहीं।
3. याचना या दया से नहीं वरन स्वाभिमान तथा स्वावलम्बन से अपने अधिकारों की प्राप्ति की आकांक्षा थी। तिलक ने कहा– ''हमारा आदर्श दयाभावना नहीं, आत्मनिर्भरता है।''
4. जनता को सीधी राजनीतिक कार्यवाही के लिए प्रेरित करना, जागरूकता हेतु नवीन नारों का प्रचलन करना।
5. अतिवादी स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए संवैधानिक साधनों को अपर्याप्त मानते थे। उन्होंने स्पष्ट किया कि स्वराज्य दान से नहीं, सामर्थ्य से ही प्राप्त किया जा सकता है।
6. अतिवादियों द्वारा भारतीय संस्कृति के प्रति आत्मगौरव की भावना की पद्धति को बढ़ावा दिया गया।

गरमपंथियों का कार्यक्रम

गरमपंथियों का कार्यक्रम बहिष्कार, स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षा था। ये एक नियोजित पद्धति और विशिष्ट साधनों का प्रयोग करते हुए आगे बढ़ना चाहते थे। विदेशी माल का बहिष्कार तथा स्वदेशी का प्रयोग इनके कार्यक्रम का मूल आधार था। अतिवादियों ने राष्ट्रीय शिक्षा तथा सत्याग्रह पर भी बल दिया। अपने ही देश में बने माल पर बल देने से भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन तथा भारतीयों को काम एवं सेवा ने अवसरों की मांग की। अतिवादी स्वावलम्बन एवं आत्म उत्थान का मार्ग अपनाते हुऐ, ब्रिटिश साम्राज्य का विरोध करना चाहते थे। अतिवादियों ने राष्ट्रीय आन्दोलन का आधार विस्तृत करते हुए अपना संदेश बड़े वर्ग तक पहुंचाया। उन्होंने भारतीयों के मन में अंग्रेज जाति की अजेयता तथा शक्तिशाली होने का मिथ्या भ्रम समाप्त कर दिया। प्रमुख अतिवादी नेताओं में बाल गंगाधार तिलक, लाला लाजपत राय, विपिनचन्द्र पाल आदि थे। सुमित सरकार के अनुसार, ''जिस व्यक्तित्व ने वास्तव में अतिवाद का मार्ग प्रशस्त किया वे महाराष्ट्र के बाल गंगाधर तिलक थे।'' तिलक ने उदारवादियो के वैधानिक आन्दोलन को राष्ट्रीय आन्दोलन और जन आन्दोलन में परिवर्तित कर दिया। उनकी निस्वार्थ देशभक्ति, अदम्य साहस, स्वतंत्र और सबल राष्ट्रीय प्रवृति और इन सबके ऊपर देश तथा देशवासियों की एकनिष्ठ सेवा के कारण उन्हें स्वाधीनता आन्दोलन के नेताओं में बहुत अधिक उच्च स्थान प्राप्त था। डॉ. आर.सी. मजूमदार लिखते हैं ''अपने देशप्रेम तथा अथक प्रयत्नों के परिणाम स्वरूप बाल गंगाधर तिलक 'लोकमान्य' कहलाऐ जाने लगे और उनकी एक देवता के समान पूजा होने लगी। वे जहाँ भी जाते थे, उन्हें राजकीय सम्मान व स्वागत प्राप्त होता था।''

जीवन परिचय : बाल गंगाधर तिलक का जन्म 23 जुलाई, 1856 ई. को भारत के पश्चिमी तट पर कोंकण जिले में रत्नागिरी में

हुआ। तिलक का जन्म जिस परिवार में हुआ वह अपनी धार्मिकता तथा विद्वता एवं कर्मकाण्ड में आस्था के लिए विख्यात था। उनके पिता एक शिक्षक तथा संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होंने तिलक को संस्कृत एवं गणित का अच्छा ज्ञान कराया। विद्यालय जीवन में तिलक ने अनेक अवसरों पर निर्भयता तथा सत्य का परिचय दिया था। आत्मज्ञान की उत्कृष्ट भावना उन्हे अपने पिता से उत्तराधिकार में मिली थी। उन्होंने 1877 में बी.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की। उनके मित्रों का विचार था कि गणित विषय एवं शोध कार्य के प्रति गहरी रूचि के कारण वे स्नात्कोत्तर स्तर पर गणित का अध्ययन करेंगें किन्तु तिलक ने कानून का अध्ययन करना पसंद किया। इस प्रसंग में तिलक का कहना था कि, ''मैं अपना जीवन अपने देश में नवजागरण के कार्य में लगाना चाहता हूँ और मेरा विचार है कि इस कार्य के लिए साहित्य अथवा विज्ञान की किसी उपाधि की अपेक्षा कानून का ज्ञान अधिक उपयोगी होगा। मैं एक ऐसे जीवन की कल्पना नहीं कर सकता, जिसमें कि मुझ को अंग्रेज शासकों के साथ संघर्ष न करना पडे।'' इस प्रकार उन्होंने छात्र जीवन में ही अपना जीवन मार्ग निर्धारित कर लिया था और वह था : देश की स्वाधीनता के लिए संघर्ष। तिलक ने अपनी युवावस्था से ही निम्न कार्यो के माध्यम से राष्ट्रप्रेम एवं स्वाधीनता की अलख जगाई –

तिलक का राजनीतिक दर्शन – यद्यपि अपने समकालीन उदारवादी राष्ट्रीय नेताओं की तुलना में तिलक में एक राजनीतिक दार्शनिक बनने की पर्याप्त प्रतिभा थी, किन्तु व्यावहारिक कारणो से तिलक ने अपने राजनीतिक चिन्तन का केन्द्रीय विषय 'भारत के लिए स्वराज्य प्राप्ति को ही बनाया। वस्तुतः तिलक ने अपनी स्वराज्य सम्बन्धी अवधारणा के प्रसंग में ही स्वतंत्रता, राष्ट्रवाद, व्यक्ति व शासन के सम्बन्ध, राज्य की विधि निर्माण की शक्ति, विधि के औचित्य, लोकतंत्र, राजनीतिक साधनों आदि पर अपने विचार प्रकट किये है। तिलक के विचारों का मूल प्रेरक तत्त्व प्राचीन भारतीय धर्म एवं संस्कृति है और इस रूप में उनके चिन्तन में प्रत्ययवादी तत्व भी दिखलाई पड़ता है। किन्तु इस प्रत्ययवादी तत्व के कारण उनका राजनीतिक चिन्तन आदर्शवादी, काल्पनिक अथवा अमूर्त नहीं बन गया है। क्योंकि उनके चिन्तन का मूल स्वर व्यावहारिक एवं यथार्थवादी है। वस्तुतः तिलक ने तात्कालीन भारतीय राजनीतिक परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं के प्रसंग में प्रत्ययवाद (आध्यात्मवाद) तथा राजनीतिक यथार्थवाद (भौतिकवाद) के मध्य विवेकपूर्ण समन्वय प्रस्तुत किया है।) तिलक के राजनीतिक दर्शन को हम निम्नानुसार समझ सकते है–

1. व्यक्ति एवं समाज का आधार शाश्वत – धर्म (नैतिकता) है– तिलक का मत है कि मानव अपनी मूल प्रकृति से मात्र एक बौद्धिक या भौतिक प्राणी नही है, अपितु मानव मूलतः एक आध्यात्मिक प्राणी (नैतिक प्राणी) हैं। मानव के प्रसंग में उसके बाह्य रूप या इन्द्रियों की तुलना में, उसकी आत्मा का ही मुख्य महत्व है, जो परम बह्म का अंश हैं। तिलक ने शाश्वत धर्म अथवा शाश्वत नैतिकता सम्बन्धी अपनी इस हितकारी अवधारणा को अपने राजनीतिक चिन्तन का आधार बनाया है। हितकारी मार्ग के अनुसार राजनीतिक क्षेत्र में केवल ऐसे कार्यों को ही उचित माना जा सकता है जो जनता एवं राष्ट्र के कल्याण की कर्त्तव्यपूर्ण भावना से किये जाते हैं।

2. पाश्चात्य भौतिकवादी नैतिक व राजनीतिक दर्शन से असहमति– तिलक ने उपरोक्त विचारों के आधार पर पश्चिमी जगत के विभिन्न भौतिक सिद्धान्तो से असहमति प्रकट की है। उनका मत है कि ये सभी सिद्धान्त भारत की आध्यात्मिक, सांस्कृतिक व राजनीतिक परम्परा के अनुरूप नहीं हैं। इस बारे में तिलक का कथन है, ''हमारे शिक्षित लोगों की एक बड़ी संख्या ने पश्चिमी विद्वानों के भौतिकवादी सिद्धान्तों को बिना किसी विवेचन के ही अपनाना शुरू कर दिया है। इस प्रकार हमारी नयी पीढ़ी की बड़ी दयनीय स्थिति है जिनके मस्तिष्क पर पश्चिम के फूहड़ भौतिकवाद की कार्बन कॉपी तैयार हो रही है।''

3. व्यक्ति की स्वतंत्रता सम्बन्धी विचार– तिलक ने व्यक्ति की स्वतंत्रता पर वेदान्त के अनुसार विचार किया है। इस प्रकार उनका स्वतंत्रता सम्बन्धी दृष्टिकोण मूलतः आध्यात्मिक व नैतिक है। स्वतंत्रता का मूल अर्थ है– 'स्व' पर अपने 'तंत्र' की स्थापना, इस प्रकार स्वतंत्रता व्यक्ति द्वारा नैतिक दृष्टि से स्वयं को नियंत्रित (आत्म–नियंत्रण) करने का अधिकार है। तिलक के अनुसार 'स्व' का अर्थ है 'मानव–आत्मा', जो ईश्वर का अंश है। जब व्यक्ति अपने इस मूल रूप के अनुसार स्वयं के जीवन का संचालन, नियमन और नियत्रंण करता है तो वह अपने आत्म रूप का पूर्ण विकास करने में सफल होता है और ईश्वरीय विवेक व नैतिकता का पालन करते हुये आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति कर सकता है। ऐसा व्यक्ति ही अपने वैयक्तिक कल्याण के साथ ही सम्पूर्ण समाज के कल्याण की वृद्धि में सहायक होता है। तिलक ने स्वतंत्रता को आत्म–विकास के एक भावात्मक साधन के रूप में स्वीकारा है। उनकी दृष्टि से स्वतंत्रता व्यक्ति के पूर्ण नैतिक विकास तया ईश्वर से एकाकार होने के साध्य की प्राप्ति में सहायक अनिवार्य साधन है। इस प्रकार स्वतंत्रता व्यक्ति के नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास का भावात्मक, सामर्थ्य एवं शक्ति है।

4. स्वराज्य सम्बन्धी विचार– तिलक के अनुसार स्वराज्य मानव के सर्वांगीण विकास एवं उत्थान में सहायक है। तिलक ने स्वराज्य के दो प्रमुख रूपों का उल्लेख किया है– आध्यात्मिक स्वराज्य तथा राजनीतिक स्वराज्य। जहाँ आध्यात्मिक स्वराज्य व्यक्ति के आध्यात्मिक उथान में सहायक है वहीं राजनीतिक स्वराज्य उसके लौकिक उत्थान में सहायक होता है। वस्तुतः स्वराज के ये दोनों रूप एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है और एक दूसर के अनुपूरक भी है। राजनीतिक स्वराज से तिलक का आशय है कि अपने देश में अपना ही राज्य (शासन) होना चाहिए, अर्थात् प्रत्येक राष्ट्र को राजनीतिक

स्वतंत्रता प्राप्त होनी चाहिए। राजनीतिक स्वराज्य उन भौतिक परिस्थितियों को प्रदान करता है जिनमें मानव को आध्यात्मिक स्वराज्य की प्राप्ति में भी सफलता मिलती है।

5. साधन संबंधी विचार– तिलक ने अपने राजनीतिक चिंतन में मुख्यतः साध्य की पवित्रता पर अत्यधिक बल दिया है, किन्तु साधन की पवित्रता के बारे में उनका कोई आग्रह नहीं है। उनका मत है कि यदि साध्य पवित्र है, तो ऐसा कोई भी साधन अपनाया जा सकता है जो इस पवित्र साध्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक हो। तिलक की दृष्टि में स्वराज्य की प्राप्ति एक पवित्र साध्य था और भारत की तत्कालीन परिस्थितियों के प्रसंग में उन्होंने इसकी प्राप्ति के लिए गरमपंथी राजनीतिक साधन अपनाये, जिन्हें प्रायः 'खुले राजनीतिक साधन' भी कहा जाता है। यह उल्लेखनीय है कि तिलक ने स्वराज्य की प्राप्ति के साधन के रूप में उदारवादी राष्ट्रीय नेताओं द्वारा अपनाये गये, उदार संवैधानिक साधनों की गंभीर आलोचना की और उन्हें त्याज्य माना। तिलक ने स्वराज्य के साध्य की प्राप्ति के लिए मुख्यतः अग्रलिखित चार साधनों का समर्थन किया– निष्क्रिय प्रतिरोध, स्वदेशी का प्रचार, बहिष्कार तथा राष्ट्रीय शिक्षा।

6. प्राचीन भारत के गौरव से प्रभावित राष्ट्रवाद– यद्यपि सर्वप्रथम स्वराज्य (राजनीतिक स्वतंत्रता) का विचार देने का श्रेय, सामाजिक व धार्मिक चिंतक स्वामी दयानन्द को जाता है, किन्तु भारतीय राष्ट्रवाद को सर्वप्रथम एक सुनिश्चित व मूर्त अवधारणा बनाने का श्रेय लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक को दिया जाता है। तिलक द्वारा प्रतिपादित राष्ट्रवाद के उपरोक्त गुण के कारण उनके राष्ट्रवाद को 'हिन्दू पुनरूत्थानवादी राष्ट्रवाद' कहा जाता है। किन्तु वास्तव में तिलक केवल अतीत की पुनरावृत्ति नहीं चाहते थे, वस्तुतः उनके राष्ट्रवाद में लोकतंत्र जैसा आधुनिक तत्व भी मौजूद था और उन्हें जे.एस.मिल की 'राष्ट्र' की परिभाषा भी पसन्द थी। यह कहना अधिक उचित होगा कि एक यथार्थवादी चिंतक के रूप में तिलक राष्ट्रवाद को भारतीय परम्पराओं, भावनाओं एवं परिस्थितियों के अनुरूप ही विकसित करना चाहते थे और इस बारे में वे किसी प्रकार के पश्चिमीकरण के विरोधी थे। तिलक के राजनीतिक चिंतन की मूल प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर कहा जा सकता है कि वे 'स्वदेशी राष्ट्रवाद' के समर्थक थे।

7. राष्ट्रीय एकता एवं साम्प्रदायिक सद्भाव सम्बन्धी विचार– यद्यपि तिलक ने अपने राष्ट्रवादी विचारों की शुरूआत हिन्दू पुनरूत्थानवाद से की, किन्तु जब हिन्दुओं में राष्ट्रीय चेतना का पर्याप्त विकास हो गया, तो उन्होंने सम्पूर्ण भारत में राष्ट्रवाद की लहर को बलवती बनाने के लिए राष्ट्रीय एकता पर अत्यधिक जोर दिया। इस उद्देश्य से उन्होंने 'हिन्दू– मुस्लिम एकता' तथा साम्प्रदायिक सद्भाव की नीति का समर्थन किया। वस्तुतः इस प्रकार तिलक सम्पूर्ण भारत के प्रसंग में एक 'भारतीय राष्ट्रवाद' का विकास करना चाहते थे। इस उद्देश्य से तिलक ने भारत के सभी धार्मिक, सांस्कृतिक एवं भाषायी समुदायों के बीच राष्ट्रीय एकता के संस्कार को विकसित करने का तथा उसे अटूट बनाने का प्रयत्न किया।

तिलक की राजनीतिक पद्धति एवं कार्यक्रम के आधार– तिलक को अपनी राजनीतिक पद्धति एवं कार्यक्रमों का निर्धारण करने का अवसर ब्रिटिश शासन की दमनकारी एवं शोषणकारी नीतियों के प्रसंग में प्राप्त हुआ था, जिसका विरोध करने में उदारवादी राष्ट्रीय नेता असफल रहे थे।

तिलक ने ब्रिटिश राज्य की निरंकुशता के विरोध तथा स्वराज्य की प्राप्ति के लिए अपनी राजनीतिक पद्धति तथा कार्यक्रम को तय किया और 'खुले राजनीतिक साधनों' को अपनाया, जिन्हें 'उग्र राष्ट्रीय साधन' अथवा 'गरमपंथी साधन' भी कहा जाता है। ये खुले राजनीतिक साधन कानून की सीमा का उल्लंघन नहीं करते थे, अतः इन्हें 'उग्र राष्ट्रवादी संवैधानिक साधन' भी कहा जाता है।

प्रारम्भ से ही तिलक ने खुले राजनीतिक साधनों की श्रेणी में अग्रलिखित तीन साधनों को स्थान दिया– स्वदेशी, बहिष्कार तथा राष्ट्रीय शिक्षा, किन्तु बाद में उन्होंने इसमें निष्क्रिय प्रतिरोध के साधन एवं विचार को भी जोड़ा। इसका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है–

1. स्वदेशी– तिलक के लिए स्वदेशी का विचार मात्र भारत की आर्थिक आत्म निर्भरता तक सीमित नहीं था, अपितु वे इसे भारत के आध्यात्मिक उत्थान एवं राजनीतिक स्वराज्य की प्राप्ति का प्रमुख आधार मानते थे। तिलक के हाथों में स्वदेशी का विचार देश–प्रेम का प्रतीक बन गया और स्वदेशी का आन्दोलन सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवन के पुनरूत्थान का आन्दोलन बन गया। स्वदेशी के राजनीतिक महत्व को प्रकट करते हुये तिलक ने कहा, ''यदि हम गोरे लोगों की गुलामी में नहीं रहना चाहते है, तो हमें स्वदेशी के आन्दोलन को पूरी ताकत के साथ चलाना होगा। यही एकमात्र ऐसा प्रभावशाली साधन है, जो हमें मुक्ति दिला सकता है।''

2. बहिष्कार– तिलक ने बहिष्कार अर्थात् बॉयकाट के प्रस्ताव का समर्थन 1905 के कांग्रेस के बनारस अधिवेशन में किया। उदारवादियों के विरोध के बावजूद कांग्रेस ने इस प्रस्ताव को स्वीकारा। बहिष्कार आन्दोलन का प्रारम्भिक उद्देश्य था ब्रिटिश शासन के आर्थिक हितों पर दबाव डालकर उसे बंग–भंग के निर्णय को रद्द करने के लिए बाध्य करना। तिलक ने इस आन्दोलन के द्वारा भारतीयों को ब्रिटिश वस्तुओं के बहिष्कार के लिए प्रेरित किया और इस प्रकार भारत में ब्रिटिश व्यापार को नष्ट करने की चेष्टा की। तिलक ने बहिष्कार की भावना को केवल आर्थिक पक्ष तक सीमित नहीं माना। उन्होंने बहिष्कार का अर्थ ब्रिटिश नौकरशाही के प्रति भारतीय जनता की सहमति एवं सहयोग के अन्त के रूप में किया। वे मानते थे कि बहिष्कार की नीति के कुशल प्रयोग द्वारा ब्रिटिश शासन को लकवे की स्थिति में पहुचांया जा सकता था। तिलक बहिष्कार को ऐसा प्रभावशाली राजनीतिक शस्त्र मानते थे, जिसकी मदद से भारत की निहत्थी

जनता, बिना किसी हिंसक संघर्ष के ही, ब्रिटिश शासन से मुक्ति पा सकती थी।

3. निष्क्रिय प्रतिरोध– तिलक ने स्वराज्य की प्राप्ति के लिए निष्क्रिय प्रतिरोध के साधन को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना। उनके निष्क्रिय प्रतिरोध के दर्शन का आधार यह विचार था कि अन्यायपूर्ण कानून का विरोध करना व्यक्ति का कर्त्तव्य है। तिलक निष्क्रिय प्रतिरोध की पद्धति को मूलतः संवैधानिक भी मानते थे। उनकी राय में यह पद्धति कानून, न्याय, नैतिकता एवं लोकमत के अनुकूल थी। तिलक की निष्क्रिय प्रतिरोध की नीति में हिंसक प्रतिरोध के लिए कोई स्थान नहीं था, वस्तुतः यह अहिंसा एवं स्वेच्छा पर आधारित सामूहिक असहयोग की नीति थी। तिलक आर्थिक, वैधानिक, प्रशासनिक, न्यायिक आदि सभी क्षेत्रों में ब्रिटिश नौकरशाही के प्रति निष्क्रिय प्रतिरोध के रूप में जन–असहयोग चाहते थे।

4. राष्ट्रीय शिक्षा – तिलक राष्ट्रोत्थान में शिक्षा की भूमिका को अत्यधिक महत्व देते थे। उन्होंने 1880 में ही आगरकर व चिपलूणकर के सहयोग से 'न्यू इंगलिश स्कूल' नामक शिक्षण संस्था की स्थापना की और 1884 में शिक्षा के प्रसार के लिए 'दक्षिण शिक्षा समाज' नामक संस्था का निर्माण किया और उसके अन्तर्गत फर्ग्युसन कालेज स्थापित किया। बाद में उन्होंने स्वदेशी आन्दोलन के दौरान समर्थ गुरू रामदास के नाम पर अनेक 'समर्थ विद्यालय' खुलवाये।

तिलक का मत था कि राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली तथा पाठ्यक्रम को निम्नलिखित गुणों वाला होना चाहिए–

1. छात्रों को उनकी मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा दी जाये।
2. समस्त भारतीयों के बीच सम्पर्क भाषण के रूप में हिन्दी को स्वीकारा जाये और इसे राष्ट्रभाषा माना जाये।
3. भारत की विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं के लिए देवनागरी लिपि को अपनाया जाये।
4. भारत में औद्योगिक विकास के लिए तकनीकी शिक्षा का प्रबन्ध किया जाये। इससे भारत आर्थिक क्षेत्र मे आत्मनिर्भर होगा और युवकों को रोजगार के नये अवसर प्राप्त होगें।
5. छात्रों को धार्मिक शिक्षा दी जानी चाहिए। यह शिक्षा इस प्रकार की होनी चाहिए कि छात्रों में धार्मिक सहिष्णुता की भावना विकसित हो।
6. छात्रों को राजनीतिक शिक्षा दी जानी चाहिए, ताकि वे राष्ट्र के प्रति अपने दायित्वों से परिचित हों और राष्ट्रोत्थान में सक्रिय भूमिका निबाह सकें।

राष्ट्रीय आन्दोलन के क्रान्तिकारीः भगत सिंह, चन्द्रशेखर आजाद एवं सुभाष चन्द्र बोस

भारत में अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध संग्राम लगभग इस देश में अंग्रेजी शासन के आरम्भ से ही शुरू हो जाता है। भारत के लोगों ने विदेशी राज्य के विरुद्ध संघर्ष करते समय कई तरीके अपनाए। 1857 तक उन्होंने अपने राजाओं, धार्मिक नेताओं और बेदखल जमींदारों के नेतृत्व मे अधिकतर सशस्त्र संघर्ष किये। इस प्रकार के संघर्ष 1857 के विद्रोह के साथ अपनी चरम सीमा पर पहुँच गये। कर्जन के वायसराय काल (1899–1905) में अनेक अविवेकपूर्ण कार्यों से जुझारू आन्दोलन को और भी अधिक बढ़ावा मिला। 1905 में बंगाल का विभाजन राजनीतिक दृष्टि से जागरूक जनता का सीधा अपमान था जिसने व्यापक जनान्दोलन को जन्म दिया। इसी प्रकार भारत के उत्तर पश्चिम में भी कई जातिगत विद्रोह उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में हुऐ। इन विद्रोहों से यह साफ जाहिर होता है कि भारत में आजादी की लड़ाई इंडियन नेशनल कांग्रेस से शुरू नहीं हुई थी और न ही यह संघर्ष सिर्फ शांतिमय प्रतिरोध से ही चलाया गया था। 19 वीं शताब्दी के अन्त में अकाल और प्लेग से बड़ी संख्या में लोगों की मृत्यु हुई, जिससे लोगों के मन पर दुख और निराशा के बादल छा गये। मगर यूरोप और एशिया में कुछ ऐसी घटनायें घटीं, जिससे यहां भी आशा की किरण फूटी। इन घटनाओं से भारत के लोगों का पश्चिम की श्रेष्ठता पर से विश्वास उठ गया। बेकारी और अंग्रेजों की नस्लवादी भेदभाव की नीति से भारत के शिक्षित नौजवानों में असंतोष बढ़ा, जिससे ब्रिटिश राज्य के विरूद्ध अतिवादी आन्दोलन का जन्म हुआ। इस प्रकार 20 वीं सदी के आरम्भ में भारत में क्रांतिकारी लहर दौड़ गई। जिससे क्रान्तिकारी आन्दोलन को बढ़ावा मिला।

बीसवीं सदी के शुरू में भारत में क्रान्तिकारी आन्दोलन चला। यह राष्ट्रवाद की एक अवस्था थी पर यह तिलक पक्षीय राजनीतिक उग्रतावाद से बिल्कुल भिन्न थी। क्रान्तिकारी लोग अपीलों, प्रेरणाओं और शान्तिपूर्ण संघर्षों को नहीं मानते थे। उन्हें दृढ़निश्चय था कि पशुबल से स्थापित किये गये साम्राज्यवाद को हिंसा के बिना उखाड फैंकना संभव नहीं है। ब्रिटिश सरकार की प्रतिक्रियावादी और दमन की नीति ने उन्हें निराश कर दिया था। वह प्रशासन और उनके समर्थक हिन्दूस्तानी सहायकों की हिम्मत पस्त करने के लिए हिंसात्मक कार्य में विश्वास रखते थे। वे आन्दोलन को चलाने के लिए सशस्त्र हमले करने और धनार्जन हेतु ब्रिटिश खजाने को प्राप्त करने या छीनने को बुरी बात नहीं समझते थे। यह क्रान्तिकारी युवा वर्ग उदारवादियों के दुराग्रही दृष्टिकोण, विदेशी प्रशासन की दमनकारी जुगल बंदी के कारण गरमपंथियों के कांग्रेस से निष्कासन के कारण देशभक्ति से ओतप्रोत हो क्रान्तिपूर्ण संघर्ष का मार्ग अपनाने हेतु विवश हुआ।

यूरोपीय देशों में चल रहे स्वाधीनता के लिए क्रान्तिकारी आन्दोलनों का अध्ययन तथा रूसी विनाशवादियों तथा अन्य यूरोपीय भूमिगत वर्गों द्वारा अपनाई जा रही पद्धतियों ने भारतीयों के एक वर्ग को इतना प्रभावित किया कि वे भी देश में इसी तरह के संगठन व पद्धति का अनुगमन करने लगे।

क्रान्तिकारियों का कार्यक्रम : भारत में ब्रिटिश शासन के विरूद्ध क्रान्तिकारियों के नेतृत्व ने अपनी गतिविधियों को सही अजांम देने एवं निश्चित दिशा में सफलता प्रदान करने हेतु कुछ

निश्चित कार्यक्रम एवं गतिविधियों का निर्धारण किया ताकि राष्ट्रीय आन्दोलन को ऊर्जापूर्ण एवं गतिशील बनाए रखा जा सके। क्रान्तिकारियों के नेतृत्व ने आन्दोलन की गतिविधियों हेतु आवश्यक संसाधनों के संकलन, समाज में जनजागरण व राष्ट्रीयता की अलख जगाने तथा ब्रिटिश शासकों को निर्बल करने हेतु आवश्यक गतिविधियों पर बल दिया। क्रान्तिकारियों के कार्यक्रम में प्रमुखतया निम्न बाते सम्मिलित थीं।

(1) भारत के शिक्षित लोगों में दासता के विरूद्ध घृणा पैदा करने के लिए अखबारों में प्रबल प्रचार किया जाये।

(2) बेकारी और भुखमरी का भय हिन्दुस्तानियों के दिल से निकाला जाये।

(3) भारतीयों के मन में राष्ट्रीयता, आजादी तथा मातृभूमि के प्रति प्रेम जागृत किया जाये।

(4) आम जनता में राष्ट्रीयता की भावना जागृत करने हेतु ह्रदय स्पर्शी संगीत और नाटकों का रूपान्तरण किया जाये ताकि वीरों की जीवनी और आजादी के लिए उनके द्वारा किये गये महान कार्यों की प्रशंसा व प्रसार हो सके।

(5) सरकार को वन्देमातरम् के जुलूसों और स्वदेशी सम्मेलनों तथा बायकॉट के जरिये व्यस्त रख जाये ताकि राष्ट्रीय स्वाधीनता हेतु किये जाने वाले कार्यों को निर्विघ्न रूप से किया जा सके।

(6) नौजवानों की भर्ती करके उनकी छोटी–छोटी टुकड़ियाँ बना दी जाये, साथ ही इन नौजवानों को शारीरिक व्यायाम या कसरत कराई जाये तथा शस्त्रों का प्रयोग बताया जाये ताकि उन्हें एक प्रशिक्षित व शक्ति सम्पन्न सैन्य टुकडी के रूप में स्थापित किया जा सके।

(7) इन प्रशिक्षित सैन्य युवाओं को नियमों तथा नेतृत्व की आज्ञाओं की पूरी तरह पालना करने की शिक्षा प्रदान की जाये ताकि कुशल नेतृत्व के सानिध्य में आगामी रणनीतियों का सफलतापूर्वक संचालन किया जा सके।

(8) हथियार बनाये जाये एवं विदेशों से खरीदे जाये तथा ब्रिटिश शासन से बचाकर उन्हें हिन्दुस्तान लाया जाये ताकि सैन्य प्रशिक्षित युवाओं के पास आवश्यक एवं महत्वपूर्ण हथियार उपलब्ध रह सके।

(9) क्रान्तिकारी आन्दोलन के लिए छापे मारकर धन हासिल किया जाये ताकि क्रान्तिकारियों की गतिविधियों का संचालन सुगमतापूर्वक किया जा सके।

क्रान्तिकारियों का यह विश्वास था कि अंग्रेजी साम्राज्य का कानून पशुबल पर कायम है और अपने को आजाद करने के लिए यदि हमें भी पशुबल का प्रयोग करना पडे तो यह ठीक ही है। बंगाल में तो वहाँ के नौजवानों से इन शब्दों में अपील की गई, ''क्या शक्ति के उपासक बंगाली रक्तपात से हिचकिचाएंगे, इस देश में अंग्रेजो की संख्या डेढ़ लाख से अधिक नही है और हर जिले में कितने थोड़े अफसर है, यदि आपका इरादा पक्का हो तो एक ही दिन में ब्रिटिश हुकूमत खत्म कर सकते हैं। अपना जीवन दे दो और उससे पहले एक जीवन खत्म कर दो। यदि आप बिना खून किये स्वतंत्रता की वेदी पर अपना बलिदान कर देगें तो देवी की पूजा पूरी नहीं होगी।''

क्रान्तिकारी आन्दोलन के उत्थान में मुख्यतः वही कारण थे जिनसे राष्ट्रीय आन्दोलन में गरमपंथी विचारधारा का उदय हुआ। भेद केवल यह था कि क्रांतिकारी अधिक शीघ्र परिणाम चाहते थे। वे प्रेरणा, जिसे उदारवादियों ने लोकप्रिय बनाया था और धीमे प्रभाव की नीति, जिसे गरमपंथियों ने अपनाया था, में विश्वास नहीं करते थे। क्रान्तिकारी यह विश्वास करते थे कि राष्ट्रीय जीवन में जो भी उपयुक्त तत्व है जैसे कि धार्मिक तथा राजनैतिक स्वतंत्रताऐं, नैतिक मूल्य तथा भारतीय संस्कृति, उन सभी को विदेशी शासन समाप्त कर देगा। यद्यपि भारत के भिन्न–भिन्न भागों में क्रान्तिकारियों के राजनीतिक दर्शन का निश्चित रूप से वर्णन करना सम्भव नहीं परन्तु उन सबका एक उद्देश्य मातृभूमि को विदेशी शासन से मुक्त कराना था।

नीतियाँ : क्रान्तिकारियों की नीति स्पष्टतः यह संकेत देती है कि भारत को हर हालात में में ब्रिटिश शासन से मुक्त कराना है। उन्होंने भारत के गौरव को प्रतिष्ठित करने हेतु भरसक प्रयास किये तथा भारत माँ के मान सम्मान की रक्षा हेतु आवश्यक साधन अपनाने पर बल दिया। साधनों के विषय में उनका विश्वास था कि पाश्चात्य साम्राज्य केवल क्रान्तिकारी साधनों से ही समाप्त किया जा सकता है। इसलिए क्रान्तिकारियों ने ब्रिटिश साम्राज्यवादियों को उन्ही की भाषाओं में जवाब देने हेतु शस्त्रों का प्रयोग भी किया। उन्होंने आयरलैण्ड से भी प्रेरणा ली। क्रान्तिकारी लोगों ने गुप्त सभाऐं बनाई। क्रान्तिकारियों के नेतृत्व ने तरूण व ऊर्जावान लोगों को दीक्षा दी तथा उनमे देश पर न्यौछावर हो सकने की भी प्रेरणा भरी। क्रान्तिकारियों ने युवाओं में शस्त्रों का वितरण किया, शस्त्र निर्माण सिखाया तथा उनके प्रयोग हेतु प्रशिक्षण भी दिया। क्रान्तिकारियों ने निर्मम व निष्ठुर ब्रिटिश प्रशासकों का दमन करके उनका मनोबल कमजोर करने, प्रशासन को ठप्प करने तथा स्वतंत्रता की राह में अवरोध बने भारतीयों तथा ब्रिटिश विरोधियों को उखाड़ फेंकने का प्रयत्न किया। अपने उद्देश्य की पूर्ति हेतु तन–मन–धन सब कुछ दाव पर लगा रखा था। इनकी मान्यता थी कि यदि साध्य श्रेष्ठ है तो साधन की श्रेष्ठता विचारणीय नहीं है अर्थात् उचित साध्य की प्राप्ति हेतु सभी साधन जायज हैं। उन्होंने साधन से ज्यादा साध्य अथवा लक्ष्य पर बल दिया।

भारत में क्रान्तिकारी आन्दोलन के उदय के कारण

फिरंगी हुकूमत के कारनामों से विक्षुब्ध युवकों ने व्यक्तिगत वीरता और क्रान्ति की राह पकड़ी। अपनी भावनाओं को व्यक्त करने तथा आजादी के लिए संघर्ष करने के लिए उनके पास कोई और तरीका भी नहीं बचा था। उदारपंथी एवं अतिपंथी

भी स्वतंत्रता प्राप्ति के उद्देश्य में पूर्ण सफल नहीं हो पाए थे। ब्रिटिश सरकार पूर्णतया दमन पर उतारू थी, ऐसी स्थितियों ने क्रान्तिकारियों को मुख्यधारा में आने हेतु प्रेरित किया सरकारी अधिकारियों के दम्भ और उनकी दमनात्मक कार्यवाहियों ने युवकों में विद्रोह के भाव को उत्पन्न किया। इन स्थितियों में ऐसा प्रतीत हो रहा था कि शान्तिपूर्ण प्रतिरोध के सारे रास्ते बन्द हो चुके हैं। बंग–भंग के बाद ब्रिटिश सरकार की क्रूर दमन नीति और भारत के राष्ट्रीय नेताओं को सताये जाने के कारण देश और विदेश में क्रान्तिकारी विचारधारा का उदय और विकास हुआ।

लक्ष्य : क्रान्तिकारियों का मुख्य लक्ष्य भारतीयों को विदेशी शासन से मुक्त कराना था। उन्होंने साधनों से बढकर लक्ष्य को महत्व दिया। क्रान्तिकारियों का उद्देश्य भारतीय जनता को संघर्ष की प्रेरणा देना तथा अंग्रेजी हुकूमत के दिल में डर पैदा करना था। आजादी के लिए बलिदान क्रान्तिकारियों का प्रेरणा स्त्रोत था। भारत को गुलामी की जंजीरों से मुक्त कराना, अपनी मातृभूमि का खोया हुआ गौरव पुनः स्थापित करना तथा तथा समस्त भारतवासियों को स्वतत्रंता की खुली हवा में मुक्त विचरण का अहसास दिलाना क्रान्तिकारियाँ के लक्ष्य में शुमार था। वे चाहते थे कि ब्रिटिश हुकूमत, जो कि भारतीय जनता में असंतोष व्याप्त कर रही है, उसे जड़ से उखाड़ देना चाहिये। इस हेतु वे प्रत्येक साधन को अपनाने पर बल देते थे। उनकी मान्यता थी कि पवित्र लक्ष्य के लिए प्रत्येक साधन स्वतः श्रेष्ठ हैं।

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में क्रान्तिकारियों का योगदान अतुलनीय है। क्रान्तिकारियों ने अपनी जान पर खेलकर राष्ट्र को स्वतंत्र कराया। इस राष्ट्रीय आन्दोलन में अनेक क्रान्तिकारियों यथा– भगत सिंह, चन्द्रशेखर आजाद, सुखदेव, राजगुरू, सुभाष चन्द्र बोस, अजीत सिंह, रामप्रसाद बिस्मिल आदि ने अपनी भूमिका का निर्वाह कर आजादी की लड़ाई में अपना योगदान दिया। यहाँ हम भगत सिंह, चन्द्रशेखर आजाद एवं सुभाष चन्द्र बोस के जीवन दर्शन एवं राष्ट्रीय आन्दोलन मे उनकी भूमिका का अध्ययन करेगें।

भगत सिंह

अमर शहीद भगत सिंह भारत के उन शूरवीरों में से हैं, जिन्होंने भारत माता को स्वतंत्र करवाने के लिए हँसते–हँसते अपने प्राणों की आहूति दे दी। उनके असीम देशप्रेम और बलिदान से तात्कालीन नवयुवकों में राष्ट्रीय चेतना का जबरदस्त प्रसार हुआ। ऐसे राष्ट्रवीर सरदार भगत सिह का जन्म पंजाब के जिला लायलपुर के बंगा गांव में 27 सितम्बर, 1907 को हुआ था। उनके पिता का नाम सरदार किशन सिंह था, वे भी क्रान्तिकारी थे तथा राष्ट्रीय स्वतंत्रता हेतु कई बार ब्रिटिश शासन की प्रताड़ना झेलकर जेल जा चुके थे। भगत सिंह के चाचा सरदार अजीत सिंह एवं उनके दादा अर्जुन सिंह भी बहुत बड़े क्रान्तिकारी एवं स्वतंत्रता सेनानी थे। भगत सिंह बचपन से ही अपने पिता, चाचा एवं दादा की देश प्रेम की भावनाओं से बहुत प्रभावित थे। उन्होंने प्रारम्भिक शिक्षा स्थानीय विद्यालय से तथा उच्च शिक्षा लाहौर के डी.ए.वी. स्कूल से प्राप्त की, इस समय वे लाला लाजपत राय, नन्द किशोर मेहता आदि स्वतंत्रता सेनानियों के सम्पर्क में आए।

सरदार भगत सिंह जिस समय विद्यार्थी जीवन व्यतीत कर रहे थे, उस समय के लिए दोषी माने गये तथा हँसते–हँसते फाँसी के फन्दे पर झूल गये। इस समय इनकी आयु लगभग 9 वर्ष थी। 1919 में अमृतसर में प्रसिद्ध जलियांवाला काण्ड हुआ, इससे सारे देश की जनता काँप उठी, उस समय भगत सिंह लाहौर में अध्ययन कर रहे थे। इस घटना के उपरान्त वे जलियां वाला बाग पहुँचे और उन्होंने अपना मस्तक श्रद्धा से झुकाया। इस समय उन्होंने देश के लिए बलिदान की शपथ ली। यह घटना उन्हें जीवन भर ब्रिटिश शासन की क्रूरता व अमानवीयता के विरुद्ध प्रेरित करती रही।

1920 में जब गांधीजी ने असहयोग आन्दोलन चलाया तब भगतसिंह नवीं कक्षा के विद्यार्थी थे और उन्होंने उस आन्दोलन में सक्रिय भागीदारी निभाई। परन्तु जब 1922 में गांधी जी ने अचानक आन्दोलन स्थगित कर दिया, तो उन्हें बहुत दुख हुआ। इसके उपरान्त उन्होंने लाहौर के नेशनल कॉलेज में प्रवेश लिया। इस कॉलेज में लाला लाजपत राय ने देशभक्ति पर कई भाषण दिये। इसी समय भगतसिंह इतिहास के प्रोफेसर जयचन्द्र विद्यालंकार की क्रान्तिकारी विचारधारा से बहुत अधिक प्रभावित हुए।

भगत सिंह के पिता किशन सिंह ने भगत सिंह को गृहस्थ जीवन बिताने हेतु विवाह करने के लिए कहा था तो उन्होंने कहा कि मैं अपना सारा जीवन मातृभूमि की सेवा में लगाऊंगा और विवाह नहीं करूंगा। विवाह के सम्बन्ध में भगतसिंह ने अपने मित्रों से कहा, ''दोस्तो, यदि मेरा विवाह गुलाम भारत में होना है, तो मेरी वधू केवल मौत होगी, बारात जुलूस के रूप में होगी, और बाराती देश के लिए मर मिटने वाले परवाने होंगे।''

कानुपर में भगतसिंह ने 'प्रताप' के सम्पादक श्री गणेश शंकर विद्यार्थी से पत्रकारिता का प्रशिक्षण प्राप्त किया। इसके बाद भगत सिंह ने कानुपर से प्रकाशित 'प्रताप' में 'बलवन्त' के नाम से एवं पंजाब से प्रकाशित 'कीर्ति' में 'विद्रोह' ने नाम से लेख लिखना प्रारम्भ कर दिया। इसके अतिरिक्त इलाहबाद से प्रकाशित 'चाँद' नामक पत्रिका के महत्वपूर्ण 'फाँसी अंक' में उनके लेख प्रकाशित हुए थे। भगत सिंह ने जेल में निम्न चार पुस्तकें लिखी–

1. बॉयोग्राफी।
2. डोर टू डेथ।
3. दि रिलोल्यूशनरी मूवमेण्ट इन इण्डिया।
4. आइडिया ऑफ सोशलिज़्म

दुर्भाग्य से ये पुस्तके कहाँ और कैसे लुप्त हो गयी, पता नहीं। भारतीय प्रशासनिक सेवा के सेवानिवृत अधिकार श्री भूपेन्द्र हूजा और शिव वर्मा का मानना है कि ये पाण्डुलिपियाँ किसी

सहयोगी के पास थी, जो भूमिगत होने के दौरान या भागदौड़ में कहीं रह गयीं। भगत सिह ने जेल के अन्दर रहते हुए 'जेल नोट बुक' लिखी, जिससे उनके राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, संवैधानिक, साहित्यक व दार्शनिक विचारों का पता लगता है।

काकोरी कांड के उपरान्त भगत सिंह, चन्द्रशेखर आजाद के सम्पर्क में आए, तब इन्होंने भारत से ब्रिटिश शासन को उखाड़ फैंकने के लिए 'हिन्दुस्तान समाजवादी प्रजातांत्रिक सेना' नामक दल की स्थापना की तथा क्रान्ति हेतु हथियार एवं धन एकत्रित करने लगे। 10 अक्टूम्बर, 1928 को लाहौर में साइमन कमीशन के विरोध में निकाले गए जुलूस के नेतृत्वकर्ता लाला लाजपत राय पर पुलिस अधिकारी सेन्डर्स ने जमकर लाठियाँ बरसाई जिसके उपरान्त घायल हो उनकी मृत्यु हो गयी। लाला जी की मृत्यु से सारे देश में शोक छा गया। लालाजी की मृत्यु का समाचार सुन भगत सिंह व उनके साथियों का खून खौल उठा और उन्होने इसका बदला लेने का निश्चय किया। 17 दिसम्बर 1928 को लाहौर में क्रान्तिकारीयों ने साण्डर्स पर गोली चलाकर लालाजी की मृत्यु का बदला ले लिया। साण्डर्स की मृत्यु का समाचार सुनते ही देश में प्रसन्नता की लहर दौड़ गयी।

इसके उपरान्त 8 अप्रेल 1929 को केन्द्रीय असेम्बली में 'पब्लिक सेफ्टी' पर होने वाले मतदान के दिन सरकार तक जनता की आवाज पहुँचाने हेतु पूर्व योजनानुसार बम फैंके गए। बम फैंकने के उपरान्त भी भगत सिंह व बटुकेश्वर दत्त वहीं खडे रहे तथा 'इन्कलाब जिन्दाबाद' 'साम्राज्यवाद का नाश हो' के नारे लगाते रहे। बम के साथ फैंके गए पर्चो में लिखा था कि 'बहरों को सुनाने के लिए बम की आवश्यकता है। बम फेंकने का उद्देश्य किसी की हत्या करना नहीं था, वरन अत्याचारी ब्रिटिश प्रशासन को झकझोरना था। इसके उपरान्त दोनों ने खुद को पुलिस को सुपर्द कर दिया।

सरकार द्वारा गठित विशेष न्यायालय के न्यायाधीश जी. सी. हिल्टन की अदालत में उन पर मुकदमा चला। इस अदालत में उन दोनो ने वक्तव्य दिया जिसका कुछ अंश इस प्रकार था– ''हमारा उद्देश्य यह था कि बहरों के कान खोल दें। कई अन्य व्यक्ति भी हमारी भाँति ही सोच रहे हैं। यद्यपि भारतीयों का मन ऊपर से चुपचाप है, परन्तु अन्दर से उनके मन में तूफान उभर रहा है। हमने जो बम फैंके वो जानबूझ कर ऐसे बनाए जिनसे साधारण हानि भी न हो। हमारा यह बम उन लोगों के लिए खतरे की घण्टी है, जो जनता की इच्छा की तनिक भी परवाह न करते हुए अपनी मनमानी कर रहे हैं। हमने केवल यह सूचना दी है कि सतयुगी अहिंसा के दिन चले गऐ हैं।''

पुलिस ने इस काण्ड में भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त के अतिरिक्त उनके अन्य साथियों को भी फँसा दिया। न्यायाधीश हिल्टन ने सांर्डस की हत्या के अभियोग में भगत सिंह, राजगुरू व सुखदेव को 7 अक्टूम्बर 1930 को फाँसी की सजा सुनाई। इससे सारे देश में तहलका मच गया। फाँसी की सजा पर उनकी मनः स्थिति जानने हेतु एक मित्र द्वारा पूछे गये प्रश्न के उत्तर में भगत सिंह ने कहा, ''क्रान्ति के मार्ग पर कदम रखते समय मैंने सोचा था कि यदि मैं अपना जीवन देकर देश के कोने–कोने तक 'इन्कलाब जिन्दाबाद' का नारा पहुँचा सका, तो मैं समझूंगा कि जीवन का मूल्य मिल गया और आज मैं फाँसी की इस कोठरी में बैठकर देशवासियों के कंठो से उठती हुई उस नारे की हुंकार को सुन रहा हूँ और इतनी छोटी जिन्दगी का इससे अधिक मूल्य क्या हो सकता है।''

सर्वत्र विरोध व प्रदर्शन के बावजूद भी भगतसिंह एवं उनके साथियों को 23 मार्च, 1931 को सांयःकाल लाहौर जेल में फाँसी दे दी गयी। इस घटना से सारे देश में शोक छा गया। डॉ. पट्टाभिसीतारमैया लिखते है कि, ''1931 मे कराची कांग्रेस अधिवेशन के समय भगत सिंह का नाम उतना ही लोकप्रिय था, जितना गांधी जी का।''

वस्तुतः भगतसिंह के क्रान्तिकारी कार्यों और उनके बलिदान ने ब्रिटिश शासन की जड़ों को गहरा धक्का पहुँचाया था और उसने भारतीय जनता के मन में ब्रिटिश साम्राज्य को जड़मूल से नष्ट करने की तीव्र भावना भर दी। उन्होने अपने बलिदान से भारतवर्ष में असाधारण लोकप्रियता प्राप्त की। उनका नाम क्रान्ति का प्रतीक बन गया।

भगत सिंह द्वारा लिखित आलेखों को जानने एवं उनके वक्तव्य के आधार पर निष्कर्षतः हम यह कह सकते है कि भगत सिंह का दर्शन साम्राज्यवाद विरोधी एवं राष्ट्रप्रेमी था। वे एक सच्चे राष्ट्रप्रेमी थे। क्योंकि वे तत्कालीन शासन को समाप्त करना चाहते थे। वहीं किसान, मजदूर एवं कमजोर वर्ग की आवाज बुलंद करने के कारण समाजवादी भी दृष्टिगत होते है। मूलतया भगत सिंह का दर्शन मानववादी चिन्तन है, जिसमें कि राष्ट्रवादी एवं समाजवादी विचारधाराओं का सम्मिश्रण नजर आता है।

चन्द्रशेखर आजाद

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के दौरान जिन राष्ट्रभक्तों ने हँसते–हँसते आजादी के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग किया, उनमें से एक थे– चन्द्रशेखर आजाद। आजाद एक महान वीर देशभक्त थे। उन्होंने भी शिवि और दधिचि महर्षियों की भाँति अपने प्राणों का दान देकर इतिहास में अपना नाम अमर कर लिया।

चन्द्रशेखर आजाद का जन्म 23 जुलाई 1906 ई. को मध्यप्रदेश के झाबुआ जिले के बहोर नामक ग्राम में साधारण ब्राह्मण परिवार में हुआ। उनके पिता का नाम पण्डित सीताराम तिवारी और माता का नाम जगरानी देवी था। चन्द्रशेखर आजाद का बचपन अत्यन्त साधारण ढंग से व्यतीत हुआ। वे बचपन से ही बडे वीर, साहसी तथा निर्भीक थे। उन्होंने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा अपने चाचा के पास अलीराजपुर में रहकर प्राप्त की। इस समय

उनकी भील युवकों से दोस्ती हुई, जिनके साथ उन्होंने धनुषबाण के द्वारा निशाने बाजी का अभ्यास भी किया।

चन्द्रशेखर आजाद जब काशी में संस्कृत की शिक्षा ग्रहण कर रहे थे, तभी गाँधीजी ने असहयोग आन्दोलन की घोषणा की। इस आन्दोलन के अनुसार सभी ने अपने व्यवसाय का बहिष्कार किया। जैसे– अध्यापकों ने अध्यापन का, विद्यार्थियों ने शिक्षण संस्थाओं का एवं वकीलों ने अदालतों का बहिष्कार किया। आजाद भी असहयोग आन्दोलन से बहुत प्रभावित हुए और आन्दोलन में सक्रिय रूप से भागीदारी निभाने लगे। उन्होंने विदेशी वस्त्रों की दुकानों पर धरना दिया। इस आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने के कारण जल्दी ही वह स्थानीय नेताओं में लोकप्रिय हो गये। इस आन्दोलन के दौरान अन्य स्वयं सेवकों के साथ चन्द्रशेखर को भी गिरफ्तार किया गया। मुकदमें के दौरान चन्द्रशेखर आजाद का ब्रिटिश सरकार के प्रति विरोध स्पष्ट रूप से दिखाई दिया। मुकदमें के दौरान मजिस्ट्रेट ने चन्द्रशेखर आजाद से पूछा –

''तुम्हारा नाम क्या है?'' आजाद ने उत्तर दिया– ''मेरा नाम आजाद है' मजिस्ट्रेट ने दूसरा प्रश्न किया– ''तुम्हारे पिता का नाम क्या है?''आजाद ने उत्तर दिया– ''पिता का नाम स्वतंत्र है।'' मजिस्ट्रेट ने तीसरा प्रश्न किया– ''कहाँ रहते हो?'' आजाद ने उत्तर दिया– ''जेलखाने में।''

मजिस्ट्रेट जो कि स्वतंत्रता सेनानियों के प्रति क्रूरता के लिए बदनाम था, वह आजाद के उत्तर को सुनकर चकित तो हुआ, पर कुपित हो उठा। उसने आजाद को 15 बेंत मारने की सजा दी। जब कारागार में उन्हें यह सजा दी गई तो वे हर बेंत पर 'वन्दे मातरम' का उद्घोष करते रहे। उन्होंने बड़ी वीरता से बेंतो की चोट सहन की थी। उनका शरीर छिल गया था, जगह–जगह से रक्त बह रहा था। जब आजाद कारागार से बाहर आए, तो जनता ने अपने कंधो पर उठा लिया। नगर में बहुत बड़ा जुलूस निकाला गया। उनके स्वागत एवं सम्मान में एक बड़ी सभा आयेजित की गई, जिसमें बड़े–बड़े नेताओं ने चन्द्रशेखर आजाद की वीरता की दिल खोलकर बार–बार प्रशंसा की। जनता ने उन्हें ''आजाद'' की उपाधि से सम्मानित किया। यहीं अलंकरण बाद में उनके नाम से साथ जुड गया।

असहयोग आन्दोलन एक वर्ष बाद स्थगित कर दिया गया। जिससे चारों ओर निराशा छा गई। ऐसे समय में साहसी युवक बड़े जोरों से क्रान्तिकारियों के दल में सम्मिलित हो रहे थे। आजाद भी क्रान्तिकारियों के प्रति आकर्षित हुए तथा 1922 ई. में भारतीय क्रान्तिकारी दल में सम्मिलित हो, गुप्त रूप से क्रान्तिकारी कार्य करने लगे। आजाद के साथ सरदार भगत सिंह भी इस दल में सम्मिलित हो गए थें इस दल को रामप्रसाद बिस्मिल का प्रेरणादायक नेतृत्व मिला हुआ था।

भारतीय क्रान्तिकारी दल उस समय हिन्दुस्तान समाजवादी रिपब्लिकन आर्मी के नाम से जाना जाता था। इस दल के कार्यकताओं के लिए ब्रिटिश अत्याचारी शासन से मुकाबले हेतु अस्त्र–शस्त्र की आवश्यकता थी। इस कार्य के लिए धन की आवश्यकता थी। अतः योजनाबद्ध तरीके से सितम्बर 1925 को कांकोरी में ब्रिटिश शासन के खजाने वाली एक ट्रेन को रोक खजाने को लूट लिया गया। यद्यपि यह योजना बहुत ही बुद्धिमतापूर्ण एवं चतुराईपूर्ण तरीके से बनाई थी, फिर भी ब्रिटिश सरकार को इस बारे में जानकारी प्राप्त हो गई। इस काकोरी काण्ड में सम्मिलित क्रान्तिकारियों को गिरफ्तार कर उन पर मुकदमें चलाए गए। इनमें से कुछ को फाँसी दी गई, शेष को लम्बी–लम्बी सजाएँ दी गई। आजाद ने भी रामप्रसाद बिस्मिल के साथ इसमें भाग लिया था परन्तु ब्रिटिश सरकार के अथक प्रयास के बावजूद भी सरकार उन्हे बन्दी नहीं बना सकी। उनके नाम का वारंट निकाला गया और गिरफ्तारी के लिए पुरस्कार की घोषणा की गई, पर उन्हें गिरफ्तार नहीं किया जा सका। आजाद ने प्रतिज्ञा की थी कि वे कभी ब्रिटिश पुलिस के हाथ नहीं आएगें और उन्होंने इस प्रतिज्ञा को चरितार्थ भी किया।

इसके उपरान्त चन्द्रशेखर आजाद 1925–1928 तक गुप्त रूप से क्रान्तिकारी गतिविधियों का संचालन करते रहे। इसके बाद वे झांसी चले गए एवं वहाँ शस्त्र चलाने का प्रशिक्षण लिया। मार्च 1928 में विभिन्न प्रान्तों के क्रान्तिकारी नई दिल्ली के फिरोजशाह कोटला के खण्डहरों में मिले। भगतसिंह व अन्य बड़े–बड़े क्रान्तिकारी इस सभा में मौजूद थें इस समय भगत सिंह व आजाद ने पुनः नई योजनाऐं बनाई, ताकि क्रान्तिकारी गतिविधियाँ तीव्र गति से आयोजित की जा सके। इस सभा में आजाद को हिन्दूस्तान समाजवादी रिपब्लिकन आर्मी के सेना प्रभाग का कमाण्डर चुना गया।

लगभग इसी समय सारे देश में घोर विरोध के बावजूद 1928 में साइमन कमीशन का आगमन हुआ। 20 अक्टूबर 1928 को साइमन कमीशन ने लाहोर का दौरा किया, जहाँ लाला लाजपतराय के नेतृत्व में बड़ा जुलूस निकाल कर इस कमीशन का विरोध किया। इस जुलूस पर अंग्रेज अधिकारी सेन्डर्स के आदेश से लाठी चार्ज किया लालाजी पर भी लाठी से वार किए, जिससे उन्हें अधिक चोटे आने से वे गम्भीर रूप से घायल हो गए और 17 नवम्बर 1928 को लालाजी की मृत्यु हो गई। क्रान्तिकारियों ने इस घटना का एवं लालाजी की मृत्यु का बदला लेने का निश्चय किया। जिसके परिणामस्वरूप साण्डर्स को गोली मार दी गई। ब्रिटिश सरकार ने आजाद एवं भगत सिंह आदि को गिरफ्तार करने का प्रयास किया, किन्तु सफलता नहीं मिली। 8, अप्रेल 1929 को भगत सिंह एवं बटुकेश्वर दत्त ने असेम्बली हॉल में बम फैंके, जिसके उपरान्त उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। इन क्रांतिकारियों पर लाहौर षड़यंत्र के नाम से मुकदमा चलाया गया।

इस दौरान चन्द्रशेखर आजाद ने निश्चय किया कि कुछ क्रान्तिकारियों को दूसरे देश में भेजा जाए ताकि अन्य राष्ट्रो से भी मदद ली जा सके। 27 फरवरी 1931 को आजाद, यशपाल, सुरेन्द्र पाण्डे इलाहबाद में एकत्रित हुए ताकि रूस जाने की योजना को

अन्तिम रूप दिया जा सके। इसी दिन आजाद प्रातःकाल अपने एक साथी सुखदेव से मिलने अल्फ्रेड पार्क पहुँचे। जब वह एक वृक्ष के नीचे बातचीत में लीन थे तभी किसी विश्वासघाती के बताने पर पुलिस ने उस पार्क को चारो और से घेर लिया। पुलिस को क्रान्तिकारियों का वह नेता सामने नजर आ रहा था जिसकी उन्हें वर्षो से तलाश थी। इस बहादुर क्रान्तिकारी को पकड़ने क लिए पुलिस कमाण्डर नाटबावर ने घेराबन्दी की तथा आजाद को आत्मसमर्पण हेतु कहा। आजाद ने अपने साथी सुखदेव को वहाँ से भगा दिया। आजाद ने पुलिस फायरिंग का माकूल जबाब दिया, किन्तु जब उन्हें लगा कि उनकी पिस्तौल में गोलियां खत्म हो गई है, सिर्फ एक गोली बची है तो उन्होंने शत्रु के हाथ मरने की बजाय अपने हाथों ही मृत्यु का वरण करना उचित समझा, और उसी क्षण हमारे देश के इस महान क्रान्तिकारी के जीवन का अन्त हो गया।

चन्द्रशेखर आजाद ने प्रतिज्ञा की थी कि, ''दुश्मन की गोलियां का हम सामना करेंगे, आजाद ही रहे, आजाद ही रहेंगे।'' इस प्रकार जीवन के अन्त समय तक आजाद अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहे। जब पुलिस की गाड़ी ने आजाद की पार्थिव देह को लेकर प्रस्थान किया, तो लोग विलाप कर उठे। जिस स्थान पर आजाद शहीद हुए, उस स्थान की मिट्टी लेने की जनता में होड़ लग गई।

चन्द्रशेखर आजाद ने अल्फ्रेड बाग में जिस वृक्ष के नीचे मृत्यु का वरण किया, लोगों ने आजाद के प्रति सम्मान व श्रद्धा व्यक्त करने के लिए उस स्थल पर पुष्प अर्पित करना प्रारम्भ कर दिया। निःसंदेह क्रान्तिकारी आन्दोलन के इतिहास में चन्द्रशेखर आजाद अपने ढंग के अकेले व्यक्ति थे, उनका कोई विकल्प नहीं था।

सुभाषचन्द्र बोस

सुभाष चन्द्र बोस, जिन्हें, प्रायः नेताजी कहा जाता है, का जन्म 23 जनवरी, 1897 को एक अच्छे मध्यम वर्गीय बंगाली गृहस्थ परिवार में हुआ। उन्होंने 1919 में कलकत्ता विश्वविद्यालय से 'स्नातक' की उपाधि प्राप्त की और 1920 में वह भारतीय सिविल सेवा (आई.सी.एस.) परीक्षा में उत्तीर्ण हुए तथा यथायोग्य पद पर कार्य करने लगे परन्तु अगले वर्ष ही वह भारतीय सिविल सेवा से त्याग–पत्र देकर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सदस्य बन गए।

1 दिसम्बर, 1921 को उन्हें छः मास कारावास का दण्ड दे दिया गया और उसके पश्चात् अपनी राजनीतिक गतिविधियों के लिए वह कई अन्य अवसरों पर जेल गए।

सुभाष चन्द्र बोस देशबन्धु चित्तरंजन दास से प्रभावित हुए और शीघ्र ही उनके सबसे विश्वासपात्र प्रतिनिधि तथा दाहिना हाथ बन गए। 1923 में उन्होंने 'स्वराज दल' के गठन तथा कार्यक्रम का समर्थन किया। उनका विचार था कि अंग्रेजों का विरोध भारतीय विधान परिषदों के अन्दर भी होना चाहिए। 1924 में जब सी.आर. दास कलकत्ता के महापौर बने तो सुभाषचन्द्र बोस कलकत्ता निगम के मुख्य कार्यकारी अधिकारी नियुक्त किए गए। अक्टूबर 1924 में बंगाल सरकार ने उनकी राजनीतिक गतिविधियां के लिए उन्हें बन्दी बना लिया तथा उन्हें माण्डले (बर्मा में एक नगर) में तीन वर्ष के लिए निर्वासित कर दिया।

वह भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के 'उदारवादी दल' से असहमत थे। 1928 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन के समय उन्होंने 'विषय समिति' में 'नेहरू रिपोर्ट' द्वारा अनुमोदित औपनिवेशक स्वराज (डोमिनियन स्टेटस) के प्रस्ताव का डटकर विरोध किया। वह तो पूर्ण स्वतंत्रता चाहते थे। फरवरी 1938 में हरिपुर अधिवेशन में सुभाष बाबू कांग्रेस के प्रधान चुने गए।

सितम्बर 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध आरम्भ हो गया। उन्होंने इसे विदेशियों की सहायता द्वारा भारतीय स्वतन्त्रता प्राप्त करने का स्वर्ण अवसर समझा। उन्हें अपने घर में ही बन्दी बना दिया गया, परन्तु सुभाष बोस जनवरी 1941 में पुलिस की नजरों में धूल डाल कर बच निकले। वह पेशावर के मार्ग से रूस पहुंचे और फिर मार्च में बर्लिन। उन्होंने रेडियों से भारत समर्थक तथा अंग्रेज विरोधी भाषण प्रसारित किए। उन्होंने भारतीयों को अंग्रेजी दासता से मुक्ति प्राप्त करने के लिए विद्रोह करने का सुझाव दिया। जब दिसम्बर 1941 के पश्चात् अंग्रेजों, फ्रांसीसियों तथा अमरीकनों को सुदूर पूर्व में जापान के हाथों मार पड़ी तो उन्होंने भारत की स्वतन्त्रता के लिए प्रवासी भारतीयों की सेना का गठन करने की सोची, जिसे रास बिहारी बोस ने आरम्भ किया। 1943 में वह सिंगापुर पहुंचे और तुरन्त उन्हें 'भारतीय स्वतंत्रता लीग' का प्रधान चुन लिया गया। सुभाष बाबू ने सुप्रसिद्ध आजाद हिंद फौज का गठन किया जिसमें उन्होंने भारतीय सेना के उन सैनिकों को भर्ती कर लिया जो सिंगापुर तथा मलेशिया से अंग्रेजों के भागने के समय जापान द्वारा युद्ध में बन्दी बना लिए गए थे। मलेशिया में बसे भारतीय समुदाय ने उन्हें पूर्ण नैतिक तथा आर्थिक समर्थन दिया। जापानी सरकार ने भी उन्हें भारत को अंग्रेजों की दासता से मुक्ति दिलाने के लिए सैनिक सहायता देना स्वीकार कर लिया। बोस ने घोषणा की कि ''उन्हें इतिहास में कोई भी उदाहरण ऐसा नहीं मिला जिसमें विदेशी सहायता के बिना मुक्ति प्राप्त हुई हो।''

21 अक्टूबर 1943 को बोस महोदय ने सुप्रसिद्ध घोषणा की कि उन्होंने सिंगापुर में भारत की अस्थाई सरकार स्थापित कर दी है। वह स्वयं ही इस सरकार के प्रधानमंत्री तथा मुख्य सेनापति बन गए तथा अपने पद की 'शपथ ग्रहण' की जो इस प्रकार थी : ''मैं सुभाषचन्द्र बोस ईश्वर की पवित्र सौगन्ध खाकर कहता हूं कि मैं, भारत तथा उसके अड़तीस करोड़ वासियों की स्वतन्त्रता के लिए अपने अन्तिम श्वास तक युद्ध करता रहूंगा।'' संसार की नौ शक्तियों ने, जिनमें जापान, जर्मनी तथा इटली भी थे, इस अस्थाई सरकार को मान्यता प्रदान की। नवम्बर 1943 में जापान सरकार ने नवविजित अण्डमान तथा निकोबार द्वीपों को इस स्वतन्त्र भारत की अस्थायी सरकार को सौंप दिया।

आजाद हिंद फौज को सुभाष बाबू ने दिल्ली चलो का

'युद्ध नारा' दिया। जापानी सैनिक कमाण्डर से सहयोग तथा सहायता प्राप्त करने के ढंगों का विस्तारपूर्वक निर्णय करने के पश्चात् आजाद हिंद फौज ने मार्च 1944 में भारत पर आक्रमण आरम्भ कर दिया तथा मई 1944 तक स्वतन्त्र भारतीय भूमि पर असम मे कोहिमा के स्थान पर 'तिरंगा' झण्डा गाड़ दिया, परन्तु विश्वयुद्ध में भाग्य ने जापान का साथ नहीं दिया तथा उसे पीछे हटना पड़ा जिससे आजाद हिंद फौज का आगे बढ़ना रूक गया। बोस बाबू सिंगापुर से जापान की ओर गये और कहा जाता है कि जाते समय वह वायुयान दुर्घटना में 18 अगस्त, 1945 को मृत्यु को प्राप्त हुऐ।

यद्यपि आजाद हिंद फौज अपने उद्देश्य पूर्ण रूपेण सफल नहीं रही, परन्तु इस सेना से राजनीतिक तथा मानसिक रूप से भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में बहुत योगदान मिला। आजाद हिंद फौज के तीन अफसरों, जिनमें से एक हिन्दू, एक मुसलमान तथा एक सिक्ख था, पर अंग्रेजों ने 'देश द्रोह' का अभियोजन चलाया जिसकी सुनवाई दिल्ली के लालकिले में सैनिक न्यायालय ने की। इस विचार के समाचार पत्रों में छपते ही समस्त भारत एक दावानल की भांति जल उठा। जिस प्रकार का व्यापक समर्थन इन तीनों अफसरों को मिला, उससे यह स्पष्ट हो गया कि समस्त भारत इन तीनों को 'राष्ट्रीय वीर' मानता था। लगभग सभी राजनीतिक दलों ने, यहां तक कि मुस्लिम लीग ने भी इस अभियोजन की निन्दा की। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने एक आजाद हिंद फौज रक्षा समिति गठित की जिसमें सर तेज बहादुर सप्रू, भूलाभाई देसाई तथा जवाहरलाल नेहरू जैसे प्रतिभाशाली लोग थे। इन लोगों ने इनकी ओर से वकालात की। समस्त भारत में लोकप्रिय प्रदर्शन हुये। जो कि कहीं–कहीं हिंसा पर उतारू हो गए। यद्यपि सैनिक न्यायालय में उन्हें दोषी पाया परन्तु अंग्रेजी सरकार को जनता की भावनाओं का सम्मान करना पड़ा और तीनों व्यक्तियों को छोड़ना पड़ा। इस समस्त घटना से अंग्रेजों को स्पष्ट हो गया कि अब वे भारतीय सेना पर भी भरोसा नहीं कर सकते थे। इसके अतिरिक्त संसार में भी जनमत बन गया था कि भारतीयों को आत्मनिर्णय का अधिकार मिलना चाहिए। अब साम्राज्यी शक्तियों को प्रकट हो गया कि उनके भारत को छोड़ने का समय आ ही गया है। मनोवैज्ञानिक रूप से इन आजाद हिंद फौज के वीरों ने एक साहस का उदाहरण प्रस्तुत किया, जिससे भारत का स्वतन्त्रता–प्राप्ति का संकल्प और भी दृढ़ हो गया।

सुभाषचन्द्र बोस एक कुशल राजनीतिज्ञ, उच्च कोटि के सेनानायक एवं महान देशभक्त थे। उन्होंने भारतीय स्वतंत्रता हेतु अपना जीवन बलिदान कर दिया। उनका 'जयहिन्द' का नारा आज भी गुंजायमान हो उठता है। डॉ. पट्टभिसीतारमैया ने उनके विषय में लिखा है, ''सुभाष अपने आप में एक महान इतिहास थे, उनमें महान आकर्षण, विभिन्न महान चीजों का मिश्रण निहित था। उनमें रहस्यवाद और वास्तविकता का मिश्रण था।''

महत्वपूर्ण बिन्दु

1. उदारवादी गोपाल कृष्ण गोखले का जन्म 1866 ई. में बम्बई प्रान्त के कोल्हापुर में हुआ।

2. गोखले के दर्शन की महत्वपूर्ण बातें निम्न हैं – (1) ब्रिटिश जाति की उदारता एवं न्यायप्रियता में विश्वास (2) संवैधानिक साधनों में अडिग विश्वास (3) सत्ता का विकेन्द्रीकरण (4) उदारवादी एवं राष्ट्रवादी विचारक (5) क्रमिक सुधारों में विश्वास (6) स्वदेशी का समर्थन, किन्तु बहिष्कार जैसे साधनों का
विरोध ।

3. बालगंगाधर तिलक का जन्म 23 जुलाई 1856 ई. को भारत के पश्चिमी तट पर कोंकण जिले मे रत्नागिरी में हुआ।

4. तिलक का राजनीतिक दर्शन – (1) व्यक्ति और समाज का आधार नैतिकता है। (2) स्वतंत्रता संबंधी दृष्टिकोण आध्यात्मिक एवं नैतिक (3) स्वराज्य के दो रूपो का समर्थन (अ) आध्यात्मिक स्वराज्य (ब) राजनीतिक स्वराज्य (4) प्राचीन भारत के गौरव से प्रभावित राष्ट्रवाद (5) राष्ट्रीय एकता पर अधिक बल।

5. तिलक की राजनीतिक पद्धति के साधन–
(1) स्वदेशी (2) बहिष्कार (3) निष्क्रिय प्रतिरोध (4) राष्ट्रीय शिक्षा

6. क्रान्तिकारियों का लक्ष्य भारत को विदेशी शासन से मुक्त कराना।

7. क्रान्तिकारियों का उद्देश्य भारतीय जनता को संघर्ष की प्रेरणा देना तथा ब्रिटिश शासन के दिल में भय व्याप्त करना था।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. आराम कुर्सी के राजनीतिज्ञ किन्हें समझा जाता था?
2. गोपाल कृष्ण गोखले का सक्षिप्त जीवन परिचय बताइए।
3. गोखले किसे अपना राजनीतिक गुरू मानते थे?
4. गाँधी जी गोखले को किस नाम से पुकारते थे?
5. गोखले की मृत्यु पर लार्ड कर्जन ने लार्ड सभा में क्या कहा?
6. गोखले क्रमिक सुधारों में विश्वास क्यों रखते थे?
7. गोखले बहिष्कार के समर्थक क्यों नहीं थे?
8. तिलक के अनुसार राजनीतिक स्वराज्य से क्या तात्पर्य हैं?
9. तिलक ने स्वराज्य प्राप्ति के कौनसे चार साधन बताऐ?
10. तिलक के अनुसार स्वदेशी से क्या अभिप्राय था?
11. तिलक के अनुसार आध्यात्मिक स्वराज्य से क्या अभिप्राय हैं?
12. भारत में क्रान्तिकारी आन्दोलन के प्रमुख नायक कौन थे?
13. क्रान्तिकारियों की साधन व साध्य के सम्बन्ध में क्या विचार थे?
14. क्रान्तिकारियों का लक्ष्य क्या था?
15. क्रान्तिकारियो के दो कार्यक्रम बताइये।

लघूत्तरात्मक प्रश्न–

1. उदारवादियों की कार्य प्रणाली समझाइये।
2. उदारवादियों का ब्रिटिश शासन प्रणाली के सम्बन्ध में क्या दृष्टिकोण था?
3. गोखले के जीवन परिचय पर प्रकाश डालिए।
4. गोखले की स्वशासन की धारणा समझाइए।
5. सत्ता के विकेन्द्रीकरण के संदर्भ में गोखले के विचार बताइये।
6. स्वदेशी व बहिष्कार के संदर्भ में गोखले के विचार बताइये।
7. अतिवादियों की कार्य प्रणाली समझाइये।
8. अतिवादियों के कार्यक्रम को बतलाइये।
9. तिलक के जीवन परिचय पर प्रकाश डालिए।
10. तिलक के व्यक्तिगत स्वतंत्रता सम्बन्धी विचार बताइये।
11. तिलक की स्वराज्य की अवधारणा समझाइये।
12. साधन एवं साध्य के सम्बन्ध में तिलक के विचार प्रस्तुत करिए।
13. भगत सिंह के जीवन परिचय को संक्षेप में बताइये।
14. चन्द्रशेखर आजाद के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालिए।
15. क्रान्तिकारियों के कार्यक्रम पर प्रकाश डालिए।

निबन्धात्मक प्रश्न–

1. तिलक के राजनीतिक दर्शन को समझाइये।
2. गोखले के विचारों पर प्रकाश डालिए।
3. क्रान्तिकारियों के लक्ष्य, कार्यक्रम, नीतियों पर प्रकाश डालिए
4. सुभाषचन्द्र बोस के व्यक्तित्व व कृतित्व पर प्रकाश डालिए।
5. भगत सिंह के राष्ट्रीय आन्दोलन में योगदान को समझाइये।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न–

1. गोपाल कृष्ण गोखले का जन्म हुआ–
   (अ) 1866 ई. (ब) 1867 ई.
   (स) 1868 ई. (द) 1869 ई. ( )
2. गोपाल कृष्ण गोखले के विचारों की प्रमुख प्रवृति हैं–
   (अ) उदारवादी (ब) अतिवादी
   (स) क्रान्तिकारी (द) इनमें से कोई नहीं
   ( )
3. तिलक की राजनीतिक पद्यति का साधन नहीं हैं–
   (अ) स्वदेशी (ब) बहिष्कार
   (स) निष्क्रिय प्रतिरोध (द) अनुनय–विनय ( )
4. क्रान्तिकारियों का लक्ष्य नहीं था।
   (अ) ब्रिटिश शासन को समाप्त करना
   (ब) ब्रिटिश शासन को बनाए रखाना
   (स) भारतीय जनता को जागरूक करना
   (द) इनमें से कोई नहीं ( )

उत्तरमाला वस्तुनिष्ठ प्रश्न– 1. (अ) 2. (अ) 3. (द) 4. (ब)

इकाई 7

अध्याय–15
असहयोग आन्दोलन, सविनय अवज्ञा आन्दोलन तथा भारत छोड़ो आन्दोलन

राष्ट्रीय आंदोलन के अतिवादी युग में नेतृत्व बाल गंगाधर तिलक के हाथों में था, परंतु उनके पश्चात् काँग्रेस का नेतृत्व, दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का शस्त्र लेकर लौटे महात्मा गाँधी के हाथ में आ गया। गाँधी जी के नेतृत्व में असहयोग आंदोलन, सविनय अवज्ञा आन्दोलन और भारत छोडो आन्दोलन, सफलतापूर्वक संचालित किए गए। इन आन्दोलनों ने भारत की जनता में साहस, देशप्रेम और निर्भीकता का संचार किया। सन्1920 से भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व गाँधी जी ने ही किया, इसलिए आन्दोलन के इस चरण को 'गाँधी युग' कहा जाता है।

असहयोग आन्दोलन पृष्ठ भूमि :–

इस युग का प्रथम आन्दोलन असहयोग आन्दोलन था। आन्दोलन के असहयोग के तत्त्व को समझने के लिए, इसकी पृष्ठभूमि में घटित घटनाओ को समझना अनिवार्य है।

प्रथम विश्व–युद्ध

प्रथम विश्व युद्व में भारत की सेनाओं को बाहर भेजने के कारण, भारत की आर्थिक दशा खराब हो गई। उस समय देश में फैले प्लेग, इन्फ्लूएन्जा और अकाल ने स्थिति को और अधिक उग्र बना दिया। युद्ध के प्रारम्भिक चरण में जितनी तेजी से भर्ती की गई, सेना में युद्द्वोप्रान्त छटनी से बेरोजगारी बढ़ी।

'मोण्टफोर्ड रिपोर्ट' से भी जनता को निराशा हुई। 1919 के भारत सरकार अधिनियन ने 'फूट डालो और शासन करो' की नीति को ही प्रोत्साहित किया और साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति का विस्तार किया। इससे भारतीयों में असंतोष बढ़ गया।

महात्मा गाँधी का भारतीय राजनीति में प्रवेश

गाँधीजी सन् 1915 में दक्षिण अफ्रीका से भारत आए। सन् 1915 में ही उन्होंने साबरमती के निकट अपना आश्रम बनाया और भारतीय राजनीतिक परिस्थितियों का अध्ययन करने लगे। शीघ्र ही उन्हें यहाँ की राजनीति में सक्रिय भाग लेने का अवसर मिल गया। चम्पारन और खेडा में किसानो के हित में और अहमदाबाद में मिल– मजदूरों के हित में गाँधीजी ने सत्याग्रह का प्रयोग किया। सत्याग्रह के ये सीमित प्रयोग , व्यापक प्रयोग की भूमिका मात्र थे।

रौलट एक्ट और सत्याग्रह

न्यायाधीश रौलट की अध्यक्षता में एक समिति बनाई गई, जिसकी रिपोर्ट के आधार पर ' आतंकवादी और अपराध अधिनियम' बनाया गया, जिसे 'रौलट एक्ट' कहते है। इस एक्ट का उददेश्य किसी भी भारतीय को, किसी भी बहाने से दो वर्ष तक नजरबंद रखने, उनके नागरिक अधिकारों को प्रतिबंधित करने तथा स्वशासन के संघर्ष को दबाना था, जिसका संपूर्ण देश में विरोध किया गया।

महात्मा गाँधी की अंग्रेजों को चेतावनी के उपरान्त भी रौलट बिल के कानून बनने पर, सम्पूर्ण देश में सार्वजनिक हडताल के माध्यम से विरोध का निश्चय किया गया। मुसलमानों ने भी इस आन्दोलन में पूरा सहयोग दिया। 6 अप्रैल, 1919 को सारे देश में, शहरों और गाँवो में सब जगह शांतिपूर्ण हड़ताल हुई, जो सफल रही। यह सत्याग्रह ही रौलट सत्याग्रह कहा जाता है। ब्रिटिश सरकार के लिए देशव्यापी सफल हड़ताल और हिन्दू–मुस्लिम एकता, चिन्ता का विषय थी। 6 अप्रैल की हड़ताल में पंजाब के हिंदुओ, सिक्खों और मुसलमानो में एकता देखी गई।

जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड

ब्रिटिश सरकार ने 9 अप्रैल को अमृतसर के प्रसिद्ध नेता डॉ. सत्यपाल और डॉ. सैफुद्दीन किचलू को बंदी बना कर अमृतसर से निष्कासन के आदेश दिए। उन्होंने दिल्ली और पंजाब में महात्मा गाँधी का प्रवेश भी निषिद्ध कर दिया। इस समय पंजाब के गवर्नर माइकेल ओ डायर थे। वे भारतीयों की राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं का उपहास करते थे। पंजाब सरकार के इस आदेश से अमृतसर में उत्तेजना फैल गई । उनकी रिहाई के लिए अमृतर में हड़ताल घोषित कर दी गई। इसका सामना करने के लिए सेना को बुलाया गया और 10 अप्रैल को सत्याग्रहियों पर गोलियॉ चलाई गई।

13 अप्रैल को अनेक गिरफ्तारियॉ हुई और सभा करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया, लेकिन जनता को इसकी सूचना देने के लिए आवश्यक कार्यवाही नहीं की गई। 13 अप्रैल 1919 को वैशाखी के दिन जलियाँवाला बाग में एकत्र होती जनता को रोकने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया । जब लगभग 20 हजार लोग एकत्र हो गए, तब बिना चेतावनी के गोली चलाना प्रारम्भ कर दिया गया और गोलीबारी कारतूस समाप्त होने पर ही रूकी। यह बाग चारों तरफ से इमारतो से घिरा हुआ था और यहॉ से निकलने का मात्र एक ही रास्ता था। डायर के आदेश के अनुसार रात–भर घायलों को कराहते हुए ही पडे रहने दिया गया। इस कांड के बाद भी सरकार की दमनकारी नीति जारी रही।

सैनिक शासन

सैनिक अधिकारियों ने 15 अप्रैल को पंजाब के 5 शहरों में भी सैनिक शासन घोषित कर दिया। इस दौरान इन सभी स्थानो पर बर्बरतापूर्ण दमन किया गया। कोड़े लगाना,बेंत मारना, पानी–बिजली काटना, किसानों पर गोली चलाना प्रतिदिन का नियम हो गया था।

जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड का प्रभाव

इस घटना के विरोध में गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद् के भारतीय सदस्य शंकरन नायर ने विरोध प्रकट करते हुए त्याग पत्र दे दिया। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'सर' की उपाधि छोड़ दी। देश के प्रत्येक कोने से हत्याकाण्ड की जॉच की माँग की गई। अतः सरकार ने एक जॉच कमेटी नियुक्त की, जिसके अध्यक्ष लॉर्ड हण्टर थे। हण्टर कमेटी ने सम्पूर्ण काण्ड पर लीपा–पोती करने का प्रयास किया। ब्रिटिश सरकार द्वारा जनरल डायर के कार्य की प्रशंसा की गई। हण्टर कमेटी की कार्यवाही से भारतीयों के मन में अंग्रेजी की न्यायप्रियता में जो थोड़ा बहुत विश्वास बचा था, वह भी समाप्त हो गया।

अमृतसर कांग्रेस (दिसम्बर, 1919)

इस समय जबकि जन–असंतोष चरम सीमा पर था, कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में गाँधीजी ने जन–आन्दोलन के संगठन का कोई प्रस्ताव नहीं रखा। यद्यपि मोतीलाल नेहरू ने ब्रिटिश शासन की कटु आलोचना की परन्तु गाँधी जी द्वारा ऐसा प्रस्ताव पारित कराया गया जिसमें जनता द्वारा की गई हिंसा की निंदा की गई थी। इस प्रकार गाँधी जी अब भी सरकार के साथ असहयोग और विरोध के लिए तैयार नहीं थे।

खिलाफत की समस्या

प्रथम महायुद्ध में टर्की अंग्रेजो के विरूद्ध, जर्मनी के साथ था अतः भारतीय मुसलमानों को आशंका थी कि युद्ध के बाद ब्रिटेन टर्की के विरूद्ध कार्यवाही करेगा। युद्ध के दौरान भारतीय मुसलमानो का सहयोग प्राप्त करने की दृष्टि के ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने आश्वासन दिया कि युद्ध समाप्ति के बाद ब्रिटेन टर्की के प्रति प्रतिशोध की नीति नहीं अपनाएगा और उसके साम्राज्य के छिन्न–भिन्न नहीं होने देगा, परन्तु युद्ध समाप्ति के बाद भी ब्रिटेन ने अपने आश्वासनों को पूरा नहीं किया। टर्की का साम्राज्य छिन्न भिन्न कर दिया गया। इतना ही नही, खलीफा के पद के लिए टर्की के सुल्तान के स्थान पर शेख हसन के दावों को स्वीकार किया गया और उसका प्रचार किया गया। ब्रिटेन के इस विश्वासघात से भारतीय मुसलमानों को तीव्र आघात पहुॅचा और एक शक्तिशाली खिलाफत आन्दोलन प्रारम्भ हुआ, इसका लक्ष्य था ' लौकिक और आध्यात्मिक संस्था के रूप में खलीफा का अस्तित्व बनाए रखना''

गाँधी जी तथा खिलाफत

गाँधी जी ने खिलाफत के प्रश्न को हिन्दू–मुस्लिम एकता बढ़ाने का सुनहरा अवसर समझा। उन्होंने खिलाफत आन्दोलन का समर्थन किया और हिन्दू– मुस्लिम एकता को ब्रिटिश सरकार विरोधी, 'असहयोग आन्दोलन' का आधार बनाने का निश्चय किया। सितम्बर 1920 में कलकत्ता में कांग्रेस के अधिवेशन में गाँधी जी ने असयोग आन्दोलन का प्रस्ताव रखा। यद्यपि कांग्रेस के पुराने नेता– विपिन चन्द्र पाल, एनी बीसेण्ट, चितरंजन दास और लाला लाजपतराय इस प्रस्ताव के विरूद्ध थे, परन्तु फिर भी गाँधी जी का प्रस्ताव बहुमत से पारित हो गया। दिसम्बर 1920 के नागपुर अधिवेशन में असहयोग आन्दोलन का प्रस्ताव फिर से भारी बहुमत से पारित हुआ। इस प्रकार दोनों अधिवेशनों में कांग्रेस ने गाँधी जी के कार्यक्रम को अनुमोदित किया।

असहयोग आन्दोलन

जब गॉधी जी दक्षिण अफ्रीका में थे, तभी से वे हिन्दू–मुस्लिम एकता में रूचि लेने लगे थे। उनके अनुसार लखनऊ समझौता हिन्दू– मुस्लिम एकता का मजबूत आधार नहीं बन पाया था। गाँधी जी के लिए ' खिलाफत , हिन्दू– मुस्लिम एकता का ऐसा सुअवसर था, जो सैकड़ो वर्षो में भी नहीं आएगा।'' नवम्बर 1919 में गाँधी जी खिलाफत सम्मेलन के अध्यक्ष चुने गए। गाँधी जी ने कहा कि यदि ब्रिटेन ने तुर्की के साथ न्याय नही किया तो बहिष्कार और असयोग प्रारम्भ किया जाएगा, लेकिन इसकी सफलता के लिए कांग्रेस का सहयोग अनिवार्य था। अतः सितम्बर 1920 में कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में अहिंसात्मक असहयोग

की नई योजना स्वीकार की गई। यह घोषणा भी की गई कि ''गाँधी जी ने जो उत्तरोतर बढ़ने वाला अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन आरम्भ किया है, वह तब तक जारी रहेगा जब तक अन्याय समाप्त होकर स्वराज्य स्थापित नहीं हो जाता है।

असहयोग आन्दोलन की प्रगति

सन् 1921 भारतीय जनता के लिए असहयोग का सन्देश लेकर आया। इसका उददेश्य था–

ब्रिटिश भारत की सभी राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक संस्थाओ का बहिष्कार, जिससे सरकारी तंत्र ठप्प हो जाए। इस समय गाँधी जी के नेतृत्व से कांग्रेस के स्वरूप में आमलचूल परिवर्तन हुआ। अब कांग्रेस शहरी उच्च वर्ग की संस्था ही नही वरन ग्राम–ग्राम तक पहुँच रखने वाली जन– संस्था बन चुकी थी। अब एक नई कांग्रेस का उदय हुआ, जिसमें महिलाओं और दलित वर्ग सहित जन–जन की भागीदारी थी।अब कांग्रेस एक ठोस और प्रभावशाली संस्था थी, जिसका सम्बन्ध जिलों से लेकर कस्बों, तहसीलों और गाँवों तक हो गया था। कांग्रेस से गाँधी जी के नए शस्त्र के आधार पर, राष्ट्रव्यापी जन–आन्दोलन करने का निर्णय किया। गाँधी जी को आन्दोलन की सफलता पर इतना विश्वास था कि उन्होने घोषणा की कि स्वराज 12 माह में अवश्य मिल जाएगा।

असहयोग आन्दोलन का कार्यक्रम

असहयोग आन्दोलन के कार्यक्रम के दो पक्ष थे– नकारात्मक और सकारात्मक। नकारात्मक कार्यक्रम का उददेश्य सरकार के साथ असहयोग करके, सरकारी तंत्र को ठप्प करना था। इसमें निम्नलिखित कार्यक्रम सम्मिलित थे–

1. सरकारी पदों और उपाधियों का त्याग।
2. सरकारी स्कूलों और कॉलेजों का बहिष्कार
3. चुनावों का बहिष्कार।
4. सरकारी अदालतों का बहिष्कार।
5. विदेशी माल का बहिष्कार।

बहिष्कार के पीछे गाँधी जी की दृष्टि यह थी कि जनता के सहयोग से ही सरकार चलती है और इसे असहयोग के माध्यम से ही स्वराज देने के लिए बाध्य किया जा सकता है।

गाँधी जी ने 'केसर–ए–हिन्द' की उपधि वापिस कर दी। हजारों छात्रों ने स्कूलों और कॉलेजों का बहिष्कार किया। देश के अनेक प्रसिद्ध वकीलों ने वकालत छोड़ दी। लाला लाजपतराय, देशबन्धु चितरंजन दास, मोतीलाल नेहरू, जवाहरलाल नेहरू, वल्लभ भाई पटेल और डॉ. राजेन्द्र प्रसाद आदि वकालत छोडने वाले प्रमुख व्यक्ति थे।

विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार में सम्पूर्ण देश की जनता ने अपूर्व उत्साह दिखाया। विदेशी वस्त्रों की होली जलाई गई, शराब और विदेशी वस्त्रों की दुकानों पर धरना दिया गया। इसमें महिलाओं ने भी अदभुत उत्साह दिखाया। देश के इतिहास में प्रथम बार इतने व्यापक स्तर पर महिलाओं ने आन्दोलन में भाग लिया और जेल भी गई।

सकारात्मक या रचनात्मक कार्यक्रम

यह असहयोग आन्दोलन का ऐसा पक्ष है जिसने इस आन्दोलन के परिणामों को स्थायित्व प्रदान किया । इसकी प्रमुख बातें निम्नलिखित थी–

1. राष्ट्रीय स्कूलों और कॉलेजों की स्थापना।
2. पारस्परिक विवादों के हल के लिए निजी–पंचायतों का गठन।
3. 'स्वदेशी' का व्यापक प्रचार।
4. चरखा व हथकरघा को प्रोत्साहन।
5. अपृश्यता का अंत।

इस कार्यक्रम के माध्यम से एक ओर सामाजिक विषमता का अंत करने का प्रयास किया गया, तो दुसरी ओर राष्ट्रीय शिक्षण संस्थाओं के माध्यम से छात्रों को राष्ट्रीय हित के अनुकूल शिक्षा प्रदान करने का प्रयास किया गया। स्वदेशी, चरखा और हाथ–करघे द्वारा, गरीबी और बेरोजगारी से लड़ने के साथ–साथ भारत की अर्थ– व्यवस्था को विदेशी चंगुल से मुक्त करके, मजबूत बनाने का प्रयास किया गया।

पटना, अहमदाबाद, पूना,काशी और अलीगढ़ में राष्ट्रीय शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की गई, जिनके स्नातकों ने राष्ट्र–सेवा में सराहनीय योगदान दिया। कांग्रेस ने 30 लाख स्वयं सेवकों की सूची और 20 हजार चरखे तैयार किए।

असहयोग आन्दोलन ने सम्पूर्ण भारत को नवीन ऊर्जा प्रदान की। इस विशाल आन्दोलन को देखकर सरकार आश्चर्य–चकित और परेशान थी। महात्मा गाँधी की इस रणनीति का सामना करना ब्रिटिश सरकार के लिए कठिन हो गया था। सन् 1857 से अब तक ब्रिटिश सरकार ही राजनीतिक विषयों में नेतृत्व कर रही थी, अब गांधी जी ने यह पहल प्रारम्भ कर दी थी। प्रथम बार हजारों महिला–पुरूष स्वेच्छा से जेल गए। इस आन्दोलन की विशेष बात 'हिन्दू–मुस्लिम एकता' थी।

शासन द्वारा आन्दोलन का दमन और प्रिंस ऑफ वेल्स का बहिष्कार–

असहयोग आन्दोलन सरकार की आशा से अधिक सफल हो रहा था। अतः सरकार ने क्रूर दमन करना आरम्भ कर दिया। सरकार ने 'राजद्रोह सभा अधिनियम' का खुलकर प्रयोग किया और आन्दोलन के नेताओं को गिरफ्तार करना प्रारम्भ कर दिया। कुछ स्थानों पर तो सरकार ने अत्यधिक पाशविक हिंसा का प्रयोग किया, इनमें ननकाना काण्ड प्रमुख हैं। सरकार द्वारा वचन देने के उपरान्त भी तत्कालीन प्रमुख नेता अली बन्धुओं को गिरफ्तार कर लिया। अतः कांग्रेस ने अपनी बैठक में अली बन्धुओं की गिरफ्तारी का विरोध किया और गिरफ्तारी के प्रति विरोध प्रकट करने के लिए 'प्रिंस ऑफ वेल्स' के भारत आगमन के दिन सम्पूर्ण देश में हड़ताल का निश्चय किया गया।

17 नवम्बर 1921 को बम्बई में प्रिंस का स्वागत हड़ताल से किया गया। स्वागत और बहिष्कार करने वालों के मध्य संघर्ष में पुलिस की गोली से अनेक लोग घायल हुए और मारे गए। गॉधी जी के अतिरिक्त लगभग सभी नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया। जेल जाने वालों की संख्या 60 हजार तक पहुँच गई थी। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के अनुसार 'जब से भारत का ब्रिटेन के साथ सम्बन्ध स्थपित हुआ था, जनता का क्षोभ तथा उत्साह इस सीमा तक कभी नहीं पहुँचा था।''

दिसम्बर 1921 में कांग्रेस से अहमदाबाद अधिवेशन में असहयोग आंदोलन को व्यापक रूप प्रदान करने का निश्चय किया गया, गांधी जी को इसके सर्वाधिकार सौंप दिए गए। गांधी जी ने 1 फरवरी 1922 को इस संदर्भ में वायसराय को एक चेतावनी देने वाला पत्र भी लिखा। बारडोली में इस आंदोलन की पूरी तैयारी भी की जा चुकी थी लेकिन 5 फरवरी 1922 को हुई चौरी चौरा घटना ने सम्पूर्ण राजनीतिक स्थिति को पलट दिया।

चौरी–चौरा काण्ड

आन्दोलन अपने चरम पर था, इसी समय 5 फरवरी 1922 को गोरखपुर जिले के चौरी–चौरा ग्राम में कांग्रेस की ओर से निकाले गए जुलूस को पुलिस ने रोकने का प्रयास किया। क्रुद्ध जनता ने सिपाहियों को थाने में खदेड़कर आग लगा दी।

इस घटना से गाँधी जी के अहिंसावादी ह्रदय को तीव्र आघात पहुँचा और उन्होंने हिंसा के प्रयोग के कारण आंदोलन वापिस ले लिया। उन्होंने आंदोलन के रचनात्मक पक्ष पर बल दिया। सरकार इस अवसर की प्रतीक्षा में ही थी, गाँधी जी को गिरफ्तार कर लिया गया।

आंदोलन के स्थगन पर प्रतिक्रिया

गाँधी जी के इस कदम का कांग्रेस के सभी नेताओं ने विरोध किया। बहुत बड़ी संख्या में कांग्रेसियों ने इसे राष्ट्रीय अपमान समझा। सुभाषचंद्र बोस ने कहा, ' ठीक उस समय जबकि जनता का उत्साह चरमोत्कर्ष पर था, वापिस लौटने का आदेश देना राष्ट्रीय दुर्भाग्य से कम न था।'

पंड़ित मोतीलाल नेहरू और लाला लाजपतराय ने जेल से ही गाँधी जी को लम्बे पत्र लिखे, जिनमें कहा गया, ''किसी एक स्थान के पाप के कारण सारे देश को दण्डित किया गया।'' गाँधी जी के लिए, साध्य के साथ साधन की पवित्रता के अपने सिद्धान्त का, अनुयायियों के मध्य औचित्य सिद्ध करना कठिन हो गया था। गाँधी जी ने नेहरू को यह विश्वास दिलाया कि ''यदि आंदोलन स्थागित न हुआ होता तो हम लोगों ने अनिवार्यतः हिंसक आंदोलन का नेतृत्व किया होता, पीछे हट जाने के इस कदम से ही हमारा संघर्ष समृद्ध होगा।''

गाँधी जी की गिरफ्तारी एवं कारावास

आंदोलन स्थागित करने के दूसरे ही दिन गाँधी जी को गिरफ्तार करके उन पर ' यंग इण्डिया' में प्रकाशित लेखों के आधार पर राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया। गाँधी जी ने अदालत से कहा' न चाहते हुए भी मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ , कि ब्रिटेन के साथ सम्बन्ध ने भारत को राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से इतना असहाय बना दिया है, जितना वह पहले कभी नहीं था।'' अपने वक्तव्य का समापन करते हुए उन्होंने कहा कि बुराई से अहसयोग करना उसी प्रकार उनका कर्त्तव्य है, जिस प्रकार अच्छाई से असहयोग करना। न्यायाधीश ने तिलक का दृष्टांत देते हुए गांधी जी को भी 6 वर्ष के कारावास का दण्ड दे दिया।

असहयोग आंदोलन की दुर्बलता

आंदोलन की सबसे बड़ी दुर्बलता धर्म का राजनीति में प्रवेश था, जिसके दूरगामी परिणाम अच्छे नहीं हुए। यद्यपि गांधी जी ने हिन्दू– मुस्लिम एकता की दृष्टि से ऐसा किया था परन्तु इसके कारण बाद में हिन्दू–मुस्लिम तनाव का जन्म हुआ, तुर्की के कमाल पाशा के नेतृत्व में 1922 में खिलाफत का अंत करके खलीफा को निर्वासित कर दिया गया।

सुभाष चंद्रबोस लिखते हैं, 'एक वर्ष में स्वराज प्राप्ति का वचन देना न केवल अविवेकपूर्ण वरन बालक सदृश घोषणा भी थी। ''गाँधी जी ने आंदोलन में छोटी सी हिंसक घटना को जन–मनोवृत्ति का आवश्यक अंग मानने के स्थान पर, आंदोलन को स्थागित कर दिया गया। यदि यह आंदोलन कुछ समय और

चलता तो सरकार के लिए सुधारों की नवीन घोषणा आवश्यक हो जाती है।

आंदोलन का महत्व

इस आंदोलन ने जनता को निर्भीक बना दिया। जनता, शासन द्वारा दी जाने वाली सजा और यातनाओं को भुगतने के लिए पूरी तरह निडर हो गई।

असहयोग के माध्यम से गांधी जी ने राष्ट्रीय आंदोलन को जन आंदोलन में परिवर्तित कर दिया। राष्ट्रीय आंदोलन अब केवल उच्च वर्ग तक ही सीमित नहीं रहा, यह गांव गांव तक पहुँच गया। कांग्रेस पहली बार एक लोक आंदोलन के प्रणेता के रूप में उभर कर आई। अब तक देश भक्ति और राष्ट्रीयता कुछ गिने चुने लोगों की विरासत समझी जाती थी। महात्मा गाँधी और असहयोग आंदोलन के प्रभाव से वह सर्वसाधारण तक पहुँच पाई। जनता में अपूर्व साहस और त्याग की भावना का संचार हुआ। अब कांग्रेस एक क्रांतिकारी संस्था बन गई। यह केवल 'विचार–विमर्श करने वाली सभा नही वरन संगठित संघर्षशील सभा थी जो क्रांति के लिए कृत –संकल्प थी। असहयोग आंदोलन पहला आंदोलन था जिसने भारतीय जनता को अपने पैरों पर खड़ा होना सिखाया।

आंदोलन के दौरान रचनात्मक कार्यक्रम, राष्ट्रीय शिक्षण संस्थाओं का संचालन, विदेशी के स्थान पर स्वदेशी चरखा, हाथ–करघा आदि से देश को विशेष लाभ हुआ। कांग्रेस ने हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार कर लिया। खादी अब सब कांग्रेसियों की नियमित पोशाक बन गई। सुभाषचंद्र बोस के शब्दों में 'देश के एक कोने से दूसरे कोने तक एक जैसे नारे लगाये ऐ जाने लगे, एक जैसी नीति और विचारधारा हर जगह दिखाई देने लगी।''

सविनय अवज्ञा आन्दोलन पृष्ठभूमि

कलकत्ता कांग्रेस (दिसम्बर, 1928)

नेहरू प्रतिवेदन में भारत के लिए औपनिवेशिक स्वराज्य की मांग की गई थी, किन्तु इस सम्बन्ध में कांग्रेस के नेताओं में पर्याप्त मतभेद थे। जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचंद्र बोस के नेतृत्व में, कांग्रेस में युवा वर्ग इस प्रतिवेदन को केवल पूर्ण स्वतन्त्रता के आधार पर ही स्वीकार करना चाहता था, किन्तु मोती लाल नेहरू के नेतृत्व में पुरानी पीढी औपनवैशिक स्वराज्य के पूर्ण रूप में स्वीकार करना चाहती थी। ऐसा लग रहा था कि उनके सभी प्रयत्न असफल हो जायगें। गाँधी जी की मध्यस्थता से अन्ततः काग्रेस ने इसे स्वीकार कर लिया। कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार से भी इसे पूर्ण रूप से स्वीकार करने को कहा, साथ ही यह भी चेतावनी दी कि यदि एक वर्ष के अन्दर ब्रिटिश सरकार ने औपनिवेशिक स्वराज की माँग स्वीकार नही की तो वह पूर्ण स्वराज की माँग प्रस्तुत करेगी और जैसी आशा थी, ब्रिटिश सरकार ने काग्रेस के सुझावों और चेतावनी पर कोई ध्यान नही दिया।

पूर्ण स्वराज की माँग

ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत को औपनिवेशक स्वराज नहीं दिए जाने तथा कई अन्य घटनाओं के कारण सन् 1929 में कांग्रेस का रूख कठोर हो गया। ब्रिटिश सरकार के रवैये से यह स्पष्ट हो गया कि जब तक भारत मजबूत न हो जाए, तब तक स्वराज की प्रप्ति नही हो सकती अतः भारी निराशा के वातावरण में दिसम्बर 1929 में जवाहर लाल नेहरू की अध्यक्षता में, लाहौर में कांग्रेस अधिवेशन आरम्भ हुआ। इस अधिवेशन में कांग्रेस ने इससे पूर्व सन् 1928 में निर्धारित किए गए औपनिवेशक स्वराज के लक्ष्य को कायरता पूर्ण बताया। इसके स्थान पर पूर्ण स्वराज की मॉग की गई। 31 दिसम्बर, 1929 की मध्य रात्री को रावी नदी के तट पर वन्दे मात्रम और इन्कलाब जिन्दाबाद के नारों के मध्य राष्ट्रीय तिरंगा फहराया गया । कांग्रेस ने आह्वान किया कि 26 जनवरी, 1930 स्वतन्त्रता दिवस के रूप में मनाया जाए तथा इसके बाद प्रतिवर्ष यह दिन इसी प्रकार मनाया जाता रहा। यही कारण है कि इस दिन को चिरस्मरणीय बनाए रखने के कारण ही स्वतन्त्र भारत में 26 जनवरी, 1950 को भारत का संविधान लागू किया गया।

n'k dh vkUrfjd fLFkfr

इस समय सम्पूर्ण विश्व के समान भारत भी आर्थिक मन्दी के दौर से गुजर रहा था। श्रमिक और व्यापारी सभी असन्तुष्ट थे। इसी समय भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त के क्रान्तिकारी कार्यों और लाहौर षड्यन्त्र अभियोग के कारण, भारत में ब्रिटिश सरकार के प्रति असंतोष बढ़ता जा रहा था। इस प्रकार सन् 1930 के आरम्भ में सम्पूर्ण देश में असंतोष का वातावरण था।

dkxzl }kjk vkUnkyu dk fu.k;

14 से 16 फरवरी 1930 को साबरमती में सम्पन्न हुई कांग्रेस कार्यकारिणी की बैठक में स्थिति का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करने के बाद प्रस्ताव पारित किया गया और गाँधी जी को सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ करने के सम्पूर्ण अधिकार दे दिए गए। अपने साप्ताहिक पत्र 'यंग इण्डिया' में उन्होंने एक लेख में वायसराय को 11 शर्तें मानने के लिए कहा। इन शर्तों को यदि

सरकार स्वीकार कर ले तो सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ नहीं किया जाएगा। इन शर्तो में से प्रमुख थीं– नमक पर लगने वाला कर समाप्त हो, सैनिक–व्यय आधा किया जाए, अधिकारियों के वेतन आधा कर प्रशासनिक व्यय में कमी की जाए। विदेशी वस्त्रों पर तट कर लगाया जाए जिससे देशी उद्योगों को संरक्षण प्राप्त हो। सभी राजनीतिक बन्दियों को रिहा किया जाए। ब्रिटिश सरकार ने इन माँगों पर ध्यान देना तो दूर, कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं की गिरफ्तारियाँ प्रारम्भ कर दी। ऐसी स्थिति में आन्दोलन प्रारम्भ करने के अतिरिक्त कोई मार्ग शेष नहीं बचा।

lfou; voKk vkUnkyu
(Civil Disobedience Movement)

पूर्ण स्वराज के लक्ष्य को लेकर, गाँधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस द्वारा प्रारम्भ किया गया यह आन्दोलन, पूर्व में चलाए गए असहयोग आन्दोलन से बिल्कुल भिन्न था। इस आन्दोलन के लिए अपनाई गई रणनीति भी पृथक् थी। गांधीजी ने आन्दोलन चलाने के तरीके पर विचार किया। पूर्ण स्वराज के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए, इस बार कानून का उल्लंघन करने का निश्चय किया गया। अपना संकल्प व्यक्त करने के लिए स्वतन्त्रता प्रेमी भारतीयों को देशव्यापी विरोध–प्रदर्शन और सत्याग्रह आन्दोलन का आयोजन करना था। सरकार को लगान भी नहीं देना था और विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार भी करना था। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि सभी तरीकों से भारतीयों को सभी स्तरों पर सरकार की अवज्ञा करनी थी और सरकार के संचालन को कठिन तथा असंभव बनाना था।

MkMh&;k=k

गाँधीजी ने निश्चय किया कि वे डांडी समुद्र तट पर सरकार की आज्ञा प्राप्त किए बिना नमक बनाऐंगे और इस प्रकार कानून का उल्लंघन करेंगे। 11 मार्च, 1930 को 75 हजार भारतीयों ने साबरमती मैदान में प्रतिज्ञा की कि जब तक भारत स्वतंत्र नहीं हो जाता, तब तक हम सरकार को शांति से नहीं बैठने देंगे।

12 मार्च 1930 को गाँधीजी के नेतृत्व में चुने गए कार्यकर्ता साबरमती से पैदल 200 मील दूर, गुजरात के एक गाँव डांडी की ओर चल दिए। बल्लभ भाई पटेल गाँधीजी के आगमन के लिए जनता को तैयार करने के लिए आगे–आगे चले। मार्ग में आने वाले गाँवों की जनता ने जोश, उत्साह और प्रसन्नता से गाँधीजी का अभिनन्दन किया।

महात्मा गाँधी तथा इस यात्रा में सम्मिलित हजारों भारतीय 6 अप्रेल को समुद्र तट पर पहुँच गए। उन्होंने समुद्र के पानी से नमक बनाकर, नमक–कानून का उल्लंघन करके सत्याग्रह का श्री गणेश किया। यह एक गैर–कानूनी काम था, क्योंकि नमक बनाने पर सरकार का एकाधिकार था। नमक कानून तोड़ते समय गांधीजी ने कहा था, 'सत्याग्रहियों की कभी पराजय नहीं होती, जब तक वे सत्य का परित्याग न कर दें' इसके बाद भारत में उन सब स्थानों पर नमक बनाया गया, जहाँ यह बनाया जाता था। कटक, पुरी और बालासोर में यह आन्दोलन तीव्र हो गया।

lfou; voKk vkUnkyu dk dk;Øe

गाँधीजी ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन का कार्यक्रम निर्धारित करते हुए कहा, 'गाँव–गाँव को नमक बनाने के लिए निकल पड़ना चाहिए। लोगों को शराब, अफीम और विदेशी कपड़े की दुकानों पर धरना देना चाहिए। विदेशी वस्त्रों को जला देना चाहिए।'

गांधीजी द्वारा नमक बनाने के बाद, यह आन्दोलन पूरे उत्साह से आगे बढ़ने लगा। संयुक्त प्रान्त, मद्रास, मध्य प्रान्त, बम्बई और बंगाल में भी नमक बनाया गया। विदेशी वस्त्रों सहित विदेशी माल का बहिष्कार किया गया। शराब की दुकानों पर धरना दिया गया। सरकारी नौकरी करने वाले हजारों लोगों ने अपनी नौकरी से त्यागपत्र दे दिया और आन्दोलन में सम्मिलित हो गए। विद्यार्थियों ने स्कूल–कॉलेज छोड़ दिए। किसानों ने कर देना बंद कर दिया। कपास पैदा करने वाले किसानों ने लगान देना बंद कर दिया, बिहार के किसानों ने कई जगह चौकी–कर देना बंद कर दिया। कर–बंदी आन्दोलन में गुजरात के किसान आगे रहे। भारतीय स्त्रियों ने घर की चारदीवारी से बाहर आकर बहिष्कार, धरना और स्वदेशी के प्रचार में उल्लेखनीय भूमिका निभाई। मात्र दिल्ली में 1700 महिलाओं को इन अपराधों के लिए गिरफ्तार किया गया। इस प्रकार महिलाओं और किसानों की व्यापक सहभागिता, इस आन्दोलन की महत्त्वपूर्ण विशेषता थी।

xk/kh th dh fxj¶rkjh

जब गाँधीजी ने धारासना के नमक कारखानों पर अधिकार की घोषणा की तो उन्हें मई, 1930 में बंदी बना लिया गया। इसके विरोध में बम्बई (मुम्बई) के 5000 मजदूरों ने हड़ताल की इससे प्रभावित होकर, रेलवे कारखानों के श्रमिक भी हड़ताल पर चले गए। भारत ही नहीं विदेशों में भी प्रवासी भारतीयों और यूरोपियनों ने गाँधीजी की गिरफ्तारी का विरोध किया।

vkUnksyu dh çxfr

जब सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ हुआ था, नमक बनाकर स्वराज पाने के सपने देखने का सरकार ने उपहास किया था, परन्तु आन्दोलन इतनी सफलतापूर्वक आगे बढ़ेगा, ब्रिटिश सरकार को ऐसी आशा नहीं थी। महिलाओं, छात्रों, किसानों, मजदूरों, व्यापारियों, सरकारी नौकरी पेशा एवं भारत के सभी वर्गों का सहयोग इस आन्दोलन को प्राप्त हुआ, यहाँ तक कि महाराष्ट्र, बिहार, असम, पंजाब के कांगड़ा के पहाड़ी इलाकों की जनजातियों की भी सहभागिता रही। महात्मा गाँधी के शिष्य खान अब्दुल गफ्फार खान (सीमान्त गाँधी) ने उत्तर–पश्चिमी सीमा प्रान्त में अंग्रेजों को चुनौती दी। मणिपुर भी पीछे नहीं रहा। नागालैण्ड में रानी गेडिलियो नामक वीर महिला ने यह कार्य किया। तमिलनाडु, केरल, कर्नाटक, आंध्र–प्रदेश सहित दक्षिण भारत के लोगों की इस आन्दोलन में सक्रिय भूमिका रही।

vkUnksyu dk neu

आन्दोलन जैसे–जैसे व्यापक और प्रखर होता गया, सरकार ने इसका निर्ममतापूर्वक दमन करना प्रारम्भ कर दिया। प्रदर्शनों व सभाओं को निर्देयतापूर्वक तितर–बितर किया जाने लगा। धारासना में 2500 स्वयं सेवकों ने नमक के गोदाम पर चढ़ाई की और वे पाशविक लाठी प्रहार का शिकार बने। शांतिपूर्ण सत्याग्रहियों को, चाहे वे महिला हों या बच्चे, पुलिस द्वारा निर्ममतापूर्वक पीटा जाता था। कई स्थानों पर गोलियाँ भी चलाई गईं थीं। 90,000 से अधिक सत्याग्रहियों को गिरफ्तार किया गया। सीमान्त गाँधी, जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभ भाई पटेल, सी.राजगोपालाचारी जैसे नेताओं को भी बन्दी बनाकर जेल में डाल दिया गया, जिससे आन्दोलन नेतृत्व विहीन हो जाए। अंग्रेजों ने खान अब्दुल गफ्फार खां के सहयोगियों और अनुयायियों को नष्ट करने के लिए हवाई–जहाज से बम वर्षा की। एक गढ़वाली प्लाटून ने अपने निहत्थे मुस्लिम देशवासियों पर गोली चलाने से इंकार कर दिया। शोलापुर में मार्शल लॉ (फौजी शासन) लागू कर दिया गया। यहाँ तक कि लगान तथा कर न देने पर अंग्रेजों ने किसानों की कृषि भूमि, घरेलू सामान और पशु भी जब्त कर लिए, किन्तु ब्रिटिश सरकार आन्दोलन दबाने में पूरी तरह असफल रही। मुस्लिम लीग और उसके अनुयायी इस आन्दोलन में सम्मिलित नहीं थे। एक ओर जब भारतीय लोगों का सरकार द्वारा दमन किया जा रहा था, ब्रिटिश सरकार ने संपूर्ण स्वतंत्रता आंदोलन का महत्व घटाने के लिए संवैधानिक परिवर्तन पर ध्यान केन्द्रित किया। भारत के उदारवादी नेताओं डा. जयकर एवं सप्रू ने कांग्रेस और ब्रिटिश सरकार के मध्य समझौता कराने का प्रयास किया, परन्तु ऐसा कोई समझौता नहीं हो सका। समझौता असफल होने पर ब्रिटिश सरकार ने प्रथम गोलमेज सम्मेलन का आयोजन 12 नवम्बर, 1930 को किया, जिसकी अध्यक्षता प्रधानमंत्री रेम्जे मैकडोनालड ने की। इस सम्मेलन में उपस्थित विभिन्न संगठनों के प्रतिनिधियों को भारत की जनता का प्रतिनिधि नहीं कहा जा सकता था, क्योंकि इसमें कांग्रेस का कोई प्रतिनिधि नहीं था। इस सम्मेलन में जिन्ना ने अपनी चौदह शर्तों को स्वीकार करने पर बल दिया। सम्मेलन में साम्प्रदायिकता के प्रश्न को विभिन्न जातियों द्वारा परस्पर हल करने के लिए छोड़ दिया गया। कांग्रेस के भाग न लेने से यह सम्मेलन पूरी तरह असफल रहा, क्योंकि इसमें भारत की आत्मा ही विद्यमान नहीं थी।

xk/kh bjfou le>kSrk

ब्रिटिश सरकार अब यह समझ चुकी थी कि भारतीय केवल उन्हीं सुधारों को स्वीकार करेंगे जिन्हें कांग्रेस स्वीकार करेगी। अतः इस समस्या का हल करने और शान्ति स्थापित करने के लिए कांग्रेस का सहयोग प्राप्त करना, आवश्यक हो गया था। समझौते का वातावरण बनाने के लिए, सरकार द्वारा गाँधीजी और कांग्रेस कार्यसमिति के प्रमुख सदस्यों को रिहा कर दिया गया। द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में कांग्रेस की भागीदारी सुनिश्चित करने के लिए उदारवादी नेताओं डा. जयकर और सप्रू ने मध्यस्थता के प्रयास किए। इन प्रयत्नों के परिणामस्वरूप जो समझौता हुआ वह इतिहास में गाँधी–इरविन समझौते' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें निम्नलिखित प्रमुख प्रावधान थे–

1. हिंसात्मक अपराध सिद्ध हो चुके राजनीतिक बंदियों को छोड़कर अन्य राजनीतिक बंदियों को मुक्त कर दिया जाएगा।
2. कांग्रेस द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में भाग लेगी।
3. महात्मा गाँधी सविनय अवज्ञा आन्दोलन वापिस ले लेंगे।
4. समुद्र–तट से निश्चित दूरी तक रहने वाले लोगों को कर के बिना नमक एकत्रित करने का अधिकार होगा।
5. सत्याग्रहियों की जब्त सम्पत्ति लौटा दी जाएगी।

le>kSrk ij ifrfØ;k

इस समझौते के अनुसार, सविनय अवज्ञा आन्दोलन स्थगित करने पर गाँधीजी की पहले के समान फिर आलोचना की गई। युवा वर्ग इस समझौते से निराश और नाराज था क्योंकि भगतसिंह और उनके दो साथियों को मृत्यु दण्ड की सजा में कोई परिवर्तन नहीं किया गया। गाँधीजी की यह महती सफलता थी

कि कांग्रेस के नेता के रूप में उन्हें भारतीय जनता के प्रतिनिधि के रूप में ब्रिटिश सरकार से मान्यता प्रदान की गई। इसके बाद कराची में कांग्रेस के अधिवेशन में इस समझौते की प्रशंसा करते हुए कहा गया कि इस आन्दोलन ने अहिंसा की महान शक्ति का प्रदर्शन किया और देश की जनता को जाग्रत करने का अभूतपर्वू कार्य किया। सरकार के लिए यह एक महत्वपूर्ण विजय थी क्योंकि दिन प्रतिदिन उग्र होते जा रहे सविनय अवज्ञा आन्दोलन को समाप्त करने के लिए गाँधीजी तैयार हो गये थे।

f}rh; xkyest lEesyu] lu 1931–

द्वितीय गोलेज सम्मेलन लंदन में 7 सितम्बर से 1 दिसम्बर, 1931 तक हुआ। इसमें भाग लेने के लिए कांग्रेस की ओर से प्रतिनिधि के रूप में गाँधीजी सम्मिलित हुए। गाँधीजी ने सांप्रदायिक एकता के लिए पर्याप्त प्रयास किए किन्तु ब्रिटिश सरकार भारतीय समस्या को हल ही नहीं करना चाहती थी।

iuq% lfou; voKk vkUnksyu ¼1932&34½

जब गांधीजी गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने गए, तब गवर्नर जनरल ने गांधी–इरविन समझौते का खुला उल्लंघन प्रारम्भ कर दिया था, अतः सविनय–अवज्ञा आन्दोलन पुनः प्रारम्भ करने के अतिरक्त कोई रास्ता शेष न रहा। इस बार सरकार ने और भी अधिक कठोर दमन चक्र चलाया। भारतीयों पर पुलिस ने सभी प्रकार के अत्याचार किए। गाँधीजी को बन्दी बना लिया गया, तथा कांग्रेस को अवैध संगठन घोषित कर दिया गया। समाचार–पत्रों पर कड़े प्रतिबन्ध लगा दिए गए।

esdMkukYM dk lkEiznkf;d fu.k;] 1932

16 अगस्त, 1932 को ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने भारतीयों के लिए एक साम्प्रदायिक निर्णय की घोषणा कर दी, जिसमें न केवल मुसलमानों और सिक्खों के लिए वरन् दलित वर्गों के लिए भी पृथक् निर्वाचन का प्रावधान किया गया था। यह भारतीयों तथा स्वतंत्रता आन्दोलन को विभाजित करने की कूटनीतिक चाल थी। गाँधीजी ने, जो उस समय यरवदा जेल में थे, इसके विरूद्ध अनिश्चितकालीन उपवास प्रारम्भ कर दिया। इसके कारण सम्पूर्ण देश की जनता में हलचल मच गई। मदन मोहन मालवीय तथा अन्य नेताओं ने डॉ. बी.आर. अम्बेडकर से भेंट कर उनसे कहा कि दलितों के पृथक् निर्वाचन क्षेत्र की माँग पर बल न दें। यह हिन्दुओं के विरूद्ध हिन्दुओं को लड़वाने की ब्रिटिश सरकार की चाल है। 25 सितम्बर, 1932 को अम्बेडकर इस पर सहमत हो गए और गाँधीजी की उपस्थिति में 'iuk le>kSrk' पर हस्ताक्षर कर दिए गए। सरकार ने भी इसे स्वीकार कर लिया और गांधीजी ने अपना उपवास समाप्त कर दिया।

r`rh; xkyest lEesyu] 1932

नवम्बर, 1932 में यह प्रारम्भ हुआ, लेकिन कांग्रेस ने इसमें भाग नहीं लिया। इस प्रकार यह सम्मेलन भी असफल रहा।

सरकार के अत्यधिक दमन के कारण आन्दोलन की शक्ति कम होती जा रही थी, इसलिए गाँधीजी ने सामूहिक आन्दोलन समाप्त करके जुलाई 1933 में 'व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आन्दोलन' प्रारम्भ किया, परंतु 7 अपेल, 1934 को इसे भी स्थगित कर दिया गया। मई, 1934 में कांग्रेस अधिवेशन में आन्दोलन बिना शर्त के वापिस ले लिया गया। जून, 1934 में ब्रिटिश सरकार द्वारा कांग्रेस से प्रतिबन्ध भी हटा दिया गया।

lfou; voKk vkUnksyu dk eY;kadu

यह आन्दोलन दूसरा महत्वपूर्ण राष्ट्रव्यापी आन्दोलन था। असहयोग आन्दोलन की तुलना में अब जनता ने अधिक संख्या में भाग लिया। नमक जैसे मुद्दे को लेकर चलाया गया, यह आन्दोलन आशा से भी अधिक सफल रहा। इससे भारतीय जनता में बढ़ती हुई राजनीतिक चेतना का पता चलता है। इसमें मध्यम वर्ग, मजदूर और किसान भी सम्मिलित थे। इस प्रकार यह जन–जन का आन्दोलन था।

इस प्रकार यद्यपि कांग्रेस अपना निर्धारित लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सकी, तथापि राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत करने में सफल रही। अब सरकार की नीतियों के विरूद्ध सविनय अवज्ञा और अहिंसात्मक आन्दोलन चलाने में जनता भी कुशल हो गई थी इसलिए पुलिस के अत्याचारों के उपरान्त भी जनता ने प्रतिशोध में कोई हिंसात्मक कार्यवाही नहीं की। इस प्रकार इस आन्दोलन से कुछ स्थायी लाभ प्राप्त हुए। इसमें जनता ने अपनी श्रद्धा और निष्ठा का अपूर्व प्रदर्शन किया। समाज के विभिन्न वर्गों के लोगों ने प्रथम बार सामूहिक आन्दोलन में खुल कर भाग लिया।

0;fDrxr lR;kxg vkj Hkkjr NkMks vkUnksyu

इस बीच 1 सितंबर, 1939 को द्वितीय विश्व युद्ध शुरू हो गया। मार्च, 1940 में कांग्रेस कार्यसमिति ने घोषणा की कि, 'पूर्ण स्वाधीनता से कम कुछ भी जनता को स्वीकार्य नहीं हो सकता' और शीघ्र ही सविनय अवज्ञा आंदोलन प्रारम्भ किया जायेगा। कांग्रेस ने पुनः महात्मा गांधी को मार्गदर्शन के लिए आमन्त्रित किया। इस समय गांधीजी सरकार के विरूद्ध भारतीयों की भावना अभिव्यक्त करना चाहते थे, किन्तु ब्रिटिश सरकार से अनुचित लाभ भी नहीं

17 अक्टूबर, 1940 को व्यक्तिगत सत्याग्रह आंदोलन आरंभ किया गया। विनोबा भावे प्रथम सत्याग्रही बने और पवनार से यह आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। उनका अनुकरण नेहरू ने किया और इस प्रकार व्यक्तिगत सत्याग्रह का देशव्यापी आन्दोलन प्रारम्भ हो गया। कांग्रेस द्वारा गांधीजी को आन्दोलन शुरू करने की पूरी शक्ति दिए जाने के उपरान्त भी उन्होंने सबसे कम प्रभावशाली शस्त्र का प्रयोग किया। सरकार ने व्यक्तिगत सत्याग्रह के अपराध में 30000 सत्याग्रहियों को जेल भेज दिया। इनमें विनोबा, नेहरू, राजगोपालाचारी, सरोजिनी नायडू और अरूणा आसफ अली जैसे बड़े नेता सम्मिलित थे।

महात्मा गाँधी जी ने 8 अगस्त 1942 को भारत छोड़ो आन्दोलन का आह्वान करते हुए 'करेगें या मरेगें' का विश्वविख्यात नारा दिया। उनके आह्वान पर सम्पूर्ण भारत में भारत छोड़ो आन्दोलन एक जन साधारण का राष्ट्रीय आन्दोलन बन गया। यह सविनय अवज्ञा आन्दोलन का एक मुख्य भाग था। लक्ष्य था कि जल्द से जल्द भारत स्वतन्त्र हो जाये। क्रिप्स मिशन की विफलता के बाद महात्मा गाँधी ने ब्रिटिश शासन के विरोध में अपना तीसरा बड़ा जन आंदोलन चलाने का निर्णय लिया। 8 अगस्त 1942 की शाम को बम्बई में अखिल भारतीय काँगेस कमेटी के बम्बई सत्र में (अंग्रेजों भारत छोड़ो) का नाम दिया गया था। गाँधी जी को तुरंत गिरफ्तार कर लिया गया था लेकिन देश भर के युवा कार्यकर्ता हड़तालों और तोड़फोड़ की कार्रवाइयों के जरिए आंदोलन चलाते रहे।

9 अगस्त 1942 को दिन निकलने से पहले ही काँग्रेस वर्किंग कमेटी के सभी सदस्य गिरफ्तार हो चुके थे और काँग्रेस को गैरकानूनी संस्था घोषित कर दिया गया। गाँधी जी के साथ भारत कोकिला सरोजिनी नायडू को यरवदा पुणे के आगा खान पैलेस में, डॉ० राजेन्द्र प्रसाद को पटना जेल व अन्य सभी सदस्यों को अहमदनगर के किले में नजरबन्द किया गया था।

सरकारी आँकड़ों के अनुसार इस जनान्दोलन में 940 लोग मारे गये, 1630 घायल हुए, 1800 डी० आई० आर० में नजरबन्द हुए तथा 60229 गिरफ्तार हुए। आन्दोलन को कुचलने के ये आँकड़े दिल्ली की सेण्ट्रल असेम्बली में ऑनरेबल होम मेम्बर ने पेश किये थे।

कांग्रेस में जयप्रकाश नारायण जैसे समाजवादी सदस्य भूमिगत प्रतिरोधी गतिविधियों में सबसे ज्यादा सक्रिय थे। पश्चिम में सतारा और पूर्व में मेदिनीपुर जैसे कई जिलों में स्वतंत्र सरकार, प्रतिसरकार की स्थापना कर दी गई थी। अंग्रेजों ने आंदोलन के प्रति काफी सख्त रवैया अपनाया फिर भी इस विद्रोह को दबाने में सरकार को साल भर से ज्यादा समय लग गया।

मरो नहीं, मारो! का क्रांतिकारी नारा 1942 में लालबहादुर शास्त्री ने दिया। इस नारे ने स्वतंत्रता के संघर्ष की आग में घी का काम किया। 9 अगस्त 1942 के दिन इस आन्दोलन को लालबहादुर शास्त्री जैसे एक प्रभावी क्रन्तिकारी व्यक्ति ने प्रचण्ड रूप दे दिया। 19 अगस्त, 1942 को शास्त्री जी गिरफ्तार हो गये। दूसरे विश्व युद्ध में इंग्लैण्ड को बुरी तरह उलझता देख नेताजी सुभाष चंद्र बोस ने आजाद हिन्द फौज को दिल्ली चलो का नारा दिया।

प्रमुख सिद्धांत

भारत छोड़ो आंदोलन सही अर्थों में एक जनांदोलन था जिसमें लाखों आम हिंदुस्तानी शामिल थे। इस आंदोलन ने युवाओं को बड़ी संख्या में अपनी ओर आकर्षित किया। उन सभी युवाओं ने अपनी–अपनी पाठशाला और महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों का अध्ययन–अध्यापन छोड़कर कारागृह का रास्ता अपनाया। जिस समय सभी आन्दोलनकारी नेता कारावास में थे, उसी समय जिन्ना तथा मुस्लिम लीग और उनके साथी अपना प्रभाव अपने अपने क्षेत्र में प्रचारित और प्रसारित कर रहे थे। इन्हीं वर्षों में मुस्लिम–लीग को पंजाब और सिंध में अपनी पहचान और प्रभाव स्थापित करने का समुचित अवसर मिला। इससे पहले मुस्लिम–लीग का यहां कोई विशेष प्रभाव नहीं था।

जून 1944 में था गाँधी जी को कारावास से मुक्त कर दिया गया। कारावास से निकलने के बाद उन्होंने कांग्रेस और लीग के बीच राजनीतिक भेदभाव को समाप्त के लिए जिन्ना के साथ कई बार चर्चा और चिंतन मनन किया। 1945 में ब्रिटेन में लेबर पार्टी की सरकार निर्वाचित हुयी। यह सरकार भारतीय स्वतंत्रता की पक्षधर थी। तत्कालीन वायसराय लॉर्ड वावेल ने कांग्रेस और मुस्लिम लीग के प्रतिनिधियों के मध्य समन्वय और सहानुभूति बनी रहे, इसलिए कई बैठक और वार्ताओं का आयोजन किया।

भारतीय जनमत

1946 के प्रारंभ में प्रांतीय विधान मंडलों के लिए नवीन प्रक्रिया से चुनाव कराए गए। सामान्य श्रेणी में कांग्रेस को भारी सफलता प्राप्त हुयी। मुसलमानों के लिए आरक्षित सीटों पर मुस्लिम लीग को भी भारी बहुमत प्राप्त हुआ। राजनीतिक ध्रुवीकरण की प्रक्रिया पूर्ण हो चुकी थी।

1946 में कैबिनेट मिशन भारत आया। इस मिशन ने कांग्रेस और मुस्लिम लीग को एक ऐसी संघीय व्यवस्था पर राजी करने का प्रयास किया जिसमें भारत में विभिन्न प्रांतों को सीमित स्वायत्तता दी जा सके। परन्तु कैबिनेट मिशन का यह प्रयास असफल रहा। वार्ता और चिंतन–मनन की असफलता के बाद जिन्ना ने पाकिस्तान की स्थापना के लिए लीग की माँग के समर्थन में एक प्रत्यक्ष कार्यवाही दिवस का 16 अगस्त 1946

आह्वान किया। उसी दिन कलकत्ता में खूनी संघर्ष शुरू हो गया। यह हिंसा कलकत्ता से शुरू होकर ग्रामीण बंगाल, बिहार और संयुक्त प्रांत व पंजाब तक फैल गई। कुछ स्थानों पर मुसलमानों को तो कुछ अन्य स्थानों पर हिंदुओं को हिंसा और शोषण का शिकार बनाया गया।

विभाजन की नींव

फरवरी 1947 में वावेल के स्थान पर लॉर्ड माउंटबेटन को वायसराय नियुक्त किया गया। उन्होंने वार्ताओं के एक अंतिम दौर का आह्वान किया। जब सुलह के लिए उनका यह प्रयास भी विफल हो गया तो उन्होंने ऐलान कर दिया कि ब्रिटिश भारत को स्वतंत्रता दे दी जाएगी लेकिन उसका विभाजन भी होगा। औपचारिक सत्ता हस्तांतरण के लिए 15 अगस्त 1947 का दिन निर्धारित किया गया। उस दिन पूरे भारत के विभिन्न भागों में लोगों ने जमकर खुशियाँ मनायी। दिल्ली में जब संविधान सभा के अध्यक्ष ने मोहनदास करमचंद गाँधी को राष्ट्रपिता की उपाधि देते हुए संविधान सभा की बैठक शुरू की तो बहुत देर तक करतल ध्वनि होती रही। असेम्बली के बाहर भीड़ महात्मा गाँधी की जय के नारे लगा रही थी।

स्वतंत्रता–प्राप्ति

15 अगस्त 1947 को राजधानी में हो रहे स्वतंत्रता के उत्सवों में महात्मा गाँधी सम्मिलित नहीं थे। उस समय वे कलकत्ता में थे लेकिन उन्होंने वहाँ न तो किसी कार्यक्रम में भाग लिया, न ही कहीं ध्वजारोहण किया। गाँधी जी ने उस दिन 24 घंटे का उपवास रखा। उन्होंने इतने दिन तक जिस स्वतंत्रता के लिए संघर्ष किया था वह एक अकल्पनीय और भविष्य के लिये लाभदायक नहीं थी। गाँधी जी का और हम सबका राष्ट्र विभाजित (भारत. पाकिस्तान) हो गया। मुसलमान और हिन्दू एक–दूसरे को मार काट रहे थे। गांधीजी की जीवनी के लेखक डी.जी. तेंदुलकर ने लिखा है" कि सितंबर और अक्टूबर के समय गाँधी जी पीड़ितों को सांत्वना देते हुए अस्पतालों और शरणार्थी शिविरों में चक्कर लगा रहे थे। उन्होंने सिखों, हिंदुओं और मुसलमानों से आह्वान और निवेदन किया कि वे अतीत को भुला कर अपनी पीड़ा पर ध्यान देने की बजाय एक–दूसरे के प्रति भाईचारे का हाथ बढ़ाने तथा शांति से रहने का संकल्प लें।"

पंथ–निरपेक्षता

गाँधी जी के प्रभाव और आग्रह पर नेहरू ने कांग्रेस से अल्पसंख्यकों के अधिकारों पर एक प्रस्ताव पारित कर दिया। गाँधी जी ने कभी भी दो राष्ट्र सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया था। जब भारत को अपनी इच्छा के विरुद्ध विभाजन पर स्वीकृति देनी पड़ी तो भी गाँधी जी का दृढ़ विश्वास था कि भारत बहुत सारे धर्मों और बहुत सारी नस्लों का देश है और उसे ऐसे ही बनाए रखा जाना चाहिए। भारत एक लोकतांत्रिक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र होगा जहाँ सभी नागरिकों को पूर्ण अधिकार प्राप्त होंगे। धर्म के आधार पर भेदभाव के बिना सभी को राज्य की ओर से संरक्षण का अधिकार होगा। कांग्रेस ने आश्वासन दिया कि वह अल्पसंख्यकों के नागरिक अधिकारों के किसी भी अतिक्रमण के विरुद्ध हर संभव रक्षा करेगी। वर्तमान में पाकिस्तान में जो राजनीतिक और सामाजिक रूप से असंतुलित वातावरण है उससे भारतीयों की महान पंथ . निरपेक्षता के पवित्र लक्ष्य और जन समुदाय के सर्वांगीण विकास का पता लगाया जा सकता है।

महत्वपूर्ण बिन्दु

1. महात्मा गाँधी 1915 में दक्षिण अफ्रीका से भारत आए।
2. रोलेट एक्ट के द्वारा किसी भी भारतीय को, किसी बहाने से, दो बरस तक नजरबंद रखने, उस्के न्यायिक अधिकारों को प्रतिबंधित करने व स्वशासन के संघर्ष को दबाने का प्रावधान था जिसका समूचे देश में विरोध हुआ।
3. जलियांवाला बाग की घटना 13 अप्रेल 1919 को घटित हुई।
4. असहयोग आंदोलन का मुख्य उद्देश्य सरकार के साथ असहयोग करके सरकारी तंत्र को ठप्प करना था।
5. चौरीचोरा घटना 5 फरवरी 1922 को हुई।
6. 12 मार्च 1930 को साबरमती से पैदल चलकर दांडी मार्च आरम्भ किया और सविनय आंदोलन की शुरूआत की।
7. महात्मा गांधी ने 8 अगस्त 1942 को भारत छोड़ो आंदोलन का नारा दिया।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

अति लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. असहयोग आन्दोलन का अर्थ समझाइये?
2. चौरी–चौरा कांड क्या है?व्याख्या कीजिये।
3. जलियांवाला बाग हत्या कांड कहाँ हुआ?
4. रोलेट एक्ट का सम्बन्ध किस पर प्रतिबन्ध से है?
5. प्रिंस ऑफ वेल्स भारत में कब आया?
6. यंग इन्डिया क्या था?
7. 9 अगस्त 1942 के दिन का महत्व बताइये?
8. "मरो नहीं मारो" का नारा किसने दिया?
9. "दिल्ली चलो" का नारा किसने दिया?
10. "करेंगे या मरेंगे" का नारा किसने दिया?
11. "काकोरी कांड" स्मृति दिवस कब मनाया जाता था?
12. "काकोरी कांड" स्मृति दिवस मनाने की परम्परा किसने प्रारम्भ की?
13. भारत कोकिला किसे कहा जाता है?
14. केबिनेट मिशन भारत में कब आया?
15. गाँधीजी को राष्ट्रपिता की उपाधि से किसने सम्बोधित किया?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. असहयोग आन्दोलन का अर्थ समझाइये?
2. चौरी–चौरा कांड पर प्रकाश डालिए?
3. रोलेट एक्ट क्या था?विवरण दीजिये।
4. गाँधी जी ने खेड़ा और अहमदाबाद में क्या किया?
5. जलियांवाला बाग हत्या कांड पर टिपण्णी कीजिये?
6. खिलाफ़त आन्दोलन क्या था?
7. गाँधी जी के स्वराज को समझाइये?
8. लुई फिशर ने किसकी जीवनी लिखी?
9. भारत में प्रिंस ऑफ वेल्स कब और कहाँ आया?
10. यंग इन्डिया पर टिप्पणी कीजिये?
11. सविनय अवज्ञा आन्दोलन का अर्थ बताइये?
12. काकोरी कांड को समझाइये?
13. केबिनेट मिशन पर टिप्पणी कीजिये?
14. लार्ड माउंट बेटन को भारत का वायसराय कब नियुक्त किया?
15. भारत का विभाजन किस योजना के अधीन हुआ?

निबंधात्मक प्रश्न

1. असहयोग आन्दोलन में गांधी जी की भूमिका का वर्णन कीजिये?
2. भारत छोड़ो आन्दोलन में गाँधी जी की भूमिका का विश्लेषण कीजिये?
3. जलियाँ वाला बाग हत्याकांड की विस्तृत व्याख्या कीजिये?
4. चौरी–चौरा कांड को समझाइए?
5. भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में गाँधी जी की भूमिका की व्याख्या कीजिये?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. चौरी–चौरा कांड कब हुआ ?
   (अ) 4 सितम्बर 1920 (ब) 4 फरवरी 1922
   (स) 8 अगस्त 1942 (द) 6 दिसम्बर 1922 ( )
2. महात्मा गाँधी ने असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ कब किया ?
   (अ) सितम्बर 1920 (ब) 8 अगस्त 1942
   (स) 13 मार्च 1922 (द) 26 नवम्बर 1949 ( )
3. "मरो नहीं, मारो।" का क्रन्तिकारी नारा किसने दिया था ?
   (अ) लाल बहादुर शास्त्री (ब) महात्मा गाँधी
   (स) बाल गंगाधर तिलक (द) सावरकर ( )
4. काकोरी कांड कब हुआ ?
   (अ) 9 अगस्त 1925 (ब) 9 अगस्त 1942
   (स) 14 अगस्त 1947 (द) 26 जनवरी 1950 ( )
5. 8 अगस्त 1942 को गाँधी जी ने कौनसा नारा दिया गया?
   (अ) दिल्ली चलो (ब) करो या मरो
   (स) अंग्रेजों भारत छोड़ो (द) ब और स ( )

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर–

1 . ब 2 . (अ) 3 . (अ) 4 . अ 5 . द

अध्याय–16
1857 का स्वतन्त्रता संग्राम और राजस्थान पर उनका प्रभाव एवं राजस्थान में क्रांतिकारी प्रजामण्डल व किसान आन्दोलन

सूत्रपात एवं विस्तार–

1857 की क्रांति के प्रारम्भ होने के समय राजपूताना (राजस्थान) में क्रमशः नसीराबाद, नीमच, देवली, ब्यावर, एरिनपुरा एवं खेरवाड़ा में सैनिक छावनियाँ थी। इन सभी 6 सैनिक छावनियों में लगभग पाँच हजार भारतीय सैनिक थे। मेरठ में जब (10 मई, 1857) को स्वतन्त्रता का आन्दोलन प्रारम्भ हुआ, उसकी सूचना राजस्थान के ए.जी.जी. (एजेन्ट टू गवर्नर जनरल) जार्ज पैट्रिक लारेन्स को 19 मई, 1857 को प्राप्त हुई। सूचना मिलते ही जार्ज पैट्रिक लारेन्स ने सभी शासकों को निर्देश दिए कि वे अपने–अपने राज्य में शान्ति बनाए रखें तथा अपने राज्यों में विद्रोहियों को प्रवेश न दें। गम्भीर चेतावनी देते हुए कहा कि यदि विद्रोही राज्य की सीमा में प्रवेश करते हैं तो उन्हें तुरंत बंदी बना लिया जाए। उस समय ए.जी.जी. के समक्ष अजमेर की सुरक्षा की समस्या सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण थी। उस समय अजमेर शहर में प्रचुर मात्रा में गोला बारूद एवं सरकारी कोष था। यदि यह सब गोला बारूद एवं सरकारी कोष) विद्रोहियों के हाथ लग जाता तो उनकी स्थिति अत्यन्त मजबूत हो सकती थी। अभी कुछ समय पूर्व अजमेर स्थित भारतीय सैनिकों की दो कम्पनियाँ मेरठ से आयी थी। ए.जी.जी. को यह सन्देह था कि सम्भव हो यह (15वीं बंगाल नेटिव इन्फेन्ट्री) मेरठ से विद्रोह की भावना लेकर आयी हो, इस कारण इस इन्फेन्ट्री को नसीराबाद भेज दिया गया। ब्यावर से दो मेर रेजीमेन्ट बुलायी गई। ए.जी.जी ने अजमेर में डीसा (गुजरात) से एक यूरोपीय सेना भेजने के लिए पत्र लिखा।

क्रांति के कारण–

राजस्थान में 1857 की क्रांति का सूत्रपात एवं प्रारंभ नसीराबाद से हुआ, जिसके कारण निम्नलिखित थे :–

1. ए.जी.जी. ने 15वीं बंगाल इन्फेन्ट्री जो अजमेर में थी, उस पर अविश्वास करके उसे नसीराबाद भेज दिया था। परिणाम स्वरूप उनमें घोर असंतोष उत्पन्न हो गया।

2. मेरठ में हुए विद्रोह की सूचना के पश्चात् अंग्रेज सैन्य अधिकारियों ने नसीराबाद स्थित सैनिक छावनी की रक्षा हेतु first Bombay Lancers फर्स्ट बम्बई लांसर्स के उन सैनिकों से, जो वफादार समझे जाते थे, गश्त लगवाना प्रारम्भ किया। तोपों को तैयार रखा गया। अतः नसीराबाद में जो 15वीं नेटिव इन्फेन्ट्री थी, उसके सैनिकों ने सोचा कि अंग्रेजों ने यह कार्यवाही भी भारतीय सैनिकों को कुचलने के लिए की है तथा गोला–बारूद से भरी तोपें उनके विरुद्ध प्रयोग करने के लिए तैयार की गई हैं । अतः उनमें विद्रोह की भावना जागृत हुई।

3. बंगाल और दिल्ली में छद्मधारी साधुओं ने चर्बी वाले कारतूसों के विरुद्ध प्रचार प्रसार कर विद्रोह का संदेश प्रचारित और प्रसारित किया, जिससे विद्रोह का राष्ट्रीय वातावरण बन गया। 1857 के विद्रोह का तात्कालिक प्रमुख कारण चर्बी वाले कारतूसों को लेकर था। एनफील्ड राइफलों में प्रयोग में लिए जाने वाले कारतूस की टोपी (केप) को दाँतों से हटाना पड़ता था। इन कारतूसों को चिकना करने के लिए गाय तथा सूअर की चर्बी काम में लाई जाती थी। इसका पता चलते ही हिन्दू–मुसलमान सभी सैनिकों में विद्रोह की भावना प्रबल हो गई। सैनिकों ने यह समझा कि अंग्रेज उन्हें धर्म भ्रष्ट करना चाहते हैं। यही कारण था कि क्रांति का प्रारम्भ नियत तिथि से पहले हो गया।

क्रांति का प्रारम्भ नसीराबाद छावनी से–

राजस्थान में नसीराबाद छावनी में क्रांति का प्रारम्भ 28 मई, 1857 को हुआ। नसीराबाद छावनी के 15 वीं बंगाल नेटिव इन्फेन्ट्री के सैनिकों द्वारा विद्रोह कर छावनी को लूट लिया तथा अग्रेंज अधिकारियों के बंगलों पर आक्रमण किए। मेजर स्पोटिस वुड एवं न्यूबरी की हत्या कर दी गयी। उसके बाद अंग्रेजों ने नसीराबाद छोड़ दिया। छावनी को लूटने के बाद विद्रोही सैनिकों ने दिल्ली की ओर प्रस्थान किया। इन सैनिकों ने18 जून, 1857 को दिल्ली पहुँचकर अंग्रेज पलटन को पराजित किया, जो दिल्ली की सुरक्षा घेरा डाले हुए थी।

नीमच व टौंक की क्रांति–

3 जून, 1857 को नसीराबाद की क्रांति की सूचना नीमच पहूंची। उसी दिन नीमच छावनी के भारतीय सैनिकों ने विद्रोह कर दिया। उन्होंने शस्त्रागार को आग लगा दी तथा अंग्रेज अधिकारियों के बंगलों पर हमला कर एक अंग्रेज सार्जेन्ट की पत्नी तथा बच्चों की हत्या कर दी। नीमच छावनी के ये सैनिक चित्तौड़, हम्मीरगढ़ तथा बनेड़ा में अंग्रेज बंगलों को लूटते हुए शाहपुरा पहुँचे।

शाहपुरा के सामंत ने विद्रोहियों की सहायता करते हुए उन्हें रसद की आपूर्ति की। यहाँ से ये सैनिक निम्बाहेड़ा पहुँचे, जहाँ जनता द्वारा इनका जन स्वागत किया गया। इन सैनिकों ने देवली छावनी को घेर लिया, देवली छावनी के सैनिकों ने इनका साथ दिया। इसी कारण छावनी को लूट पाना संभव हुआ। उसके बाद ये क्रांतिकारी टौंक पहुँचे, जहाँ जनता ने नवाब के आदेशों की परवाह न करते हुए इनका जोरदार स्वागत किया।

टौंक से आगरा होते हुए ये सैनिक दिल्ली पहुंचे। कैप्टन शावर्स ने कोटा, बूँदी तथा मेवाड़ की सेनाओं की सहायता से नीमच पर पुनः अधिकार कर लिया। 1835 ई. में अंग्रेजों ने जोधपुर की सेना के सवारों पर अकुशल होने का आरोप लगाकर जोधपुर लीजियन का गठन किया। इसका केन्द्र एरिनपुरा रखा गया। 21 अगस्त, 1857 को जोधपुर लीजियन के सैनिकों ने विद्रोह कर आबू में अंग्रेज सैनिकों पर हमला कर दिया।

यहाँ से ये एरिनपुरा आ गए, जहाँ इन्होंने छावनी को लूट लिया तथा जोधपुर लीजियन के शेष सैनिकों को अपनी ओर मिलाकर "चलो दिल्ली, मारो फिरंगी" के नारे लगाते हुए दिल्ली की ओर चल पड़े। एरिनपुरा के विद्रोही सैनिकों की भेंट 'खरवा' नामक स्थान पर आउवा ठाकुर कुशालसिंह से हुई। ठाकुर कुशालसिंह, जो कि अंग्रेजों एवं जोधपुर महाराजा से नाराज थे, ने इन सैनिकों का नेतृत्व करना स्वीकार कर लिया।

ठाकुर कुशालसिंह के आह्वान पर आसोप, गूलर, व खेजड़ली के सामन्त अपनी सेना के साथ आउवा पहुँच गये। वहाँ मेवाड़ के सलूम्बर, रूपनगर तथा लसाणी के सामंतों ने अपनी सेनाएँ भेजकर सहायता प्रदान की। ठाकुर कुशालसिंह की सेना ने जोधपुर की राजकीय सेना को 8 सितम्बर, 1857 को बिथोड़ा नामक स्थान पर पराजित किया। जोधपुर की सेना की पराजय की खबर पाकर ए.जी.जी. जार्ज लारेन्स स्वयं एक सेना लेकर आउवा पहुँचा। मगर 18 सितम्बर, 1857 को वह विद्रोहियों से परास्त हुआ। इस संघर्ष के दौरान जोधपुर का पोलिटिकल एजेन्ट मोक मेसन क्रांतिकारियों के हाथों मारा गया। उसका सिर आउवा के किले के द्वार पर लटका दिया गया। अक्टूबर, 1857 में जोधपुर लीजियन के क्रांतिकारी सैनिक दिल्ली की ओर कूच कर गए। ब्रिगेडियर होम्स के अधीन एक सेना ने 29 जनवरी, 1858 को आउवा पर आक्रमण कर दिया। विजय की उम्मीद न रहने पर कुशालसिंह ने सलूंबर किले में शरण ली। उसके बाद ठाकुर पृथ्वीसिंह ने विद्रोहियों का नेतृत्व किया। अन्त में, आउवा के किलेदार को रिश्वत देकर अंग्रेजों ने अपनी ओर मिला लिया और किले पर अधिकार कर लिया। अंग्रेजों ने यहाँ अमानवीय अत्याचार किए एवं आउवा की महाकाली की मूर्ति (सुगाली माता) को अजमेर ले गए।

कोटा में विप्लव–

कोटा में राजकीय सेना तथा आम जनता ने अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष को प्रारम्भ किया। 14 अक्टूबर, 1857 को कोटा के पोलिटिकल एजेन्ट मेजर बर्टन ने कोटा महाराव रामसिंह द्वितीय से भेंट कर अंग्रेज विरोधी अधिकारियों को दण्डित करने का सुझाव दिया। मगर महाराव ने अधिकारियों के अपने नियंत्रण में न होने की बात कहते हुए बर्टन के सुझाव को मानने से इन्कार कर दिया। 15 अक्टूबर, 1857 को कोटा की सेना ने रेजीडेन्सी को घेरकर मेजर बर्टन और उसके पुत्रों तथा एक डाक्टर की हत्या कर दी। मेजर बर्टन का सिर कोटा शहर में घुमाया गया तथा महाराव का महल घेर लिया। विद्रोही सेना का नेतृत्व रिसालदार मेहराबखाँ और लाला जयदयाल कर रहे थे। विद्रोही सेना को कोटा के अधिकांश अधिकारियों व किलेदारों का भी सहयोग व समर्थन प्राप्त हो गया। विद्रोहियों ने राज्य के भण्डारों, राजकीय बंगलों दुकानों, शस्त्रागारों, कोषागार एवं कोतवाली पर अधिकार कर लिया। कोटा महाराव की स्थिति असहाय हो गई। वह एक प्रकार से महल का कैदी हो गया। लाला जयदयाल और मेहराबखाँ ने समस्त प्रशासन अपने हाथ में ले लिया और जिला अधिकारियों को राजस्व वसूली के आदेश दिए गए। मेहराबखाँ और जयदयाल ने महाराव को एक परवाने पर हस्ताक्षर करने के लिए विवश किया, जिसमें मेजर बर्टन व उसके पुत्रों की हत्या महाराव के आदेश से करने एवं लाला जयदयाल को मुख्य प्रशासनिक अधिकारी नियुक्त करने की बातों का उल्लेख था। लगभग छः महीने तक विद्रोहियों का प्रशासन पर नियंत्रण रहा। कोटा के जन सामान्य में भी अंग्रेजों के विरुद्ध तीव्र आक्रोश था। उन्होंने विद्रोहियों को अपना समर्थन व सहयोग दिया। जनवरी, 1858 में करौली से सैनिक सहायता मिलने पर महाराव के सैनिकों ने क्रांतिकारियों को गढ़ से खदेड़ दिया, किन्तु कोटा शहर को क्रांतिकारियों से मुक्त कराना अभी शेष था। 22 मार्च, 1858 को जनरल राबर्ट्स के नेतृत्व में एक सेना ने कोटा शहर को विद्रोहियों से मुक्त करवाया।

टौंक में तांत्या टोपे–

टौंक के नवाब वजीरुद्दौला अंग्रेज समर्थक थे, परन्तु टौंक की जनता एवं सेना की सहानुभूति क्रांतिकारियों के साथ थी। सेना का एक बड़ा भाग विद्रोहियों से मिल गया तथा इन सैनिकों ने नीमच के सैनिकों के साथ नवाब के किले को घेर लिया। सैनिकों ने नवाब से अपना वेतन वसूल किया और नीमच की सेना के साथ दिल्ली चले गए। नवाब के मामा मीर आलम खाँ ने विद्रोहियों का साथ दिया। 1858 ई. के प्रारम्भ में तांत्या टोपे के टौंक पहुँचने पर जनता ने तांत्या टोपे को सहयोग दिया एवं टोंक के जागीरदार नासिर मुहम्मद खाँ ने भी तांत्या टोपे का साथ दिया, जबकि नवाब ने अपने–आपको किले में बन्द कर लिया।

धौलपुर में विद्रोह–

धौलपुर के महाराजा भगवन्त सिंह अंग्रेजों के समर्थक

थे। अक्टूबर, 1857 में ग्वालियर तथा इंदौर के क्रांतिकारी सैनिकों ने धौलपुर में प्रवेश किया। धौलपुर राज्य की सेना तथा अधिकारी क्रांतिकारियों से मिल गए। विद्रोहियों ने दो महीने तक राज्य पर अपना अधिकार बनाए रखा। दिसम्बर, 1857 में पटियाला की सेना ने धौलपुर से क्रांतिकारियों को भगा दिया।

भरतपुर में विद्रोह–

1857 में भरतपुर पर पोलिटिकल एजेन्ट का शासन था। अतः भरतपुर की सेना विद्रोहियों को दबाने के लिए भेजी गई। परन्तु भरतपुर की मेव एवं गुर्जर जनता ने क्रांतिकारियों का साथ दिया। फलस्वरूप अंग्रेज अधिकारियों ने भरतपुर छोड़ दिया। मगर भरतपुर से विद्रोहियों के चले जाने पर वहाँ तनाव का वातावरण बना रहा।

करौली में विद्रोह–

करौली के शासक महाराव मदनपाल ने अंग्रेज अधिकारियों का साथ दिया। महाराव ने अपनी सेना अंग्रेजों को सौंप दी तथा कोटा महाराव की सहायता के लिए भी अपनी सेना भेजी। उसने अपनी जनता से विद्रोह में भाग न लेने व विद्रोहियों का साथ न देने की अपील की।

अलवर में विद्रोह–

अलवर में भी क्रांतिकारी भावनाओं का ज्वार भड़क रहा था व अलवर के दीवान फैजुल्ला खाँ की राष्ट्रीय भावना क्रांतिकारियों के साथ थी। महाराजा बन्नेसिंह ने अंग्रेजों की सहायतार्थ आगरा सेना भेजी। अलवर राज्य की गुर्जर जनता की राष्ट्रीय भावना और सहानुभूति क्रांतिकारियों के साथ थी।

बीकानेर में विद्रोह–

बीकानेर के महाराज सरदारसिंह राजस्थान के एक मात्र ऐसे शासक थे जो सेना लेकर विद्रोहियों को दबाने के लिए बीकानेर राज्य से बाहर भी गये। महाराजा ने पंजाब में विद्रोह को दबाने में अंग्रेजों का सहयोग किया। महाराजा ने अंग्रेजों को शरण तथा सुरक्षा भी प्रदान की। अंग्रेज विरोधी भावनाओं पर महाराजा ने कड़ा रूख अपनाकर उन पर नियंत्रण रखा।

मेवाड़ और वागड़ की क्रांति–

मेवाड़ के महाराणा स्वरूपसिंह ने अपनी सेना विद्रोहियों को दबाने के लिए अंग्रेजों की सहायता करने हेतु भेजी। महाराणा के सम्बन्ध न तो अपने सरदारों से अच्छे थे और न कम्पनी सरकार से। महाराणा अपने सामंतों को प्रभावहीन करना चाहता थे। इस समय महाराणा और कम्पनी सरकार दोनों को ही एक–दूसरे की आवश्यकता थी। मेरठ विद्रोह की सूचना आने पर मेवाड़ में भी विद्रोही गतिविधियों पर अंकुश लगाने के लिए आवश्यक कदम उठाए गए। नीमच के क्रांतिकारी नीमच छावनी में आग लगाने के बाद मार्ग के सैनिक खजानों को लूटते हुए शाहपुरा पहुँचे। शाहपुरा मेवाड़ का ही ठिकाना था। शाहपुरा के शासक ने क्रांतिकारियों को सहयोग प्रदान किया। मेवाड़ की सेना क्रांतिकारियों का पीछा करते हुए शाहपुरा पहुँची तथा स्वयं कप्तान भी शाहपुरा आ गया परन्तु शाहपुरा के शासक ने किले के दरवाजे नहीं खोले। महाराणा ने अनेक अंग्रेजों को शरण तथा सुरक्षा भी प्रदान की। लेकिन राज्य की जनता में अंग्रेजों के विरुद्ध रोष विद्यमान था। जनता ने विद्रोह के दौरान रेजीडेण्ट को गालियाँ निकालकर अपने गुस्से का इजहार किया। मेवाड़ के सलूम्बर व कोठारिया के सामन्तों ने क्रांतिकारियों को सहयोग दिया। इन सामन्तों ने ठाकुर कुशालसिंह व तांत्या टोपे की सहायता की।

1857 की क्रांति का सम्पूर्ण भारत सहित राजस्थान की भी जनता ने अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध क्रांति के निशान कमल और चपाती का स्वागत किया व क्रांति में आर्य समाज ने जिस प्रकार समस्त भारत में क्रांति का आन्दोलन किया ठीक उसी प्रकार राजस्थान और विशेष रूप से दक्षिणी राजस्थान में गोविन्द गुरु के नेतृत्व में आदिवासी क्षेत्र में क्रांति आन्दोलन का सूत्रपात किया गया। गोविन्द गुरु के नेतृत्व में इस आन्दोलन को भगत आन्दोलन के नाम से पुकारा गया। उन्होंने दक्षिणी राजस्थान के, गुजरात और मालवा के भीलों को संगठित कर उनकी प्रचलित व्याप्त बुराइयों को समाप्त करने का प्रयास किया। इसी के साथ अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध लोगों को एकत्रित और जागृत किया। सामाजिक सुधार और राष्ट्रीय भावनाओं की जाग्रति के लिये 1913 में बाँसवाड़ा की मानगढ़ पहाड़ी पर सभी भील भाई अपने गुरु गोविन्द गुरु के नेतृत्व और सानिध्य में धार्मिक और सामाजिक तथा राष्ट्रीय कार्यक्रमों में व्यस्त थे। उसी समय अंग्रेजी सरकार ने सभी भगतों पर बिना सूचना के गोलीबारी करके उनकों बडी ही निर्ममता से मौत के घाट उतार दिया। यह जालियांवाला बाग जैसी घटना की पुनरावृति थी। इसमें 1500 से ज्यादा लोग मारे गए। प्रतिक्रिया स्वरूप इन सभी क्षेत्रों के भीलों में राजनीतिक और राष्ट्रीय जाग्रति उत्पन्न ही गयी। वे सभी राष्ट्रीय आन्दोलन में गोविन्द गुरु के मार्ग का अनुसरण करते रहे।

मेवाड़ प्रजामंडल आन्दोलन–

मेवाड़ में प्रजामंडल आन्दोलन 24 अप्रेल 1938 को प्रारम्भ हुआ :–

डूंगरपुर में 1 अगस्त 1944 को समाज सेवी भोगी लाल पंड्या के नेतृत्व में सेवा संघ को स्थगित कर डूंगरपुर राज्य प्रजामंडल की स्थापना कर प्रजामंडल आन्दोलन प्रारंभ हुआ। डूंगरपुर में समाज के सभी वर्गों (किसान, मजदूर हरिजन और आदिवासी) ने प्रजामंडल आन्दोलन में अपनी–अपनी सक्रिय और सकारात्मक भूमिका निभाई। इस हेतु बड़ी मात्रा में शिक्षण

संस्थाओं की स्थापना की गयी और समाज के सभी लोगों में शिक्षा का जन प्रिय प्रचार और प्रसार किया गया। साथ ही साथ स्थानीय प्रशासनिक संस्थाओं की भी सक्रिय भागीदारी रही। इस हेतु डूंगरपुर में 1897 में म्युनिसिपल कमेटी की स्थापना की गयी। 1945 में राज्यव्यापी भ्रष्टाचार का विरोध किया गया। 28 अक्टूबर 1945 को उत्तरदायी सरकार स्थापित करने की मांग की गयी। 3, 4 व 5 अप्रेल 1945 को प्रजामंडल का प्रथम अधिवेशन डूंगरपुर में आयोजित किया गया। 5 जून 1946 को न्याय व्यवस्था में जन प्रभावी सुधार के लिये ग्राम पंचायतों को पुनः अधिकार देने की मांग की गयी। 1946 में सेवा संघ द्वारा संचालित पाठशालाओं पर लगे सभी प्रतिबंध समाप्त कर दिये गये।

संदर्भ– राजपूताना में प्रजामंडल आन्दोलन (1938–1948) हेमेन्द्र चौधरी, हिमांशु पब्लिकेशन, नयी दिल्ली

बाँसवाड़ा का शासक महारावल उदय सिंह भी विद्रोह के दौरान अंग्रेजों का सहयोगी बना रहा। 11 दिसम्बर, 1857 को तांत्या टोपे ने बाँसवाड़ा पर अधिकार कर लिया। महारावल राजधानी छोड़कर भाग गया। राज्य के सरदारों ने विद्रोहियों का साथ दिया। डूँगरपुर, जैसलमेर, सिरोही और बूँदी के शासकों ने भी विद्रोह के दौरान अंग्रेजों की सहायता की।

क्रांति का समापन–

1857 की क्रांति का अन्त 21 सितम्बर, 1857 को दिल्ली में हुआ, जहाँ मुगल बादशाह को परिवार सहित बन्दी बना लिया। जून, 1858 तक अंग्रेजों ने अधिकांश स्थानों पर पुनः अपना नियन्त्रण स्थापित कर लिया। किंतु तांत्या टोपे ने संघर्ष जारी रखा। अंग्रेजों ने उसे पकड़ने में सारी शक्ति लगा दी। यह स्मरण रहे कि तांत्या टोपे ने राजस्थान के सामन्तों तथा जन साधारण में उत्तेजना का संचार किया था। परन्तु राजपूताना के सहयोग के अभाव में तांत्या टोपे को स्थान–स्थान पर भटकना पड़ा। अंत में, उसे पकड़ लिया गया और फांसी पर चढ़ा दिया। क्रांति के दमन के पश्चात् कोटा के प्रमुख नेता जयदयाल तथा मेहराब खाँ को एजेन्सी के निकट नीम के पेड़ पर सरेआम फांसी दे दी गई। क्रांति से सम्बन्धित अन्य नेताओं को भी मौत के घाट उतार दिया अथवा जेल में डाल दिया। अंग्रेजों द्वारा गठित जांच आयोग ने मेजर बर्टन तथा उसके पुत्रों की हत्या के सम्बन्ध में महाराव रामसिंह द्वितीय को निरपराध किंतु उत्तरदायी घोषित किया। इसके दण्डस्वरूप उसकी तोपों की सलामी 15 तोपों से घटाकर 11 तोपें कर दी गई। जहाँ तक आउवा ठाकुर का प्रश्न है, उन्होंने नीमच में अंग्रेजों के सामने 8 अगस्त, 1860 को आत्मसमर्पण कर दिया था। उस पर मुकदमा चलाया गया, किंतु बरी कर दिया गया।

राजपूताना में 1857 की क्रांति के परिणाम–

1. क्रांति के पश्चात् यहाँ के नरेशों को ब्रिटिश सरकार द्वारा पुरस्कृत किया गया, क्योंकि राजपूताना के शासक उनके लिए उपयोगी साबित हुए थे। अब ब्रिटिश नीति में परिवर्तन किया गया।
2. शासकों को संतुष्ट करने हेतु 'गोद निषेध' का सिद्धान्त समाप्त कर दिया गया।
3. राजकुमारों के लिए अंग्रेजी शिक्षा का प्रबन्ध किया जाने लगा।
4. अब राज्य कम्पनी शासन के स्थान पर ब्रिटिश नियंत्रण में सीधे आ गये। साम्राज्ञी विक्टोरिया की ओर से की गई घोषणा (1858) द्वारा देशी राज्यों को यह आश्वासन दिया गया कि देशी राज्यों का अस्तित्व बना रहेगा।
5. क्रांति के पश्चात् नरेशों एवं उच्चाधिकारियों की जीवन शैली में पाश्चात्य प्रभाव स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है। अब राजस्थान के राजे–महाराजे अंग्रेजी साम्राज्य की व्यवस्था में सेवारत होकर आदर प्राप्त करने व उनकी प्रशंसा करने के आदी हो गए थे।
6. जहाँ तक सामन्तों का प्रश्न है, उसने खुले रूप में ब्रिटिश सत्ता का विरोध किया था। अतः क्रांति के पश्चात् अंग्रेजों की नीति सामन्त वर्ग को अस्तित्वहीन बनाने की रही। जागीर क्षेत्र की जनता की दृष्टि में सामन्तों की प्रतिष्ठा कम करने का प्रयास किया गया। सामन्तों को बाध्य किया गया कि से सैनिकों को नगद वेतन देवें। सामन्तों के न्यायिक अधिकारों को सीमित करने का प्रयास किया। उनके विशेषाधिकारों पर कुठाराघात किया गया। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि सामन्तों का सामान्य जनता पर जो प्रभाव था, ब्रिटिश नीतियों के कारण कम करने का प्रयास किया गया।
7. क्रान्ति के बाद अंग्रेजी सरकार ने रेलवे व सड़कों का जाल बिछाने का काम शुरू किया, जिससे आवागमन की व्यवस्था तेज व सुचारू हो सके। मध्यम वर्ग के लिए शिक्षा का प्रसार कर एक शिक्षित वर्ग खड़ा किया गया, जो उनके लिए उपयोगी हो सके।
8. अर्थतन्त्र की मजबूती के लिए वैश्य समुदाय को संरक्षण देने की नीति अपनाई। बाद में वैश्य समुदाय राजस्थान में और अधिक प्रभावी बन गया।
9. 1857 की क्रांति ने अंग्रेजों की इस धारणा को निराधार सिद्ध कर दिया कि मुगलों एवं मराठों की लूट से त्रस्त राजस्थान की जनता ब्रिटिश शासन की समर्थक है। परन्तु यह भी सच है कि भारत विदेशी जुए को उखाड़ फेंकने के प्रथम बड़े प्रयास में असफल रहा। राजस्थान में फैली क्रांति की ज्वाला ने अर्द्ध शताब्दी के पश्चात् भी स्वतन्त्रता संग्राम के दौरान लोगों को संघर्ष करने की प्रेरणा दी, यही क्रांति का भारतीय राष्ट्रीय महत्व समझना चाहिए।

राजस्थान में प्रजामंडल आन्दोलन

1857 की क्रान्ति में राजस्थान का अनूठा और गौरवशाली योगदान रहा है। राष्ट्रीय आन्दोलन में 1920 के बाद जो जन चेतना

आयी उससे राजस्थान भी प्रभावित हुआ। राजस्थान में अर्जुन लाल सेठी, केसरी सिंह बारहठ, गोपाल सिंह जैसे क्रांतिकारियों ने जन साधारण में जन जाग्रति और राष्ट्रीय भावना को जगाया।1818 के बाद ही राजस्थान की जनता के सभी वर्गों में अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध असंतोष एवं विद्रोह की भावना उत्पन्न हो गयी थी। इसके साथ ही अनेक ऐसी संस्थाओं का जन्म हुआ जिन्होनें क्रांति का प्रचार और प्रसार किया। 1938 के बाद राजस्थान में प्रजामंडलों की स्थापना हुई। इसके कारणों की सविस्तार व्याख्या निम्नलिखित है।

1. राजस्थान में किसान आन्दोलन ही प्रजामंडल आन्दोलन का मुख्य कारण है। किसान आंदोलनों को प्रजामंडल आंदोलनों का पूरक माना जाता है। बीकानेर और सीकर में किसान आन्दोलन को प्रजा परिषद् का बहुत सहयोग और समर्थन मिला। बिजोलिया और मारवाड़ में किसान प्रजामंडल से दूर रहे। यह आन्दोलन अहिंसात्मक रूप से संगठित रहा। इसी कारण जन साधारण इससे प्रभावित हुआ।
2. प्रजामंडल आन्दोलन के नेतृत्व में विजय सिंह पथिक, माणिकलाल वर्मा, जयनारायण व्यास ,हीरा लाल शास्त्री, गोकुल भाई भट्ट जैसे प्रभावी और जनप्रिय नेताओं की सक्रिय और राष्ट्रीय भूमिका रही।
3. समाचार पत्रों के योगदान को नाकारा नहीं जा सकता। पथिक के 'राजस्थान केसरी', 'नवीन राजस्थान', 'तरुण राजस्थान', आदि अनेकों समाचार पत्रों ने अंग्रेजी सरकार के जन–दमन को प्रभावी रूप से प्रकाशित किया, आलोचना भी की।
3. आर्य समाज के समाज सुधार आन्दोलन, स्वधर्म, स्वदेशी और स्वभाषा जैसे विचारों ने जनता की ऑखें खोल दी।
4. प्रथम विश्वयुद्ध में भागीदार भारतीय सैनिक जब भारत लौट कर वापस आये उन्होंने भारतीयों के मन में स्वतंत्रता की भावना का बीज बो दिया।
5. तत्कालीन शासकों ने प्रथम विश्वयुद्ध के लिये जो धन दिया था वो अब जनता से बलात रूप से वसूल कर रहे थे। परिणामस्वरूप जनता में असंतोष पैदा हो गया।
6. राजस्थान के गौरवशाली इतिहास ने मेवाड़, भरतपुर और अलवर के शासक और जनता प्रेरित और सक्रिय हुई। इसी आधार पर जनता एकत्रित और संगठित हो गयी।
7. आस–पास के प्रान्तों के राष्ट्रीय आन्दोलन ने राजस्थान की जनता को प्रभावित किया।
8. राजस्थान में गुरु गोविन्द ने स्वदेशी आन्दोलन को जन साधारण का आन्दोलन बना दिया।
9. क्रांतिकारियों (अर्जुन लाल सेठी और अन्य के बलिदान) ने जनता में राजनीतिक और राष्ट्रीय आन्दोलन की लहर पैदा कर दी।
10. साहित्यकारों की राष्ट्रीय भावनाओं से ओत–प्रोत रचनाओं और उनकी कविताओं ने विद्रोह की ज्वाला को धधकाया। इनमें सूर्य मल्ल मिश्रण, बाँकी दास की भूमिका प्रभावी रही। वहीं केसरी सिंह बारहठ की' चेतावनी रा चुगटीयां' कविता संग्रह ने जनसाधारण में राष्ट्रीय भाव जागृत किया।
11. 1920 में अजमेर में राजस्थान सेवा संघ की स्थापना की गयी। इस संस्था ने किसान आन्दोलन में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया।
12. 29 दिसम्बर 1919 को दिल्ली में राजस्थान मध्य भारत सभा प्रथम अधिवेशन जमनालाल बजाज की अध्यक्षता में हुआ।
13. 1929 में अखिल भारतीय देशी राज्य लोक परिषद् का गठन हुआ।
14. 1938 में हरिपुरा में कांग्रेस का का अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन में राजस्थान से अनेक क्रन्तिकारी नेताओं ने सक्रिय सहभागिता निभाई। इसके कारण राजस्थान में प्रजामंडल आंदोलनों की स्थापना और सक्रियता को विशेष प्रेरणा और शक्ति मिली।

राजस्थान की तत्कालीन रियासतों में प्रजामंडल की स्थापना क्रमवार निम्नलिखित रूप से सम्पन्न हुई जिसका वर्णन निम्नलिखित है।

अजमेर–

अजमेर में A.G.G . (AGENT TO GOVERNOR GENERAL) का मुख्यालय होने के कारण यहाँ राजनीतिक जागृति स्वतः ही उत्पन्न होने लगी थी। अजमेर प्रारम्भ से ही राजनीतिक क्रांतिकारियों की शरण स्थली रहा था। स्वामी दयानन्द सरस्वती का निर्वाण भी यहीं हुआ था। 1857 के स्वतंत्रता आन्दोलन का भी मुख्य केंद्र रहा था।व्यास और वर्मा जी ने अजमेर को अपने राजनीतिक अभ्यास का मुख्य केंद्र बनाया था। इसी कारण अजमेर क्रांति का मुख्य केंद्र बन गया था। 1920 में विजय सिंह पथिक ने अजमेर में राजस्थान सेवा संघ की स्थापना की थी। इसी के कारण अजमेर और उसके आस–पास किसान आन्दोलन खूब सक्रिय रहे। राजस्थान केसरी और उसके बाद और भी अनेकों समाचार पत्रों ने अजमेर से ही राजाओं की निरंकुशता और दमन की खूब आलोचना की। अर्जुन लाल सेठी और हरिभाऊ उपाध्याय ने भी जनजागरण का काम किया। उपाध्याय 1952 में अजमेर के मुख्यमंत्री रहे। उन्होंने शिक्षा के माध्यम से राष्ट्रीय जन–जागरण का और विशेष रूप से महिला शिक्षा के लिए हटूंडी में महिला शिक्षा केंद्र की स्थापना की। इसी के साथ कप्तान दुर्गा प्रसाद चौधरी सेवा दल के प्रधान रहे। वे सामाजिक कार्यकर्ता थे और अन्य समाज सेवी संगठनों में सक्रिय रहे। उन्होंने 1936 में राजस्थान का प्रथम दैनिक समाचार पत्र दैनिक नव ज्योति का प्रकाशन किया। इस समाचार पत्र ने राजनीतिक जागरूकता और राष्ट्रीय भावना का जन–जन में विस्तार किया। अजमेर के ही प्रमुख क्रन्तिकारी नेताओं ज्वाला प्रसाद शर्मा, विशम्भर नाथ भार्गव और मुकुट बिहारी भार्गव आदि

ने जन जागरण का कार्य किया। जमना लाल बजाज ने भी अपना मुख्य योगदान दिया।

अलवर–

1938 में कुंज बिहारी लाल मोदी, और हरिनारायण शर्मा के प्रयासों से अलवर में प्रजामंडल की स्थापना की गयी। लेकिन व्यास जी के निर्णायक प्रयासों से 1940 में इसे मान्यता प्रदान की गयी। 1925 में अलवर में निमुचना गाँव में एक घटना घटी इसके कारण अलवर महाराजा अलोकप्रिय हो गये। 1932 में आर्थिक स्थति बिगड़ने के कारण उन्हें राज्य से निष्काषित कर दिया।चंदा वसूली और पाठशालाओं के शुल्क में वृद्धि का राज्य व्यापी विरोध किया गया। दिसम्बर 1944 में अलवर में राजनीतिक कार्यों की समीक्षा के लिये प्रथम अधिवेशन हुआ। 1946 में उत्तरदायी सरकार की स्थापना हेतु आन्दोलन चलाया गया। लेकिन नेहरु की राय पर किसानों के समर्थन में इसे स्थगित कर दिया गया।

भरतपुर–

1930 में भरतपुर में प्रजा परिषद् की स्थापना गोपी लाल यादव की अध्यक्षता में की गयी। इसके सचिव देशराज थे। इसी आन्दोलन के तहत सूरजमल जयंती भी मनाई गयी। 1938 तक प्रजामंडल को मान्यता नहीं मिलने के बाद किशन लाल जोशी के प्रयासों के असफल हो जाने के बाद श्रीमती त्रिवेणी देवी और भगवती देवी (क्रमशः देशराज और गौरीशंकर मित्तल की पत्नी) ने चेतावनी दी व आन्दोलन चलाया गया। 1939 में 32 महिला आन्दोलनकारियों को बन्दी बनाया गया। अन्त में 1939 में प्रजा परिषद् के नाम से मान्यता मिली। 1942 में प्रजा परिषद् सक्रिय रही। 1947 में आन्दोलन को जन सक्रिय बनाने के लिये लोकप्रिय सरकार में आदित्यचन्द्र और यादव को सम्मिलित किया गया। भरतपुर के निरंजन शर्मा और शंकर लाल ने असहयोग आन्दोलन में भाग लिया। 1923–24 में गया प्रसाद और सांवल सिंह ने मिलकर सेवा समिति की स्थापना की। इसी समय गौरी शंकर हीरा चंद ओझा की अध्यक्षता में 17 वां हिन्दी साहित्य सम्मेलन का आयोजन किया गया। इसमें रवीन्द्रनाथ टैगौर, मदनमोहन मालवीय और जमनालाल बजाज ने भाग लिया। इसमें महाराजा किशन सिंह का व्यवहार सकारात्मक और सराहनीय रहा। 1927 में जन आन्दोलन में जनसहभागिता को सरकार द्वारा स्वीकार किया गया। इसी कारण दीवान मैकेन्जी को अधिकार सौपनें पड़े। 1920 से 30 के काल में गोकुल वर्मा, गोकुलचन्द्र दीक्षित, मास्टर अदित्येंद्र, मदनमोहन लाल और गौरी शंकर मित्तल ने जन जागृति लाने का काम किया। 1938 में भरतपुर प्रजामंडल और पूर्वी राजस्थान का राजनीतिक समेल्लन फतेहपुर सीकरी में आयोजित किया गया। इसकी अध्यक्षता मानवेन्द्र नाथ रॉय ने की। पहली बार विद्यार्थी आन्दोलन भरतपुर में हुआ। जुगल किशोर चतुर्वेदी और गोपी लाल यादव ने देश द्रोहियों के चित्र बनाकर उनको जलाया तथा होली मनायी गयी। 1920–21 में प्रथम विश्व युद्ध के विजयी जुलुस में कुछ नारे ''मिले बिल्ले कुचले, भारत माता की जय, महात्मा गाँधी की जय'' जैसे लोकप्रिय नारे लगाये गए।

बाँसवाड़ा–

1857 की क्रांति का सम्पूर्ण भारत सहित राजस्थान की भी जनता ने अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध क्रांति के निशान कमल और चपाती का स्वागत किया। क्रांति में आर्य समाज ने जिस प्रकार समस्त भारत में क्रांति का आन्दोलन किया, ठीक उसी प्रकार राजस्थान और विशेष रूप से दक्षिणी राजस्थान में गोविन्द गुरु के नेतृत्व में आदिवासी क्षेत्र में क्रांति आन्दोलन का सूत्रपात किया गया। गोविन्द गुरु के नेतृत्व में इस आन्दोलन को भगत आन्दोलन के नाम से पुकारा गया। उन्होंने दक्षिणी राजस्थान, गुजरात और मालवा के भीलों को संगठित कर उनकी प्रचलित व्याप्त बुराइयों को समाप्त करने का प्रयास किया। इसी के साथ –साथ अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध लोगों को एकत्रित और जागृत किया। गोविन्द गुरु ने 1903 में डूंगरपुर छोड़ दिया और वे बाँसवाड़ा में मानगढ़ पहाड़ी पर अपनी धुनी बनाकर यहाँ पर साधना करने लगे। गोविन्द गुरु स्वामी दयानंद सरस्वती के विचारों से बहुत प्रभावित थे। वे स्वदेशी आन्दोलन और बंग–भंग से जुड़े हुये क्रन्तिकारी लोगों के संपर्क में आये और सम्प सभा के अग्रणी नेता और मार्ग दर्शक बन गए। उन्होंने सम्प सभा के अधीन अनेकों सभाएं कर के भीलों में धार्मिक चेतना का विकास किया। चोरी, मांस और मदिरा के सेवन का परित्याग करवाया। परिणाम स्वरूप अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध लोग जैसे ही जागरूक होने लगे, गोविन्द गुरु पर झूठे आरोप लगाकर फांसी की सजा सुनायी। जन विरोध को देख कर यह सजा 20 वर्ष की कैद में बदल दी। उनके अच्छे आचरण और ज्ञान तथा विवेक के कारण यह सजा 10 वर्ष के लिये बदल दी गयी, लेकिन अन्त में उन्हें 10 वर्ष पूर्व ही जेल से रिहा कर दिया गया। सामाजिक सुधार और राष्ट्रीय भावनाओं की जाग्रति के लिये 17 नवम्बर 1913 में बाँसवाड़ा की मानगढ़ पहाड़ी पर सभी भील भाई अपने गुरु गोविन्द गुरु के नेतृत्व और सानिध्य में धार्मिक और सामाजिक तथा राष्ट्रीय कार्यक्रमों में व्यस्त थे। उसी समय अंग्रेजी सरकार ने सभी भगतों पर बिना सूचना के गोलीबारी करके उनकों बड़ी ही निर्ममता से मौत के घाट उतार दिया। यह जालियांवाला बाग जैसी घटना की पुनरावृत्ति थी। प्रतिक्रिया स्वरूप इन सभी क्षेत्रों के भीलों में राजनीतिक और राष्ट्रीय जाग्रति उत्पन्न हो गयी। वे सभी राष्ट्रीय आन्दोलन में गोविन्द गुरु के मार्ग का अनुसरण करते रहे। बाँसवाड़ा में भूपेन्द्र नाथ त्रिवेदी ने 1943 में प्रजामंडल की स्थापना की। इनके साथ मोती लाल, सिधी शंकर, मणिशंकर और धुल जी भाई प्रमुख कार्यकर्ता थे। 1946 में उत्तरदायी सरकार की मांग पर महाराणा ने व्यवस्थापिका की स्थापना की। जन प्रिय

सरकार में मोहन लाल त्रिवेदी, नटवरलाल भट्ट और भूपेंद्र नाथ द्विवेदी अदि ने प्रतिनिधित्व किया। 18 दिसम्बर 1858 को तांत्या टोपे बाँसवाड़ा आये। यहाँ के पुराने महल में वे 1 दिन रुके और जनता में राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रचार–प्रसार किया। उन्होंने ही यह प्रयास किया कि राजा और प्रजा में आन्दोलन को लेकर समर्थन और सहयोग बना रहे। 1943 में मणिशंकर नागर द्वारा जब अपने घर पर तिरंगा फहराया तो उन्हें चेतावनी दी गयी। उस समय तिरंगा ध्वज के प्रति सम्मान और सहानुभूति रखने का अर्थ विद्रोह माना जाता था। अतः उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया।

बीकानेर–

1930–31 में सत्यनारायण सर्राफ, मघाराम वैद्य और लक्ष्मी दास के प्रभाव और योगदान से सर्वहितकारीनी सभा की स्थापना की गयी। 1934 में बीकानेर में प्रजामंडल की स्थापना की गयी। इसी कारण मंघाराम वैद्य को सर्वहितकारीनी सभा से निष्कासित किया गया। 1942 में रघुवर दयाल गोयल ने बीकानेर राज्य प्रजा परिषद् का गठन किया। तत्कालीन सरकार ने जनता पर दमन और शोषण करने का बहुत प्रयास किया। 1944 में झन्डा सत्याग्रह का आयोजन किया गया। इसी आन्दोलन में 30 मई 1944 को बीरबल सिंह सत्याग्रही पुलिस की गोली का शिकार हुये। 1947 में बीकानेर राजपूताना की प्रथम रियासत थी जिसने अप्रेल 1947 में केन्द्रीय विधान सभा में अपने प्रतिनिधि भेजे थे।

बूंदी–

बूंदी में किसान आन्दोलन के कारण जागृति आयी। इस चेतना के पीछे बेगारी, लगानों की ऊँची दरें थी। जनता ने इन सभी का घोर विरोध किया और आन्दोलन भी किया। इस आन्दोलन के प्रेरणा सूत्र नाथू राम शर्मा और नागर परिवार रहा। 1935 में प्रतिबन्ध लगा दिया गया। परिणामस्वरूप बृज सुन्दर शर्मा ऋषि दत्त मेहता ने सत्याग्रह आन्दोलन चलाया। 1944 में लोक परिषद् की स्थापना की गयी। हरिमोहन माथुर को इसका अध्यक्ष बनाया गया। 1946 में महाराजा बहादुर सिंह ने बूंदी में विधानपरिषद और लोकप्रिय मंत्री मंडल बनाने की घोषणा की।

धौलपुर–

धौलपुर में 1918 में स्वामी श्रद्धानंद के प्रयासों से राष्ट्रीय चेतना का जन साधारण में प्रचार और प्रसार हुआ। जौहरी लाल इंदु और ज्वाला प्रसाद जिज्ञासु ने 1934 में नागरी प्रचारिणी सभा का गठन किया। 1938 में ही धौलपुर में प्रजामंडल की स्थापना हुयी। इंदु जी के नेतृत्व में उत्तरदायी सरकार की मांग की गयी लेकिन उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। 1946 में तखीमरे आन्दोलनकारियों पर पुलिस ने गोलियां चला दी और उसमें ठाकुर छत्र सिंह और पंचम सिंह की यथास्थान मौत हो गयी। प्रतिक्रिया स्वरूप 1948 में राजा के समस्त अधिकार केंद्र द्वारा छीन लिए गए।

डूंगरपुर–

डूंगरपुर में 1935 में ठक्कर बापा की प्रेरणा से हरिजन सेवक संघ की स्थापना की गयी। माणिक्यलाल वर्मा ने वागड़ सेवा मंदिर का शुभारम्भ किया। अप्रेल 1946 में भोगीलाल पंड्या के नेतृत्व और अध्यक्षता में प्रथम बार प्रजामंडल का अधिवेशन हुआ। इसमें प्रमुख रूप से गौरीशंकर आचार्य और हरिदेव जोशी ने सक्रिय सहभागिता निभायी। डूंगरपुर में 1 अगस्त 1944 को समाज सेवी भोगी लाल पंड्या के नेतृत्व में सेवा संघ को स्थगित कर डूंगरपुर राज्य प्रजामंडल की स्थापना कर प्रजामंडल आन्दोलन प्रारंभ हुआ। डूंगरपुर में समाज के सभी वर्गों (किसान, मजदूर, हरिजन और आदिवासी) ने प्रजामंडल आन्दोलन में अपनी–अपनी सक्रिय और सकारात्मक भूमिका निभाई। इस हेतु बड़ी मात्रा में शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की गयी और समाज के सभी लोगों में शिक्षा का जन प्रिय प्रचार और प्रसार किया गया। साथ ही साथ स्थानीय प्रशासनिक संस्थाओं की भी सक्रिय भागीदारी रही। इस हेतु डूंगरपुर में 1897 में म्युनिसिपल कमेटी की स्थापना की गयी। 1945 में राज्यव्यापी भ्रष्टाचार का विरोध किया गया। 28 अक्टूबर 1945 को उत्तरदायी सरकार स्थापित करने की मांग की गयी। 3, 4 व 5 अप्रेल 1945 को प्रजामंडल का प्रथम अधिवेशन डूंगरपुर में आयोजित किया गया। 5 जून 1946 को न्याय व्यवस्था में जन प्रभावी सुधार के लिये ग्राम पंचायतों को पुनः अधिकार देने की मांग की गयी। 1946 में सेवा संघ द्वारा संचालित पाठशालाओं पर लगे सभी प्रतिबंध समाप्त कर दिये गये। नाना भाई खांट और काली बाई का बलिदान सदैव स्मरणीय रहेगा।

डूंगरपुर रियासत द्वारा प्रजामंडल कार्यकर्ताओं पर अधिक अत्याचार किया जाता था। पुनावाडा कांड और भोगीलाल पंड्या को रिहा करवाने के लक्ष्य से 17 जून 1947 को माणिक्यलाल वर्मा ने घोड़ी गाँव में एक जन सभा का आयोजन किया। इस सभा में रास्तापाल पाठशाला के संरक्षक फत्ताभाई और नाना भाई खांट को बुलाया गया। इस सभा में नाना भाई खांट ने एक हरे–भरे वृक्ष को साक्षी मानकर उसके नीचे शपथ ली कि वह मरते दम तक रास्तापाल की पाठशाला को बन्द नहीं होने देगा।

प्रतिक्रिया स्वरूप 18 जून 1947 को रास्तापाल के जागीरदार ने एक जनसभा का आयोजन कर गाँव में चल रही पाठशाला को बन्द करने की बात की। अगले दिन नाना भाई खांट और अध्यापक सेंगाभाई से भी पाठशाला बन्द करने के लिये कहा। नाना भाई ने विरोध करते हुए कहा कि वे केवल प्रजामंडल के आदेश से ही पाठशाला बन्द करेंगें। प्रतिक्रियास्वरूप पुलिस ने नाना भाई को बन्दूक के कुन्दों से खूब प्रहार कर बेहोश कर दिया। उस समय वहाँ पर बड़ी संख्या में भील महिलाएं भी उपस्थित थीं। ट्रक के पीछे एक रस्से से बांध कर पुलिस सेंगा भाई को घसीटते हुए ले जा रही थी। यह जब सेंगाभाई भील की 13 वर्ष की पुत्री काली बाई ने अपने गुरु के घसीटते हुए ले जाते हुए देखा तो,

उसने कड़ा विरोध किया। पुलिस अधिकारियों ने काली बाई को ट्रक से दूर रहने के लिए कहा। परन्तु काली बाई ने गुरु सेवा और सम्मान को ध्यान में रखकर उन सबकी बात अनसुनी कर दी। उसने दौड़ लगाते हुए अपने हांसिये से सेंगा भाई के कमर की रस्सी काट दी। गुरु सेंगा भाई ने अपनी शिष्या काली बाई से पानी माँगा। काली बाई पानी पिलाती, उससे पहले ही पुलिस ने गोलियों से काली बाई का शरीर छलनी कर दिया। काली बाई खून से लथपथ हो कर, निढाल हो कर, एक तरफ लुढ़क गयी। काली बाई का उपचार डूंगरपुर अस्पताल में हुआ, लेकिन काली बाई का देहांत हो गया। ठीक दूसरी ओर सेंगा भाई के साथ–साथ नाना भाई खांट ने भी विरोध किया। पुलिस ने नाना भाई पर भी अंधाधुंध गोलियाँ चलायी, जिससे उनकी तिल्ली फट गयी और नाना भाई का भी बलिदान राष्ट्र के नाम पर हो गया।

इसी घटना में 5 भील महिलाएं और 1 युवक भी मारा गया था। प्रतिक्रिया स्वरूप भीलों ने मारू ढोल बजाया। रियासत के पुलिस अधिकारी अपनी जान बचाकर गुजरात की सीमा की और भाग छूटे।

नाना भाई खांट और काली बाई के बलिदान से पूरे डूंगरपुर में ही नहीं वरन पूरे वागड़ में, वहां के सभी भीलों में राष्ट्रीय उत्तेजना का वातावरण बन गया। पुलिस ने पूरे डूंगरपुर में धारा 144 लगा दी। गुरु और शिष्या नाना भाई खांट और काली बाई के शवों को 'बावरिया बडला' नामक स्थान पर रखा। इस स्थान पर 20 हजार भील उपस्थित हुए। शव यात्रा का जुलूस शांतिपूर्ण तरीके से गैप सागर के तट पर पहुंचा। क्रमशः 20 व 21 जून को नाना भाई खांट और काली बाई का दाह संस्कार किया गया। गैप सागर के किनारे दोनों की मूर्तियाँ स्थापित की गयी।

जयपुर–

जयपुर में 1931 में कपूर चंद पाटनी की अगुआई में प्रजामंडल की स्थापना की गयी। लेकिन बहुत अधिक सफलता नहीं मिली। हीरा लाल शास्त्री ने "जीवन कुटीर" में सक्रिय कार्यकर्ताओं को गहन प्रशिक्षण दिया। 1936–1937 में जीवन कुटीर का पुनर्गठन किया गया। चिरंजी लाल अध्यक्ष और हीरा लाल शास्त्री को महामंत्री बनाया गया। टीका राम पालीवाल, लादूराम जोशी और बाबा हरिश्चंद्र इसके प्रमुख कार्यकर्ता रहे। जमनालाल बजाज की अध्यक्षता में पहला अधिवेशन जयपुर में हुआ। इसके बाद कई कड़े प्रतिबंध लगाये गए, प्रतिक्रिया में सत्याग्रह किया गया। 1939 में प्रजामंडल को मान्यता प्रदान की गयी। 1940 में हीरा लाल शास्त्री को प्रजामंडल का अध्यक्ष बनाया गया। 1942 में भारत छोड़ो आन्दोलन में शास्त्री जी सक्रिय भागीदारी के पक्ष में नहीं थे। इसी कारण 1942 में ही चिरंजी लाल अग्रवाल की अध्यक्षता में प्रजामंडल गतिशील का गठन किया गया। शास्त्री जी ने महाराज से 5 सूत्रीय समझौता किया। रामकिशोर जोशी ने प्रचार मोर्चा का गठन कर संघर्ष का निर्णय लिया। 1945 में व्यवस्थापिका का गठन हुआ और देवी शंकर तिवारी को मंत्री बनाया गया। 1948 में मंत्रिमंडल का विस्तार किया गया और 30 मार्च 1949 को उतरदायी सरकार का गठन हुआ।

जैसलमेर–

जैसलमेर में जन आन्दोलन में समाचार पत्र और वीर साहित्य ने अपनी मुख्य भूमिका का निर्वहन किया। 1920 में यहाँ से कई समाचार पत्र प्रकाशित होते थे। 1932 में नवयुवक मंडल का गठन किया लेकिन तुरंत इस पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। सागरमल गोपा की पुस्तक "गुंडाराज" के कारण उन्हें देश निकाला दिया। पिता की मृत्यु पर जब वे जैसलमेर आये तो उन्हें गिरफ्तार कर बन्दी बना लिया गया। अप्रेल 1946 को उन्हें जिन्दा जला दिया गया। परन्तु नेहरु ने इस घटना को राजकीय शर्म बताया। 15 सितम्बर 1945 को जोधपुर के मीठा लाल व्यास के नेतृत्व में जैसलमेर प्रजा मंडल की स्थापना की गयी।

झालावाड़–

झालावाड़ में 1947 में प्रजामंडल की प्रथम सभा प्रारम्भ हुयी।

करौली–

करौली में 1921 में किसान आन्दोलन प्रारंभ हुआ। इस आन्दोलन के नेता कुंवर मदन सिंह थे। आन्दोलन के प्रभाव के कारण राजा ने सभी मांग मान ली। 1938 में मुंशी त्रिलोकचंद माथुर ने करौली राज्य सेवक संघ की स्थापना की। प्रांतीय कांग्रेस कमेटी ,अजमेर की एक शाखा को करौली में स्थापित किया गया और बाद में इसे ही प्रजामंडल के रूप में परिवर्तित कर दिया। करौली में प्रजामंडल के कई आन्दोलन हुए।1945 में माथुर जी की मौत के बाद चिरंजी लाल शर्मा को प्रजामंडल का अध्यक्ष बनाया गया। 1946 में उतरदायी सरकार की स्थापना के लिए कई बार आन्दोलन किये गए।

किशनगढ़–

किशनगढ़ में 1930 में क्रांति चंद चौथानी जो कि राज्य सेवा में थे के द्वारा "उपकारक मंडल" की स्थापना की गयी। इस मंडल का लक्ष्य था कि दीन–हीन, अभाव ग्रस्त और अधिक दुखी जनता की अधिकाधिक सेवा की जाये। इन्होने अपना जन सेवा का कार्य प्रारम्भ किया। सेवा से हटने के बाद 1939 में चौथानी ने प्रजामंडल की स्थापना की। 1942 में संपन्न चुनावों में प्रजामंडल को बहुमत प्राप्त हुआ। प्रजामंडल की गतिविधियों में महमूद और कमाल शाह का भी योगदान सराहनीय रहा।

कोटा–

कोटा में 1934 में हाडौती प्रजामंडल की स्थापना नयनू

राम शर्मा के अथक प्रयासों से हुई। परन्तु वह निष्क्रिय ही रही। 1918 में राजकीय अधिकारियों और बाबुओं के प्रयासों से प्रजा प्रतिनिधि सभा की स्थापना की जो जनता की समस्याओं को सरकार तक पहुंचा कर समाधान आन्दोलन चलाते थे। 1926 –27 में कोटा में प्रजामंडल की स्थापना हुई। 1939 में नयनू राम और अभिन्न हरि ने मांगरोल में प्रथम प्रजामंडल अधिवेशन बुलाया। 1941 में नयनू राम शर्मा की हत्या हो गई। बाद में 1942 में अभिन्न हरि के नेतृत्व में आन्दोलन चलाया गया। आन्दोलन इतना प्रबल और प्रभावी रहा कि जनता ने तीन दिन तक कोटा शहर पर नियंत्रण कर लिया। इसके बाद दीवान और आई. जी. पुलिस को हटाया गया।

मारवाड़–

मारवाड़ में 1920 में मारवाड़ सेवा संघ का गठन किया गया। 1926 में पशु निकासी को लेकर सफल सत्याग्रह आन्दोलन चलाया। 1917 में मारवाड़ हितकारिणी सभा की स्थापना की गयी। बाद में 1922 में चांदमल सुराणा और व्यास जी के प्रयासों से यह सभा अधिक सक्रिय बनी। व्यास जी ने प्रयास किया कि अखिल भारतीय देशी राजनीतिक लोक परिषद् की एक प्रभावी शाखा की स्थापना जोधपुर में हो। परन्तु तत्कालीन प्रधानमंत्री डोनाल्ड फील्ड ने इसे स्वीकार नहीं किया। 1931 में जोधपुर में यूथ लीग का गठन हुआ। सरकार ने दमन का रास्ता अपनाया और चौपसनीवाला को पुलिस ने बुरी तरह पीटा। 1934 में छगन लाल चौपासनीवाला, अभय जैन और मानमल जैन ने मिलकर प्रजामंडल की स्थापना की। 1936 में नेहरु जोधपुर आये, उनका खूब स्वागत हुआ। परन्तु प्रजामंडल और 'नवनिर्मित मारवाड़ अधिकार रक्षक' को गैर कानूनी घोषित किया गया। 1938 में मारवाड़ लोक परिषद् की स्थापना की गयी लेकिन 1940 तक इसे भी गैर कानूनी घोषित कर दिया गया। 1942 में चंद्रावल और नीमाज में परिषद् के कार्यकर्ताओं को बलात रूप से लाठियों और भालों से मार–मार कर घायल कर दिया। दमन और यातनाओं के विरुद्ध लोगों ने गिरफ्तारियां दी। 12 मई 1942 को बालमुकुन्द बिस्सा ने भूख हड़ताल की और वे शहीद हो गए। 1946 में जनता ने जागीरदारों के विरुद्ध आन्दोलन चलाया। 1947 में डीडवाना तहसील में डाबरा कांड हुआ जिसमें परिषद् के कार्यकर्ताओं को अमानवीय यातनाएं दी गयी। 31 अगस्त 1948 को व्यास जी के नेतृत्व में लोकप्रिय सरकार का गठन किया गया। लोक परिषद् ने यह विरोध किया कि जोधपुर पाकिस्तान में सम्मिल्लित नहीं हो।

मेवाड़–

मेवाड़ में अप्रेल 1938 में बलवंत सिंह मेहता की अध्यक्षता में प्रजामंडल की स्थापना की गयी। वर्मा जी को इसका महामंत्री बनाया गया। अंग्रेज सरकार ने तुरंत प्रभाव से इसे अवैध घोषित कर दिया। 2 अक्टूबर 1935 को सत्याग्रही नेताओं पर कुप्रहार किया गया और वर्माजी के साथ अमानवीय व्यवहार हुआ। वर्माजी की अध्यक्षता में मेवाड़ प्रजामंडल का प्रथम अधिवेशन हुआ। इसमें जे.बी. कृपलानी और श्रीमती विजय लक्ष्मी पंडित ने भाग लिया। 31 दिसम्बर 1945 को राजस्थान में प्रथम बार अखिल भारतीय देशी राज्य लोक परिषद् का गठन किया गया, इसकी अध्यक्षता जवाहर लाल नेहरु ने की। मेवाड़ हरिजन सेवक संघ की स्थापना हुई और मोहन लाल सुखाड़िया ने इसका कार्यभार ग्रहण किया। बात नहीं बनने पर रामनारायण चौधरी के नेतृत्व में आन्दोलन जारी रखा गया। 1927 में सरकार ने जनता की मांगों पर केवल सहानुभति रखी और मात्र आश्वासन दिया। 1 मई 1935 को मोतीलाल दिवस बनाया गया और अनेक नेताओं को बन्दी बनाया गया

शाहपुरा–

शाहपुरा में 1938 में लादूराम जोशी और रमेशचंद ओझा ने प्रजामंडल की स्थापना की। माणिक लाल वर्मा के प्रयासों और प्रेरणा से ही प्रजामंडल गठित हो पाया।

सिरोही–

सिरोही के लिये सर्वप्रथम 1934 में मुम्बई में सिरोही के युवकों ने प्रजामंडल की स्थापना की। 1936 में एक और असफल प्रयास किया। लेकिन 23 जनवरी 1939 को गोकुल भाई भट्ट ने सिरोही प्रजामंडल की स्थापना की। 8 सितम्बर 1939 को एक सार्वजनिक सभा में उन पर लाठी बरसाई गयी और वे घायल हो गए। गोकुल भाई भट्ट स्वतंत्रता के रक्षक थे। वे राजस्थान कांग्रेस के अध्यक्ष भी रहे। वे सिरोही के प्रधानमंत्री रहे। वे एक सर्वोदयी नेता थे। उनका जीवन सादगीमय रहा, उन्होंने खादी, पद यात्रा और शराब बन्दी को अपने आन्दोलन का लक्ष्य बना रखा था।

राजस्थान का प्रजामंडल आन्दोलन एक तरह से किसान आन्दोलन ही था। प्रजामंडल आन्दोलन ने समाज में अनेक सुधार के कार्य किये। हरिजन उद्धार, मंदिरों में प्रवेश ,कुओं से पानी भरने की अनुमति, सामाजिक समानता और समरसता जैसे कार्य किये गए। ब्यावर में मिल मालिक और मजदूरों के मध्य समझौता भी करवाया। इस आन्दोलन में छात्र और छात्राओं ने भी भाग लिया। जोधपुर में 400, उदयपुर में 600 छात्रों को बन्दी बनाया गया। इस प्रकार 900 लोगों को भी जेल में बन्दी बनाया गया।

इस आन्दोलन में महिलाओं ने भी बढ़–चढ़ कर भाग लिया। राजस्थान इस आन्दोलन में अजमेर की प्रकाशवती सिन्हा का नाम लिया जाता है। 1939 में भरतपुर में 32 महिलाएं बन्दी बनायीं गयी। इनमें अंजना देवी (पत्नी रामनारायण चौधरी), नारायणी देवी (पत्नी वर्माजी), रत्ना शास्त्री (पत्नी हीरा लाल शास्त्री), रमादेवी देशपांडे, सुमित्रा देवी खेतान, इन्दिरा देवी और विजया बाई के नाम सदैव सम्मान से लिया जायेगा।

राजस्थान में किसान आन्दोलन–

राजस्थान में किसान आंदोलनों ने भी अत्याचारों का

विरोध किया तथा दमन के विरुद्ध एक जन आन्दोलन चलाकर जन–जन में राष्ट्रीय चेतना जगायी। किसान आन्दोलन में बिजौलिया का किसान आन्दोलन बहुत ही लोकप्रिय रहा। उसका विस्तृत विवरण निम्नलिखित है।

बिजौलिया का किसान आन्दोलन–

बिजौलिया (ऊपरमाल) मेवाड़ की प्रथम श्रेणी की जागीरी था। यहां के उमराव को रावजी कहा जाता था। बिजौलिया विंध्याचल पर्वत के ऊँचें पठार पर स्थित है। इसका क्षैत्रफल 259 वर्ग किलोमीटर था। इसमें कुल 83 गाँव थे, जिसमें मुख्य रूप से धाकड़, भील, कराड, लौहार, सुथार, सिलावट, राव, चारण, राजपूत, वैश्य, ब्राह्मण, साधू, बैरागी और मुसलमान आदि लोग रहते थे। यहां सर्वाधिक जनसंख्या धाकड़ लोगों की थी। वे जागरूक भी बहुत थे।

बिजौलिया के किसानों पर लाल–बाग, बेगार जैसे अत्याचार ठिकानेदार द्वारा किये जाते थे। इस कारण किसान अपना जीवन बहुत ही दयनीय और संकटपूर्ण तरीकों से जी रहे थे। उनसे बहुत ही अमानवीय तरीकों से और कठोरता से अवैध वसूली की जाती थी। 1897 में पहली बार किसानों का असंतोष फुट पड़ा। गिरधरपुरा के धाकड़ गंगाराम के पिता की मृत्यु के अवसर पर एकत्रित किसानों ने ठिकानेदार के अत्याचार के विरुद्ध आवाज उठाई। निर्णय किया कि नानजी और ठाकरी पटेल के नेतृत्व में एक टुकड़ी महाराणा फतह सिंह के पास जाये। इन किसानों के 6 और 7 माह के अथक प्रयासों से लागें हटा दी गयी। लेकिन प्रतिक्रिया स्वरूप ठिकानेदार ने बड़ी चतुराई और धूर्तता से जनता का दमन प्रारम्भ किया और नए–नए कर वसूलना शुरू कर दिया।

1913 में किसानों की दशा शिथिल हो चुकी थी। अब उनको नए उत्साह और मार्गदर्शन की जरुरत थी। अतः साधू सीताराम दास, ब्रहमदेव, फतहकरण चारण आदि ने किसानों को पुनः एकत्र और संगठित किया। वे सभी 100 किसानों के साथ राव जी से मिलने गए। लेकिन रावजी ने मिलने से इंकार कर दिया और उन पर 5 रूपये चंवरी नामक नया कर लगा दिया। विरोध में किसानों ने शादी करना बन्द कर दिया। खेत जोतने पर रोक लगा दी। किसानों ने खालसा व ग्वालियर में बसने की योजना बनायीं। इससे ठिकाने की आय को नुकसान हुआ। परिणाम स्वरूप साधू सीताराम दास, ब्रहमदेव, फतहकरण चारण को देश निकाला दिया गया। एक बार फिर दमन और शोषण करना प्रारम्भ कर दिया। 1914 में अमर सिंह राणावत और मुंसरिम डूंगर सिंह भाटी द्वारा किसानों का एक बार फिर दमन और शोषण किया। 1916 में पड़े भीषण अकाल से दुखी और पीड़ित प्रजा से लाग–बाग व युद्ध का चन्दा एकत्रित किया जाने लगा। परिणामस्वरूप माणिक्यलाल वर्मा ने ठिकाने की सेवा छोड़ आन्दोलनकारियों का साथ दिया। साधू सीता राम ने पथिक जी से आन्दोलन के नेतृत्व करने का अनुरोध किया।

1916 में पथिक जी बिजौलिया आ गए। वर्मा जी और साधू जी के सहयोग से विद्या प्रचारिणी सभा के कार्यों को तेजी से बढाया गय। शिक्षा, पाठशालाओं और पुस्तकालयों व साहित्य के माध्यम से सारी जनता को ठिकाने के अत्याचारों से अवगत कराया।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

1. मेरठ में 10 मई 1857 को स्वतंत्रता आंदोलन आरम्भ हुआ।
2. राजस्थान में नसीराबाद छावनी में क्रांति का प्रारम्भ 28 मई 1857 को हुआ।
3. कोटा में 15 अक्टूबर 1857 को सेना ने रेजीडेंसी को घेरकर मेजर बर्टन व उसके पुत्रों की हत्या कर दी।
4. राजस्थान की रियासतों में भरतपुर, करौली, अलवर, बीकानेर, मेवाड़ में भी अंग्रेजों के विरूद्ध विद्रोह हुए।
5. मेवाड़ में प्रजामण्डल आंदोलन 24 अप्रेल 1938 को प्रारम्भ हुआ।
6. तात्या टोपे राजस्थान में टोंक आए थे।
7. बिजौलिया किसान आंदोलन ठिकानेदार के अत्याचारों के विरूद्ध हुआ।
8. मेवाड़ में अप्रेल 1938 में बलवंत सिंह मेहता की अध्यक्षता में प्रजामण्डल की स्थापना की गई।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

अति लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. 1857 का स्वतंत्रता संग्राम कब और कहाँ प्रारम्भ हुआ ?
2. राजस्थान में सर्वप्रथम कहाँ सैनिक विद्रोह हुआ ?
3. 15 वी बंगाल इन्फेंट्री कहाँ तैनात थी ?
4. फर्स्ट बॉम्बे लांसर्स क्या था ?
5. एनफील्ड राइफल्स क्या थी ?
7. काली बाई और नाना भाई खांट किस रियासत से संबंध थे?
8. तांत्या टोपे राजस्थान में कहाँ आये थे ?
9. 'खरवा' नामक स्थान का महत्त्व बताइये ?
10. बिथोड़ा नामक स्थान पर किन–किन के मध्य युद्ध हुआ ?
11. जय दयाल और मेहराब खां को कंहाँ फांसी दी गयी ?
12. तांत्या टोपे ने किस रियासत पर अधिकार किया था ?
13. 1857 में राजस्थान में कितनी सैनिक छावनियां थी ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. 1857 में राजपूताना में कितने सैनिक और कितनी छावनियां थी ?
2. 1857 में राजस्थान का ए . जी. जी. कौन था ?

3. आउवा के किले के द्वार पर किस एजेंट का सिर लटकाया गया ?
4. ब्रिगेडियर होम्स ने किस पर और कंहाँ आक्रमण किया ?
5. रिसालदार मेहराब खां और जय दयाल ने कहाँ की सेना का नेतृत्व किया ?
6. क्रांति का अन्त कब हुआ ?
7. ठाकुर कुशाल सिंह आउवा ने कहाँ पर समर्पण किया ?
8. 15 तोपों से घटाकर 11 तोपों की सलामी किस रियासत के महाराव के लिये की गयी ?
9. बिजौलिया के किसान आन्दोलन पर टिप्पणी कीजिये ?
10. गुरु गोविन्द गुरु ने जनजागरण हेतु क्या किया ?
11. राजस्थान सेवा संघ की स्थापना कब और किसने की ?
12. राजस्थान में प्रथम बम कांड कहाँ हुआ ?
13. हरिजन सेवक संघ की स्थापना कहाँ हुई ?
14. मेवाड़ में प्रजामंडल की स्थापना कब हुई ?
15. वागड़ सेवा मंदिर की स्थापना कहाँ की गयी ?

निबंधात्मक प्रश्न

1. 1857 के स्वतंत्रता संग्राम में राजस्थान के योगदान का वर्णन कीजिये ?
2. राजपूताना में क्रांति के मुख्य कारणों की व्याख्या कीजिये?
3. राजस्थान में प्रजामंडल आन्दोलन की विस्तृत व्याख्या कीजिये?
4. राजस्थान में किसान आन्दोलन को विस्तार से समझाइए?
5. राजपूताना में क्रांति के परिणाम बताइये?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. स्वतंत्रता आन्दोलन का प्रारम्भ माना जाता है।
   (अ) 10 मई 1857 (ब) 1 मई 1857
   (स) 15 मई 1857 (द) 5 मई 1857 ( )
2. 10 मई 1857 को राजस्थान का ए.जी.जी. (एजेंट टू गवर्नर जनरल) था।
   (अ) जोर्ज पेट्रिक लोरेन्स (ब) लार्ड मेयो
   (स) लार्ड कर्जन (द) वावेल ( )
3. राजस्थान में नसीराबाद छावनी में क्रांति का प्रारम्भ कब हुआ ?
   (अ) 28 मई 1857 (ब) 18 जून 1857
   (स) 3 जून 1857 (द) 12 जून 1857 ( )
4. "चलो दिल्ली मारो फिरंगी " का नारा किसने लगाया ?
   (अ) जोधपुर लिजियन (ब) ठा . कुशाल सिंह आउवा
   (स) तांत्या टोपे (द) महारावल लक्ष्मन सिंह( )
5. "राजस्थान केसरी" के सम्पादक कौन थे ?
   (अ) माणिक्यलाल वर्मा (ब) हरिभाऊ उपाध्याय
   (स) केसरी सिंह बारहठ (द) जमनालाल बजाज ( )

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर :– 1 (अ) 2 (अ) 3 (अ) 4 (अ) 5(अ)

इकाई 8
अध्याय – 17
भारत में संवैधानिक विकास की पृष्ठभूमि (1909 व 1919 के अधिनियम)

भारत में संवैधानिक विकास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है। जिसका आरम्भ अंग्रजों के भारत आगमन के समय से होता है। सन् 1600 ई. में अंग्रेजों का आगमन ईस्ट इण्डिया कम्पनी की भारत में स्थापना के साथ हुआ। धीरे–धीरे कम्पनी व्यापारिक से राजनीतिक व प्रशासनिक क्षेत्र में प्रभावी होती चली गई। 1773 के रेग्युलेटिंग एक्ट द्वारा ईस्ट इण्डिया कम्पनी पर पार्लियामेंट के नियंत्रण की शुरूआत हुई। 1858 में भारत का शासन, सीधे ब्रिटिश सम्राट के नियंत्रण में चला गया। सुधार हेतु समय–समय पर अनेक अधिनियम, ब्रिटिश पार्लियामेंट द्वारा बनये गये। जिनमें 1909, 1919 व 1935 के अधिनियम मुख्य हैं।

भारतीय परिषद अधिनियम 1909

भारत में स्वाधीनता के लिये आन्दोलनकारियों के बढ़ते दवाब को ध्यान में रखते हुए वायसराय लार्ड मिंटो ने ब्रिटिश सरकार को रिपोर्ट भेजी। 'भारत की तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का सामना करने के लिये विधान परिषदों में प्रतिनिधित्व बढ़ाया जाय। भारत सचिव लार्ड मार्ले ने 17 फरवरी 1909 को यह विधेयक ब्रिटिश पार्लियामेंट के निम्न सदन कामन सभा में प्रस्तुत किया। 25 मई 1909 को यह विधेयक पार्लियामेंट से पास हो गया और 15 नवम्बर, 1909 को राजकीय अनुमोदन (सम्राट की स्वीकृति) मिलने के बाद यह ''भारतीय परिषद अधिनियम 1909 के नाम से लागू हुआ। इस अधिनियम के प्रमुख प्रावधान निम्न थे –

(1) केन्द्रीय विधान परिषद में सुधार– केन्द्रीय विधान परिषद के संगठन में सुधार कर, इसकी अतिरिक्त सदस्य संख्या 16 से बढ़ाकर 60 कर दी गयी, जिसमें 37 सरकारी सदस्य एवं 23 गैर सरकारी सदस्य होगे। 60 निर्वाचित होने थे और 9 पदेन सदस्य (स्थाई) होने थे जिन्हें मनोनीत किया जाएगा। इस तरह कुल संख्या 69 सदस्य होंगे। निर्वाचित सदस्यों के चयन हेतु निर्वाचक मण्डल को 3 श्रेणियों में बांट दिया गया– (i) सामान्य निर्वाचक वर्ग (ii) वर्गीय निर्वाचक वर्ग (iii) विशिष्ट निर्वाचक वर्ग।

सामान्य विषयों से सम्बन्धित विधेयकों पर विधान परिषद को बजट व आम जनहित के मामलों पर वाद–विवाद करने व नियम बनाने का अधिकार दिया गया। इन पर भारत सचिव से पुष्टि का प्रावधान रखा गया था। सेना, विदेश नीति, देशी रियासतों आदि बहुत से विषय विधान परिषद के क्षेत्र से अलग रखे गये थे। विधान परिषद अपने से सम्बन्धित विषयों पर लाये गये विधेयकों पर विचार कर इन्हें पारित कर सकती थी परन्तु उन्हें वायसराय के हस्ताक्षर होने पर ही लागू किया जा सकता था। वायसराय को वीटो शक्ति प्राप्त थी।

(2) प्रान्तीय विधान परिषदों के संगठन व अधिकार– इस अधिनियम द्वारा प्रान्तीय विधान परिषदों की संख्या में भी संशोधन किया गया। इनकी सदस्य संख्या 30–50 के बीच निर्धारित की गयी। मद्रास, बम्बई व बंगाल प्रान्त की विधान परिषदों की सदस्य संख्या 20 से बढ़ाकर 50, संयुक्त प्रान्त, पूर्वी बंगाल तथा असम प्रान्तों के लिये 15 से बढ़ाकर 50, पंजाब व वर्मा के लिये 9 से बढ़ाकर 30 कर दी गयी थी।[1] विधान परिषदों को अपनी नियमित बैठकों में जनहित के विषयों पर वाद–विवाद कर नियम बनाने (विधेयक पारित) का अधिकार दिया गया। बजट पर यह वाद–विवाद कर सकते थे, परन्तु मत नहीं दे सकते थे।

प्रान्तीय विधान परिषदों के गठन की प्रक्रिया केन्द्रीय विधान परिषद की गठन प्रक्रिया के समान ही रखी गयी थी। इसमें चार तरह के सदस्य होते थे (i) पदेन सदस्य (ii) मनोनीत सरकारी सदस्य (iii) मनोनीत गैर सरकारी सदस्य (iv) निर्वाचित सदस्य। यह अधिनियम प्रान्तीय विधान परिषदों में गैर सरकारी सदस्यों का बहुमत स्थापित करता था लेकिन निर्वाचित गैर सरकारी सदस्यों का नहीं। इसमें मनोनीत गैर सरकारी सदस्य भी शामिल थे। सरकारी सदस्य और सरकार द्वारा मनोनीत गैर सरकारी सदस्य मिलकर निर्वाचित सदस्यों से अधिक संख्या में हो जाते थे।

विधान परिषदों द्वारा पारित विधेयकों पर गवर्नर/लेफ्टीनेंट गवर्नर की स्वीकृति एवं गवर्नर जनरल का अनुमोदन आवश्यक था।[2] विधान परिषदों द्वारा पारित प्रस्ताव सरकार के लिये सुझावों की स्थिति में ही थे। उन्हें मानने या लागू करने के लिए सरकार बाध्य नहीं थी।

(3) कार्यकारी परिषदों का विस्तार– 1909 के परिषद

1. सुभाष कश्यप – संवैधानिक विकास और स्वाधीनता संघर्ष, सर्वोदय नई दिल्ली 1972 पृष्ठ 66
2. भारतीय अधिनियम 1909 धारा 51

अधिनियम द्वारा भारत सचिव, वासयराय एवं प्रान्तीय गवर्नरों की कार्यकारी परिषदों के गठन में, संशोधन कर भारतीयों को प्रतिनिधित्व दिया गया था। भारत सचिव की परिषद में दो भारतीय सदस्य होंगे। वायसराय की कार्यकारी परिषद में एक भारतीय सदस्य बनाया गया था। मद्रास व बम्बई के गवर्नरों की कार्यकारी परिषद की सदस्य संख्या दो से बढ़ाकर चार की गई, जिसमें कम से कम दो सदस्य ऐसे होंगे, जिन्हें 12 वर्ष तक भारत में राजमुकुट (ब्रिटिश शासन) की सेवा करने का अनुभव हो। इन परिषदों में किसी विषय पर विचार विमर्श के बाद मतदान से निर्णय लिया जाता, लेकिन मतदान पर बराबर मत होने पर गवर्नर व पीठासीन अधिकारी को दो मत अथवा निर्णयक मत देने का अधिकार दिया गया था।

सपरिषद गवर्नर जनरल को यह अधिकार दिया गया कि वह सपरिषद भारत सचिव की अनुमति से अध्यादेश द्वारा उप राज्यपालों को अपने प्रान्तों में सहायता देने के लिये परिषदें गठित कर दे। बंगाल प्रान्त को छोड़कर अन्य किसी भी प्रान्त के लिये जारी ऐसे अध्यादेश को ब्रिटिश पार्लियामेंट के किसी भी सदन द्वारा रद्द किया जा सकता था।[1]

(4) मताधिकार व प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में प्रावधान– 1909 के अधिनियम द्वारा जनता को मताधिकार दिया गया। परन्तु सीमित लोगों के लिये ही व्यवस्था की गयी। मताधिकार के लिये अलग–अलग प्रान्त में अलग–अलग मापदण्ड रखे गये। मद्रास में जिन जमींदारों की वार्षिक आय 15000 रूपये थी या जो 10 हजार रूपये भू राजस्व सरकार को देते थे, मताधिकार दिया गया। बंगाल में 'राजा' या 'नवाब' की उपाधि जिनके पास थी, मध्य प्रान्त में मजिस्ट्रेट की मानद उपाधि प्राप्त को मताधिकार दिया गया। उसी तरह मुसलमानों के लिये भी मताधिकार देने के वास्ते अलग–अलग प्रान्त में अलग–अलग मापदण्ड तय किये गये। यही स्थिति मुसलमान और गैर मुसलमानों व्यक्तियों के लिये मताधिकार की योग्यतायें भिन्न–भिन्न प्रकार की रखी गयी।

इस अधिनियम द्वारा मुसलमानों, जमींदारों, चैम्बर्स ऑफ कामर्स को अलग से प्रतिनिधित्व दिया गया। साथ ही इन्हें इनकी संख्या के अनुपात से भी ज्यादा प्रतिनिधित्य दिया गया।

केन्द्रीय/प्रान्तीय विधान परिषदों के सदस्य बनने के लिये योग्यतायें भी नियम बनाकर निर्धारित की गयी, परन्तु इस मामले में भी अलग–अलग प्रान्त में अलग–अलग नियम निर्धारित किये गये थे। बंगाल, बम्बई व मद्रास प्रान्तों में प्रान्तीय विधान परिषदों की सदस्यता के लिये नगरपालिका या जिला बोर्ड का सदस्य होना आवश्यक था। परन्तु संयुक्त प्रान्त में ऐसे कोई नियम नहीं थे। अन्य योग्यताओं में सम्पत्ति करदाता की योग्यता, ब्रिटिश प्रजाजन होना, आवश्यक तय किया गया। सरकारी कर्मचारी, महिला, मानसिक रोगी, 25 वर्ष से कम आयु, सरकारी सेवा से निष्कासित किये गये, दिवालिया घोषित व्यक्ति, विधान परिषदों का सदस्य बनाने के योग्य नहीं माने गये। वर्गीय चुनाव क्षेत्रों में चुनाव लड़ने के लिये कुछ अतिरिक्त योग्यतायें तय की गई थीं।

भारत के कुछ क्षेत्र जो सीधे वायसराय के अधीन थे, उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त, कुर्ग, अजमेर–मेरवाड़ा आदि को केन्द्रीय विधान परिषद में प्रतिनिधित्व का प्रावधान नहीं रखा गया और न ही इनका निर्वाचन क्षेत्र बनाया गया।

भारतीय परिषद अधिनियम 1909 का मूल्यांकन– 1909 के अधिनियम का उद्देश्य राष्ट्रीय आन्दोलन के उदारवादी नेतृत्व को सन्तुष्ट करना था। जिससे उदारवादी पक्ष का सहयोग कर उग्रवादियों व क्रांतिकारियों को दबाकर, बढ़ती हुई राष्ट्रीय चेतना को रोका जा सके। लेकिन यह अधिनियम उदारवादियों को ही संतुष्ट करने में असफल रहा। अधोलिखित आधारों पर इस अधिनियम की आलोचना की जाती रही है –

(1) साम्प्रदायिक निर्वाचन का आरंभ– इस अधिनियम के द्वारा साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली प्रारम्भ की गयी। विभिन्न हितों व वर्गों को पृथक निर्वाचन का अधिकार दिया गया। मुसलमानों, वाणिज्य संघों, जमींदारों आदि के लिये स्थान सुरक्षित कर दिये गये। यह स्थान भी उनकी जाति की संख्या के अनुपात से अधिक थे। इसने साम्प्रदायिकता को बढ़ावा दिया और धर्म–निरपेक्षता को आघात पहुंचाया। अन्ततः भारत विभाजन की मांग के लिये रास्ता तैयार किया। कुछ समय बाद ही पंजाब में सिक्खों, मद्रास में गैर ब्राह्मणों व आंग्ल–भारतीयों ने पृथक निर्वाचन की मांग शुरू कर दी।

इस सम्बन्ध में भारत सचिव लार्ड मार्ले ने वायसराय मिन्टो को एक पत्र में लिखा (जिसमें उनका घातक मन्तव्य स्पष्ट होता है। ''याद रखना कि पृथक निर्वाचन क्षेत्र बनाकर हम ऐसे घातक विष के बीज बो रहे हैं, जिनकी फसल बड़ी कड़वी होगी।''[2]

(2) विधान परिषदों की सीमित शक्तियां व सरकारी बहुमत – इस अधिनियम द्वारा विधान परिषद सदस्यों को दी गयी शक्तियां बहुत कम थी। वे कार्यकारिणी सदस्यों से प्रश्न पूछ सकते, लेकिन कार्यकारिणी सदस्य सभी प्रश्नों का उत्तर देने के लिए बाध्य नहीं थे। सदस्यों को जनहित के मुद्दों पर प्रस्ताव पारित करने का अधिकार था, लेकिन इन प्रस्तावों को मानना न मानना सरकार की इच्छा पर निर्भर करता था। वायसराय व गवर्नरों को अनेक स्वेच्छाचारी शक्तियां प्रदत्त थीं।

(3) केन्द्रीय विधान परिषद में सरकारी बहुमत– 1909 का अधिनियम केन्द्रीय विधान परिषद में सरकारी सदस्यों का बहुमत स्थापित करता था, जिससे गैर सरकारी सदस्यों की स्थिति

1. भारतीय परिषद अधिनियम 1909 धारा 2–3
2. डा.सुभाष कश्यप – भारत का संवैधानिक विकास और स्वाधीनता संघर्ष, सर्वोदय नई दिल्ली 1972 पृष्ठ 69

कमजोर थी।

(4) प्रान्तीय विधान परिषदों में गैर सरकार सदस्यों का बहुमत मात्र दिखावा – सिद्धान्तः प्रान्तीय विधान परिषदों में गैर सरकारी बहुमत स्थापित किया गया था। व्यवहार में स्थिति भिन्न थी। गैर सरकारी सदस्य दो प्रकार के होते थे – मनोनीत गैर सरकारी सदस्य और निर्वाचित गैर सरकारी सदस्य। मनोनीत गैर सरकारी सदस्य, सदैव सरकार का साथ देते। निर्वाचित गैर सरकारी सदस्य बहुत से वर्गों का प्रतिनिधित्व करते थे, जिससे सरकार के विरूद्ध उनका एकजुट होना कठिन था। गवर्नरों को बहुत सारे विषयों पर निषेधाधिकार (Veto) की शक्तियां प्राप्त थीं। इस कारण गैर सरकारी बहुमत कोई मायने नहीं रखता।

(5) सीमित व पक्षपातपूर्ण मताधिकार – 1909 के अधिनियम में जनता को प्रदत्त मताधिकार सीमित व पक्षपातपूर्ण था। मुसलमानों में मध्यवर्गीय जमींदार, व्यापारियों और स्नातकों को मताधिकार दिया गया, परन्तु इस श्रेणी के गैर मुसलमानों को मताधिकार से वंचित रखा गया। जैसे पूर्वी बंगाल में उसी हिन्दू को मताधिकार दिया गया, जिसके द्वारा 5000 रूपये वार्षिक राजस्व दिया जाता हो, लेकिन 750 रूपये राजस्व देने वाले मुसलमान को मताधिकार दिया गया। हिन्दू बाहुल्य प्रान्तों में अल्पसंख्यकों की हित रक्षार्थ मुसलमानों को विशेष प्रतिनिधित्व दिया गया, परन्तु मुस्लिम बाहुल्य प्रान्तों (पंजाब, पूर्वी बंगाल व असम) में हिन्दुओं को इस प्रकार का प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया।

(6) उत्तरदायी शासन स्थापना का प्रयास नहीं– भारतीय लोग राष्ट्रीय आन्दोलन के माध्यम से उत्तरदायी शासन की मांग, काफी समय से करते आ रहे थे। लेकिन 1909 के अधिनियम में उत्तरदायी शासन की स्थापना नहीं की गयी। इसका उद्देश्य मात्र कुछ भारतीयों को कानून निर्माण व अन्य प्रशासनिक कार्यों का प्रशिक्षण देना था।

(7) निहित स्वार्थों को प्रोत्साहन व महत्व – इस अधिनियम द्वारा जमींदारों, चैम्बर आफ कामर्स जैसे कुछ विशेष स्वार्थों को प्रतिनिधित्व देकर महत्व दिया गया। ये निहित स्वार्थ ब्रिटिश सरकार के नियंत्रण में थे, और राष्ट्रीय हितों के विरूद्ध।

इस तरह 1909 का अधिनियम आधा–अधूरा, अनेक दोषपूर्ण व्यवस्थाओं को जन्म देने वाला व भारतीयों को संतुष्ट करने वाला नहीं था। इससे भारतीयों को कुछ संस्थाओं में पहले की अपेक्षा कुछ ज्यादा सहभागिता अवश्य मिल गई।

भारतीय शासन अधिनियम 1919

भारतीय परिषद अधिनियम 1909 भारतीय जनता की आकांक्षाओं को पूरा नहीं कर सका, जनता में ब्रिटिश शासन के प्रति नाराजी बढ़ रही थी, 1909 के भारतीय विकेन्द्रीकरण आयोग की रिपोर्ट, भारत की राजधानी कलकत्ता से दिल्ली (1911) करने, प्रथम विश्व युद्ध आरम्भ होने के घटनाक्रम ने भारतीय जन आंदोलन को प्रोत्साहित किया। अतः मान्टेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट अगस्त 20, 1917 के सुझावों के आधार पर एक विधेयक 28 मई 1919 को, ब्रिटिश लोक सदन (कॉमन सभा पार्लियामेंट के निम्न सदन) में रखा गया। पार्लियामेंट से पारित विधेयक को 23 दिसम्बर 1919 को सम्राट की स्वीकृति मिलने पर, यह भारतीय शासन अधिनियम 1919 कहा गया।

1919 के अधिनियम की प्रस्तावना– इस अधिनियम की प्रस्तावना में कहा गया कि –

(1) प्रशासन में भारतीयों का सम्पर्क बढ़ाया जायेगा।
(2) भारत ब्रिटिश साम्राज्य का अभिन्न अंग बना रहेगा।
(3) स्वशासन की संस्थाओं का विकास किया जायेगा।
(4) भारत में ब्रिटिश नीति का लक्ष्य उत्तरदायी शासन की स्थापना होगा।
(5) उत्तरदायी शासन और स्वशासन की संस्थाओं की स्थापना का काम धीरे–धीरे और क्रमिक ढंग से होगा।
(6) कब कितनी प्रगति हो, इसका निर्णय ब्रिटिश संसद के हाथों में रहेगा।

इसके अतिरिक्त प्रस्तावना में कहा गया कि प्रान्तीय मामलों में, प्रान्तीय सरकारों को केन्द्रीय नियंत्रण से मुक्त रखने का भी प्रयास किया जायेगा।

भारतीय शासन अधिनियम 1919 की प्रमुख विशेषताएं– इस अधिनियम द्वारा देश की संवैधानिक और प्रशासनिक व्यवस्था में जो परिवर्तन किये, वे इस प्रकार थे –

(1) गृह शासन व भारत परिषद में परिवर्तन– भारतीय उपनिवेश के मामलों को देखने के लिये ब्रिटेन स्थित, मंत्रिमण्डल में एक मंत्री होता था, वह भारत सचिव कहलाता था, उसकी एक परिषद होती थी, जिसे भारत परिषद कहा जाता था। इन पर होने वाला व्यय भारत पर भारित था। अतः भारतीय स्वाधीनता आन्दोलनकारी इसकी समाप्ति की मांग करते आ रहे थे।

इस अधिनियम में इसे समाप्त तो नहीं किया गया, परन्तु संरचनात्मक दृष्टि से कुछ परिवर्तन किये गये। भारत परिषद में अब कम से कम 8 व अधिकतम 12 सदस्य होंगे (अब तक कम से कम 12 व अधिकतम 14 सदस्य होते थे), इनमें आधे सदस्य ऐसे होंगे जो नियुक्ति के समय से पूर्व 10 वर्ष तक भारत में रह चुके हों, और इस देश को नियुक्ति की तारीख से 5 वर्ष पूर्व नहीं छोड़ा हो। इस परिषद का कार्यकाल 7 वर्ष से घटाकर 5 वर्ष कर दिया गया।[1] भारतीय सदस्यों की संख्या 2 से बढ़ाकर 3 कर दी गयी। प्रत्येक सदस्य का वेतन 1000 पौंड से 1200 पौंड किया गया। भारतीय सदस्य के लिए 600 पौंड अतिरिक्त भत्ते की व्यवस्था की गयी। भारत सचिव व उसके विभाग पर होने वाला समस्त खर्च, ब्रिटिश बजट पर भारित कर दिया गया (अब तक यह खर्च भारत के राजस्व से वसूला जाता था)। इस व्यवस्था के कारण भारत सचिव

1. देखिये – भारतीय शासन अधिनियम, 1919, धारा 31 व 32

सहित उनका प्रशासन सीधे ब्रिटिश पार्लियामेंट के नियंत्रण में आ गया, जिस पर उसमें बहस हो सकती थी।

(2) भारतीय प्रशासन पर गृह सरकार के नियंत्रण में कमी – प्रान्तीय स्तर पर रक्षित विषयों में तथा केन्द्रीय सरकार के स्तर पर सभी विषयों पर भारत सचिव (भारत मंत्री– इंग्लैण्ड में मंत्री को सचिव कहा जाता है) का नियंत्रण पहले जैसा बना रहा। हस्तान्तरित विषयों के मामलों में प्रान्तों को प्रशासन की कुछ छूट दी गयी, भारत सचिव, ब्रिटिश साम्राज्य के हितों, केन्द्रीय विषयों के प्रशासन तथा अपने विशिष्ट अधिकारों की रक्षा के लिये ही हस्तक्षेप कर सकता था। इस अधिनियम में आशा की गयी, धीरे–धीरे यह हस्तक्षेप कम हो जायेगा। कुछ विशेष मामलों को छोड़कर, अन्य विषयों पर केन्द्रीय व प्रान्तीय विधान मण्डलों में विधेयक प्रस्तुत करने के लिये अब भारत सचिव की पूर्वानुमति आवश्यक नहीं रही।

(3) प्रान्तों में आंशिक रूप से उत्तरदायी शासन व द्वैध शासन की स्थापना – 1919 के अधिनियम द्वारा प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायी शासन स्थापित किया गया। प्रान्तीय शासन को दो भागों में बांटा गया। (i) संरक्षित विषय (Reserved Subjects) (2) हस्तान्तरित विषय (Transferred subjects)

संरक्षित विषयों का प्रशासनिक संचालन गवर्नर व उसकी कार्यकारिणी परिषद के द्वारा किया जाता था। इन पर व्यवस्थापिका का कोई नियंत्रण नहीं था। हस्तान्तरित विषय, लोकप्रिय मंत्रियों को सौंप दिये गये। जो व्यवस्थापिका के निर्वाचित बहुमत में से चुने जाते थे और उनके प्रति उत्तरदायी होते थे। प्रान्तीय शासन को दो भागों में बांट देने की, इस व्यवस्था को ही, द्वैध शासन व्यवस्था का नाम दिया गया था।

(4) प्रान्तीय कार्यकारिणी परिषद में भारतीयों को अधिक प्रतिनिधित्व – अधिनियम द्वारा रक्षित क्षेत्र का प्रशासन, गवर्नर को सौंपा गया था, लेकिन प्रान्तों की कार्यकारिणी/परिषदों में भी भारतीय सदस्यों की संख्या पहले से बढ़ा दी गई। मद्रास, बम्बई और बंगाल की सरकारों के रक्षित भाग के 4 सदस्यों में से 2 भारतीय सदस्य लेने की व्यवस्था की गयी। शेष 6 प्रान्तों में जहां कार्यकारिणी परिषद के रक्षित भाग के लिये केवल दो सदस्य होने थे, एक भारतीय रखा गया। इन सदस्यों की नियुक्ति, भारत मंत्री की सिफारिश पर ब्रिटिश सम्राट द्वारा की जाती थी।

(5) प्रान्तीय विधान परिषदों का पुनर्गठन – इस अधिनियम द्वारा विनिमय (रेगुलेशन) और अविनियमन (नॉन रेग्यूलेशन) प्रान्त का भेद समाप्त कर, एक तरह के प्रान्त बनाये गये। प्रत्येक प्रांत में एक सदस्यीय विधान परिषद बनायी गयी विधान परिषद में गवर्नर की कार्यकारी परिषद के सदस्य, मनोनीत और निर्वाचित सदस्यों का प्रावधान किया गया था। इस अधिनियम द्वारा बड़े प्रान्तों की विधान परिषदों में कम से कम 100 व छोटे प्रान्तों में 60 सदस्य रखने की व्यवस्था की गयी। इन सदस्यों में निर्वाचित सदस्य, कुल संख्या का कम से कम 70 प्रतिशत अवश्य होंगे, सरकारी सदस्य 20 प्रतिशत से अधिक नहीं हो सकते। शेष 10 प्रतिशत गैर सरकारी सदस्य होते थे। जिनकी नियुक्ति गवर्नर करेगा। इस प्रकार विधान परिषदों का स्वरूप पहले से अधिक लोकतांत्रिक बनाया गया तथा उनमें निर्वाचित सदस्यों का बहुमत रखकर, उनके अधिकारों में वृद्धि की गई। प्रान्तीय विधान परिषदों की संरचना को निम्न सारिणी संख्या 1 द्वारा समझा जा सकता है।

(6) केन्द्र में अनुत्तरदायी शासन– अधिनियम द्वारा प्रान्तों में आंशिक रूप से उत्तरदायी शासन की स्थापना की गई, लेकिन केन्द्रीय स्तर पर पहले की तरह अनुत्तरदायी शासन बनाये रखा गया। यद्यपि केन्द्रीय विधान मण्डल, शासन को प्रभावित कर सके, इस उद्देश्य से केन्द्रीय विधान मण्डल का विस्तार किया गया,उसके अधिकारों में वृद्धि की गई, लेकिन साथ ही वायसराय को कुछ ऐसे विशेषाधिकार दे दिये गये, जिसका प्रयोग वह विधान मण्डल की सहमति लिये बिना कर सकता था।

(7) केन्द्रीय कार्यकारिणी परिषद में अधिक भारतीयों की नियुक्ति – केन्द्रीय कार्यकारिणी परिषद में कई सुधार किये गये।

(i) कार्यकारिणी पर से पूर्व संख्या सम्बन्धी प्रतिबंध हटा दिया गया।

(ii) 10 वर्ष का अनुभव रखने वाले भारतीय उच्च न्यायालय के वकीलों को परिषद का कानूनी सदस्य बनने के योग्य माना गया। इस प्रकार तेजबहादुर सप्रु पहले भारतीय कानूनी सदस्य बने।

(iii) कार्यकारिणी परिषद में भारतीयों की संख्या एक से बढ़ाकर तीन कर दी गई। लेकिन ये सदस्य जनता के प्रतिनिधि न होकर सरकार के चहेते (yesmen) होते थे, इन्हें कम महत्व के विभाग दिये जाते थे।

(8) द्विसदनीय केन्द्रीय विधान मण्डल का निर्माण– इस अधिनियम में केन्द्रीय स्तर पर एक सदनीय विधान मण्डल के स्थान पर द्विसदनीय विधान मण्डल का गठन किया गया। जिनके नाम (i) विधानसभा और (ii) राज्य परिषद रखे गये। विधान सभा में कम से कम 140 सदस्य होने थे। गठन के बाद यह संख्या 145 थी जिसमें 104 निर्वाचित (52 सामन्य निर्वाचन क्षेत्र के, 32 साम्प्रदायिक चुनाव क्षेत्रों (जिसमें 30 मुसलमानों व दो सिखों द्वारा) तथा 20 विशेष चुनाव क्षेत्रों (7 जमींदारों, 9 यूरोपियनों तथा 4 व्यापार मण्डलों के द्वारा चुने जाते) थे इसे सारिणी संख्या 2 द्वारा समझा जा सकता है।

राज्य परिषद– राज्य परिषद में अधिकतम 60 सदस्य हो सकते थे जिसमें 33 निर्वचित व 27 वायसराय द्वारा मनोनीत सदस्य होते थे। इसे सारिणी संख्या 3 द्वारा ठीक से समझा जा सकता है।

वायसराय की कार्यकारिणी परिषद का प्रत्येक सदस्य किसी न किसी सदन का सरकारी सदस्य था, लेकिन वह दोनों

भारतीय शासन अधिनियम 1919 के अन्तर्गत प्रान्तीय विधान परिषदों के गठन का विवरण

सारिणी – 1

प्रान्त का नाम	निर्वाचित सदस्य	सरकारी पदेन तथा मनोनीत सरकारी सदस्य	विशेष वर्गों तथा हितों से मनोनीत गैर सरकारी सदस्य	कुल
मद्रास	98	23	11	132
बम्बई	86	20	8	114
बंगाल	114	22	4	140
संयुक्त प्रान्त	100	20	3	123
पंजाब	71	18	5	94
बिहार और उड़ीसा	76	18	9	103
मध्य प्रान्त और बरार	55	11	7	73
असम	39	12	2	53
बर्मा	80	22	1	103

सारिणी –2

1919 के भारतीय शासन अधिनियम के अन्तर्गत केन्द्रीय विधान सभा के गठन का विवरण

क्र. सं.	निर्वाचक मण्डल	मनोनीत			निर्वाचित					कुल
		सरकारी	गैर सरकारी	गैर मुस्लिम	मुस्लिम	सिक्ख	यूरोपीय	जमींदार	भारतीय वाणिज्य	
1.	भारत सरकार	14	5	–	–	–	–	–	–	19
2.	मद्रास	2	–	10	3	–	1	1	1	18
3.	बम्बई	2	1	7	4	–	2	1	2	19
4.	बंगाल	2	2	6	6	–	3	1	1	21
5.	संयुक्त प्रान्त	1	2	8	6	–	1	1	–	19
6.	पंजाब	1	2	3	6	2	–	1	–	15
7.	बिहार और उड़ीसा	1	1	8	3	–	–	1	–	14
8.	मध्यप्रान्त और बरार	1	1	3	1	–	–	1	–	7
9.	असम	1	–	2	1	–	1	–	–	5
10.	बर्मा	1	–	3	–	–	1	–	–	5
11.	दिल्ली	–	–	1	–	–	–	–	–	1
12.	अमजेरमेरवाड़ा	–	–	1	–	–	–	–	–	1
13.	उत्तर–पश्चिमी सीमान्त प्रान्त	–	1	–	–	–	–	–	–	1
	कुल	26	15	52	30	2	9	7	4	145

सदनों में उपस्थित हो सकता था और उनके वाद–विवादों में भाग ले सकता था। केन्द्रीय विधान मण्डल के अधिकारों में भी वृद्धि की गयी थी। सदस्यों को सदन के भीतर अपने विचार अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता थी, वह पूरक प्रश्न पूछ सकते थे। कानून बनाने का अधिकार था, वह बजट पर बहस तथा उसके कुछ अंशों पर मतदान भी कर सकते थे। सदनों को स्थगन या काम रोको और अन्य प्रस्ताव पास करने का भी अधिकार दिया गया था। विधान सभा का कार्यकाल 3 वर्ष और राज्य परिषद का 5 वर्ष तय किया गया था। वायसराय को केन्द्रीय विधान मण्डल के किसी भी सदन को सामान्य कार्यकाल समाप्ति से पूर्व ही भंग करने का अधिकार दिया गया था।

(9) विकेन्द्रीकरण को बढ़ावा दिया गया– इस अधिनियम द्वारा केन्द्रीकरण की उस नीति को समाप्त कर दिया गया था, जो लार्ड कर्जन के समय चरम सीमा पर पहुंच गयी थी। प्रशासन व राजस्व के कुछ विषयों को केन्द्र सरकार के नियंत्रण से हटाकर प्रान्तीय सरकारों को दे दिया गया। प्रान्तों को पहली बार ऋण लेने तथा कर लगाने का अधिकार दिया गया। प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायी शासन की स्थापना भी विकेन्द्रीकरण व प्रान्तीय

सारिणी –3

भारतीय शासन अधिनियम 1919 के अन्तर्गत केन्द्रीय राज्य परिषद के गठन का विवरण

क्र. सं.	निर्वाचक मण्डल	मनोनीत			निर्वाचित				कुल
		सरकारी	गैर सरकारी	गैर मुस्लिम	मुस्लिम	सिक्ख	साम्प्रदायिक	यूरोपीय वाणिज्य	
1.	भारत सरकार	11	–	–	–	–	–	–	11
2.	मद्रास	1	1	4	1	–	–	–	7
3.	बम्बई	1	1	3	2	–	–	1	8
4.	बंगाल	1	1	3	2	–	–	1	8
5.	संयुक्त प्रान्त	1	1	3	2	–	–	–	7
6.	पंजाब	1	3	1	2	1	–	–	8
7.	बिहार और उड़ीसा	1	–	2	1	–	–	–	4
8.	मध्यप्रान्त और बरार	–	2	–	–	–	1	–	3
9.	असम	–	–	–	1	–	–	–	1
10.	बर्मा	–	–	–	–	–	1	1	2
11.	उत्तर–पश्चिमी सीमान्त प्रान्त	–	1	–	–	–	–	–	1
	कुल	17	10	16	11	1	2	3	60

स्वायत्तता को बढ़ावा देने वाला था।

(10) शक्ति विभाजन – 1919 के अधिनियम द्वारा केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के बीच शक्तियों का विभाजन किया गया। जिन विषयों का सम्बन्ध सम्पूर्ण भारत या अर्न्तप्रान्तीय हितों से था, केन्द्र के अधीन रखे गये तथा जो विषय प्रान्तीय हितों (स्थानीय महत्व के) से विशेष सम्बन्ध रखते थे, प्रान्तों के अन्तर्गत रखे गये। केन्द्रीय क्षेत्र में, सेना, रेल, डाक व तार, आयकर,रक्षा, मुद्रा, टंकण, व्यापार, जहाजरानी, दीवानी, फौजदारी विषय रखे गये। प्रान्तीय क्षेत्र में स्थानीय स्वशासन, सार्वजनिक कार्य, शिक्षा, जन स्वास्थ्य तथा चिकित्सा, सिंचाई, अकाल पीड़ित सहायता, राजस्व, कृषि, जंगल, जेल, पुलिस तथा न्याय आदि विषय के प्रबन्ध व शासन का अधिकार दिया गया।

(11) निर्वाचन व मताधिकार से सम्बन्धित प्रावधान– इस अधिनियम द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रक्रिया आरम्भ की गयी और इसका विस्तार किया गया। लगभग 10 प्रतिशत भारत की जनता को मताधिकार प्राप्त हुआ। माण्टेग्यू–चेम्सफोर्ड रिपोर्ट में साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली की निंदा की गयी थी। परन्तु इस अधिनियम में, इसे न केवल मुसलमानों के लिये बनाये रखा गया, अपितु पंजाब में सिक्खों के लिये, तीन प्रान्त छोड़कर शेष प्रान्तों में यूरोपीयनों के लिये, दो प्रान्तों में आंग्ल भारतीयों के लिये और एक प्रान्त में भारतीय ईसाइयों के लिये लागू कर दिया गया।

(12) नरेश मण्डल की स्थापना – मान्टेग्यू–चेम्सफोर्ड रिपोर्ट में देशी राजाओं के महत्व को ध्यान में रखते हुए एक नरेश मण्डल के निर्माण का सुझाव दिया गया। 9 फरवरी 1921 को दिल्ली में नरेश मण्डल की स्थापना की गयी। इस मण्डल की कुल सदस्य संख्या 121 थी, जिसमें 109 बड़ी रियासतों के प्रतिनिधि एवं 12 सदस्य छोटी रियासतों के प्रतिनिधि के रूप में रखे गये। इस मण्डल का प्रधान वायसराय था। मण्डल (चैम्बर) एक परामर्शदात्री / सभा के रूप में काम करने लगा।

यह अधिनियम एक अल्पकालीन प्रयोग व संक्रमणकालीन उपचार था। अधिनियम द्वारा 10 वर्ष पश्चात् एक 'रॉयलकमीशन' की नियुक्ति का प्रावधान किया गया जो अधिनियम के लागू होने से उन्नति का अध्ययन कर, पूर्ण उत्तरदायी शासन की दिशा में, आगे बढ़ने के लिये उचित कदमों का सुझाव देगा।

प्रान्तों में द्वैध शासन

द्वैध शासन का अर्थ–

भारतीय जनता द्वारा की जा रही उत्तरदायी शासन की मांग को ध्यान में रखकर 1919 के अधिनियम में, प्रान्तीय शासन व्यवस्था में उत्तरदायी शासन की स्थापना का प्रावधान रखा गया। द्वैध शासन को अंग्रेजी में, Dyarchy (डायर्क) कहा जाता है, जो ग्रीक भाषा के शब्द 'डाई' **(di)** और 'आर्की' **(archie)** से बना है, जिसका तात्पर्य क्रमशः 'दोहरे' और 'शासन' से था। इस प्रकार द्वैध शासन का अर्थ था 'दोहरा शासन'।

1919 के अधिनियम की पृष्ठभूमि में द्वैध शासन का अर्थ था कि ''प्रान्तीय शासन दो क्षेत्रों में विभाजित हो और इन दोनों क्षेत्रों का प्रशासन अलग–अलग पदाधिकारियों द्वारा किया जाय, जिनके स्वरूप और उत्तरदायित्व में विभिन्नता हो।''

इस अधिनियम ने प्रान्तीय स्तर पर इसी प्रकार के 'द्वैध शासन' की व्यवस्था की थी। इसके अन्तर्गत प्रान्तीय विषयों को

'रक्षित विषय' और 'हस्तान्तरित विषयों' में विभाजित किया गया था। रक्षित विषयों का प्रशासन सम्राट द्वारा नियुक्त और ब्रिटिश शासन के प्रति उत्तरदायी गवर्नर व उसकी कार्यकारी परिषद मिलकर करते थे। हस्तान्तरित विषयों का प्रशासन लोकप्रिय मंत्रियों द्वारा किया जायेगा, जो प्रान्तीय विधान परिषद के निर्वाचित सदस्य होते थे और प्रान्तीय विधान परिषद के प्रति ही उत्तरदायी होते थे।

द्वैध शासन का क्रियान्वयन– 1 अप्रेल 1921 से भारत के आठ प्रान्तों – बंगाल, बिहार, मद्रास, बम्बई, संयुक्त प्रान्त, मध्य प्रान्त और पंजाब में द्वैध शासन की व्यवस्था को लागू कर दिया गया। 1932 में उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त में भी इसे लागू किया गया। 16 वर्षों तक यह प्रयोग जारी रहा। लेकिन द्वैध शासन के प्रयोग को उचित सफलता नहीं मिली। मध्य प्रान्त और बंगाल में संवैधानिक गतिरोध उत्पन्न हो गया। अन्य प्रान्तों में भी गवर्नरों और उत्तरदायी मंत्रियों के मध्य निरन्तर विवाद उत्पन्न होते रहे।

द्वैध शासन की असफलता के कारण– कूपलैण्ड जैसे ब्रिटिश लेखकों ने द्वैध शासन की असफलता के लिये कांग्रेस व स्वराज्य दल को उत्तरदायी ठहराया। परन्तु इनके आरोप निराधार हैं। वास्तव में द्वैध शासन योजना सैद्धान्तिक व व्यवहारिक दृष्टि से दोषपूर्ण थी और इसकी असफलता के लिए मुख्य रूप से, इस योजना में अन्तर्निहित दोष ही उत्तरदायी थे। इसकी असफलता के निम्न कारण हैं –

(i) योजना में अन्तर्निहित दोष– इस योजना में निम्नलिखित गंभीर दोष थे –

(1) सिद्धान्ततः दोषपूर्ण – द्वैध शासन प्रणाली सैद्धान्तिक दृष्टि से दोषपूर्ण थी। एक ही प्रान्त की शासन व्यवस्था को दो भिन्न और अलग–अलग प्रकृति की शक्तियों के अधीन कर देने से शासन में गतिरोध उत्पन्न होना स्वाभाविक था। शासन में एक आंगिक एकता होती है। परस्पर सहयोग से काम चलता है।

(2) विषयों का अविवेकपूर्ण व अव्यवहारिक विभाजन– विभाजन की अव्यवहारिकता मतभेदों को जन्म देती थी। प्रत्येक मंत्री को वित्त व अन्य विभागीय व्यय के लिये, शासन के संरक्षित भाग पर निर्भर रहना पड़ता था। कृषि मंत्री को सिंचाई सुविधायें जुटाने के लिये शासन के संरक्षित भाग की ओर देखना पड़ता था।

(3) गवर्नर की स्वेच्छाचारी शक्तियां– उत्तरदायी शासन की सफलता तभी संभव थी जब गनर्वर संवैधानिक अध्यक्ष की भूमिका निभाए। 1919 का अधिनियम, गवर्नरों द्वारा मंत्रियों को नियंत्रित करने और उनके प्रस्तावों को अस्वीकार करने की शक्ति देता था। गवर्नरों ने अपनी इस विशेष परिस्थिति के लिये दी गई शक्तियों द्वारा मंत्रियों के कार्यों में हस्तक्षेप किया। इस संबंध में मध्य प्रान्त के एक मंत्री केल्कर की शिकायत थी कि ''यद्यपि नीति सम्बन्धी मामलों में उसे कार्य करने की स्वतंत्रता थी, लेकिन विस्तार की बातों में निरन्तर हस्तक्षेप किया जाता था।'' संयुक्त प्रान्त के मंत्री चिन्तामणि का कहना था कि ''शक्ति गवर्नर के पास है, मंत्रियों के पास नहीं।''

(4) हस्तान्तरित विषयों के प्रशासन हेतु पृथक वित्त व्यवस्था नहीं – यद्यपि प्रान्तीय शासन दो भागों– संरक्षित एवं हस्तांतरित में विभाजित कर दिये गये। परन्तु दोनों के लिये अलग–अलग वित्त की व्यवस्था नहीं की गई। वित्त एक रक्षित विषय था। सम्पूर्ण वित्त गवर्नर की कार्यकारी परिषद के एक सदस्य के अधीन था। वित्तीय शक्तियों के बिना मंत्री ठीक से काम नहीं कर पाते थे।

संयुक्त प्रांत के मंत्री चिंतामणि का कहना था कि ''वित्त सदस्य चाहता था कि हस्तांतरित विभागों को अपनी आवश्यकता का धन प्राप्त होने के पहले उसके रक्षित विभागों की सभी जरूरतें पूरी हो जायें।''

(5) सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त का अभाव– गवर्नर मंत्रियों की नियुक्ति दलीय सजातीयता के आधार पर करने के बजाय, प्रान्तीय विधान परिषद के विभिन्न दलों, समूहों व गुटों के प्रतिनिधियों में से करते थे। कभी गवर्नर दो विरोधी दलों से मंत्री बना देता था। इस कारण मंत्रियों में वैचारिक समरूपता का अभाव था। उनमें सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना विकसित नहीं हो पायी।

(6) मंत्रियों का सिविल सेवाओं पर कोई नियंत्रण नहीं था– उत्तरदायी शासन तभी सफल हो सकता है जबकि उस विभाग के स्थायी पदाधिकारी, सम्बन्धित मंत्री के अधीन रहें। मंत्रियों के अधीन कार्यरत अधिकांश पदाधिकारी भारतीय सिविल सेवा के सदस्य होते थे। इनकी नियुक्ति, स्थानान्तरण व पदोन्नति गवर्नरों के हाथ में दी गई थी, न कि मंत्रियों के। अतः मतभेद की स्थिति में सिविल सेवक मंत्रियो के बजाय उच्चाधिकारी की मानते थे।

(7) विधान परिषद का गठन दोषपूर्ण होना– उत्तरदायी शासन की सफलता के लिये विधान परिषदों में संगठित दलों का होना भी जरूरी था। 1919 के अधिनियम द्वारा विधान परिषदों का जो गठन किया गया, वह बहुत ही दोषपूर्ण था। इनमें निर्वाचित सदस्यों का बहुमत नहीं था। 80 प्रतिशत सदस्य सरकारी या सरकार द्वारा मनोनीत गैर सरकारी सदस्य होते थे। विशेष वर्गों के निर्वाचित सदस्य भी अक्सर गवर्नर का ही साथ देते थे। इस व्यवस्था में मंत्रियों के बजाय गवर्नर को ही अधिक प्रभाव प्राप्त होता था।

(ii) अन्य बाहरी परिस्थितियाँ– कुछ बाहरी परिस्थितियां भी द्वैध शासन की असफलता के लिये उत्तरदायी रहीं।

(1) उस समय का राजनैतिक वातावरण अनुकूल नहीं– देश में जलियांवाला बाग की घटना, खिलाफत आदोलन, रौलेट अधिनियम जैसे कठोर दमनकारी कानून ने भारतीयो के मन में ब्रिटिश शासन के प्रति अविश्वास व कटुता उत्पन्न कर दी। ब्रिटिश शासन द्वारा आरम्भ किये गये सुधारों के प्रति भारतीय जन मानस में उदासीनता का भाव आ गया।

(2) आर्थिक दुर्दशा और मैस्टन पंचाट– 1920 में भयंकर अकाल पड़ा, भारतीय बाजारों में मंदी का माहौल, जनता की गरीबी से भारतीयों में असंतोष था। मैस्टन पंचाट द्वारा आधे से अधिक प्रांतों द्वारा केन्द्र को अधिक अनुदान दिया जाना था। इससे आर्थिक स्थिति खराब हो गई। इनके अभाव में प्रान्तीय सरकारें द्वैध शासन को ठीक से अपना न सकीं।

(3) नौकरशाही का असहयोगी व्यवहार– ब्रिटिश नौकरशाही भारतीय मंत्रियों के अधीन ईमानदारी से काम करने को तैयार नहीं थी। इससे द्वैध शासन असफल रहा।

(4) कांग्रेस व लीग का असहयोग– कांग्रेस व मुस्लिम लीग में परस्पर सहयोग का अभाव था। अंग्रेजों की ''फूट डालो राज करो'' की नीति, इनके बीच मतभेदों के बढ़ाने का काम करती रहती। दोनों में मंत्री परस्पर विवाद में उलझे रहते। अतः द्वैध शासन को असफल होना ही था। क्योंकि शासन परस्पर सहयोग से ही चलता है।

इसके साथ ही ब्रिटेन में अनुदार दल की सरकार बन जाने पर, ब्रिटिश शासन का दृष्टिकोंण ही सुधारों के प्रति बदल गया। प्रांतों में दखल बढ़ गया। इस तरह कहा जा सकता है कि द्वैध शासन की असफलता का कारण न केवल आन्तरिक दोष अपितु कुछ बाहरी परिस्थितियाँ भी थीं।

द्वैध शासन का महत्त्व व उपयोगिता– यह बात ठीक है कि द्वैध शासन–व्यवस्था दोषपूर्ण थी और असफल रही। लेकिन यह कई दृष्टि से उपयोगी कही जा सकती है –

(1) भारतीयों को व्यापक स्तर पर मताधिकार मिला, जिससे भारतीयों में राजनैतिक जागरूकता को बढ़ावा मिला।
(2) नियमित रूप से होने वाले चुनावों से भारतीयों में सार्वजनिक जीवन के प्रति जागृति उत्पन्न की। भारतीयों को शासन की जानकारी मिली, उनका आत्मविश्वास जगा।
(3) लगभग सभी प्रांतों में पुरूषों के साथ–साथ महिलाओं को भी मताधिकार प्राप्त हुआ।
(4) द्वैध शासन के कारण सार्वजनिक सेवाओं के भारतीयकरण को प्रोत्साहन मिला।
(5) प्रांतीय क्षेत्र में कार्य करने वाले भारतीय मंत्रियों ने विभिन्न क्षेत्रों में सुधार करने व सामाजिक कुरीतियां दूर करने में सराहनीय कार्य किया।

भारतीय शासन अधिनियम 1919 का मूल्यांकन– यह अधिनियम भारतीयों द्वारा की गयी मांगों पर ठीक से खरा नहीं उतरा था। इसकी व्यवस्थाओं से संतुष्ट नहीं हुये। इस अधिनियम में अनेक कमियां थी, जिनके आधार पर आलोचनायें की गयी हैं।

(1) प्रान्तों में प्रस्तावित द्वैध शासन की योजना संतोषप्रद नहीं– आलोचकों ने इस व्यवस्था को सर्वाधिक असफल करार दिया। गवर्नर की कार्यकारी परिषद और मंत्रियों के कार्यों के बीच विभाजन रेखा स्पष्ट नहीं थी। वित्त गवर्नर व कार्यकारी परिषद के सदस्य के पास था, वह मंत्रियों के कार्यों में हस्तक्षेप कर सकता था। मंत्री व उनके अधीन सिविल सेवाओं में सामंजस्य नहीं था। सामूहिक उत्तरदायित्व का अभाव था। गवर्नर की स्वेच्छाचारी शक्ति, द्वैध शासन की बड़ी कमी थी।

(2) केन्द्र में शक्तिशाली विधान मण्डल का अभाव– केन्द्र में यद्यपि द्विसदनीय विधान मण्डल की स्थापना की गई, परन्तु न तो उनका गठन सही रूप से लोकतांत्रिक था और न ही पर्याप्त शक्तियां उसे दी गई थी। अनेक बंधन व सीमायें उस पर लगी हुई थीं।

(3) गवर्नर–जनरल की निरंकुशता यथावत्– भारतीयों द्वारा गवर्नर जनरल की स्वेच्छाचारिता को कम करने की मांग की जा रही थी। परन्तु 1919 का अधिनियम गवर्नर जनरल को बहुत व्यापक शक्तियां तथा कार्यकारी, वित्तीय व विधायी अधिकार प्रदान करता था। देश का समस्त प्रशासन उसकी देखरेख व नियंत्रण में चलता था। सुरक्षा व शान्ति स्थापना के नाम पर वह कभी भी विधान मण्डल के काम में हस्तक्षेप कर सकता था।

(4) साम्प्रदायिक निर्वाचन का विस्तार अनुचित– साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली की शुरूआत 1909 के परिषद अधिनियम से हुई। जिसे बुद्धिजीवियों ने देश के लिये अहितकर समझा। 1919 के अधिनियम में न केवल इसे मुस्लिमों के लिये बनाये रखा गया, अपितु सिक्खों, यूरोपीयनों, इंग्लो–इण्डियन व भारतीय ईसाईयों के लिए लागू कर दिया गया, जिसे भारतीयों द्वारा अनुचित माना गया।

(5) भारतीय शासन पर गृह सरकार के नियंत्रण में कमी, संतोषजनक नहीं थी– भारत में गृह शासन द्वारा हस्तक्षेप कम करने की मांग की जा रही थी। 1919 के अधिनियम में भारतीय शासन पर गृह सरकार के नियंत्रण में शिथिलता को स्वीकार तो किया गया। लेकिन गृह सरकार के नियंत्रण में कमी करने के लिए भारत मंत्री के अधिकारों में, किसी प्रकार का औपचारिक परिवर्तन नहीं किया गया। मात्र यह आशा की गयी कि धीरे–धीरे यह नियंत्रण स्वतः ही कम हो जायेगा। परन्तु व्यवहार में कम नहीं हुआ।

इस प्रकार 1919 को सुधार अधिनियम आयोजकों की नजरों में एक प्रवंचना मात्र था। इस अधिनियम के सुधार, 1921 में लागू हुए लेकिन जलियांवाला काण्ड, असहयोग आन्दोलन से उत्पन्न राजनीतिक वातावरण और सुधारों का अधूरापन, ब्रिटिश शासन की दोषपूर्ण मंशा आदि के कारण सफल नहीं हो सके।

यद्यपि इस अधिनियम की व्यस्थाओं में बहुत गड़बड़ियां थी। परन्तु फिर भी केन्द्र व प्रान्तों के विधान मण्डलों के विस्तार के साथ, उनमें सुधार का प्रयास हुआ। पहले की अपेक्षा मताधिकार जनसंख्या के, अधिक भाग को मिल सका, प्रान्तों में उत्तरदायी शासन की दिशा में पहल हुई। शक्ति विकेन्द्रीकरण की दिशा में कुछ कदम आगे बढ़ा गया। गवर्नर व गवर्नर–जनरल की कार्यकारी परिषदों में पूर्व की अपेक्षा अधिक भारतीयों को प्रतिनिधित्व मिल सका।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

भारतीय शासन अधिनियम 1909

प्रमुख प्रावधान–

(1) केन्द्रीय विधान परिषद में सुधार।
(2) प्रान्तीय विधान परिषदों के संगठन व अधिकार।
(3) कार्यकारी परिषदों का विस्तार।
(4) मताधिकार व प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में प्रावधान।

भारत परिषद अधिनियम 1909 का मूल्यांकन

(1) साम्प्रदायिक निर्वाचन का आरम्भ।
(2) विधान परिषदों की सीमित शक्तियां व सरकारी बहुमत।
(3) केन्द्रीय विधान परिषद में सरकारी बहुमत।
(4) प्रान्तीय विधान परिषदों में गैर सरकारी सदस्यों का बहुमत मात्र दिखावा।
(5) सीमित व पक्षपातपूर्ण मताधिकार।
(6) उत्तरदायी शासन स्थापना का प्रयास नहीं।
(7) निहित स्वार्थों को प्रोत्साहन व महत्व।

भारतीय शासन अधिनियम 1919

1919, के भारतीय शासन अधिनियम की विशेषताऐं :–

(1) गृह शासन व भारत परिषद में परिवर्तन।
(2) भारतीय प्रशासन पर गृह शासन के नियंत्रण में कमी।
(3) प्रान्तों में आंशिक रूप से उत्तरदायी शासन व द्वैध शासन की स्थापना।
(4) प्रान्तीय कार्यकारिणी परिषद में भारतीयों को अधिक प्रतिनिधित्व।
(5) प्रान्तीय विधान परिषदों का पुनर्गठन।
(6) केन्द्र में अनुत्तरदायी शासन।
(7) केन्द्रीय कार्यकारिणी परिषद में अधिक भारतीयों की नियुक्ति।
(8) द्विसदनीय विधान मण्डल का निर्माण।
(9) विकेन्द्रीकरण को बढ़ावा दिया गया।
(10) शक्ति विभाजन।
(11) निर्वाचन व मताधिकार से सम्बन्धित प्रावधान।

प्रान्तों में द्वैध शासन

* द्वैध शासन का अर्थ।
* द्वैध शासन का क्रियान्वयन।

द्वैध शासन की असफलता के कारण।

(i) योजना में अन्तर्निहित दोष–

(1) सिद्धान्ततः दोषपूर्ण
(2) विषयों का अविवेकपूर्ण व अव्यवहारिक विभाजन।
(3) गवर्नर की स्वेच्छाचारी शक्तियाँ।
(4) हस्तान्तरित विषयों के प्रशासन हेतु पृथक वित्त व्यवस्था नहीं।
(5) सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त का अभाव।
(6) मंत्रियों का सिविल सेवाओं पर कोई नियंत्रण न होना।
(7) विधान परिषद का गठन दोषपूर्ण।

(ii) अन्य बाहरी परिस्थितियाँ–

(1) उस समय का राजनैतिक वातावरण अनुकूल नहीं।
(2) आर्थिक दुर्दशा व मैस्टन पंचाट।
(3) नौकरशाही का असहयोगी व्यवहार।
(4) कांग्रेस व लीग का असहयोग।

द्वैध शासन का महत्व व उपयोगिता

* मताधिकार का विस्तार।
* भारतीयों में राजनैतिक जागरूकता।
* सार्वजनिक सेवाओं के भारतीयकरण को बढ़ावा।
* विविध क्षेत्रों में सुधार व सामाजिक कुरीतियों के निराकरण में लाभ।

भारतीय शासन अधिनियम 1919 का मूल्यांकन

(1) प्रान्तों में प्रस्तावित द्वैध शासन की योजना संतोषप्रद नहीं।
(2) केन्द्र में शक्तिशाली विधान मण्डल का अभाव।
(3) गवर्नर जनरल की निरंकुशता यथावत।
(4) साम्प्रदायिक निर्वाचन का विस्तार अनुचित।
(5) भारतीय शासन पर गृह सरकार के नियंत्रण में कमी संतोषजनक नहीं थी।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

अति लघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. 1909 के अधिनियम द्वारा केन्द्रीय विधान परिषद में जिन चार प्रकार के सदस्यों का उल्लेख था, वह थे ?
2. भारतीय परिषद अधिनियम 1909 द्वारा पंजाब, असम तथा बर्मा प्रान्तों की विधान परिषदों में अतिरिक्त सदस्यों की अधिकतम संख्या कितनी निर्धारित की गयी।
3. भारतीय विधान परिषद अधिनियम 1909 द्वारा, कौन व्यक्ति केन्द्रीय विधान परिषद के सदस्य नहीं बन सकते थे।
4. 1909 के अधिनियम द्वारा ब्रिटिश भारत के किन क्षेत्रों को केन्द्रीय विधान परिषद में गैरसरकारी सदस्यों के रूप में प्रतिनिधित्व से वंचित रखा गया।
5. 1909 के परिषद अधिनियम द्वारा केन्द्रीय विधान परिषद के गठन हेतु निर्वाचन मण्डल को कितनी श्रेणियों में बांटा गया, उनके नाम लिखें।
6. 1919 के अधिनियम के कोई दो प्रमुख प्रावधान बताइये।
7. द्वैध शासन का आशय क्या है ?
8. द्वैध शासन व्यवस्था में प्रान्तीय विषयों का विभाजन किन दो श्रेणियों में किया गया।
9. 1919 के अधिनियम के अन्तर्गत केन्द्र में स्थापित विधान मण्डल के दोनों सदनों के क्या नाम रखे गये?
10. गृह सरकार का क्या आशय है ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. भारतीय परिषद अधिनियम 1909 के कोई दो प्रमुख

प्रावधानों का उल्लेख कीजिये।

2. 1909 के भारतीय परिषद अधिनियम द्वारा केन्द्रीय व प्रान्तीय विधान परिषदों का सदस्य बनने के लिए निर्धारित योग्यतायें बताइये।
3. 1909 के भारतीय परिषद अधिनियम के कोई दो दोष गिनाइये।
4. 1909 के अधिनियम द्वारा प्रान्तीय विधान परिषदों में गैर सरकारी बहुमत से क्या तात्पर्य है ?
5. 1919 के अधिनियम के कोई चार प्रमुख प्रावधान बताइये।
6. 1919 के अधिनियम में निर्वाचन व मताधिकार की क्या व्यवस्था की गई थी ?
7. द्वैध शासन की योजना के चार प्रमुख अन्तर्निहित दोष बताइये।
8. द्वैध शासन की उपयोगिता बताइये।

निबन्धात्मक प्रश्न :

1. भारतीय परिषद अधिनियम 1909 की प्रमुख विशेषताओं का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिये।
2. भारतीय परिषद अधिनियम 1909 के प्रमुख प्रावधान क्या थे?इस अधिनियम की आलोचना करते हुए उपयोगिता पर प्रकाश डालिये।
3. भारतीय शासन अधिनियम 1919 के प्रमुख प्रावधानों की व्याख्या कीजिये और उनके महत्व का मूल्यांकन कीजिए।
4. 1919 के अधिनियम में निहित द्वैध शासन की व्यवस्था सिद्धान्ततः दोषपूर्ण और कार्य संचालन में अव्यवहारिक थी। व्याख्या कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न :

1. केन्द्रीय विधान परिषद में निम्न में से किस क्षेत्र को प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया था।
   (अ) मद्रास (ब) अजमेर–मेरवाड़ा
   (स) बंगाल (द) बम्बई ( )
2. भारतीय परिषद 1909 द्वारा केन्द्रीय विधान परिषद में अतिरिक्त सदस्यों की अधिकतम संख्या 16 से बढ़ाकर की गयी।
   (अ) 60 (ब) 50
   (स) 30 (द) 69 ( )
3. जमींदारों को उनके चुनाव क्षेत्रों में मताधिकार देने में यह अधिनियम विभेद करता था, मद्रास में यह मताधिकार किन्हें दिया गया।
   (अ) जिनकी आय 15 हजार वार्षिक हो
   (ब) जिनके पास राजा या नवाब की उपाधि थी
   (स) जो मजिस्ट्रेट की मानद उपाधि रखते थे
   (द) सभी को ( )
4. भारतीय शासन अधिनियम 1919 की प्रस्तावना से सम्बन्धित नहीं है।
   (अ) ब्रिटिश भारत, ब्रिटिश साम्राज्य का अखण्ड भाग रहेगा
   (ब) ब्रिटिश भारत में उत्तरदायी शासन, ब्रिटिश पार्लियामेंट की घोषित नीति का लक्ष्य नहीं है
   (स) उत्तरदायी शासन धीरे–धीरे ही दिया जा सकता है
   (द) उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिये प्रशासन की हर शाखा से भारतीयों का अधिकाधिक सम्बन्ध और स्वशासी संस्थाओं का क्रमिक परिवर्तन ( )
5. 1919 के अधिनियम में केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत रखे गये विषयों में शामिल नहीं था।
   (अ) वैदेशिक विषय (ब) रेल
   (स) सेना (द) अकालपीड़ित सहायता ( )
6. भारतीय शासन अधिनियम 1919 के प्रावधान से सम्बन्धित हैं।
   (अ) चुनावों हेतु पहली बार साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली का आरम्भ
   (ब) प्रान्तों में द्वैध शासन प्रणाली की स्थापना
   (स) केन्द्र में द्वैध शासन प्रणाली
   (द) भारत परिषद को समाप्त कर दिया गया ( )
7. द्वैध शासन की असफलता का कारण नहीं है।
   (अ) विषयों का अतार्किक और अव्यवहारिक विभाजन
   (ब) वायसराय को प्रदत्त स्वेच्छाचारी शक्तियां
   (स) मंत्रियों का सेवाओं पर नियंत्रण नहीं
   (द) सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त का अभाव ( )
8. भारतीय शासन अधिनियम 1919 के अन्तर्गत केन्द्रीय कार्यकारिणी परिषद में सुधार से सम्बन्ध नहीं रखता।
   (अ) दस वर्ष का अनुभव रखने वाले भारतीय उच्च न्यायालय के वकीलों को परिषद का कानूनी सदस्य बनने के योग्य माना गया।
   (ब) तेज बहादुर सप्रु पहले भारतीय कानूनी सदस्य केन्द्रीय कार्यकारिणी परिषद में नियुक्त हुए।
   (स) केन्द्रीय कार्यकारिणी परिषद का सदस्य नेताजी सुभाष चन्द्र बोस को बनाया गया
   (द) केन्द्रीय कार्यकारिणी परिषद में भारतीयों की संख्या एक से बढ़ाकर तीन कर दी गई ( )
9. 9 फरवरी 1921 को स्थापित नरेश मण्डल का मुख्यालय रखा गया।
   (अ) दिल्ली (ब) मुम्बई
   (स) जयपुर (द) कोलकाता ( )
10. द्वैध शासन की उपयोगिता से सम्बन्धित नहीं है ।
   (अ) द्वैध शासन के कारण मताधिकार का विस्तार हुआ
   (ब) द्वैध शासन के कारण भारतीयों में राजनैतिक जागरूकता को बढ़ावा मिला
   (स) द्वैध शासन के कारण सार्वजनिक सेवाओं के भारतीयकरण को प्रोत्साहन मिला
   (द) द्वैध शासन व्यवस्था महिला मताधिकार के विरोध में थी ( )

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर :

1 (ब), 2 (द), 3 (ब), 4 (द), 5 (ब)
6 (अ) 7 (स) 8 (स) 9 (अ) 10 (द)

अध्याय – 18
भारत में संवैधानिक विकास– 1935 का भारत शासन अधिनियम

भारत की संवैधानिक समस्या के निराकरण के लिए 1930, 1931 व 1932 में ब्रिटिश शासन द्वारा आयोजित गोलमेज सम्मेलनों में किये गये विचार के आधार पर मार्च 1933 में भावी सुधार योजना के सम्बन्ध में 'एक श्वेत पत्र' (White paper) प्रकाशित किया गया। जिसमें प्रान्तों में उत्तरदायी शासन व केन्द्र में आंशिक उत्तरदायी शासन, केन्द्र में द्विसदस्यीय व्यवस्थापिका, संघ व प्रान्तों के बीच शक्ति विभाजन, संघीय न्यायालय, रिजर्व बैंक, संघीय रेलवे सत्ता स्थापना के सुझाव रखे गये। श्वेत पत्र के सुझावों के आधार पर एक विधेयक फरवरी, 1935 में ब्रिटिश पार्लियामेंट में प्रस्तुत किया गया। पार्लियामेंट द्वारा पारित विधेयक को 2 अगस्त, 1935 को सम्राट की स्वीकृति मिलने पर, यह भारतीय शासन अधिनियम 1935 कहलाया। इसकी विशेषतायें निम्नलिखित हैं –

1. विस्तृत अधिनियम– इस अधिनियम में 451 धारायें व 15 अनुसूची थीं। परन्तु प्रस्तावना का अभाव था। इससे पूर्व पार्लियामेंट ने इससे बड़ा कानून कभी नहीं बनाया।

2. प्रस्तावित अखिल भारतीय संघ की योजना– यह प्रस्तावित संघ 11 ब्रिटिश प्रान्तों, 6 चीफ कमिश्नर के क्षेत्रों और देशी रियासतों से मिलाकर बनेगा, जो स्वेच्छा से इस संघ में सम्मिलित होना चाहेंगे। (ब्रिटिश प्रान्तों को संघ में सम्मिलित होना अनिवार्य था, वहीं देशी रियासतों के लिए ऐच्छिक)। इस संघ की स्थापना तभी की जायेगी जबकि समस्त देशी रियासतों के कुल क्षेत्र की 50% जनसंख्या की आधी रियासतें संघ में शामिल होने की इच्छा प्रकट करें। संघ में शामिल इच्छुक रियासतों को एक 'प्रवेश पत्र' पर हस्ताक्षर करने होते थे। संघ की इकाइयों को अपने आन्तरिक मामलों में स्वशासन प्राप्त था। संघ और इकाइयों के बीच पैदा हुए विवादों का निर्णय करने के लिये एक 'संघीय न्यायालय' की स्थापना की गयी। केन्द्र में एक 'संघीय कार्यकारिणी' तथा 'द्विसदस्यीय व्यवस्थापिका' की स्थापना की गयी। परन्तु शर्त पूरी न हो पाने के कारण यह संघ स्थापित नहीं हो सका।

संघीय व्यवस्था का मूल्यांकन– सभी दल अखिल भारतीय संघ के निर्माण के पक्ष में थे। किन्तु अपने स्वार्थों की पूर्ति के कारण, वे आपस में एक दूसरे के विरोधी भी थे। इस कारण एक अच्छी संघीय प्रणाली की अनेक विशेषताओं को, इसमें छोड़ दिया गया था। इस संघीय योजना में अनेक दोष थे –

(1) संघ में इकाइयों के शामिल होने की अनिवार्यता सभी के लिए समान नहीं– ब्रिटिश प्रान्त का संघ में मिलना आवश्यक था, परन्तु देशी रियासतों को उनकी इच्छा पर छोड़ दिया गया। कुछ देशी रियासतें संघ में शामिल होने की इच्छुक थीं, परन्तु अधिकांश नहीं।

(2) समान स्तर का अभाव– केन्द्र व प्रान्तों के मध्य संवैधानिक व कार्यकारी शक्तियों के प्रसार में समानता थी, वहीं पर देशी रियासतों के मामलों में समरूपता नहीं थी।

(3) संघ इकाइयों में स्वायत्तता की कमी– अखिल भारतीय संघ में प्रांत व देशी रियासतों को स्वायत्तता प्राप्त थी। परन्तु केन्द्रीय शासन में पूर्णतः उत्तरदायी सरकार नहीं थी। गवर्नर जनरल को प्रमुख शक्तियां प्राप्त थीं और वह किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं था।

(4) गवर्नर जनरल की स्वेच्छाचारी शक्तियाँ– कुछ महत्वपूर्ण कार्य जैसे सुरक्षा, विदेशी मामले और अवशिष्ट शक्तियां गवर्नर जनरल के पास रखी गयी। विधान मण्डल को न तो गवर्नर जनरल से प्रश्न करने का अधिकार था, न उसके आचरण पर बहस हो सकती थी। वह अधिनायक की तरह व्यवहार करता था।

(5) संघीय व्यवस्था में एकात्मक तत्त्व– गवर्नर जनरल को प्रान्तीय मामलों में हस्तक्षेप करने के असीम अधिकार प्राप्त थे। इस कारण इकाइयों की स्वायत्तता सीमित हो गयी थी। जबकि संघ में ऐसा नहीं होता है।

(6) शक्तियों का विभाजन ठीक नहीं– संघीय योजनानुसार केन्द्र व प्रान्तों के मध्य शक्तियों का बँटवारा किया गया। केन्द्र, प्रान्त व समवर्ती सूची, शक्तियों का विभाजन करती थी। परन्तु अवशिष्ट शक्तियां गवर्नर जनरल के पास, देशी रियासतों में प्रशासकों के पास थी।

इस तरह प्रस्तावित संघीय योजना अत्यधिक दोषपूर्ण थी। इस योजना का एक मात्र उद्देश्य था, भारत की राजनीतिक प्रगति पर रोक लगाना, परन्तु भविष्य में आजाद भारत में जो संघीय व्यवस्था अंगीकृत हुई, उसका आधार इसी संघीय योजना में अंतर्निहित था। प्रस्तावित संघीय योजना में संघीय व्यवस्था के आधारभूत लक्षण विद्यमान थे (1) लिखित, निर्मित, कठोर व सर्वोच्च संविधान (2) दो सरकारों व उनके मध्य शक्ति विभाजन (3) निष्पक्ष न्यायाधिकरण (4) केन्द्रीय विधान मण्डल के द्वितीय

सदन, राज्य परिषद में संघ की इकाइयों को प्रतिनिधित्व।

3. केन्द्र में द्वैध शासन की स्थापना– इस अधिनियम द्वारा द्वैध शासन को प्रान्तों में समाप्त कर केन्द्र में लागू किया गया। यह व्यवस्था पहले से ही दोषपूर्ण थी। सुरक्षा, विदेशी मामले, धार्मिक तथा कबायली क्षेत्रों की व्यवस्था आदि (केन्द्रीय विषयो) को गवर्नर के हाथ में सुरक्षित रखा गया, ताकि वह अपने विवेक से उनके प्रशासन का संचालन कर सके। इन विभागों के प्रशासन संचालन हेतु अधिकतम 3 परामर्शदाताओं की नियुक्ति कर सकता था। अन्य विषयों के प्रबन्ध हेतु गवर्नर जनरल की सहायता के लिये एक मंत्रिमण्डल की व्यवस्था की गई, जिसमें अधिकतम 10 संख्या हो सकेगी। इस मंत्रिमण्डल को व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी रहते हुये, सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के आधार पर कार्य करना था।

4. प्रान्तीय स्वायता– इस अधिनियम द्वारा प्रान्तों में द्वैध शासन को समाप्त करके, उन्हें पूर्ण स्वाधीनता प्रदान की गई। सारा प्रान्तीय शासन लोकप्रिय मंत्रियों को सौंपा गया। गवर्नर से आशा की गई, वह मंत्रियों की सलाह पर शासन चलायेगा। गवर्नर को कहा गया कि वह मंत्रीमण्डल का निर्माण प्रान्तीय व्यवस्थापिका में बहुमत दल के नेता की सलाह से करेगा। मंत्री व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी रहेंगे। वह सामुदायिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त पर कार्य करेंगे। गवर्नरों के हाथ मे विशेष उत्तरदायित्व की पूर्ति हेतु कुछ महत्वपूर्ण शक्तियां रहीं।

5. शक्ति विभाजन– प्रस्तावित संघ की स्थापना के उद्देश्य की पूर्ति हेतु केन्द्रीय व प्रान्त सरकारों के बीच शक्तियों का विभाजन किया गया। तीन सूचियों की व्यवस्था की गयी।

(i) संघ सूची– इसमें राष्ट्रीय महत्व के 59 विषय रखे गये। जिनमें जल, थल व वायु सेना, विदेशी मामले, डाक, तार, मुद्रा व टंकण, संघीय लोक सेवायें, संचार, बीमा तथा बैंक इत्यादि। इन पर केन्द्रीय विधान मण्डल को कानून बनाने का अधिकार था।

(ii) प्रान्तीय सूची– इसमें स्थानीय महत्व के 54 विषय थे जिनमें शान्ति, न्याय, न्यायालय, प्रान्तीय लोक सेवायें, स्थानीय स्वशासन, अस्पताल व जन स्वास्थ्य, कृषि, नहरें, जंगल, शिक्षा, सड़क आदि। जिन पर प्रान्तीय सरकारों को कानून बनाने का अधिकार दिया गया।

(iii) समवर्ती सूची– इसमें 36 विषयों अर्थात दीवानी व फौजदारी कानून, विवाह, तलाक, उत्तराधिकार, दत्तक स्वीकार करना, ट्रस्ट, कारखाने तथा श्रम कल्याण आदि। इन विषयों पर केन्द्र व प्रान्त दोनों सरकारें कानून बना सकती थीं परन्तु मतभेद की स्थिति में संघीय व्यवस्थापिका का कानून ही मान्य होगा।

(iv) अवशिष्ट शक्तियां– यह शक्तियां गवर्नर जनरल को सौंपी गयी थी। वह चाहे जिस विधान मण्डल (केन्द्र या प्रान्त) से कानून बनवा सकता था।

6. संरक्षण व आरक्षण की व्यवस्था– ब्रिटिश शासन भारतीयों को उत्तरदायी शासन देने में सतर्कता बरत रहा था। इसके साथ ही ब्रिटिश शासन अनेक अल्पसंख्यकों वर्गो के हितों की रक्षा करना चाहता था। अतः अधिनियम द्वारा गवर्नर जनरल एवं गवर्नरों को विभिन्न परिस्थितियों में केन्द्र व प्रान्तों के उत्तरदायी शासन में हस्तक्षेप करने के व्यापक अधिकार दिये गये। इनके यह अधिकार ही अधिनियम के संरक्षण व आरक्षण थे। यह व्यवस्थायें लोकतंत्र के अनुरूप नहीं थी।

7. विधान मण्डलों के संगठन एवं मताधिकार का विस्तार– इस अधिनियम में संघीय विधान का स्वरूप द्विसदनीय रखा गया। जिसमें एक सदन संघीय विधान सभा और दूसरा सदन राज्य परिषद था। संघीय विधानसभा की सदस्य संख्या 375 और राज्य परिषद की सदस्य संख्या 260 निर्धारित की गई। विधानसभा का चुनाव अप्रत्यक्ष व राज्य परिषद का चुनाव प्रत्यक्ष चुनाव प्रक्रिया से किया जाना था। प्रान्तीय स्तर पर 11 में से 6 विधान मण्डलों को द्विसदनीय बनाया गया। अधिनियम द्वारा मताधिकार का विस्तार किया गया। पहले की तुलना में अधिक लोगों को मताधिकार मिला। परन्तु सभी लोगों को अभी भी मताधिकार प्राप्त नहीं हो सका। सारिणी संख्या 1 विधानसभा व

सारिणी –1

भारतीय शासन अधिनियम 1935 के अन्तर्गत केन्द्रीय विधान मण्डल के गठन का विवरण

सदन का नाम	देशी रियासतों के सदस्य	ब्रिटिश भारत के सदस्य												कुल
		सामान्य	दलित वर्ग	मुस्लिम	सिक्ख	आंग्ल भारतीय	यूरोपियन	भारतीय ईसाई	वाणिज्य व उद्योग	जमींदार	श्रम	महिला	गवर्नर जनरल द्वारा मनोनीत	
विधानसभा	125	96	09	82	06	04	08	08	11	07	10	09	–	250
राज्य परिषद	104	75	06	49	04	01	07	02	–	–	–	06	06	140

राज्य परिषद के गठन को दर्शाती है जबकि सारिणी संख्या दो में प्रान्तीय विधायिका की संरचना को दिखाया गया है।

विधानसभा का कार्यकाल 5 वर्ष निर्धारित किया गया। राज्य परिषद एक स्थाई सदन था, जिसके सदस्य 9 वर्ष के लिये चुने जाते थे। किन्तु 1/3 सदस्य हर तीसरे वर्ष अवकाश ग्रहण (रिटायर होते) करते थे। विधान परिषद व राज्य परिषद के निर्वाचन क्षेत्र, अभी भी सम्प्रदाय, विविध वर्ग के हिसाब से गठित किये गये थे।

1935 के अधिनियम से विधान मण्डलों को पहले की तुलना में अधिक अधिकार प्राप्त हुए। अब मंत्रिपरिषद को विधानसभा के प्रति उत्तरदायी ठहराया गया। विधानसभा को अविश्वास प्रस्ताव द्वारा मंत्री परिषद को हटाने का अधिकार प्राप्त हुआ। विधान मण्डल सदस्य मंत्रियों से प्रश्न, पूरक प्रश्न पूछकर, कई तरह के प्रस्ताव लाकर नियंत्रण रख सकते थे। बजट के मामले में लगभग 80 प्रतिशत अनुदान मांगों पर विधान मण्डल का नियंत्रण किया गया। विधान मण्डलों को पहले की अपेक्षा, सामान्य विधि निर्माण के क्षेत्र में भी अधिक शक्तियां दी गयीं।

8. संघीय न्यायालय– 1935 के अधिनियम द्वारा एक संघीय न्यायालय की स्थापना की गयी। जिसका अधिकार क्षेत्र प्रान्तों तथा रियासतों तक फैला हुआ था। न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश, दो अन्य न्यायाधीश होंगे। न्यायाधीशों की सेवानिवृति की आयु 65 वर्ष रखी गयी। मुख्य न्यायाधीश को 7000/– रूपये व अन्य न्यायाधीशों को 5500/– रूपये मासिक वेतन निर्धारित किया गया। इस न्यायालय को मौलिक व अपीलीय, सम्बन्धी अधिकार दिये गये। संघीय न्यायालय को संविधान की व्याख्या करने, केन्द्र व प्रान्त सरकारों को एक दूसरे के अधिकार क्षेत्र में अतिक्रमण करने से रोकने का अधिकार दिया गया। इस क्षेत्र में अन्तिम अपील ब्रिटेन स्थित 'प्रिवी परिषद' में की जा सकती थी।

9. ब्रिटिश पालियामेंट की सर्वोच्चता– यह अधिनियम ब्रिटिश पार्लियामेंट की सर्वोच्यता को अभी बनाये हुए था। इसमें संशोधन का अधिकार सिर्फ ब्रिटिश पार्लियामेंट के पास था। भारतीय प्रान्त व केन्द्र के विधान मण्डल कुछ सीमाओं के अन्तर्गत संशोधन हेतु सिफारिश भेज सकते थे।

10. भारत परिषद का अन्त– भारत परिषद का दृष्टिकोंण भारत के विरोध में रहता था। इस कारण भारतीय जनता, इसकी समाप्ति की मांग लम्बे समय से कर रही थी। अतः 1935 के इस अधिनियम के द्वारा भारत परिषद को समाप्त कर दिया गया। भारत मंत्री को उसके कार्यों में सहयोग हेतु कुछ परामर्शदाता नियुक्त किये गये जिनसे परामर्श लेना अथवा न लेना भारत मंत्री की इच्छा पर निर्भर था। परन्तु सेवाओं के मसले में इनका परामर्श मानना, भारत मंत्री के लिए अनिवार्य था।

11. साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति का विस्तार– यह पद्धति भारतीय हितों के प्रतिकूल थी। इसे समाप्त करने के बजाय, विस्तार किया गया। केन्द्रीय व प्रान्तीय विधान मण्डलों में ब्रिटिश हितों को प्रतिनिधित्व देने हेतु मुस्लिम व सिक्खों (पूर्व में 1919 के अधिनियम के समय से प्रचलित) के अलावा आंग्ल भारतीयों, भारतीय ईसाइयों, यूरोपीयनों व दलित वर्गों (Depressed Classes) के लिए इस पद्धति का विस्तार किया गया। केन्द्रीय विधान मण्डल के दोनों सदनों में मुस्लिमों को लगभग 1/3 प्रतिनिधित्व दिया गया, जो उनकी जनसंख्या के अनुपात से कहीं अधिक था।

(12) बर्मा, बरार और अदन के सम्बन्ध में परिवर्तन– 1935 के अधिनियम द्वारा 'बर्मा' को भारत से अलग कर दिया गया। 'अदन' को भारत सरकार के नियंत्रण से मुक्त करके 1 अप्रेल 1937 को इंग्लैण्ड के औपनिवेशिक विभाग के अधीन कर दिया गया। यद्यपि 'बरार' के ऊपर निजाम हैदराबाद की नाममात्र की सत्ता स्वीकार की गई, परन्तु व्यावहारिक शासन की दृष्टि से उसे भी मध्य प्रान्त का अंग बना दिया गया।

प्रान्तीय स्वायत्तता

प्रान्तीय स्वायत्तता के दो अर्थ लिये जा सकते हैं। प्रथम अर्थ यह है कि प्रान्तों को अपने एक निश्चित क्षेत्र में स्वतंत्रता पूर्वक कार्य करने का अधिकार होना चाहिए अर्थात् निश्चित क्षेत्र में, वे केन्द्रीय नियंत्रण या बाहरी नियंत्रण से स्वतंत्र होने चाहिए। प्रान्तीय स्वायत्तता दूसरे अर्थ में प्रान्तों में उत्तरदायी शासन की स्थापना से है। अर्थात् प्रान्त में शासन सत्ता ऐसे लोकप्रिय मंत्रियों के हाथ में होनी चाहिए, जो विधान मण्डल के प्रति और विधान मण्डल के माध्यम से जनता के प्रति उत्तरदायी हों।

प्रान्तों में 1919 के अधिनियम द्वारा स्थापित द्वैध शासन को समाप्त करके, प्रान्तों को स्वशासित राजनीतिक इकाई का रूप प्रदान किया गया। केन्द्रीय हस्तक्षेप से स्वतंत्रता दी गयी। उन्हें प्रान्तीय सूची के 54 विषयों पर विधायी, प्रशासकीय और वित्तीय क्षेत्र में सत्ता प्रदान की गयी। इसे ही प्रान्तीय स्वायत्तता कहा गया।

प्रान्तीय स्वायत्तता का मूल्यांकन– भारतीय शासन अधिनियम 1935 द्वारा स्थापित प्रान्तीय स्वायत्तता वास्तविकता से दूर थी। बाहरी व आन्तरिक रूप से इस पर ऐसी सीमायें लगा दी गयी थी कि प्रान्तों के पास स्वायत्तता बची ही नहीं।

प्रान्तीय स्वायत्तता पर बाह्य प्रतिबन्ध– इसे बाहरी नियंत्रण से मुक्त होना चाहिए था, लेकिन केन्द्रीय हस्तक्षेप की अनेक व्यवस्थायें 1935 के अधिनियम में की गयी थीं

(1) संकटकालीन स्थिति की घोषणा– अधिनियम की धारा 102 में उल्लेखित था, कि गवर्नर जनरल गम्भीर आन्तरिक अव्यवस्था या अशांति तथा युद्ध के वास्तविक या सम्भावित खतरों की स्थिति में संकटकालीन स्थिति की घोषणा करेगा। इस घोषणा के बाद केन्द्रीय विधान मण्डल को प्रान्तीय सूची के विषयों

पर विधि निर्माण का अधिकार मिल जायेगा।

(2) प्रान्तों पर केन्द्र का नियंत्रण– अधिनियम की धारा 156 के अन्तर्गत गवर्नर जनरल, प्रान्तीय सरकारों को भारत में शक्ति और सुरक्षा बनाये रखने के लिये आवश्यक निर्देश जारी कर सकेगा।

अधिनियम की धारा 93 के अनुसार प्रान्त में गवर्नर को संवैधानिक तन्त्र विफल होने की घोषणा करने का अधिकार दिया गया। इस स्थिति में प्रान्तीय शासन का संचालन गवर्नर स्वयं या गवर्नर जनरल के निर्देशन में करेगा।

(3) प्रान्तीय कानूनी क्षेत्र में गवर्नर जनरल का नियंत्रण– कुछ विशेष प्रकार के विधेयक अथवा संशोधन गवर्नर जनरल की पूर्व अनुमति के बिना प्रान्तीय विधान मण्डल में प्रस्तुत नहीं किये जा सकते थे।

(4) गवर्नर द्वारा प्रान्तीय विधान मण्डलों द्वारा परित विधेयकों को, गवर्नर जनरल की स्वीकृति, गवर्नर जनरल चाहें तो उन्हें भारत मंत्री के माध्यम से ब्रिटिश सम्राट की स्वीकृति हेतु सुरक्षित रख सकता था।

(5) गवर्नर जनरल के विशेष उत्तरदायित्व – इनकी पूर्ति हेतु गवर्नर जनरल प्रान्तीय क्षेत्र में हस्तक्षेप कर सकता था। वह प्रान्तीय मंत्रियों को आवश्यक निर्देश दे सकता था।

आन्तरिक प्रतिबन्ध– प्रान्तीय शासन आन्तरिक क्षेत्र में भी स्वतंत्र नहीं था। आन्तरिक रूप से निम्न सीमायें प्रान्तीय स्वायत्तता पर थी–

(1) प्रान्त में गवर्नर की भूमिका संवैधानिक अध्यक्ष से बढ़कर– प्रान्तीय स्वायत्तता के लिये गवर्नर की भूमिका संवैधानिक अध्यक्ष की होनी चाहिए थी। परन्तु गवर्नर वास्तविक अध्यक्ष था। सम्पूर्ण प्रान्त, उसके अधीन था। उसे अध्यादेश जारी करने, विधान मण्डल द्वारा पारित विधेयक को अस्वीकार करने, गवर्नर जनरल की स्वीकृति हेतु सुरक्षित रख लेने के अधिकार प्राप्त थे।

(2) वित्तीय क्षेत्र में गवर्नर की असीमित शक्ति– प्रांत का बजट उसकी निगरानी में बनता था, उसे विधान मण्डल से पारित कराने का दायित्व भी उसी का था। विधान मण्डल द्वारा सुझाये गये किसी संशोधन को मानना और न मानना गवर्नर की इच्छा पर निर्भर था।

(3) मंत्रियों पर गवर्नर का नियंत्रण– प्रांत में मंत्रियों की नियुक्ति, पदच्युति तथा उनके मध्य विभागों के बटवारे का दायित्व गवर्नर का था। मंत्री मण्डल की बैठक भी गवर्नर द्वारा बुलाई जाती थी। गवर्नर की ये शक्तियां प्रान्तीय स्वायत्तता को पंगु बना देती थी।

(4) मंत्रियो के साथ सिविल सेवा के पदाधिकारियों का असहयोगी व्यवहार भी प्रान्तीय स्वायत्तता के लिये घातक था।
इस आधार पर कहा गया है कि प्रान्तीय स्वायत्तता एक दिखावा है। अतः भारतीयों ने इसके प्रति असंतोष जताया और प्रांतों के लिये वास्तविक स्वायत्तता की मांग की गयी।

प्रान्तीय स्वायत्तता का क्रियान्वयन– ब्रिटिश शासन द्वारा 1935 के अधिनियम में उल्लेखित प्रांतीय स्वायत्तता को लागू करने का प्रयास किया। 1937 में चुनाव कराने की तिथियां घोषित की गयी। 3 अप्रेल 1937 तक चुनाव सम्पन्न हुये। 11 में से 6 प्रान्तों (संयुक्त प्रांत, बिहार, उड़ीसा, बम्बई, मद्रास और मध्य प्रान्त) में कांग्रेस को स्पष्ट बहुमत, 3 प्रान्तों (असम, बंगाल व उत्तर पश्चिम सीमा प्रान्त) में कांग्रेस बड़े दल के रूप में तथा पंजाब में कम्युनिस्ट पार्टी और सिंध में मुस्लिम लीग बहुमत में थी। आरम्भ में दलों ने मंत्रिमण्डल गठन में रूचि नहीं दिखाई। ब्रिटिश शासन के द्वारा गवर्नरों का सहयोग मिलने के आश्वासन के बाद जुलाई 1937 में प्रान्तीय सरकारों का गठन हुआ। कुछ प्रान्तों ने काम भी अच्छा किया।

भारत के वर्तमान संविधान पर 1935 के अधिनियम का प्रभाव– संविधान का निर्माण या तो मौलिक होता है या फिर व्यावहारिकता पर आधारित, जिसमें अन्य संविधानों व कानूनों की कुछ बातों को अपना लिया जाता है। यद्यपि संविधान निर्माताओं का दृष्टिकोंण व्यवहारिक था। अतः उस पर अनेक देशी व विदेशी कानून व संविधानों का प्रभाव दिखाई देता है। परन्तु सर्वाधिक प्रभाव भारतीय शासन अधिनियम 1935 का है।

(1) संघीय योजना – 1935 के अधिनियम में प्रस्तावित अखिल भारतीय संघ की योजना, आज के भारतीय संघ में देखी जा सकती है। संघ की इकाई, केन्द्र को अधिक शक्ति देने, शक्ति विभाजन की व्यवस्था आदि 1935 के अधिनियम से प्रभावित हैं।

(2) द्विसदनीय विधान मण्डल का विचार – वर्तमान संविधान में केन्द्र व कुछ राज्यों में द्विसदनीय विधान मण्डल की जो व्यवस्था की गयी है, वह 1935 के अधिनियम पर आधारित है।

(3) राज्यों में संवैधानिक संकट खड़ा होने पर उनके शासन प्रबंध को केन्द्र अपने हाथ में (राष्ट्रपति के माध्यम से) ले सकता है, यह 1935 के अधिनियम में उल्लेखित व्यवस्था पर आधारित है।

(4) राज्यपाल का पद – आज भारतीय संविधान में वर्णित राज्यपाल पद की अधिकांश व्यवस्था, 1935 के अधिनियम में उल्लेखित गवर्नर के पद के प्रावधानों को संशोधित रूप में अपना लिया गया है।

(5) भारत का वर्तमान संविधान, 1935 के अधिनियम के समान एक विस्तृत वैधानिक प्रलेख (डोक्यूमेंट) है। इसमें भी केन्द्र सरकार के प्रमुख अंगों के साथ–साथ प्रान्तीय सरकारों की व्यवस्था का उल्लेख किया गया है।

(6) संघीय कानून और राज्य के कानून में विरोध होने की स्थिति में संघीय कानून को मान्यता (धारा 251) देने की बात कही गयी है। वह 1935 के अधिनियम की धारा 107 के प्रावधान पर आधारित है।

(7) वर्तमान संविधान में राष्ट्रपति द्वारा संकटकाल की

घोषणा से सम्बन्धित प्रावधान धारा 352 व 353 की भाषा, 1935 के अधिनियम की धारा 102 से मिलती जुलती है।

(8) राज्य की कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग, संघीय संसद व कार्यपालिका के निर्देशानुसार किया जायेगा (वर्तमान संविधान की धारा 256), 1935 के अधिनियम की धारा 126 के अनुरूप है।

भारतीय शासन अधिनियम, 1935 का मूल्यांकन– इस अधिनियम को भारत के संवैधानिक इतिहास में महत्वपूर्ण व स्थायी स्थान प्राप्त है। कूपलैण्ड का विचार है कि ''1935 का अधिनियम'' रचनात्मक राजनीतिक विचार की एक महान सफलता था। लेकिन इंग्लैण्ड व भारत में इस अधिनियम की काफी आलोचनायें हुई हैं। मदनमोहन मालवीय के अनुसार ''यह नया अधिनियम हम पर थोपा गया है, बाहर से यह जनतंत्रीय शासन व्यवस्था से मिलता है, परन्तु भीतर से बिल्कुल खोखला है।''

सी. राजगोपालाचार्य ने 'इसे द्वैध शासन से भी बुरा बतलाया।'' जवाहरलाल नेहरू के मतानुसार 'यह अधिनियम तो दासता का घोषणा पत्र है।'

1. इंग्लैण्ड में आलोचना– ब्रिटिश कट्टर उदारवादी समझते थे कि 1935 के अधिनियम द्वारा भारतीयों को जो अधिकार और उत्तरदायित्व दिये जा रहे हैं, वे उनके अनुकूल नहीं हैं।

2. अधिनियम निरर्थक है– भारतीयों के मतानुसार इस अधिनियम में न तो स्वाधीनता का प्रावधान था, न ही औपनिवेशिक स्वराज्य का कहीं उल्लेख था। अतः भारतीयों के लिये निरर्थक था।

3. यह अधिनियम एक धोखा व मुखौटा मात्र था– भारतीय आलोचकों का मानना था, कि यह अधिनियम भारतीयों के हाथों में कोई वास्तविक शक्ति नहीं सौंपता था। अतः यह अधिनियम जनता के लिए एक ''धोखा'' और ''मुखौटा'' मात्र था।

4. भारत की समस्या का समाधान नहीं– भारत में जो समस्या थी, आजादी की मांग उठ रही थी। ब्रिटिश टीकाकारों व श्रमिक दल के नेताओं का मानना था कि यह अधिनियम भारत की समस्या का कोई समाधान प्रस्तुत नहीं करता था।

5. इस अधिनियम के निर्माण में भारतीय जनता अथवा उसके प्रतिनिधियों का कोई हाथ नहीं था। जवाहरलाल नेहरू ने इस अधिनियम को 'दासता का आज्ञा पत्र' बतालाया था।

6. दोषपूर्ण संघीय व्यवस्था– 1935 के अधिनियम द्वारा प्रस्तावित अखिल भरतीय संघ की योजना में यद्यपि संघीय व्यवस्था के कई लक्षण जैसे शक्ति विभाजन, लिखित व कठोर संविधान, स्वतंत्र न्यायिक सत्ता व दो सरकारें विद्यमान थे। लेकिन इसमें गम्भीर दोष भी थे। संघ बेमेल इकाइयों को मिलाने का प्रयास किया गया। यह प्रस्तावित संघ न तो भारतीयों को सत्ता का हस्तान्तरण करता था और न ही, इसमें आत्मनिर्णय, सामान्य नागरिकता का, प्रावधान था। गवर्नर जनरल व गवर्नरों को निरंकुश व स्वेच्छाचारी शक्तियां प्राप्त थीं, जो संघीय व्यवस्था को आघात पहुंचाती थी। संघीय न्यायाधिकरण की शक्ति सर्वोच्च नहीं थी, उसके निर्णयों के विरूद्ध प्रिवी कौंसिल में अपील की जा सकती थी।

7. प्रान्तीय स्वायत्तता एक भ्रम– यह अधिनियम प्रान्तों में स्वायत्तता का प्रावधान करता था। प्रान्तीय विधान मण्डल के सदस्य निर्वाचित होते थे। कार्यपालिका को व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी किया गया। परन्तु केन्द्रीय शासन के पास ऐसी शक्तियां थीं, जिनके माध्यम से प्रान्तीय क्षेत्र में हस्तक्षेप किया जाता। गवर्नर जनरल आपातकाल की घोषणा करके प्रान्तीय स्वायत्तता का गला घोंट सकता था। प्रान्तों में गवर्नरों को कई विविध तरह के अधिकार प्राप्त थे, जो स्वायत्तता का गला घोंटते थे। मंत्रियों की स्थिति कमजोर थी। सामूहिक उत्तरदायित्व का अभाव था।

8. संरक्षण व आरक्षण की व्यवस्था दोषपूर्ण– संरक्षण व आरक्षण के माध्यम से गवर्नर जनरल व गवर्नरों को विशेष अधिकार मिले हुये थे। वह निरंकुश व प्रतिक्रियावादी स्वरूप धारण किये हुए रहते। भारत सरकार की कार्य क्षमता पर बन्धन थे। यह ब्रिटिश साम्प्रदायवाद और उसके हितों की रक्षा करने के उपाय थे।

9. साम्प्रदायिक चुनाव प्रणाली का विस्तार अहितकर– साम्प्रदायिक चुनाव प्रणाली को भारतीय लोग, भारत के लिये अहितकर मानते थे। वह इसकी निंदा करते थे। फिर भी इसे आंग्ल भारतीयों, यूरोपियनों, भारतीय ईसाइयों और हरिजनों के लिए लागू कर दिया गया। यह व्यवस्था भारतीय एकता को हानि पहुँचाने वाली और ब्रिटिश हितों की रक्षा करने वाली थी।

10. आत्मनिर्णय का अधिकार नहीं– इस अधिनियम में नवीन संविधान के स्वतः विकसित होने या भारतीयों द्वारा अपने भाग्य निर्धारण का अधिकार नहीं था। भारत पर ब्रिटिश पार्लियामेंट व भारत मंत्री के नियंत्रण में कोई कमी नहीं की गयी।

इस तरह 1935 का अधिनियम अपने आप में बहुत से दोषों को समाहित किये हुए था। परन्तु फिर भी यह अधिनियम पूर्ववर्ती सुधार अधिनियमों की तुलना में अधिक महत्व रखता था। भले ही संघीय व्यवस्था स्थापित नहीं हो सकी। लेकिन भावी भारत के लिये यह, संघीय व्यवस्था के लिए मार्गदर्शक बना। प्रान्तीय स्वायत्तता की आधी अधूरी व्यवस्था भले ही हो, परन्तु उत्तरदायी शासन स्थापना का आरम्भ कही जा सकती है। पहले की तुलना में इस अधिनियम से, अधिक लोगों को मताधिकार का अवसर उपलब्ध हो सका। शासन की शक्तियों के विकेन्द्रीकरण को बढ़ावा देने वाला साबित हुआ। पहले की तुलना में केन्द्रीय व प्रान्तीय विधान मण्डलों के संगठन में सुधार हुआ। उनकी शक्तियों में वृद्धि हुई और यह पहले की अपेक्षा अधिक लोकतांत्रिक बन सके।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

भारतीय शासन अधिनियम 1935

प्रमुख प्रावधान–

1. विस्तृत अधिनियम जिसमें 451 धारायें व 15 अनुसूची थीं।
2. प्रस्तावना नहीं थी।
3. प्रस्तावित अखिल भारतीय संघ की योजना।

संघीय योजना के दोष

1. संघ में इकाईयों के शामिल होने की अनिवार्यता सभी के लिए समान नहीं।
2. इकाईयों का समान स्तर न होना।
3. संघ की इकाईयों में स्वायत्तता की कमी।
4. गवर्नर जनरल की स्वेच्छाचारी शक्तियां ।
5. संघीय व्यवस्था में एकात्मक तत्त्व।
6. शक्तियों का विभाजन ठीक नहीं।

केन्द्र में द्वैध शासन की स्थापना

* प्रान्तीय स्वायत्तता
* शक्ति विभाजन
* संरक्षण व आरक्षण की व्यवस्था
* विधान मण्डलों के संगठन एवं मताधिकार का विस्तार।
* संघीय न्यायालय
* ब्रिटिश पार्लियामेंट की सर्वोच्चता।
* भारत परिषद का अन्त
* साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति का विस्तार।
* बर्मा, बरार और अदन के सम्बन्ध में परिवर्तन।
* प्रान्तीय स्वायत्तता
* प्रान्तीय स्वायत्तता का अभिप्राय
* प्रान्तीय स्वायत्तता पर प्रतिबन्ध

1. बाह्य प्रतिबन्ध

* संकटकालीन स्थिति की घोषणा
* प्रान्तों पर केन्द्र का नियंत्रण।
* प्रान्तीय कानूनी क्षेत्र में गवर्नर जनरल का नियंत्रण।
* प्रान्तीय विधान मण्डलों द्वारा परित विधेयकों को गवर्नर द्वारा गवर्नर जनरल की स्वीकृति हेतु सुरक्षित रखना। गवर्नर जनरल के विशेष उत्तरदायित्व।

2. आंतरिक प्रतिबन्ध

* प्रान्त में गवर्नर की भूमिका संवैधानिक अध्यक्ष से बढ़कर
* वित्तीय क्षेत्र में गवर्नर की असीमित शक्तियां
* मंत्रियों पर गवर्नर का नियंत्रण।
* मंत्रियो के साथ सिविल सेवा के पदाधिकारियों का असहयोग।

प्रान्तीय स्वायत्तता का क्रियान्वयन

भारत के वर्तमान संविधान पर 1935 के अधिनियम का प्रभाव– निम्न प्रभाव

* संघीय योजना
* द्विसदनीय विधान मण्डल का विचार।
* संवैधानिक संकट के प्रावधान।
* राज्यपाल का पद
* विस्तृत संवैधानिक डॉक्यूमेंट।
* संघीय कानून व राज्य के कानून में विरोध होने की स्थिति में संघीय कानून को मान्यता का विषय।
* राष्ट्रपति की संकटकालीन शक्तियां
* राज्य की कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग संघीय संसद व कार्यपालिका के निर्देशन में।

भारतीय शासन अधिनियम 1935 का मूल्यांकन– निम्न आलोचनाएं की गईं

1. इंग्लैण्ड में आलोचना।
2. अधिनियम निरर्थक है।
3. यह अधिनियम एक धोखा व मुखौटा मात्र है।
3. भारत की समस्या का समाधान नहीं।
4. इसके निर्माण में भारतीय जनता की सहभागिता नहीं।
5. संघीय व्यवस्था दोषपूर्ण।
6. प्रान्तीय स्वायत्तता एक भ्रम।
7. संरक्षण व आरक्षण की व्यवस्था दोषपूर्ण।
7. साम्प्रदायिक चुनाव प्रणाली का विस्तार अहितकर।
8. आत्म निर्णय का अधिकार नहीं।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

अति लघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत संघ के निर्माण के साथ क्या शर्त थी?
2. भारतीय शासन अधिनियम, 1935 के अन्तर्गत गठित केन्द्रीय विधान मण्डल के दोनों सदनों के नाम क्या थे ?
3. गवर्नर जनरल को 1935 के अधिनियम द्वारा प्रदत्त स्वविवेकीय शक्तियां बताइये।
4. प्रान्तीय स्वायत्तता से आपका क्या तात्पर्य है ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. 1935 के अधिनियम की कोई चार विशेषतायें बतलाइये।
2. 'प्रान्तों में उत्तरदायी शासन अपूर्ण था' स्पष्ट कीजिये।
3. संघीय न्यायालय के संगठन का उल्लेख कीजिये।
4. 1935 के अधिनियम के कोई चार दोष गिनाइये।
5. क्या गवर्नर–जनरल संवैधानिक अध्यक्ष नहीं था ? स्पष्ट करें।

निबन्धात्मक प्रश्न :

1. भारतीय शासन अधिनियम, 1935 के प्रावधानों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिये।
2. केन्द्रीय विधान मण्डल के संगठन, शक्ति व स्थिति की विवेचना कीजिये।
3. 1935 के अधिनियम में प्रस्तावित संघीय योजना क्या थी?आलोचनात्मक विवेचना कीजिये।
4. 1935 के अधिनियम में उल्लेखित प्रान्तीय स्वायत्तता से आप क्या समझते हैं ?इस पर क्या प्रतिबंध लगाये गये थे,

जो इसे पंगु बनाते थे।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न :

1. केन्द्रीय विधान मण्डल के निम्न सदन संघीय विधान सभा की सदस्य संख्या कितनी थी ?
   (अ) 260 (ब) 375
   (स) 250 (द) 545 ( )
2. संघीय न्यायालय के न्यायाधीश कितनी वर्ष की आयु तक अपने पद पर रह सकते थे ?
   (अ) 65 वर्ष (ब) 60 वर्ष
   (स) 55 वर्ष (द) आजीवन ( )
3. भारतीय शासन अधिनियम, 1935 द्वारा अवशिष्ट शक्तियां किसे सौंपी गयी थीं ?
   (अ) गर्वनर (ब) केन्द्रीय विधान मण्डल
   (स) गवर्नर जनरल (द) भारत सचिव ( )
4. भारतीय शासन अधिनियम, 1935 में अनुच्छेद व परिशिष्ट की संख्या क्या थी ?
   (अ) 450 व 11 (ब) 460 व 12
   (स) 395 व 15 (द) 451 व 15 ( )

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तरः

1(ब), 2(अ), 3(स), 4 (द)

इकाई –9
अध्याय–19
भारत में ब्रिटिश शासन के अवसान के कारण

सदियों की गुलामी की बेडियों को तोडकर 15 अगस्त 1947 को भारत में स्वतंत्रता का सूर्य उदय हुआ। इस लम्बी दासता से मुक्ति दिलाने में कई स्वतंत्रता सेनानियों, क्रान्तिकारी विचारकों एवं संगठनों ने अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया। परतंत्रता से मुक्ति के पीछे निम्न घटनाओं का विशेष योगदान रहा।

1. विभिन्न सामाजिक एवं राजनैतिक संगठनों का उदय

धार्मिक पुनरुत्थान और भारत के ऐतिहासिक गौरव के प्रति श्रद्धा भाव के कारण 19वीं सदी के इन संगठनों ने, देशवासियों में राष्ट्रीयता की भावना विकसित करने का कार्य किया।

(अ) ब्रह्म समाज (28 अगस्त 1828) : भारतीय सांस्कृतिक पुर्नजागरण के पिता एवं सामाजिक चेतना,राष्ट्रवाद के अग्रदूत, राजा राममोहनराय (1774–1833) बहुआयामी व्यक्तित्त्व के धनी थे। वे अद्वैतवाद के समर्थक थे।

1828 ई. में उन्होंने ब्रह्म समाज की स्थापना की। उस समय ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध संघर्ष करना संभव नहीं था, इसलिए उन्होंने राजनैतिक एवं सामाजिक जागृति का कार्य जारी रखा। अंग्रेजी, लेटिन, हिब्रू, फारसी सहित अनेक भाषाओं के जानकार श्री राय ने अपने विचारों के प्रसार के लिए 1821 में ''संवाद कौमुदी'' (बंगला भाषा में), 1822 में 'मिरात उल अखबार' (फारसी में) 1829 में 'बंगदूत' समाचार पत्र (हिन्दी में) निकालना शुरू किया। जिससे आम जनता उनके विचार जान सकें। राममोहन राय स्वतंत्रता के समर्थक व प्रशासन में स्वेच्छाचारिता के विरोधी थे। इन्होंने न्याय पालिका में सुधार, भूमिकर को कम करने की मांग, सेना के भारतीयकरण इत्यादि की मांग से भारतीय जनमानस में राष्ट्रवाद की भावना पैदा की।

(ब) आर्य समाज (10 अप्रेल 1875) : स्वराज्य, स्वधर्म और स्वदेशी की विचारधारा के प्रबल समर्थक स्वामी दयानन्द सरस्वती (1825–1883) ने भारत में फैले आडम्बर एवं कर्मकाण्डों के विरूद्ध बिगुल बजाते हुए वेदों की महत्ता को स्वीकार किया। एक ही ईश्वर के पुत्र होने के नाते, सभी को भाई बताकर जाति भेद मिटाकर समानता को अपनाने पर बल दिया। (इससे आम भारतीय विशेषकर उत्तरी भारत के लोगों ने, इनके द्वारा शुरू आर्य समाज को अपनाकर देश में राष्ट्रप्रेम की भावना जगाने का कार्य किया।)

(स) रामकृष्ण मिशन (1 मई 1897): स्वामी रामकृष्ण परमहंस भारतीय संस्कृति को आध्यात्मिक मानते हुए श्रेष्ठ सनातन संस्कृति मानते थे। उनके निधन के पश्चात उनके योग्यतम शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने इस संस्था की स्थापना की। जिसने निर्धनों, वंचित वर्ग एवं दलित वर्ग के लिए विशेंष कार्य किया।

तत्कालीन परिस्थितियों में जब लोगों में अपने धर्म, संस्कृति के प्रति हीन भावना का संचार हो रहा था तब इन्होंने पूरे विश्व में हिन्दू संस्कृति को विश्व विख्यात किया और लोगों में धार्मिक एवं राजनैतिक चेतना जागृत की।

(द) थियोसोफिकल सोसायटी (1857): इसकी बुनियाद रूसी महिला मैडम ब्लेवेटस्की एवं अमेरिकी कर्नल ऑलेकॉट द्वारा 1857 में रखी गई। भारत में इसका पदार्पण 1887 में हुआ। इन्होने स्वामी दयानन्द सरस्वती के आमंत्रण पर, भारत आकर यहीं के लोगों को हिन्दु धर्म व संस्कृति को श्रेष्ठ बताया और धर्म सुधार के कार्य किए। सन् 1893 में आयरलैण्ड की श्रीमती एनी बिसेन्ट ने इस कार्य को गति प्रदान की तथा भारत में वैचारिक क्रान्ति की सूत्रधार बनी।

(य) इस्लामिक धार्मिक सुधार आंदोलनः मुगल साम्राज्य के पतन के बाद मुसलमानों की स्थिति में गिरावट आ गई। अंग्रेजी शिक्षा के प्रति विरोध के कारण, ये पाश्चात्य संस्कृति एवं साहित्य से दूर हटते गये। तत्कालीन मुस्लिम समाज में भी कुरीतियों का बोलबाला था। जिससे उनकी

सामाजिक एवं राजनैतिक भागीदारी न्यून हो गई। सर सैयद अहमद खॉ ने मुसलमानों को अंग्रेजों का वफादार बनने का संदेश दिया। सर सैयद अहमद खाँ एवं बहावी आन्दोलन जैसे सुधारों ने रुढ़ियों को दूर कर शिक्षा का प्रसार किया। आगे चलकर अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय की स्थापना की गई। इससे उनमें सामाजिक एवं राजनैतिक विचारों का प्रादुर्भाव हुआ और स्वतंत्रता के प्रति जागरुक हुए।

2. दोषपूर्ण ब्रिटिश शासन प्रणाली– ब्रिटिश राज व्यवस्था भारतीय व्यवस्था से पूरी तरह भिन्न थी। देशी राजाओं ने धार्मिक व शिक्षण संस्थाओं, कवियों, कलाकारों, महात्माओं को करमुक्त जायदाद दे रखी थी। वहीं ब्रिटिश राज ने इन्हें बंद कर दिया। नई कर व्यवस्था से कृषक वर्ग भी मुसीबत में आ गया। अंग्रेजो की न्याय व्यवस्था भारतीय न्याय व्यवस्था से न केवल महंगी, दीर्घकालीन एवं निष्पक्षहीन थी अपितु प्रशासनिक दृष्टि से भी दोषपूर्ण थी। आम राजकाज की भाषा अंग्रेजी हो जाने के कारण लोगों की कठिनाईयां बढ़ गई। भारतीयों को अंग्रेजों की तुलना में हेय दृष्टि से देखा जाता था।

3 पाश्चात्य शिक्षा का प्रभाव– लार्ड विलियम बैटिंग के समय मैकाले के आग्रह पर ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों को भी अंग्रेजी शिक्षा की सुविधा दी। इससे जहां एक ओर एक वर्ग ऊपरी चमक–दमक से अपनी संस्कृति से विमुख हो गया तो वहीं दूसरी ओर दूसरे वर्ग द्वारा विदेशी साहित्य पढने से, उनकी स्वतंत्रता एवं लोकतंत्रात्मक मूल्यों के प्रति आस्था बढ़ने लगी और उन्होने ब्रिटिश सरकार से, उसी भाषा में संवाद कर, अपने अधिकार प्राप्ति के लिए संघर्ष किए।

4 सामाजिक परिवर्तन– अंग्रेजी शिक्षा के कारण सामाजिक एवं धार्मिक कुरीतियों, आडम्बरों से भारतीयों का मोह भंग होने लगा। अंग्रेजी शिक्षा के कारण भारत में डॉक्टर, वकील, अध्यापक एवं नौकरी करने वालों का नया वर्ग उत्पन्न हुआ। इन लोगों ने भी भारत में राष्ट्रीय जागृति फैलाने में अहम भूमिका निभाई।

5 आर्थिक शोषण– अंग्रेजों की स्वतंत्र व्यापार नीति ने भारतीय अर्थव्यवस्था को चौपट कर दिया। इंगलैण्ड के औद्योगीकरण ने यहां के कुटीर उद्योग धंधों को नष्ट कर दिया। यहाँ से कच्चा माल इंग्लैण्ड में जाता था और वहां के कारखानो में तैयार होकर भारतीय बाजारों में आता था। जिससे यहां के लोगों में बेरोजगारी फैल गई। इससे लोगों में तेजी से ब्रिटिश सरकार के प्रति आक्रोश पनपा। दादाभाई नौरोजी ने आम जनता को अपने लेखों से अवगत कराते हुए अंग्रेजों के इस षडयंत्र का खुलासा किया।

6. यूरोप के विद्वानों द्वारा भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का महिमामंडन– मैक्समूलर, सैसून बुर्नक, मोनियर विलियम्स इत्यादि विदेशी विद्वानों ने वेदों,भारतीय साहित्य एवं संस्कृत भाषा का गहन अध्ययनकर उसकी पूर्णता एवं श्रेष्ठता को सिद्ध किया, इससे केवल पश्चिमी जगत में ही नहीं बल्कि भारतीयों को भी अपनी समद्ध संस्कृति का अहसास हुआ और उनमें स्वाधीनता का भाव पैदा हुआ। (समृद्ध होकर भी हम परतंत्र क्यों?)

7. साहित्य एवं समाचार पत्रों का योगदान– पहले अधिकांश समाचार पत्र अंग्रेजी भाषा में निकलते थे। उन पर अंग्रेजों का अधिकार था लेकिन बाद में देशी भाषाओं में भी अखबार निकलने लगे। इन अखबारों में ब्रिटिश सरकार की दमनकारी नीतियों की आलोचना होती थी। इससे सरकार ने 1879 में वर्नाकुलर प्रेस एक्ट लागू कर दिया। जिससे भारतीय समाचार पत्रों की स्वतंत्रता पर रोक लगा दी गई। इससे लोगों में आक्रोश फैला एवं राष्ट्रवाद पनपा। उस समय के प्रसिद्ध राष्ट्रवादी समाचार पत्रों में 'हिन्दू पैट्रियट', 'हिन्दी मिरर', 'अमृत बाजार पत्रिका', 'केसरी' इत्यादि प्रमुख थे।

भारतीय लेखक दादाभाई नौरोजी, लोकमान्य बालगंगाधर तिलक की कृतियों एवं 'बंकिम चंद चटर्जी' के 'आनन्दमठ' एवं वंदेमातरम, टैगोर के जन–गण–मन, मैथलीशरण गुप्त की 'भारत भारती' एवं साहित्यकार भारतेन्दु हरीशचन्द्र की कृतियों ने भारतीय जनमानस में क्रान्ति फैला दी और नई आशा का संचार किया।

8. लार्ड लिटन की दमनकारी नीति– 1876–1878 तक दक्षिण भारत में अकाल पडा। जनता को सहायता पहुँचाने के स्थान पर महारानी विक्टोरिया के सम्मान में जलसा आयोजित किया गया, जिसमें लाखों रूपये पानी की तरह बहा दिए। अफगानिस्तान पर आक्रमण कर भारतीय राजकोष का धन व्यर्थ में खर्च कर दिया।

भारतीय लोग बिना लाइसेंस, शस्त्र नहीं रख सकते लेकिन अंग्रेजों को इससे छूट दी गई। इसे भारतीयों ने अपना अपमान समझा।

9. इलबर्ट बिल पर विवाद– 1883 में लार्ड रिपन की परिषद के कानून सदस्य इलबर्ट द्वारा ऐसा बिल लाया गया जिसमें भारतीय मजिस्ट्रेटों को अंग्रेजों के मुकदमों की सुनवाई

करने एवं उन्हें दण्ड देने का अधिकार दिया गया। इसके विरूद्ध सभी अंग्रेजों ने आंदोलन किया और बाध्य होकर सरकार ने वह बिल वापस ले लिया। इससे भारतीय लोगों को इस बात का आभास हुआ कि संगठित आंदोलन से सरकार को झुकाया जा सकता है। और इससे राष्ट्रीय चेतना जाग्रत हुई।

10. 1857 का स्वतंत्रता संग्राम– भारत में अंग्रेजों की गुलामी से मुक्त कराने के लिए 18वीं सदी के प्रारंभ से ही कुछ न कुछ घटनाक्रम घटित होता रहा, लेकिन यह स्वतंत्रता संग्राम भारत की आजादी की लड़ाई में मील का पत्थर साबित हुआ। विभिन्न शासक, सैनिक व नेता एक दूसरे के सम्पर्क में आए। यद्यपि साधनों, क्रान्तिकारियों के मध्य समन्वय की कमी एवं समुचित योजना के अभाव के कारण मूल लक्ष्य को प्राप्त करने में असमर्थ रहे। इस आंदोलन को कुचलने में अंग्रेजों ने पाशविकता का सहारा लिया इसने भी भारतीय लोगों के मन में घृणा की भावना भर गई। इससे आम जनता के मन में स्वतंत्रता के प्रति संघर्ष के बीज बो दिये और भारत में राष्ट्रवाद व पुर्नजागरण का अंकुरण हुआ। इससे आम भारतीयों में भी साहस, आत्म गौरव, कर्त्तव्यपरायणता एवं जीवनशक्ति का विकास हुआ। 1860 से 1880 के मध्य कई क्रान्तिकारी आंदोलन हुए। इससे भी भारत में स्वतंत्रता के प्रति चेतना जागृत हुई। वीर सावरकर के अनुसार ''यह स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए प्रथम युद्ध था। यह केवल सैनिक विद्रोह ही नहीं बल्कि सामाजिक ज्वालामुखी था जिसमें दबी हुई शक्तियों ने अभिव्यक्ति प्राप्त की थी''।

11. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का उदय– 18 दिसंबर 1885 को अवकाश प्राप्त अंग्रेज अधिकारी एलन ओक्टोवियन ह्यूम ने 72 राजनैतिक कार्यकर्ताओं के साथ मिलकर बम्बई में गोकुलदास तेजपाल संस्कृत कॉलेज के भवन में कांग्रेस की नींव रखी। जिसके प्रथम अधिवेशन की अध्यक्षता व्योमेश चन्द बनर्जी ने की।

तात्कालिक वायसराय लार्ड डफरिन के निर्देश व मार्गदर्शन में गठित इस संगठन का उद्देश्य भारत में अंग्रेजों के विरूद्ध पनप रहे घोर असंतोष के कारण हो सकने वाले विस्फोट की स्थिति को शांत करना था। इनका दृष्टिकोण था कि भारतीयों में देश भक्ति की राष्ट्रीय भावनाओं को वैधानिक प्रवाह में मोड़ा जाए और भारतीयों की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति में सुधार लाया जाए। प्रारंभ में लगभग 20 वर्षो तक (1885 से 1905 तक) इस पर उदारवादियों का नियंत्रण रहा। और यह कुछ प्रसिद्ध वकीलों, उद्योगपतियों एवं धनाढ्य लोगों का समूह थी।

1906 में दादाभाई नोरोजी ने कलकता अधिवेशन में पहली बार कहा कि कांग्रेस का उद्देश्य संयुक्त राज्य अमेरिका तथा अन्य उपनिवेशो की भांति स्वशासन प्राप्त करना है।

कांग्रेस का दौर

(अ) उदारवादी राष्ट्रीयता का काल (1885 से 1905): इस अवधि में मांगपत्र, स्मृति पत्र, प्रतिनिधि मंडल इत्यादि के द्वारा मांगे उठाई जाती। इस काल के प्रमुख नेताओं में दादाभाई नौरोजी, महादेव गोविन्द रानाडे, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, फिरोजशाह मेहता, के.टी. तैलंग, गोपाल कृष्ण गोखले आदि प्रमुख थे।

(ब) उग्रराष्ट्रीयता का काल (1906–19): पूर्ण स्वतंत्रता की मांग और इसके लिए जन आंदोलन के मार्ग को अपनाने वाले इन नेताओं में बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपतराय, विपिन चन्द्र पाल, अरविन्द घोष इत्यादि थे। इनके द्वारा चलाए गए आंदोलनों से जहाँ आम जनता में राष्ट्रवाद की भावना तीव्र हुई वहीं ब्रिटिश सरकार में भय का संचार हुआ।

स्वदेशी आंदोलन को देश की मुक्ति का साधन मानते हुए जनता में आत्म सम्मान एवं आत्मनिर्भरता का संचार हुआ।

(स) गाँधीय आंदोलन का युग (1920–1947)

1913 से भारतीय राजनीति में महात्मा गाँधी जी का प्रवेश हुआ जिन्होंने अपने अहिंसात्मक आन्दोलनों से देश के आम व्यक्तिओं को स्वतंत्रता आन्दोलनों से जोड़ दिया। महात्मा गाँधी के नेतृत्व में संचालित असहयोग आन्दोलन (1920–22), सविनय अवज्ञा आंदोलन (1930–34), भारत छोडो आंदोलन (1942) ने ब्रिटिश राज के ताबूत में कील ठोकने का कार्य किया। 8 अगस्त 1942 का गाँधी जी का भारत को छोड़ो प्रस्ताव का भाषण बहुत ही प्रभावी एवं मार्मिक था जिसे पूरे देश का समर्थन मिला।

कांग्रेस के नेतृत्व में देश में स्वतंत्रता आंदोलनों को एक नई दिशा मिली। हालांकि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात महात्मा गांधी ने कहा कि कांग्रेस का भविष्य में राजनैतिक दुरुपयोग नहीं हो इसलिए इसका विसर्जन कर दिया जाना चाहिए।

12. अन्य क्रांतिकारी आंदोलन– क्रांतिकारियों के सहयोग के बिना स्वतंत्रता की बात सोचना व्यर्थ है। क्रांतिकारियों के गुप्त संगठन, भारतीय जवानों को गोला बारूद बनाने एवं शस्त्र चलाने का प्रशिक्षण देते थे, इनमें प्रमुख महाराष्ट्र में अभिनव भारत, बंगाल में अनुशीलन समिति एवं युगान्तर इत्यादि प्रमुख थे। वहीं प्राकुल्ल चाकी, खुदीराम बोस, अरविन्द घोष व उनके भाई वीरेन्द्र कुमार प्रमुख थे। विदेशों में रहकर क्रांतिकारी गतिविधियों का संचालन करने वालों में श्यामजी कृष्ण वर्मा, मदाम भिकाजीकामा, एम बरकतुल्ला, अजीत सिंह, वी एम अय्यर, लाला हरदयाल, रासबिहारी बोस, सोहन सिंह भकना, विनायक दामोदर सावरकर, उदैयदुल्ला सिंधी व मानवेन्द्र नाथ राय इत्यादि प्रमुख थे।

13. वैश्विक कारण (विश्व घटना चक्र)– प्रथम विश्व युद्ध (1914–18) एवं द्वितीय विश्व युद्ध (1939–45) के परिणामतः संयुक्त राज्य अमेरिका एवं सोवियत संघ रूस का वैश्विक महाशक्ति के रूप में उदय होने से ब्रिटेन की स्थिति कमजोर हो गई। इन दोनों महाशक्तियों का भी उपनिवेशवाद के विरूद्ध दबाव था। उसी दरम्यान विश्व के अन्य कई देशों में भी राजतंत्र व उपनिवेशवाद के विरूद्ध क्रांतियाँ हो रही थी। 1917 की रूसी

क्रान्ति से भी भारत को नैतिक बल मिला एवं अन्य स्वतंत्र हो रहे देशों से आम भारतीय लोगों में भी उत्साह का संचार हुआ और उन्होंने संघर्ष तेज कर दिया। विश्व के अन्य देशो जापान, फ्रांस, जर्मन इत्यादि ने स्वतंत्रता आंदोलनों को अपने यहाँ से संचालित करने का स्थान भी उपलब्ध कराया और विदेशों में पढ़ रहे युवकों ने भी वहां से स्वतंत्रता आंदोलनों को नई दिशा दी। संयुक्त राष्ट्र संघ के उदय से भी उपनिवेशवाद को आघात पहुँचा।

हालांकि 1941 में एटलांटिक चार्टर का प्रस्ताव कि द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात प्रत्येक उपनिवेशित राष्ट्र को आत्म निर्णय का अधिकार होगा। लेकिन चर्चिल ने इसे भारत में लागू करने से इंकार कर दिया। तब अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने चर्चिल पर भारत से समझौते के लिए दबाव डाला और कहा कि यह एटलांटिक चार्टर पूरे संसार में लागू होगा। इससे भी ब्रिटेन पर नैतिक दबाव पड़ा। वहीं आस्ट्रेलिया की संसद ने भारत में पूर्ण स्वराज की वकालात की। द्वितीय विश्वयुद्ध में जब जापान ने सिंगापुर, मलाया, इण्डोनेशिया एवं अंडमान निकोबार द्वीप को फतह कर लिया। यहाँ तक बर्मा के पतन के पश्चात जापानी सेना रंगून तक पहुंच गई इससे ब्रिटेन न केवल घबरा गया बल्कि भारत में राजनैतिक गतिरोध को दूर करने के लिए एक योजना के साथ क्रिप्स को भारत भेज दिया। जर्मनी, रूस, जापान, अमेरिका, चीन इत्यादि देशो ने भी भारतीय स्वतंत्रता आंदोलनों का समर्थन किया।

1945 में इंग्लैण्ड में हुए आम चुनावों में वहाँ कि सत्तारूढ़ पार्टी की पराजय से चर्चिल के स्थान पर लेबर पार्टी के क्लीमेंट एटली ब्रिटेन के प्रधानमंत्री बने। जिनकी भारत के प्रति सहृदयता भी थी। यहां तक कि उनके चुनावी घोषणा पत्र में भी भारत को स्वतंत्र करने का उल्लेख था। इससे भी स्वतंत्रता का एक मार्ग प्रशस्त हुआ।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

1. भारतीय सांस्कृतिक पुनर्जागरण के पिता एवं सामाजिक चेतना एवं राष्ट्रवाद के अग्रदूत राजा राम मोहन राय थे।
2. आर्य समाज की स्थापना स्वामी दयानन्द सरस्वती ने की।
3. स्वामी दयानन्द ने कहा–वेदों की ओर लौटो।
4. रामकृष्ण मिशन की स्थापना स्वामी विवेकानन्द ने की।
5. स्वामी विवेकानन्द ने पूरे विश्व में हिन्दू संस्कृति को विश्वविख्यात किया।
6. थियोसोफिकल सोसायटी की स्थापना रूसी महिला मैडम ब्लेंकेटस्की एवं अमरीकी कर्नल ऑलकाट द्वारा की गई।
7. सन् 1893 में आयरलैण्ड की मिसेज एनीबीसेन्ट ने थियोसोफिकल सोसायटी को गति प्रदान की।
8. सर सैयद अहमद खां ने मुसलमानों को अंग्रेजों का वफादार बनने का संदेश दिया।
9. दादा भाई नौरोजी ने Poverty and Unbritish Rule In India पुस्तक में अंग्रेजों के आर्थिक षडयन्त्र का खुलासा किया।
10. ब्रिटिश सरकार ने 1879 में वर्नाकुलर प्रेस एक्ट लागू कर दिया।
11. 1876–78 तक दक्षिण भारत में अकाल पड़ा उस समय महारानी विक्टोरिया के सम्मान में लार्ड लिटन ने जलसा किया और लाखों रूपया पानी की तरह बहाया।
12. 1857 के स्वतंत्रता संग्राम को वीर सावरकर ने प्रथम स्वतंत्रता संग्राम कहा।
13. 18 दिसंबर 1885 को अवकाश प्राप्त अंग्रेज ए.ओ. ह्यूम ने 72 राजनैतिक कार्यकर्ताओं के साथ मिलकर कांग्रेस की स्थापना की।
14. प्रारंभ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का उद्देश्य भारत में अंग्रेजों के विरूद्ध पनप रहे घोर असंतोष को शान्त करना था। यह एक प्रकार से सेफ्टी वाल्व था।
15. 1913 से भारतीय राजनीति में गांधीजी का प्रवेश हुआ।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. कांग्रेस की स्थापना कब हुई ?
2. भारत छोड़ो आंदोलन कब शुरू हुआ ?
3. कांग्रेस की स्थापना कहां पर हुई ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. ब्रह्म समाज के कार्यो का उल्लेख करो।
2. एटलांटिक चार्टर से आप क्या समझते हो ?
3. उदारवादी एवं उग्रराष्ट्रीय विचारधारा के नेताओं के नाम लिखो।
4. लार्ड लिंटन की दमनकारी नीतियों की जानकारी दीजिए।
5. महात्मा गांधी द्वारा चलाए गए किन्ही 3 प्रमुख आंदोलनों को बताइये।
6. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के उदय को समझाइये।
7. श्रीमती एनी बिसेन्ट ने किस प्रकार भारतीय जनमानस को प्रभावित किया।
8. वर्नाकुलर प्रेस एक्ट से आप क्या समझते हो ?
9. 1857 की क्रान्ति के बारे में वीर सावरकर के क्या विचार थे ?
10. ब्रिटिश शासन के अंत में किन प्रमुख वैश्विक कारणों का योगदान रहा ?

निबंधात्मक प्रश्न

1. भारत में ब्रिटिश शासन के अवसान के कारणों पर लेख लिखो।
2. इलबर्ट बिल विवाद को समझाइये।
3. 1857 के स्वतंत्रता संग्राम का क्या प्रभाव पडा ?
4. अंग्रेजों ने किस तरह भारत का आर्थिक शोषण किया ?

5. साहित्य एवं समाचार पत्रों का ब्रिटिश शासन के अवसान में क्या योगदान रहा ?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. भारतीय सांस्कृतिक पुनर्जागरण का पिता किसे कहा जाता है–
   (अ) राजाराम मोहनराय (ब) स्वामी विवेकानन्द
   (स) स्वामी दयानन्द (द) मैडम ब्लेंकेटस्की ( )
2. रामकृष्ण मिशन की स्थापना कब हुई–
   (अ) 1893 (ब) 1895
   (स) 1875 (द) 1896 ( )
3. आर्य समाज की स्थापना कब हुई–
   (अ) 10 अप्रेल 1875 (ब) 6 अप्रेल 1883
   (स) 22 अगस्त 1857 (द) 2 अप्रेल 1902 ( )
4. कांग्रेस की स्थापना किसने की–
   (अ) महात्मा गांधी (ब) ए.ओ. ह्यूम
   (स) पट्टाभिसीता मैया (द) दादा भाई नौरोजी ( )
5. अलीगढ आंदोलन किसने चलाया–
   (अ) दादाभाई नौरोजी (ब) विवेकानन्द
   (स) सरसैयद अहमद (द) मो. अलीजिन्ना ( )
6. एनी बिसमेंट किस संस्था से जुडी हुई थी–
   (अ) ब्रह्म समाज (ब) थियोसेफिकल सोसायटी
   (स) आर्य समाज (द) रामकृष्ण मिशन ( )

उत्तरमाला

1. (अ) 2. (द) 3. (अ) 4. (ब) 5. (स) 6. (ब)

अध्याय–20
भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम 1947

पृष्ठभूमि– जिस अंग्रेजी राज्य का प्रारंभ सन् 1757 में भारत भूमि पर प्लासी के युद्ध से शुरू हुआ था। 15 अगस्त 1947 को उसका अंत हुआ। इस स्वतंत्रता को लाने में असंख्य वीरों ने अपना त्याग एवं बलिदान किया था। भारतीयों के इन्ही संघर्षो के कारण घटित राष्ट्रीय गतिविधियों एवं द्वितीय विश्व युद्ध के कारण उत्पन्न परिस्थितियों ने ब्रिटिश सरकार को इस अधिनियम के निर्माण के लिए बाध्य कर दिया।

राष्ट्रीय घटनाक्रम– कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में 26 जनवरी 1930 को प्रतिवर्ष मनाए जाने वाले स्वतंत्रता दिवस से प्रत्येक भारतीय में स्वतंत्रता की भावना जागृत हुई। महात्मा गांधी के नेतृत्व में सविनय अवज्ञा आंदोलन (1930), 1942 का भारत छोडो आंदोलन, मुस्लिम लीग का पाकिस्तान की मांग को लेकर की गई सीधी कार्यवाही, सुभाष चन्द बोस द्वारा स्थापित आजाद हिंद फौज के तीन पदाधिकारियों पर चलाया गया मुकदमा, 1946 का नौ सैनिक विद्रोह का भारतीय प्रयासों से अंत, इत्यादि घटनाक्रम के कारण ब्रिटिश सरकार के द्वारा भारतीयों की स्वतंत्रता की मांग को टालना संभव नहीं रहा।

द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण बदले हुए हालात

सन् 1939 से शुरू द्वितीय महायुद्ध में आम भारतीयों के युद्ध में शामिल नहीं होने की इच्छा के बावजूद कांग्रेस के प्रमुख नेताओं के सहयोग से भारतीयों का युद्ध में सहयोग प्राप्त करने एवं पाकिस्तान की मांग के कारण उठ खड़े हुए संकट के समाधान हेतु जो प्रयास किए गए वो निम्न है।

(1) क्रिप्स प्रस्ताव– द्वितीय विश्वयुद्ध में जापान के निरन्तर बढ़ रहे प्रभाव के कारण ब्रिटिश राज्य को भारतीयों के पूर्ण सहयोग की आवश्यकता महसूस हुई। भारत की तात्कालिक परिस्थितियों में संवैधानिक गतिरोध को दूर किए बिना यह असंभव था। 22 मार्च 1942 को चर्चिल ने ब्रिटिश समाजवादी नेता सर स्टीफोर्ड क्रिप्स को भारत भेजा। क्रिप्स ने संवैधानिक गतिरोध दूर करने के लिए जो योजना दी उसे 'क्रिप्स प्रस्ताव' कहा जाता है। इसमें युद्ध के समय एवं युद्ध के पश्चात् दो प्रस्ताव प्रस्तुत किए गए। लेकिन इसमें औपनिवेशिक स्वराज्य अर्थात सीमित स्वतंत्रता की अवधारणा दी गई, जिसमें संघप्रमुख के स्थान पर ब्रिटिश नियंत्रण रहने के प्रावधान होने के कारण लगभग सभी राजनेताओं ने इसे अस्वीकार कर दिया और 11 अप्रेल 1942 को क्रिप्स प्रस्ताव वापस ले लिया गया।

(2) कैबिनेट मिशन द्वारा प्रस्तुत योजना– ब्रिटेन के आम चुनाव में वहां पहली बार भारतीयों के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण रखने वाली लेबर पार्टी की सरकार बनी और 26 जुलाई 1945 को ऐटली प्रधानमंत्री बने। एटली ने यहां की समस्या के समाधान के लिए अपने मंत्रिमंडल के तीन सदस्यों के आयोग (पैथिक लारेंस, सर स्टेफॉर्ड क्रिप्स, एवी एलेक्जेण्डर) को भारत भेजा। इस आयोग ने तीन महत्वपूर्ण सुझाव दिए।

1. भारत में संघ राज्य की स्थापना की जाए।
2. भारत के संविधान निर्माण के लिए संविधान सभा गठित की जाए।
3. नए संविधान के अंतर्गत नई सरकार के गठन होने तक एक अंतरिम सरकार की स्थापना की जाए।

प्रारंभ में कांग्रेस ने अंतरिम सरकार की मांग को अस्वीकार कर दिया लेकिन मुस्लिम लीग ने स्वयं के बल पर अंतरिम सरकार बनाने का प्रस्ताव दिया। लेकिन वायसराय द्वारा देश की सबसे बडी पार्टी को अलग करके सरकार बनाने से इंकार कर दिया गया। तब मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान की मांग को लेकर सीधे संघर्ष का रास्ता अपनाने का फैसला लिया। बाद में कांग्रेस की वर्किंग कमेटी ने कैबिनेट योजना को स्वीकार कर लिया। मुस्लिम लीग की सीधी कार्यवाही की नीति से पूरे देश में साम्प्रदायिक दंगे फैल गए।

ब्रिटिश प्रधानमंत्री की घोषणा– ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने 20 फरवरी 1947 को एक महत्वपूर्ण घोषणा करते हुए कहा कि ब्रिटिश सरकार जून 1948 तक भारत की उत्तरदायी सरकार को सत्ता हस्तांतरित कर देगी। यदि इससे पूर्व भारत के राजनैतिक दलों में पूर्व में कोई समझौता हो गया तो इससे पूर्व भी सत्ता सौंपी जा

सकती है।

माउण्टबेटन योजना

उपरोक्त घोषणा के समय ही लार्ड माउण्टबेटन को भारत का गर्वनर जनरल बनाया गया। माउण्टबेटन ने कांग्रेस और मुस्लिम लोगों के नेताओं से वार्ता की। कांग्रेस के नेता जहां भारत के विभाजन के विरूद्ध थे। ''महात्मा गांधी ने तो यहां तक कहा कि देश का विभाजन मेरी लाश पर होगा।'' जवाहर लाल नेहरू, सरदार पटेल, मौलाना आजाद सभी नेता भी प्रारम्भ में विभाजन के विरूद्ध थे। लेकिन मुस्लिम लीग द्वारा की गई प्रत्यक्ष कार्यवाही में हो रहे जनसंहार से व्यथित थे और भविष्य में भी शांति बनी रहे ऐसा सोचकर उन्होंने माउण्टबेटन की भारत विभाजन योजना (भारत व पाकिस्तान के रुप में दो राज्य बनाने) को स्वीकार कर लिया यद्यपि अब्दुल गफ्फार खां, राष्ट्रवादी मुसलमान, पाकिस्तान प्रान्त के हिन्दू सदस्य, पुरूषोत्तम दास टण्डन अन्त तक इसका विरोध करते रहे। इतिहास में इसे मन बांटन योजना के नाम से भी जाना जाता है और कांग्रेस एवं मुस्लिम लीग के बीच समझौता हो गया। भारत को दो अधिराज्यों में विभाजित करने की माउण्टबेटन द्वारा 3 जून 1947 को दी गई योजना की स्वीकृति के पश्चात ब्रिटिश सरकार ने घोषणा की कि 15 अगस्त 1947 तक भारत एवं पाकिस्तान को सत्ता हस्तांतरित कर दी जाएगी और भारत के स्वतंत्र होने की राह खुल गई।

इस क्रम में ब्रिटिश संसद में 4 जुलाई 1947 को भारतीय स्वतंत्रता विधेयक प्रस्तुत किया गया जिसे 18 जुलाई 1947 को संसद ने पास कर दिया इसमें कुल 20 धाराएं थी।

अधिनियम की विशेषताएँ

(1) दो अधिराज्यों की स्थापना : 15 अगस्त 1947 को भारत का विभाजन कर भारत एवं पाकिस्तान दो स्वतंत्र और संप्रभु राष्ट्र घोषित कर दिए जाएंगे।

(2) परिक्षेत्र (सीमांकन) : इस अधिनियम में दोनों अधिराज्यों के क्षेत्रों का वर्णन किया गया है। इसके अनुसार मुस्लिम बहुल क्षेत्र पाकिस्तान का और हिन्दू बहुल क्षेत्र भारत का हिस्सा होगा। अधिनियम की धारा तीन एवं चार में बंगाल व पंजाब के विभाजन की व्यवस्था की गई। आसाम के सिलहट जिले में जनमत संग्रह कराया जाएगा और उसी के आधार पर यदि वह पाकिस्तान के पक्ष में गया तो इसे पूर्वी पाकिस्तान में मिलाया जाएगा। दोनों देशों की सीमाए, सीमा आयोग की रिपोर्ट के पश्चात ही निर्धारित होगी। सीमा आयोग के अध्यक्ष रेड क्लिफ थे। इसमें 2 हिन्दू और 2 मुसलमान सदस्य थे। पूर्वी पाकिस्तान में पूर्वी बंगाल व सिलहट तथा पश्चिमी पाकिस्तान में पश्चिम पंजाब, सिंध, उत्तर बिलोचिस्तान एवं बिलोचिस्तान की छोटी–छोटी रियासते शामिल होगी। देशी रियासतों को यह स्वतंत्रता होगी कि वे भारत अथवा पाकिस्तान किसी में भी शामिल हो सकती है या स्वतंत्र रह सकती है।

(3) संविधान सभाओं को सत्ता का हस्तानांतरण : (1) दोनों राज्यों की विधानसभाऐं अपने–अपने राज्यों का संविधान निर्माण करेगी। उनके कानून निर्माण की शक्ति पर कोई बाहरी नियंत्रण नहीं रहेगा। (2) संविधान सभाएँ संपूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न रहेगी और संविधान निर्माण होने तक विधानसभा के रूप में भी कार्य करती रहेगी। (3) ब्रिटिश राष्ट्रमंडल में शामिल होने या नहीं होने का इनका स्वतंत्र निर्णय होगा। (3) पूर्व में बने हुए ब्रिटिश कानूनों को मानने संशोधित करने या उन्हें निरस्त करने का स्वयं का स्वतंत्र निर्णय होगा। (4) संविधान के निर्माण होने तक सन् 1935 के अधिनियम के आधार पर शासन संचालित होगा। आवश्यकतानुसार इनमें संशोधन करने का भी अधिकार होगा। (5) गवर्नर जनरल के स्वविवेक तथा व्यक्तिगत निर्णय की शक्तियां स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात समाप्त हो जाएगी।

दोनों राज्यों के पृथक–पृथक गर्वनर जनरल

ब्रिटिश सम्राट भारत एवं पाकिस्तान दोनों में अलग–अलग गवर्नर जनरल नियुक्त करेगा। यदि दोनों अधिराज्य सहमत हो तो दोनों के लिए एक गवर्नर जनरल भी नियुक्त किया जा सकता है।

ये गवर्नर जनरल व प्रांतों के गवर्नर मात्र वैधानिक शासक होंगे और उन्हें मंत्रिमंडल की राय के अनुसार ही कार्य करना होगा।

गवर्नर जनरल की विशेष शक्ति :– मार्च 1948 तक भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम को लागू करने और दो अधिराज्यों में सम्पत्तियों का बंटवारा करने की शक्ति गर्वनर जनरल को दी गई।

भारतीय सचिव पद की समाप्ति एवं नागरिक सेवाओं के अधिकार – इस अधिनियम से भारतीय सचिव का पद समाप्त कर उसके अधिकार राष्ट्र मण्डल सचिव को दे दिए। 15 अगस्त 1947 से पूर्व ब्रिटिश राज के अधीन कार्य कर रहे भारतीय नागरिक सेवा के सदस्य स्वतंत्रता के पश्चात भी पूर्व की तरह सेवा में बने रहेंगे। उन्हें वे सब विशेषाधिकार, पेंशन, पारिश्रमिक तथा छुट्टी संबंधी सुविधाऐं प्राप्त होती रहेगी जो स्वतंत्रता से पूर्व उन्हें प्राप्त थी।

ब्रिटिश सम्राट एवं सरकार और इनके अधिकारों की समाप्ति – 15 अगस्त के पश्चात दोनों अधिराज्यों एवं इसके प्रांतों

अथवा इनके किसी भी भाग पर ब्रिटिश सरकार का कोई नियंत्रण नहीं रहेगा। ब्रिटिश सम्राट के पद से ''भारत के सम्राट'' नामक पद को हटा दिया जाएगा। इसी के साथ अधिराज्यों द्वारा निर्मित कानूनों को स्वीकार या अस्वीकार करने अथवा प्रांतीय विधेयक को ब्रिटिश सम्राट की अनुमति के लिए आरक्षित करने के अधिकार भी स्वतः ही समाप्त हो जाएंगे। लेकिन ब्रिटिश सरकार के नाम पर गर्वनर जनरल को किसी भी विधेयक को स्वीकार करने का अधिकार प्राप्त था।

देशी रियासतों पर सर्वोच्चता का अंत

अधिराज्यों के बनने के साथ ही रियासतों पर ब्रिटिश सम्राट की सर्वोच्चता समाप्त हो जाएगी और इनके साथ ब्रिटिश सरकार द्वारा की गई सभी संधियां एवं समझौते समाप्त हो जाएंगे। ये रियासतें भारत या पाकिस्तान किसी भी अधिराज्य में मिलने या स्वतंत्र रहने के लिए मुक्त रहेगी।

भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम का मूल्यांकन

इस प्रकार 14–15 अगस्त 1947 की मध्य रात्रि को पूरा संसार निद्रामग्न था तब भारत में नवजीवन तथा स्वतंत्रता का स्वर्णविहान हुआ। लगभग दौ सो वर्ष पुराने ब्रिटिश शासन का अंत हो गया और समस्त शक्तियां दो नए स्वतंत्र अधिराज्य भारत और पाकिस्तान को स्थानान्तरित कर दी गई। लार्ड माउण्टबटेन भारत के प्रथम गवर्नर जनरल बने। उन्होंने जवाहरलाल नेहरू को स्वतंत्र भारत के प्रथम प्रधानमंत्री के रूप में शपथ दिलाई।

अधिनियम निर्माण के समय तत्कालीन भारत सचिव अर्ल लिस्टेबिल ने कहा था कि यह अधिनियम अद्वितीय है। इससे पूर्व संसार की आबादी के इतने बडे भाग ने केवल एक विधान द्वारा स्वतंत्रता प्राप्त नहीं की।

सत्ता के शांतिपूर्ण तरीके से हस्तानांतरण को ध्यान में रखकर डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने कहा कि भारत पर ब्रिटिश प्रभुत्व का काल आज समाप्त होता है और ब्रिटेन के साथ हमारे संबंध समानता, सद्भाव और पारस्परिक लाभ के आधार पर होंगे। भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम अंग्रेजो की भव्य और गौरवपूर्ण विदाई थी।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

1. कांग्रेस ने लाहौर अधिवेशन में 26 जनवरी 1930 को प्रथम स्वतंत्रता दिवस मनाया।
2. क्रिप्स मिशन 22 मार्च 1942 को भारत आया।
3. क्रिप्स मिशन के नेता सर स्टैफर्ड क्रिप्स थे।
4. क्रिप्स प्रस्ताव में औपनिवेशिक स्वराज्य का प्रावधान था।
5. 26 जुलाई 1945 को ऐटली ब्रिटेन के प्रधानमंत्री बने।
6. कैबिनेट मिशन में तीन सदस्य थे–पैथिक लारेंस, सर स्टैफॉर्ड क्रिप्स एवं ए.वी. एलेक्जेण्डर।
7. कैबिनेट मिशन ने मुख्यतः तीन सुझाव दिये–(1) भारत में संघराज्य की स्थापना। (2) संविधान सभा का गठन। (3) अंतरिम सरकार की स्थापना।
8. मुस्लिम लीग की सीधी कार्यवाही की नीति से पूरे देश में साम्प्रदायिक दंगे फैल गये।
9. ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने 20 फरवरी 1947 को एक महत्वपूर्ण घोषणा की कि सरकार जून 1948 तक भारत की उत्तरदायी सरकार को सत्ता हस्तांतरित कर देगी।
10. देश के विभाजन के विरोध में महात्मा गांधी ने तो यहाँ तक कहा कि देश का विभाजन मेरी लाश पर होगा।
11. भारत स्वतंत्रता विधेयक ब्रिटिश संसद ने 18 जुलाई 1947 को पास कर दिया।
12. सीमा आयोग के अध्यक्ष सर रेडक्लिफ थे।
13. भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम से भारत सचिव का पद समाप्त कर दिया गया।
14. ब्रिटिश सम्राट के पद से भारत का सम्राट नामक पद को हटा दिया गया।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. प्लासी का युद्ध सन् .....में हुआ।
2. महात्मा गांधी ने 1930 में कौनसा आंदोलन चलाया।
3. चर्चिल ने 1942 में क्रिप्स मिशन को भारत क्यों भेजा?
4. क्लीमेण्ट एटली ब्रिटेन के प्रधानमंत्री कब बने ?
5. भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम के कुल कितनी धाराएँ थी ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. पूर्वी पाकिस्तान में कौन कौनसी रियासते मिलाई गई ?
2. ब्रिटिश प्रधानमंत्री की 1947 की घोषणा लिखिए?
3. क्रिप्स मिशन ने क्या प्रस्ताव रखें ?
4. 1947 के अधिनियम में देशी रियासतों के लिए क्या विकल्प रखे गए ?
5. द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् भारत की स्थिति में क्या

परिवर्तन हुए ?

निबंधात्मक प्रश्न

1. कैबिनेट मिशन द्वारा प्रस्तुत योजना का वर्णन कीजिये।
2. माउण्टबेटन योजना का वर्णन कीजिये।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. कांग्रेस ने प्रथम स्वतंत्रता दिवस मनाया–
   (अ) 22 जून 1921 (ब) 26 जनवरी 1947
   (स) 26 जनवरी 1930 (द) 15 अगस्त 1947 ( )
2. ब्रिटिश संसद में भारतीय स्वतंत्रता विधेयक प्रस्तुत किया गया–
   (अ) 18 जुलाई 1947 (ब) 4 जुलाई 1947
   (स) 20 फरवरी 1947 (द) 15 अगस्त 1947 ( )
3. नौ सैनिक विद्रोह हुआ–
   (अ) 1943 (ब) 1944
   (स) 1945 (द) 1946 ( )
4. क्रिप्स मिशन भारत आया–
   (अ) 1940 (ब) 1941
   (स) 1942 (द) 1943 ( )
5. ब्रिटिश सम्राट के पद से भारत का सम्राट पद नाम हटाया गया–
   (अ) 1935 के अधिनियम द्वारा (ब) 1919 के अधिनियम द्वारा
   (स) 1947 के अधिनियम द्वारा (द) 1942 के अधिनियम द्वारा
   ( )

उत्तरमाला वस्तुनिष्ठ प्रश्न–

1. (स) 2. (ब) 3. (द) 4. (स) 5. (स)

अध्याय–21
संविधान सभा का गठन, उद्देश्य एवं कार्यप्रणाली

संविधान सभा के समक्ष जवाहरलाल नेहरु स्वतंत्र सम्प्रभु गणराज्य का प्रस्ताव प्रस्तुत करते हुए

संविधान सभा विश्व की 17वीं एवं 18वीं सदी की महानक्रान्तियों की देन है। सामाजिक समझौता, प्राकृतिक आधार, लोकप्रिय संप्रभुता तथा सामान्य इच्छा के राजनैतिक सिद्धान्तों को लेकर विशेष रूप से गठित प्रतिनिधि संविधान सभा द्वारा संविधान का निर्माण होता है एवं उसी संविधान से किसी देश का शासन व प्रशासन चलाया जाता है।

संविधान सभा का प्रथम दर्शन हम बाल गंगाधर तिलक के स्वराज्य विधेयक (1895) में करते है। इसके पश्चात् 1922 में महात्मा गांधी ने मांग की थी कि भारत का राजनैतिक भाग्य भारतीय स्वयं बनायेंगे। 28 दिसंबर 1936 को लखनऊ अधिवेशन में इस आशय का प्रस्ताव पारित किया गया। इसी क्रम में 1938 में पं. जवाहरलाल नेहरू ने कहा कि इस संविधान सभा का गठन निर्वाचित संविधान सभा के माध्यम से वयस्क मताधिकार के द्वारा किया जाएगा तथा इसमें किसी प्रकार का बाहरी हस्तक्षेप स्वीकार नहीं होगा। 1940 में ब्रिटिश सरकार ने सैद्धान्तिक रूप से स्वीकार कर लिया, इसे अगस्त प्रस्ताव के रूप में जाना जाता है।

1942 में ब्रिटिश कैबिनेट मंत्री सर स्टेफोर्ड क्रिप्स, ब्रिटिश मंत्रिमण्डल के एक सदस्य, स्वतंत्र निर्माण के लिए ब्रिटिश सरकार के एक प्रारूप प्रस्ताव के साथ भारत आए। द्वितीय विश्व युद्ध के पूरा हो जाने के पश्चात् इसे अपनाया जाना था। लेकिन मुस्लिम लीग ने यह कहकर ठुकरा दिया कि पहले भारत को दो स्वायत् हिस्सों में बांटा जाए, जिनकी अपनी अलग–अलग संविधान सभाएं हो। घटना के पश्चात 24 मार्च 1946 को (1) लॉर्ड पेथिक लॉरेंस (अध्यक्ष), (2) सर स्टीफोर्ड क्रिप्स, एवं (3) एवी अलेक्जेण्डर का तीन सदस्यीय कैबीनेट मिशन भारत आया इसने दो संविधान सभाओं की मांग ठुकरा दी। लेकिन इस प्रकार की संविधान सभा के निर्माण की योजना रखी जिसने मुस्लिम लीग को संतुष्ट कर दिया तथा 16 मई 1946 को इसे प्रकाशित किया।

संविधान सभा का गठन

तात्कालिक परिस्थितियों में वयस्क मताधिकार के आधार पर संविधान सभा का गठन असंभव था, अतः 1935 के भारत सरकार अधिनियम के अन्तर्गत गठित व्यवस्थापिका को ही प्रान्तीय विधानसभा का निर्वाचनकारी संस्थाओं के रूप में उपयोग किया गया। मंत्रिमंडल/कैबिनेट मिशन के प्रस्ताव के अनुसार नवम्बर 1946 को संविधान सभा का गठन हुआ जिसमें निम्न विशेषताएं थी।

1. सदस्य संख्या– कुल सदस्य 389 होने थे, इसमें 296 ब्रिटिश भारत एवं 93 सीट देशी रिसायतों को आवंटित की जानी थी। ब्रिटिश भारत को आवंटित 296 में से 292 सदस्यों का चयन 11 गवर्नरों प्रान्त (मद्रास, बॉम्बे, असम, संयुक्त प्रान्त, बिहार, मध्य प्रान्त, उडिसा, पंजाब, उत्तर पश्चिमी सीमान्त प्रान्त, सिन्ध, बंगाल) में से तथा चार का चयन मुख्य आयुक्तों के प्रान्त (दिल्ली, अजमेर, मेरवाडा एवं कुर्ग–ब्रिटिश बलू बिस्तर) में से किया जाना था। इनमें ब्रिटिश भारत के लिए आवंटित 296 सीटों का चुनाव जुलाई–अगस्त 1946 को हुआ इसमें भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को 208, मुस्लिम लीग को 73 एवं छोटे समूह को 15 स्थान (पांच भिन्न–भिन्न दलों) को मिले। देशी रिसायतों ने स्वयं को, इन चुनावों से दूर रखा। प्रारंभ में सभी 93 सीटे रिक्त रही लेकिन धीरे–धीरे इन रियासतों के प्रतिनिधियों का मनोनयन भी हो गया और वे संविधान सभा में शामिल हो गये।

हालांकि संविधान सभा का चुनाव भारत के वयस्क मतदाताओं द्वारा प्रत्यक्ष रूप से नहीं हुआ लेकिन प्रत्येक लिंग धर्म एवं समुदाय को इसमें प्रतिनिधित्व मिला। महात्मा गांधी एवं मो. जिन्ना के अपवाद को छोड दे तो सभा में उस समय के सभी प्रमुख कानूनविद्, राजनेता एवं विद्वान शामिल थे।

2. सभी प्रान्त एवं रियासतो को उनकी जनसंख्या के अनुपात में लगभग 10 लाख पर एक सीट आवंटित की जानी थी।

3. प्रत्येक ब्रिटिश प्रांत को आवंटित की गई सीटों का निर्धारण मुस्लिम, केवल पंजाब में सिख एवं अन्य विशेष समुदाय के बीच से उनकी जनसंख्या के अनुपात से किया जाना था।

4. प्रत्येक समुदाय के प्रतिनिधियों का चुनाव प्रांतीय असेम्बेली में उस समुदाय के सदस्यों का एकल संक्रमणीय मत के माध्यम से समानुपातिक प्रतिनिधित्व तरीके से मतदान किया जाना था।

5. देशी रियासतों के प्रतिनिधियों का मनोनयन रियासतों के प्रमुखों द्वारा किया जाना था।

संविधान सभा आंशिक रूप से चुनी हुई, आंशिक रूप से नामांकित निकाय थी। इसके अतिरिक्त सदस्यों का चयन अप्रत्यक्ष रूप से प्रांतीय व्यवस्थापिका के सदस्यों द्वारा किया जाना था। जिसका चुनाव एक सीमित मताधिकार के आधार पर किया गया था।

संविधान सभा के प्रमुख सदस्य

पं. जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभ भाई पटेल, डॉ. भीमराव अम्बेडकर, के.एम. मुंशी, गोपाल स्वामी अयंगर, पट्टाभि सीतारमैया, श्रीमती दुर्गाबाई, ठाकुरदास भार्गव, मौलाना अब्दुल कलाम आजाद, पुरूषोत्तम दास टण्डन, डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी, पी.के. सैन, गोविन्द वल्लभ पंत, आचार्य जे.बी. कृपलानी आदि प्रमुख सदस्य थे। इनमें नेहरू एवं पटेल शक्ति के केन्द्र बिन्दु थे। किसी बिन्दु पर सहमत नहीं होने पर उस पर लम्बी बहस चलती थी और सर्वसम्मति, समायोजन एवं संशोधन के द्वारा ही कानून का निर्माण किया जाता था।

स्वतंत्रता अधिनियम द्वारा परिवर्तन

संविधान सभा से अलग रहने वाली देशी रिसायतो के प्रतिनिधि भी धीरे धीरे इसमें शामिल होने लगे तथा भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम 1947 ने सभा की स्थिति में निम्न मुख्य परिवर्तन लिए –

1. पाकिस्तान में शामिल हो चुके क्षेत्रों के मुस्लिम लीग के सदस्य संविधान सभा से अलग हो गए, इस कारण प्रारंभ में तय संख्या 389 सीटों की बजाय 299 तक रह गई इसमें ब्रिटिश प्रांतो के 229 एवं देशी रिसायतों के 70 सदस्य रह गए।

2. संविधान सभा को पूरी तरह संप्रभु बनाते हुए ब्रिटिश संसद में पूर्व में बने कानूनो को बदलने, संशोधन करने या रद्द करने का अधिकार दिया।

3. संविधान सभा को विधायिका की शक्तियां भी दी गई। जब संविधान सभा की बैठक में डॉ. राजेन्द्र प्रसाद एवं विधायिका की बैठक की अध्यक्षता जी.वी. मालवंकर करते थे। यह सभा 26 नवंबर 1949 तक दोनों कार्य करती रही।

उद्देश्य प्रस्ताव

संविधान के उद्देश्य की झलक जवाहरलाल नेहरू द्वारा 13 दिसंबर 1946 को प्रस्तुत उद्देश्य प्रस्ताव में मिलती है जिसे 22 जनवरी 1947 को स्वीकृत किया गया। उद्देश्य प्रस्ताव की यह भाषा संविधान की प्रस्तावना में निहित है।

उद्देश्य प्रस्ताव के प्रमुख प्रावधान

यह संविधान संपूर्ण भारत वर्ष को, एक स्वतंत्र और संप्रभुता सम्पन्न गणराज्य घोषित करने तथा उसके भावी शासन प्रबंध के लिए एक ऐसे संविधान का निर्माण करने का दृढ और पवित्र संकल्प लेती है, जिसमें स्वतंत्र एवं संप्रभुता सम्पन्न भारत और उसके विभिन्न भागों तथा शासन के अंगों की सत्ता का मूल स्रोत भारत की जनता होगी। जिसमें भारत के सभी लोगों को सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक न्याय, प्रतिष्ठा, अवसर और विधि के समक्ष समता तथा सार्वजनिक नैतिकता के अधीन रहते हुए विचार अभिव्यक्ति, विश्वास, निष्ठा, उपासना, व्यवसाय, संगठन तथा कार्य की स्वतंत्रता सुरक्षित होगी। जिसमें अल्पसंख्यकों, पिछडे वर्ग, जनजाति क्षेत्रों, दलितो तथा अन्य वर्गो की सुरक्षा के लिए समुचित साधन उपलब्ध होंगे

संविधान सभा की कार्यप्रणाली

संविधान सभा की प्रथम बैठक वर्तमान संसद भवन के केन्द्रीय कक्ष में 9 दिसंबर 1946 को हुई। इसमें मुस्लिम लीग ने पृथक पाकिस्तान की मांग को लेकर इसका बहिष्कार किया। इस बैठक में 211 सदस्यों ने भाग लिया। सभा के वरिष्ठतम सदस्य डॉ. सचिदानंद सिन्हा को सभा का अस्थाई अध्यक्ष चुना गया।

बाद में 11 दिसंबर 1946 को डॉ. राजेन्द्र प्रसाद अध्यक्ष, एच.सी. मुखर्जी उपाध्यक्ष एवं सर बी.एन. राव को संवैधानिक सलाहकार चुना गया।

संविधान सभा की प्रमुख समितियाँ

संविधान सभा के विभिन्न कार्यो के सम्पादन के लिए 8 बडी समितियों एवं लगभग 15 छोटी समितियों का गठन किया गया।

प्रमुख समितियाँ

1. संघ शक्ति समिति– (अध्यक्ष) जवाहर लाल नेहरू (15 अन्य सदस्य थे इनका कार्य संघ शक्ति के विषय में प्रतिवेदन देना था)
2. संघीय संविधान समिति– (अध्यक्ष) जवाहर लाल नेहरू (14 अन्य सदस्य थे इनका कार्य संघीय संवैधानिक विषयों में परामर्श देना था)
3. प्रांतीय संविधान समिति– (अध्यक्ष) सरदार पटेल (23 अन्य सदस्य थे, उनका कार्य प्रान्तों के संविधानों के सम्बन्ध में रिर्पोट प्रस्तुत करना था)
4. प्रारूप समिति– (अध्यक्ष) डॉ.बी.आर. अम्बेडकर
5. मौलिक अधिकारों एवं अल्पसंख्यकों संबंधी परामर्श समिति– (अध्यक्ष) सरदार पटेल

   (अ) मौलिक अधिकार उप समिति– (अध्यक्ष) जे.बी. कृपलानी (11 अन्य सदस्य थे इनका कार्य मूल अधिकारों के सम्बन्ध में रिपोर्ट प्रस्तुत करना था)

   (ब) अल्पसंख्यक अधिकार उप समिति– (अध्यक्ष) एच.सी. मुखर्जी (28 अन्य सदस्य थे इनका कार्य अल्पसंख्यकों की रक्षा सम्बन्धी धाराओं और कबायली तथा वर्जित क्षेत्रों के प्रशासन के बारे में रिपोर्ट देना था)

6. प्रक्रिया नियम समिति–(अध्यक्ष) डॉ.राजेन्द्र प्रसाद (15 अन्य सदस्य थे, इनका कार्य प्रक्रिया सम्बन्धी नियमों, अध्यक्ष की शक्तियों, सभा के कार्य के संगठन तथा अधिकारियों की नियुक्ति और सभा में होने वाले रिक्त स्थानों को भरने की प्रक्रिया के सम्बन्ध में सिफारिश करना था)
7. राज्यों के लिए समिति–(अध्यक्ष) जवाहर लाल नेहरू (राज्यों से समझौते करने वाली समिति)
8. संचालन समिति– (अध्यक्ष) डॉ. राजेन्द्र प्रसाद (11 अन्य सदस्य थे इनका कार्य कार्य सूची का निर्धारण सभा, अनुभागों, समितियों और अध्यक्ष के लिए व्यापक सम्पर्क साधन के रुप में कार्य करना था।)

प्रारूप समिति

29 अगस्त 1947 को गठित इस सर्वाधिक महत्वपूर्ण सात सदस्यीय समिति को परामर्श शाखा द्वारा तैयार किए गए संविधान का परीक्षण कर संविधान का प्रारूप तैयार करने और उसको समाविष्ट करके विचार के लिए संविधान सभा के सम्मुख प्रस्तुत करने की जिम्मेदारी दी। इस समिति ने संविधान निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया। इसी कारण डॉ. भीम राव अम्बेडकर को संविधान सभा का रचयिता कहा जाता है।

प्रारूप समिति के प्रमुख सदस्य

1. डॉ. बी.आर. अम्बेडकर
2. एन. गोपाल स्वामी आयंगर
3. अल्लादी कृष्णा स्वामी अय्यर
4. डॉ. के.एम. मुंशी (एक मात्र कांग्रेस सदस्य)
5. सैयद मौहम्मद सादुल्ला
6. एन माधवराव (बी एल मित्र के अस्वस्थ होने पर मनोनीत)
7. टी.टी. कृष्णामचारी (1948 में डी.पी. खेतान के मृत्यु पर मनोनीत)

प्रारूप समिति ने भारत के संविधान का प्रारूप तैयार कर फरवरी 1948 को संविधान सभा के अध्यक्ष के समक्ष प्रस्तुत किया।

प्रथम वाचन– 4 नवंबर 1948 से 9 नवंबर 1948 तक प्रारूप संविधान के प्रकाशन के बाद संविधान में संशोधन के लिए अनेक सुझाव प्राप्त हुए और विशिष्ट संस्करण प्रकाशित हुआ।

द्वितीय वाचन– 15 नवंबर 1948 से इस पर खंडवार विचार विमर्श शुरू हुआ। यह कार्य 17 अक्टूबर 1949 तक चला इस समयावधि में 7653 संशोधन प्रस्ताव आए जिनमें से 2473 पर ही सभा में चर्चा हुई।

तृतीय वाचन– 14 नवंबर 1949 से विचार शुरू हुआ। यह 26 नवंबर 1949 तक चला।

इसे 26 नवंबर 1949 को पारित घोषित कर दिया। उस दिन 299 सदस्यों में से 284 सदस्य उपस्थित थे।

26 नवंबर 1949 को अपनाए संविधान में 395 अनुच्छेद, 8 अनुसूचियां थी। प्रस्तावना को सबसे अंत में लागू किया गया। इसके कुछ अनुच्छेद उसी दिन से लागू कर दिये। शेष प्रावधान 26 जनवरी का दिन (भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन में 1930 में 26 जनवरी को प्रथम स्वतंत्रता दिवस मनाया गया था) विशेष होने के कारण इसे 26 जनवरी 1950 से लागू किया गया।

2 वर्ष 11 माह 18 दिनों में संविधान सभा की कुल 11 बैठके हुई। इसमें लगभग विश्व के 60 देशों के संविधानों का अवलोकन हुआ और इनके प्रारूप पर 114 दिनों तक विचार किया गया इसके निर्माण में लगभग 64 लाख रूपये का व्यय हुआ। संविधान के सभी अनुच्छेदों में संघ के स्थान पर भारत को राज्य का संघ घोषित किया गया। वहीं 42वें संविधान संशोधन द्वारा सन् 1976 में संविधान की आत्मा अर्थात उसकी प्रस्तावना में समाजवादी, पंथनिरपेक्ष शब्दों का समावेश किया गया और अब तक कुल ग्यारह मौलिक कर्तव्यों को भी सम्मिलित किया गया। 1978 में 44वें संविधान संशोधन द्वारा सम्पत्ति के अधिकार को मौलिक अधिकार के स्थान पर वैधानिक अधिकार बना दिया। संविधान में अब तक 100 संविधान संशोधन किये जा चुके है।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

संविधान सभा का प्रथम दर्शन बाल गंगाधर तिलक से कराया।

संविधान सभा का मार्ग केबिनेट मिशन द्वारा/16 मई 1946 को स्वीकृत किया गया।

सभा के गठन में 11 गर्वनर प्रान्तो, 4 मुख्य आयुक्त प्रान्त तथा अन्य देशी रियासतों के प्रतिनिधियों का चयन हुआ।

देशी रिसायतों के प्रतिनिधियों का मनोनयन रियासतों के प्रमुखों द्वारा किया गया।

कानून पर सर्व सहमति लम्बी बहस, समायोजन एवं संशोधन के बाद ही बनती थी।

संविधान सभा के कुल सदस्य संख्या 324 थी इसमें 295 प्रांतों से एवं 89 देशी रियासतों के प्रतिनिधि थे।

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद संविधान सभा के पहले स्थायी अध्यक्ष बने।

उद्देश्य प्रस्ताव जवाहर लाल नेहरू द्वारा 13 दिसंबर 1946 को प्रस्तुत किए गए जिसे सभा द्वारा 22 जनवरी 1947 को स्वीकृत किया गया।

संविधान की प्रस्तावना अंत में जोड़ी गई।

संविधान 26 नवंबर 1949 को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित किया गया। लेकिन 26 जनवरी विशेष ऐतिहासिक दिवस होने के कारण इसे पूर्ण रूप से 26 जनवरी 1950 को लागू किया गया।

संविधान निर्माण के लिए 8 बड़ी एवं 15 छोटी समितियों का गठन किया गया।

डॉ. अम्बेडकर प्रारूप समिति के अध्यक्ष बने।

संविधान के प्रारूप संविधान का तीन बार वाचन हुआ इन पर चर्चाओं के बाद ही इसे पारित किया गया।

निर्माण में 60 देशों के संविधानों का अवलोकन किया गया और 11 बैठकों में 2 वर्ष 11 माह 18 दिन का समय लगा।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. मिलान कीजिए–

समिति	अध्यक्ष
(1) संघ शक्ति समिति	(अ) डॉ. भीमराव अम्बेडकर
(2) मौलिक अधिकार एवं अल्पसंख्यक संबंधी समिति	(ब) पं. जवाहरलाल नेहरू
(3) प्रारूप समिति	(स) बल्लभ भाई पटेल
(4) प्रक्रिया नियम समिति	(द) राजेन्द्र प्रसाद

लघूत्तरात्मक प्रश्न

2. संविधान सभा के एक मात्र कांग्रेसी सदस्य का नाम लिखो?
3. संविधान सभा के चुनाव के परिणाम बताइए
4. कैबिनेट मिशन के सदस्यों के नाम लिखो ?
5. संविधान सभा में सीटों का निर्धारण किस आधार पर किया गया।
6. उद्देश्य प्रस्ताव किसने एवं कब पेश किए ?
7. संविधान के कुल कितने वाचन हुए लिखो ?
8. संविधान की प्रस्तावना के महत्व को बताइये ?

निबंधात्मक प्रश्न

9. प्रारूप समिति के सदस्यों के नाम लिखते हुए समिति के कार्यो का विवरण दीजिए ?
10. भारतीय संविधान की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख करों ?
11. संविधान की प्रस्तावना लिखिए ?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. कैबिनेट मिशन योजना के अनुसार संविधान सभा में सदस्य थे–
   (अ) 389 (ब) 390
   (स) 380 (द) 385 ( )
2. कैबिनेट मिशन में सदस्य थे–
   (अ) 1 (ब) 3
   (स) 2 (द) 4 ( )
3. देशी रियासतों के लिए संविधान सभा में निर्धारित सीटो की संख्या थी–
   (अ) 72 (ब) 80
   (स) 93 (द) 70 ( )
4. संविधान दिवस कब मनाया जाता है–
   (अ) 26 नवंबर (ब) 26 जनवरी
   (स) 27 नवंबर (द) 15 अगस्त ( )
5. संविधान सभा की प्रथम बैठक के अध्यक्ष थे–
   (अ) डॉ. राजेन्द्र प्रसाद (ब) सचिदानन्द सिन्हा
   (स) जवाहरलाल नेहरू (द) डॉ. अम्बेडकर ( )
6. संविधान सभा के चुनावों में कांग्रेस को सीटे मिली–
   (अ) 208 (ब) 220
   (स) 270 (द) 216 ( )

उत्तरमाला वस्तुनिष्ठ प्रश्न–

1.(अ) 2. (स) 3. (स) 4. (अ) 5. (ब) 6. (अ)

इकाई– 10
अध्याय – 22
भारत में राष्ट्रीय आंदोलन के प्रमुख व्यक्तित्त्व एवं राजनैतिक चिन्तन में उनका योगदान

1. स्वामी दयानन्द सरस्वती

(जन्म : 12फरवरी1824 – मृत्यु : 30–अक्टूबर1883)

वेदों की ओर लौटो

''सुशासन कभी भी स्वशासन का स्थान नहीं ले सकता, चाहे वह कितना ही अच्छा हो''

स्वामी दयानन्द सरस्वती का जन्म विक्रम संवत 1881 के फाल्गुन माह के कृष्ण पक्ष की दशमी को (12 फरवरी 1824 ई.) में गुजरात के काठियावाड़ की मोरवी रियासत के टंकारा नगर में शिवभक्त एवं जागीरदार परिवार में हुआ। बचपन का नाम मूलशंकर था।

बाल्यकाल में शिवरात्रि पर्व पर भगवान शंकर की मूर्ति पर चूहे द्वारा कूद–फांद करने एवं उस पर चढे प्रसाद को खाने से उनका बालपन मूर्ति पूजा से विरक्त हो गया।

वही उनकी प्रिय बहिन एवं चाचाजी की मृत्यु से, उनके मन में वैराग्य भाव प्रबल हो गया। 1845 ई. में ज्ञान, सत्य एवं मोक्ष की खोज के लिए गृह त्याग कर, संन्यास धारण कर, अपना नाम दयानन्द सरस्वती रख लिया। उन्होंने मथुरा के नेत्रहीन संत स्वामी विरजानंद के सानिध्य में वेदों का व्यापक अध्ययन किया और गुरू के आदेश से रूढियों, पाखण्ड एवं अंधविश्वासों के उन्मूलन और वेदों के प्रचार प्रसार के लिए पूरे भारत का भ्रमण किया और 10 अप्रेल 1875 को बम्बई में आर्य समाज की स्थापना की। इसके पश्चात् इन्होंने जगह–जगह घूमकर आर्य समाज का प्रचार–प्रसार किया। राजस्थान पंजाब, उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश इत्यादि राज्यों के कई स्थानों पर यह अभियान काफी सफल रहा। लेकिन विरोधियों के षडयंत्र का शिकार होकर 30 अक्टूबर 1883 को दीपावली पर ब्रह्मलोक में विलीन हो गए।

वे स्पष्टवक्ता, कुशाग्रबुद्धि एवं साहसी थे और धार्मिक समस्याओं के समाधान में स्वविवेक को ही निर्णायक मानते थे। उन्होंने वेद, उपनिषद एवं दर्शनशास्त्रों का गहन अध्ययन करके त्रेतवाद का प्रतिपादन किया। इसके अनुसार तत्त्व, ईश्वर, जीव (आत्मा) तथा प्रकृति अनादि है ये सदा से थे, सदा से है और सदा बने रहेंगे। इनमें ईश्वर एवं आत्मा आध्यात्मिक चैतन्य तत्त्व है। इन्होंने उस समय हिन्दू समाज में व्याप्त अशिक्षा, स्त्रियों के साथ असमानता एवं अत्याचार, बाल विवाह, अनमेल विवाह, बहुपति, बहुपत्निप्रथा, दहेज, नशा, अंधविश्वास, छुआछूत, धार्मिक आडम्बरों का घोर विरोध किया।

संसार अज्ञान एवं अंधविश्वास की शृंखला से जकड़ा हुआ है और मैं उस शृंखला को तोड़ने तथा दासों को मुक्त करने के लिए आया हूं। मेरा उद्देश्य मन, वचन और कर्म से सत्य का अनुसरण करना है। उनके द्वारा रचित प्रमुख ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश, ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका इत्यादि प्रमुख है।

राजनैतिक चिन्तन में योगदान

एक राजनीतिक चिन्तक के रूप में इन्होंने विशिष्ट सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं किया बल्कि वेद प्रदत्त शास्त्र के रूप में ही इसकी व्याख्या की। भारत की तात्कालिक राजनीतिक परिस्थितियों, परतंत्रता एवं विघटन से अवगत होने के कारण अपने उपदेश, भाषणों एवं रचनाओं में, इस आर्यावर्त के पुनरूत्थान, एकता, स्वतंत्रता एवं उन्नति का लक्ष्य सामने रखा। वे सम्पूर्ण हिन्दू समाज में आर्यत्व का संचार कर देना चाहते थे। इस आर्यत्व में सभी धर्मो, जातियों एवं समुदायों को लाना चाहते थे। आर्यत्व का अर्थ स्वतंत्रता, समानता, राष्ट्रीयता, भाईचारा, धार्मिक एवं सामाजिक जागरण था। उनके प्रमुख राजनीतिक विचार निम्न है :–

(1) राज्य एक लोकहितकारी संस्था– राज्य विकसित एवं लोकहितकारी संस्था है एवं मानव जीवन के पुरूषार्थ चतुष्टय अर्थात धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष की प्राप्ति का साधन है। यहां धर्म,

धर्मतंत्र नही अपितु मानव के लौकिक तथा पारलौकिक कल्याण से सम्बद्ध है।

(2) राज्य समुदायों का समुदाय– राज्य केवल सामाजिक संस्था नहीं बल्कि राजनीतिक समुदाय, कला एवं विज्ञान सम्बन्धी समुदाय, और धर्म एवं नैतिकता संबंधी समुदाय इत्यादि का सम्मिश्रण है। ऋग्वेद के अनुसार इन्हें क्रमशः राजार्थ सभा, विद्यार्थ सभा तथा धर्मार्थ सभा कहा गया है। इनके लिए प्रतिभाशाली, विद्वान एवं पवित्र व्यक्ति अलग–अलग नियुक्त न होकर निर्वाचित होंगे। इस प्रकार यह गणतंत्र एवं लोकतंत्र का मिश्रित रूप होगा। राज्य के सभी कार्यो के लिए इन सभाओं का समर्थन अनिवार्य होगा।

(3) गणतंत्र की महत्ता– जहां वैदिककाल में राजतंत्र को एक मान्य शासन व्यवस्था के रूप में स्वीकार किया। वहीं स्वामी दयानन्द ने राजतंत्र के स्थान पर गणतंत्र की महत्ता को स्थापित करने का प्रयास किया। राजा द्वारा त्रिसभाओं के सहयोग से शासन कार्य संचालन में अंतिम शक्ति जनता को दी गई। शासन तंत्र वेद विरूद्ध आचरण करें तो जनता द्वारा उनकी अवहेलना धर्मसंगत है। इससे राजनीतिक क्रांति का बोध होता है। स्वामी दयानन्द के इन्ही विचारों को सविनय अवज्ञा आंदोलन एवं असहयोग आंदोलन का मार्गदर्शक माना जाता है।

(4) शासन के दैवीय स्वरूप का खण्डन– वे राजा को दैवीय अधिकारों से स्वीकार नहीं करके चुने हुए अध्यक्ष के रूप में स्वीकार करते है। विधि एवं दण्ड प्रमुख है। स्वधर्म की स्थिति में नहीं होने पर शासन तंत्र का प्रमुख वाहक ही नहीं स्वयं राजा भी दण्ड का भागी होगा। एक ही अपराध का दण्ड सामान्य व्यक्ति के लिए कम एवं उच्च श्रेणी के लोगों के लिए अधिक होगा।

(5) शासन के विकेन्द्रीकरण का समर्थन– मनुस्मृति का समर्थन करते हुए राजा एवं राज्य सभा अपने राजकार्य सिद्ध करने के लिए दो, तीन, पांच और सौ ग्रामों के बीच एक राज्याधिकारी नियुक्त हो। कार्य संचालन के लिए एक गांव का अधिकारी गोपनीय रूप से दस गांवों के अधिकारी को, दस गांवों का अधिकारी बीस गांव के अधिकारी को, बीस गांव का अधिकारी सौ गांवों के अधिकारी को तथा सौ गांव का अधिकारी हजार गांव के अधिकारी को नित्य दोष, अपराध, संकट, उपद्रव इत्यादि की सूचना देगा। सूचना पद सोपान स्तर से ऊपर उच्च स्तर तक पहुँचेगी। इनके सहयोग के लिए गुप्तचरों की व्यवस्था रहेगी। इनके कार्यो की भी जांच पड़ताल होती रहेगी। इस प्रकार स्वामी दयानन्द गणतंत्रीय शासन व्यवस्था के पक्षधर थे एवं कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के मध्य सामंजस्य के साथ न्यायाधीशों पर भी शासन के नियंत्रण के पक्षधर थे।

(6) सुसंगठित सैन्यबल की आवश्यकता पर बल– इनके अनुसार देश की सुरक्षा एवं राष्ट्रीय धर्मसम्पदा की वृद्धि दोनों ही कार्यो को सर्वोच्च वरीयता दी गई। इसके लिए सुनियोजित एवं संगठित थल सेना, नौ सेना एवं वायु सेना के साथ समस्त नागरिकों को भी आवश्यक सैन्य शिक्षण देने का उल्लेख किया है।

(7) कूटनीति को समर्थन– इनके अनुसार जहां नैतिकता एवं सत्य राजनीति एवं शासन व्यवस्था का मापदण्ड है वहीं दुष्टों, आततायियों तथा विदेशी आक्रमणों से सुरक्षा के लिए कूटनीति भी आवश्यक है। इनके अनुसार आवश्यकता पड़ने पर दुश्मन की खाद्य सामग्री, प्राकृतिक स्रोत को नष्ट कर देना चाहिए और दुश्मन को हमेशा के लिए समाप्त करना उचित रहेगा। एक सन्यासी होकर भी राष्ट्र की रक्षा के लिए यथार्थवादी व्यवहार, इनकी राष्ट्रीय विचारधारा एवं देशभक्ति का ज्वलंत उदाहरण है।

समग्र मूल्यांकन

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सर्वप्रथम राष्ट्रवाद को स्वदेशी एवं भारतीय अभिमुखीकरण प्रदान किया। जब ब्रिटिश राज्य के शिकंजे में भारतीय संस्कृति पर ईसाई सभ्यता हावी हो रही थी तब उन्होंने अपनी वैदिक संस्कृति एवं वेदों की श्रेष्ठता को सिद्ध करते हुए, आर्यो का अखण्ड, स्वतंत्र एवं स्वाधीन भारत का लक्ष्य लेकर शंखनाद किया। स्वदेशी वस्तु एवं विचार ही व्यक्ति का धार्मिक कर्तव्य है एवं विदेशी राज्य कितना ही सुविधापूर्ण हो, लेकिन स्वराज्य का स्थान नहीं ले सकता। यह कहकर युवकों में आत्म गौरव की भावना जागृत की। इनके द्वारा स्थापित आर्य समाज धार्मिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय पुनर्जागरण का आंदोलन था। राष्ट्रीय भाषा में शिक्षण परम्परा, गुरूकुल शिक्षण प्रणाली, स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहन, समाज सुधार कार्यक्रम, दलितों का उद्धार, अस्पृश्यता निवारण, वर्ण व्यवस्था एवं जातिप्रथा निषेध आदि के रचनात्मक कार्यो से भारत में नए साहस का संचार हुआ। वैदिक धर्म के समर्थक होने के नाते वे वर्णाश्रम व्यवस्था के समर्थक थे किन्तु इसे वैज्ञानिक स्वरुप देते हुए इन्होने इस व्यवस्था का आधार जन्म नहीं अपितु कर्म को माना। वर्णाश्रम को फिर से तर्कसंगत बनाने के लिए अर्न्तजातीय विवाह को भी मान्यता दी, जिससे सामाजिक गतिशीलता बनी रहे। स्वदेशी, स्वधर्म, स्वराज्य एवं स्वभाषा के इन चार स्तम्भों पर उन्होंने जो चेतना जगाई वह आज भी प्रासंगिक है। जहां पूरा विश्व भारतीय संस्कृति को आत्मसात करने के लिए आतुर है, वहीं हमारी युवा पीढ़ी के बदलते हुए जीवन मूल्यों को उनके द्वारा दी गई दिशा से सही मार्ग पर लाया जा सकता है। जो भारत को पुनः विश्व गुरू के पद पर स्थापित करने में पहल कर सकती है।

2. स्वामी विवेकानन्द

(जन्म : 12 जनवरी 1863 – मृत्यु : 4 जुलाई 1902)

''उठो जागो और तब तक रूको नहीं
जब तक मंजिल प्राप्त न हो जाए''

''मुझे ऐसे धर्मावलम्बी होने का गौरव है जिसने संसार को सहिष्णुता तथा सभी धर्मो को मान्यता प्रदान करने की सीख दी।''

नरेन्द्र नाथ का जन्म कलकत्ता के प्रतिष्ठित दत्त परिवार में हुआ था।

आध्यात्मिक ज्ञान के लिए भारत का भ्रमण करते हुए स्वामी रामकृष्ण परमहंस को आध्यात्मिक गुरू मानकर उनसे शिक्षा प्राप्त की। इसके पश्चात गुरू के आदेश पर पूरे भारत में हिन्दू संस्कृति का प्रचार–प्रसार किया। इसके लिए 1 मई 1897 को बैलूर में रामकृष्ण मिशन की स्थापना की जो आज भी पूरे भारत में सामाजिक सेवा, धर्म एवं सनातन संस्कृति का प्रचार प्रसार कर रहा है।

ईश्वर प्राप्ति के लिए एकांत में या पर्वत शिखर या कंदराओं में समाधि लगाने के स्थान पर दरिद्र नारायण की सेवा की संकल्पना देते हुए कहा कि जब हम दीन दुखी, दरिद्र, असहाय, पीड़ित को नारायण मानकर सेवा करेंगे तो हमारी आत्मा इतनी पावन हो जाएगी कि हमें ईश्वर का साक्षात्कार हो जाएगा। यह उनके मानवतावाद का आध्यात्मिक आधार है। ये समाज के सभी वर्गो को जीवन में उन्नति के लिए समान अवसर दिए जाने के पक्षधर थे इसलिए अस्पृश्यता जैसी बुराइयों की कड़ी आलोचना की। स्वामी दयानन्द सरस्वती की तरह वे भी सामाजिक व्यवस्था के पक्षधर थे लेकिन कर्मो के आधार पर।

दलितोत्थान के लिए उच्च शिक्षित युवाओं के योगदान को महत्वपूर्ण मानते थे। वहीं रूढिवादिताओं के अंत के लिए संघर्ष या हिंसा के स्थान पर तार्किक दृष्टिकोण को ज्यादा प्रमुखता देते थे।

महिलाओं को समानता एवं सम्मान के क्रम में इनको ''शक्ति'' के रूप में स्वीकार करते थे। शक्ति के बिना विश्व का पुनर्जीवन नहीं है। इनको भी प्राचीन आध्यात्मिक संस्कृति को ग्रहण करने, संस्कृत शिक्षा प्राप्त करने व ऋषियों के समस्त आध्यात्मिक आदर्शो की व्यावहारिक अनुभूति करने का अधिकार है।

वे मूर्ति पूजा के समर्थक थे, लेकिन इसको साधन के रूप में ध्यान को एकाग्रता देने का उपकरण मात्र मानते थे। साध्य नहीं।

बालविवाह का विरोध करते हुए उसके दुष्परिणामों पर भी समाज का ध्यान आकृष्ट किया। ईश्वर निराकार, सर्वव्यापी, और अजेय है। इनकी दार्शनिक कृतियों में कर्मयोग, पंतजलि के योग सूत्र की टीका विशेष उल्लेखनीय है। भारतीय समाज की समस्याओं पर उनकी ''भारत और उसकी समस्याऐं'', आधुनिक भारत, जनता जर्नादन के प्रति हमारे कर्तव्य, अधिकारवाद की बुराइयां, जातिवाद का चक्र आदि प्रमुख है।

राजनैतिक चिन्तन में योगदान– स्वामी विवेकानन्द मानवतावादी एवं अद्वैत वेदान्त के संदेशवाहक थे। न तो उनका राजनीति में कोई विश्वास था और न ही उन्होंने राजनैतिक गतिविधियों या आंदोलनों में सहभागिता की। स्वामीजी ने आध्यात्मिक विचारों को ही राष्ट्रीय स्वतंत्रता की प्रेरक शक्ति बना दिया। अंग्रेजी शासन को उन्होंने सीधी चुनौती तो नहीं दी लेकिन भारतीय संस्कृति का वर्चस्व स्थापित कर विदेशी शासन को निरर्थक सिद्ध कर दिया और भारतीय युवकों में अपनी संस्कृति के प्रति गौरव के भाव भर दिए।

(1) अन्तर्राष्ट्रवादी– स्वामी विवेकानन्द अन्तर्राष्ट्रवादी थे। शिकागो के विश्वधर्म सम्मेलन में पूरी दुनिया के लोगों को मेरे भाइयों और बहनो.....का सम्बोधन उनकी विश्व बंधुत्व की भावना का प्रतीक है। उनका विश्वास था कि सभी मनुष्यों में एक ही आत्मा का वास होता है।

(2) समाजवादी– स्वामीजी ने कहा कि सभी को समान अवसर मिलने चाहिए। प्राचीनकाल से ही उच्च जातियों व वर्गो द्वारा निम्न तबके का आर्थिक एवं राजनैतिक शोषण हो रहा है इसको दूर किया जाना आवश्यक है।

युवाओं से आवहन करते हुए कहा कि गर्व से बोलो मैं भारतीय हूँ और प्रत्येक भारतीय मेरे भाई बहिन है, मेरे प्राण है। भारत के देव देवियां मेरे ईश्वर है। भारत का समाज मेरे बचपन का झूला, मेरी जवानी की फुलवारी और मेरे बुढापे का काशी है।

भारत की मिट्टी मेरा सर्वोच्च स्वर्ग है भारत के कल्याण में ही मेरा कल्याण है। सबके साथ समानता का व्यवहार आवश्यक है इसके लिए इन्होंने अपने गुरू की प्रथम पुण्यतिथि पर पचास शूद्रवर्गीय सदस्यों का उपनयन संस्कार करा इसे व्यावहारिक रूप दिया। वे समाज के निम्न वर्ग का उत्थान करना चाहते थे लेकिन इस लक्ष्य प्राप्ति के लिए हिंसात्मक क्रांति नहीं अपितु शांतिपूर्ण

तरीकों में विश्वास रखते थे।

आदर्श राज्य संबंधी मान्यता– अपने एक शिष्य को लिखे पत्र के अनुसार राज्य के ऐतिहासिक विकास के क्रम के बारे में कहा कि ब्राह्मणों के राज्य में ज्ञान विज्ञान, क्षत्रियों के राज्य में शौर्य एवं पराक्रम, वैश्वों के राज्य में धनसंपदा, शूद्रो के राज्य में भौतिक सामग्री का समान वितरण एवं साधारण शिक्षा का भारी विस्तार होगा। आदर्श राज्य वह होगा जिसमें ब्राह्मण युग का ज्ञान, क्षत्रिय युग का पराक्रम, वैश्य युग की समृद्धि एवं शूद्र युग की समानता में संतुलन कायम रखा जा सके और उनके दोषों का परित्याग किया जा सके।

सभी के उत्थान से ही राजनैतिक मुक्ति संभव

इनके अनुसार दुर्बलता पाप है, मृत्यु है वहीं भय सबसे बड़ा रोग है। समाज में सभी की दशा सुधारे बिना राजनैतिक मुक्ति संभव नहीं है। उनकी वेदान्त पर आधारित शक्ति एवं निर्भीकता का सिद्धान्त राजनीति के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान है। बिना शक्ति के हम न तो अधिकारों की रक्षा में समर्थ है और न ही व्यक्तिगत अस्तित्त्व को कायम रख सकते है। इसलिए वे भारतीय जनता को आत्मा के अपार बल और शक्ति की शिक्षा देना चाहते थे।

व्यक्ति की गरिमा का विश्वास– राष्ट्र का निर्माण व्यक्तियों से मिलकर होता है। स्वामीजी विश्वव्यापी मानवीय अवधारणा में विचार रखते थे और मानव को सर्वश्रेष्ठ प्राणी मानते थे। जब तक व्यक्ति स्वस्थ, नैतिक एवं दयालु नहीं होगा तब तक राष्ट्र की समृद्धि की आशा करना व्यर्थ है। इस प्रकार राष्ट्रीय एकता का आधार नैतिकता है।

स्वतंत्रता विषयक सिद्धान्त– सम्पूर्ण विश्व अपनी अनवरत गति से स्वतंत्रता की खोज कर रहा है। उनमें शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक स्वतंत्रता के अतिरिक्त सामाजिक और आर्थिक स्वतंत्रता भी होनी चाहिए जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्त्व का विकास कर सके। इस प्रकार उनकी मनुष्य के बारे में स्वतंत्रता विषयक अवधारणा पाश्चात्य विचारको से भी अधिक व्यापक है।

राष्ट्रवाद का आध्यात्मिक सिद्धान्त– प्रत्येक राष्ट्र के जीवन में एक प्रधान तत्त्व होता है अन्य सभी तत्त्व उसी में समाहित होते है।

भारत का प्रमुख तत्त्व धर्म है। उन्होंने राष्ट्रवाद के आध्यात्मिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। राष्ट्र की भावी महानता का निर्माण उसके अतीत की महत्ता की नींव पर ही किया जा सकता है। विवेकानन्द ने भारतीय धर्म और संस्कृति की शिक्षा देकर, देश में नैतिक एकता एवं भातृत्व का संचार किया। विपिन चन्द्र पाल, तिलक एवं अरविन्द घोष ने इन्ही के विचारों से प्रभावित होकर अभिनव राष्ट्रवाद का मार्ग प्रशस्त किया था।

समग्र मूल्यांकन

स्वामीजी के 1893 में शिकागो के विश्वधर्म सम्मेलन में भारतीय प्रतिनिधि के रूप में अद्वैत वेदान्त के संदेशवाहक और अद्वितीय समाज सुधारक के रूप में दिए गए उद्‌बोधन ने इन्हें विश्व में पहचान दी, स्वामी विवेकानन्द ऐसे दार्शनिक संन्यासी थे जिन्होंने स्वयं तो राजनीति में भाग नहीं लिया, लेकिन अपनी प्रखर वाणी एवं विचारो से देश में स्वतंत्रता प्रेम की ज्योति जगा दी। वहीं विदेशों में जो भारत को फकीरों का देश मानते थे, उनको भारतीय संस्कृति का दर्शन करा, उनके मन में इसके प्रति श्रद्धाभाव भर दिया।

उनके विचारों से ऐसा प्रतीत होता है कि विवेकानन्द भारतीय राष्ट्रवाद के एक धार्मिक सिद्धान्त की नींव का निर्माण करना चाहते थे। उन्होंने आत्मा की अमरता एवं पुर्नजन्म का पक्ष लेते हुए कहा कि मृत्यु जीव की होती है जीवात्मा की नहीं।

मातृभूमि की सेवा ही सच्चा कर्मयोग है। युवाओं को प्रेरित करते हुए कहा की– राष्ट्रदेव की उद्‌घोषणा है कि मैं सशरीर भारत हूं, सारा भारत मेरा शरीर है, हिमालय मेरा सिर है, पूर्व और पश्चिम मेरी बाहें है, जिन्हें फैलाकर मैं अपने स्वदेशी बन्धुओं के गले लगता हूँ।

युवाओं में आत्म गौरव एवं देश भक्ति की भावना जगाने के कारण पूरा भारत उनका जन्मदिन, युवा दिवस के रूप में मनाता है।

3. महर्षि अरविन्द घोष

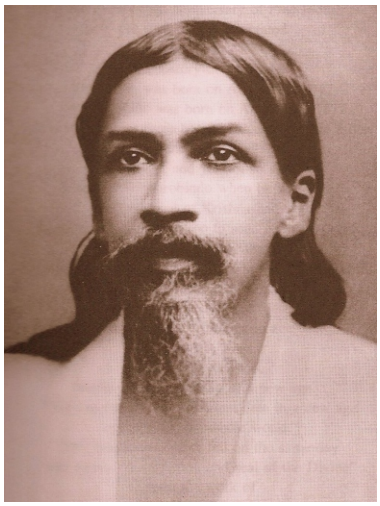

(जन्म : 15 अगस्त 1872 – मृत्यु : 9 दिसंबर 1950)

महर्षि अरविन्द घोष का जन्म कलकत्ता के सम्पन्न परिवार में हुआ था। ब्रिटेन में उच्च शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात 1893 में स्वदेश आए और बड़ौदा राज्य में नौकरी की। बाद में कॉलेज में शिक्षक के पद पर भी कार्य किया।

1905 से 1910 तक सक्रिय राजनीति में भाग लिया इस बीच एक वर्ष का कारावास भी झेला। जेल में अध्यात्म की ओर झुकाव हुआ, और वे 1910 में पांडीचेरी चले गए। 24 नवंबर 1936 को दीर्घ साधना का फल मिला और उन्हें परम शक्ति के दर्शन हुए।

अरविन्द के चिन्तन पर भारतीय आध्यात्मिक ग्रंथो के आध्यात्मिक विश्वासों का गहरा प्रभाव पड़ा। उन्होंने इतिहास में जो भी घटनाएं घटित हो रही है, उन सबके मूल में ईश्वरीय शक्ति को ही मुख्य कारण माना। उनके अनुसार अंग्रेजों द्वारा भारतीय जनता का शोषण एवं उत्पीड़न भी, ईश्वरीय योजना का ही एक अंग है। उन्होंने आध्यात्म पर आधारित राष्ट्रवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उनके अनुसार राष्ट्रीय एवं राजनैतिक संघर्ष का मुख्य उद्देश्य पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्ति है।

भारत के प्राचीन वेद, उपनिषद्, गीता इत्यादि धर्म ग्रन्थों में आध्यात्मिकता का स्त्रोत विद्यमान है। इसलिए भारत ही वास्तविक सजीव और आध्यात्मिक शक्ति सम्पन्न होने के कारण पूरी मानव जाति का आध्यात्मिक नेतृत्व करने में समर्थ है।

पांडीचेरी जाने के बाद उन्होंने राजनीति का परित्याग तो कर दिया लेकिन उनके राष्ट्रवाद संबंधी विचार अपरिवर्तनीय ही रहे।

जब भारत में राष्ट्रीय कांग्रेस के नेता औपनिवेशिक स्वराज्य के लिए याचिका एवं प्रार्थना पत्र भेजते थे वही अरविन्द ने पूर्ण स्वराज्य प्राप्ति के लिए निष्क्रिय या शांतिपूर्ण प्रतिरोध के रूप में राजनीतिक कार्यवाही की योजना बनाई। वंदे मातरम् के संपादकीय लेखों में इस नीति की विस्तृत व्याख्या की गई। आगे चलकर महात्मा गांधी ने इसी नीति को सत्याग्रह के सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया।

निष्क्रिय प्रतिरोध का तात्पर्य है कि जो कार्य भारत में अंग्रेजों के व्यापार या प्रशासन में सहायक हो उनमें असहयोग करना। साथ ही शैक्षिक, न्यायिक, प्रशासनिक और सामाजिक बहिष्कार के साथ विदेशी सामान के बहिष्कार को भी जोड़ दिया। पूरी योजना को क्रांतिकारी तरीके से सम्पादित किया गया।

महर्षि अरविन्द ने स्वराज्य की प्राप्ति के लिए अहिंसा और अपरिहार्य परिस्थितियों में हिंसा का भी समर्थन किया।

उनके अनुसार राष्ट्र स्वतंत्रता के लिए किया गया संघर्ष गीता के क्षत्रिय धर्म की तरह पवित्र है। राष्ट्रीय शत्रुओं का संहार धर्मयुद्ध है। इसके लिए सशस्त्र विद्रोह एवं असहयोग सर्वाधिक उपर्युक्त नीति है।

महर्षि अरविन्द की राष्ट्रवाद की संकल्पना

भारतीय राष्ट्रवाद में अरविन्द का महत्वपूर्ण एवं उच्च स्थान है। प्रारंभ में वे उग्रराष्ट्रवाद के प्रणेता बने। बाद में पांडीचेरी चले जाने के बाद उनका राष्ट्रवाद पूरी तरह आध्यात्मिक धरातल पर प्रतिस्थापित हो गया लेकिन दोनों ही अवस्थाओं में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध बना रहा।

1908 में दिए गए भाषणों के अंतर्गत राष्ट्रवाद केवल आंदोलन तक ही सीमित नहीं है, बल्कि वह मनुष्य की आस्था और धर्म है। ऐसा धर्म जो ईश्वर की देन है। राष्ट्रवाद तुम्हारी आत्मा का संबल है। यदि तुम राष्ट्रवाद के समर्थक हो तो धार्मिक आस्था के साथ राष्ट्र की आराधना भी करनी होगी। तुम ईश्वर की योजना के अंशमात्र हो। भारत केवल भौगोलिक सत्ता या भू–भाग नहीं है, यह बौद्धिक संकल्पना भी नहीं है, भारत माता स्वयं साक्षात भगवती है जो सदियो से बडे प्यार दुलार से अपनी संतान का पालन पोषण करती आई है। लेकिन आज वह विदेशी शासन से पदाक्रांत होकर कराह रही है। उसका स्वाभिमान चूर–चूर हो गया, उसका गौरव धूल धुसरित हो गया। ''भारत माता के पैरों में पड़ी बेड़ियों को काटना अर्थात विदेशी शासन से मुक्त कराना प्रत्येक संतान का परम कर्तव्य है।''

कोई भी देश विदेशी परतंत्रता में रहकर अपने विलक्षण व्यक्तित्त्व और स्वतंत्र अस्तित्त्व को कायम नहीं रख सकता। विदेशी संस्कृति भोगवादी है, वहीं हमारी भारतीय संस्कृति आध्यात्मवादी है।

राष्ट्रवाद की सच्ची भावनाऐं ही भारतीय गौरवशाली परम्पराओं एवं सरकारों की रक्षा कर सकती है। दूसरों की नकल करके हम राष्ट्र का पुनरूत्थान नहीं कर सकते। हम अपनी आध्यात्मिक चेतना के बल पर ही सम्पूर्ण मानवता को मुक्ति का मार्ग दिखा सकते है, यह हमारा कर्तव्य भी है।

एक अधीन राष्ट्र स्वतंत्रता के द्वारा ही उन्नति के द्वार खोल सकता है और इसके लिए बलिदान की आवश्यकता है। राजनीति की आराम कुर्सी पर बैठकर विदेशी सत्ता नही हिलायी जा सकती। भारत अपने पराक्रम और शक्ति से ही विदेशी शासन का विरोध कर सकता है।

राष्ट्रवाद मानवीय प्रगति का एक सोपान है उसका लक्ष्य मानवीय एकता पर आधारित विश्वसंघ की स्थापना करना है। यह इस लक्ष्य प्राप्ति का सहायक तत्त्व भी है। राष्ट्रवाद का धर्म के साथ अटूट सम्बन्ध है लेकिन यह केवल हिन्दू राष्ट्रवाद नहीं बल्कि सभी धर्मो का सामूहिक स्वरूप है। भारतीय राष्ट्रवाद की उन्नति में हिन्दू एवं इस्लाम धर्म दोनों का ही सक्रिय सहयोग आवश्यक है।

समग्र मूल्यांकन

महर्षि अरविन्द ने राष्ट्रवाद की व्यापक अवधारणा देते हुए भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के गौरव को महिमामंडित किया। उन्होंने राष्ट्र को भूभाग न मानकर राष्ट्रदेव का स्वरूप दिया। जो स्वतंत्रता के पश्चात् भी मानव में निरन्तर अपनी मातृभूमि के प्रति श्रद्धा एवं सम्मान का भाव भरता रहे। उनके कार्यो, विचारों, लेखों के द्वारा उन परिस्थितियों में भारतीय लोगों में उदासीनता और हीन भावना दूर हुई और नए उत्साह का संचार हुआ। उन्होंने अपने आध्यात्मिक विचारों से पूरे संसार को नई रोशनी दिखाई और राष्ट्रवाद को मानवीय एकता के शाश्वत मूल्यों से जोडकर मानवीय स्वतंत्रता का उद्घोष कर साम्राज्यवाद, फासीवाद, सर्वाधिकारवाद एवं तानाशाही को चुनौती दी।

4. मोहनदास करमचन्द गांधी (महात्मा गांधी)

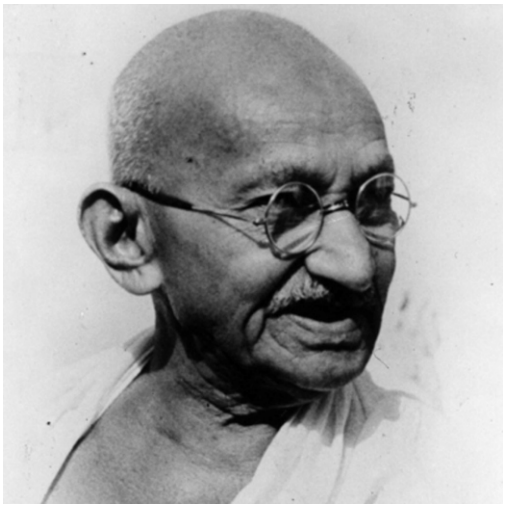

(जन्म : 2 अक्टूबर 1869 – मृत्यु : 30 जनवरी 1948)

भारत के राष्ट्रपिता महात्मा गांधी का जन्म गुजरात के काठियावाड़ के पोरबंदर स्थान पर हुआ। बाल्यकाल में संकोची एकान्तप्रिय, मितभाषी, दृढनिश्चयी व्यक्तित्त्व के धनी थे लेकिन परवर्ती घटनाक्रम में संघर्ष करके वे भारत ही नहीं अपितु पूरे विश्व के महानायक बन गए।

दक्षिण अफ्रीका (1893) में जाने के बाद वहां भारतीयों एवं अश्वेतो पर अंग्रेजो के अत्याचार को देखकर न केवल संघर्ष किया बल्कि वहां की जनता के स्वाभिमान की रक्षा का संकल्प लिया। गांधीजी ने भारत में राजनीतिक गतिविधियों की शुरूआत उत्तरी बिहार के चंपारन नामक स्थान से की।

1920 में बाल गंगाधर तिलक की मृत्यु के पश्चात् स्वतंत्रता आंदोलन की दशा एवं दिशा दोनों के परिवर्तन में महत्वपूर्ण योगदान दिया। गोपाल कृष्ण गोखले उनके राजनैतिक गुरु थे। उन्हीं के मार्गदर्शन में जनता को संगठित व जाग्रत किया और स्वाधीनता आंदोलन में अहिंसा एवं सत्य के द्वारा भारत को आजादी दिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। भारतीय धार्मिक ग्रंथो यथा वेद, उपनिषद, रामायण एवं श्रीमदभागवत गीता का गांधी जी के विचारों पर गहरा प्रभाव पडा। गीता के श्लोक पढने से उनका संशय एवं विषाद उल्लास में बदल आता था। वहीं कई विदेशी लेखकों जॉन रस्किन, हेनरी डेविड थोरो, लियो टॉल्सटॉय, सुकरात इत्यादि विचारकों का भी उनके मानस पटल पर गहरा प्रभाव पडा।

भारत के प्रथम प्रधानमंत्री नेहरू की पुस्तक 'डिस्कवरी ऑफ इण्डिया' के अनुसार गांधीजी ताजी हवा के उस प्रवाह की तरह थे जिसने हमारे लिए पूरी तरह फैलना और गहरी सांस लेना संभव बनाया वह रोशनी की उस किरण की तरह थे जो अंधकार में पैठ गई और जिसने हमारी आंखों के सामने से परदे को हटा दिया।

गांधीजी नैतिक एवं आध्यात्मिक मानवतावादी विचारधारा के समर्थक रहे। इन्होंने पूर्व प्रचलित मान्यताओं को न केवल चुनौतियां दी अपितु अपनी विशिष्ट कार्यशैली से उनको सुसंगत बनाया। उनकी यह कार्यशैली विश्व में अनुकरणीय बन गई। गांधीजी परम्परागत अर्थो में राजनैतिक, दार्शनिक नहीं थे। गांधीजी का राजनीतिक चिन्तन कर्म के दर्शन के माध्यम से उद्देश्य और साधनों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करता है। वे साधन एवं साध्य दोनों की पवित्रता पर बल देते थे। सत्य और अहिंसा के आदर्श उनके जीवन एवं कर्म के मूल मंत्र थे जिनके आधार पर उन्होंने अपनी राजनैतिक कार्यवाही के तरीके विकसित किए।

उनकी अहिंसा का अर्थ मनसा, वाचा, कर्मणा था। अर्थात् वे विचारों, वाणी एवं कर्म तीनों प्रकार से हिंसा का प्रतिकार करते थे।

उन्होंने अपने सामने कुछ विशिष्ट आदर्श, नैतिक मूल्य एवं दार्शनिक मान्यताऐं रखी थी, जिसके प्रति वे आजीवन निष्ठावान बने रहे।

गांधीजी द्वारा रचित पुस्तकों में उनकी आत्मकथा सत्य के साथ मेरे प्रयोग, हिन्द स्वराज, सर्वोदय, गीताबोध आदि प्रमुख है।

गांधीजी के प्रमुख राजनैतिक विचार

(अ) राज्य संबंधी अवधारणा– गांधीजी के राज्य संबंधी विचारों को लेकर अनेक विद्वान, लेखक व आलोचकों के मध्य मतभेद है। अपने अध्ययन के प्रति अनुराग के कारण उन्होंने विभिन्न देशों के इतिहास, राजनीतिक व्यवस्था समस्याओं का गहन विश्लेषण किया तथा सभी की अच्छाइयों से प्रभावित हुए। चूंकि मूलतः वह एक आध्यात्मिक राजनीतिज्ञ थे इसलिए वह मनुष्य के व्यवहार को आत्म नियंत्रण व आत्म अनुशासन के माध्यम से उस सीमा तक ले जाना चाहते थे, जहां किसी बाह्य दवाब की आवश्यकता ही ना पड़े। राज्य की प्रत्येक व्याख्या उसे शक्ति का एक केन्द्र या आदेश देने की जबरदस्त क्षमता के रुप में प्रदर्शित करती है जिसमें अपनी आशाओं का पालन कराने के सभी उपकरण (सेना, पुलिस प्रशासन इतयादि) मौजूद है। इसके साथ ही राज्य लगातार अपनी शक्ति बढ़ाता भी जा रहा है। गाँधी राज्य के विरोधी या उसके अन्त के समर्थक नहीं है। वे अत्यंत शक्तिशाली, दमन शक्ति से सम्पन्न तथा विरोध के प्रत्येक स्वर को कुचलने वाली व्यवस्था के विरोधी थे। उनके अनुसार 'राज्य की अनियंत्रित, असीमित और अक्षुण्य सत्ता का समर्थन करना वास्तव में मानव सभ्यता के नैतिक आधार पर ही खुला आक्रमण है।'

रामराज्य की अवधारणा

अपने जीवन में विभिन्न राज व्यवस्थाओं के निर्माण, विकास, पतन और भविष्य, सभी का गहन अध्ययन करने के बाद गाँधी ने 'रामराज्य' के आदर्श को स्वीकार किया है। 20–03–1930 को नवजीवन में लिखे अपने एक लेख में वे स्वयं लिखते हैं कि 'स्वराज्य के कितने अर्थ क्यों ना किये जाये, मैं भी

उसके कितने ही अर्थ क्यों ना बताता रहा हूँ, तो भी मेरे नजदीक तो उसका त्रिकाल सत्य एक ही अर्थ है और वह है 'रामराज्य'। यदि किसी को रामराज्य शब्द बुरा लगे तो मैं इसे धर्मराज्य कहूंगा। रामराज्य शब्द का भावार्थ यह हैं कि इसमें गरीबों की सम्पूर्ण रक्षा होगी, सभी कार्य धैर्यपूर्वक किये जायेंगे और लोकमत का हमेशा आदर किया जायेगा।' उनके इस विचार में लोकतंत्र के प्रति निष्ठा और वंचित वर्ग के उत्थान के प्रति राज्य की जिम्मेदारी स्पष्ट दिखाई देती है। अपने इसी आलेख में वे आगे लिखते है कि 'यह याद रहे कि रामराज्य स्थापित करने के लिए हमें पाण्डित्य की कोई आवश्यकता नहीं है– जिन गुणों की आवश्यकता है, वह तो सभी वर्गो के लोगों में, स्त्री, पुरुष, बालक और बूढों में तथा सब धर्म के लोगों में आज भी मौजूद हैं। ..... क्या सत्य, अहिंसा, अनुशासन या मर्यादा पालन, वीरता, क्षमा, धैर्य आदि गुणों का हम में से हर एक यदि वह चाहे तो आज ही परिचय नहीं दे सकता?'' इस प्रकार उनकी रामराज्य की अवधारणा किसी उपासना पद्धति या धार्मिक विश्वास का प्रतीक नहीं, बल्कि सम्पूर्ण समाज व मानवता को जोड़ने वाली सहज मानवीय प्रवृति की घोषणा है ना कि किसी विचारधारा विशेष से संबद्ध। इसमें सत्ता विकेन्द्रीकृत होगी। प्रत्येक गांव में कुटीर उद्योग होंगे जिसमें सभी व्यक्ति स्वावलम्बी होकर आवश्यकतानुसार उत्पादन करेंगे। ऐसे समाज में अंतिम व्यक्ति के साथ भी न्याय होगा।

गांधीजी ने राजनीति को धर्म एवं नैतिकता से संबंधित किया। उनके राज्य में धर्मविहीन राजनीति मृत्यु के समान है। लेकिन यहां धर्म व्यापक अर्थो में है। गीता से प्रेरित होकर उन्होंने धर्म को कर्तव्य पालन के अर्थो में देखा एवं कर्म में कुशलता को ही योग समझा। वे स्वयं भी कर्मयोगी थे।

गांधीजी के दृष्टिकोण से राज्य का स्वरूप–

(1) धार्मिक दृष्टिकोण– ईश्वरीय राज्य है।

(2) आर्थिक दृष्टिकोण– मानव की सीमित आवश्यकताओं के आधार पर सादगी एवं सरलतापूर्ण जीवन की विकेन्द्रीकृत व्यवस्थाएं है। लाभ के स्थान पर मानवीय आवश्यकताओं का आधार प्रमुख है।

(3) सामाजिक दृष्टिकोण– बिना भेदभाव के पारिवारिक स्वरूप का समाज।

(4) राजनैतिक दृष्टिकोण– इस विकेन्द्रीकृत सत्ता में सभी प्रतिबंध नैतिक एवं स्वनियंत्रित है किसी में भी जाति धर्म, भाषा, क्षेत्र, रंग, धन इत्यादि की असमानताऐं नहीं है। न्याय सहज सुलभ है। सभी व्यक्ति स्वतंत्रताओं का उपयोग शुद्ध तरीके से करते है।

राजनैतिक चिन्तन में गांधीजी का योगदान

गांधीजी आधुनिक विश्व के युगदृष्टा, आध्यात्मिक व नैतिकता के प्रबल पक्षधर, उपेक्षित एवं दलितों के उद्धारक और साम्प्रदायिक एकता के पक्षधर थे। उनके द्वारा राजनीति के क्षेत्र में दिए गए प्रमुख योगदान निम्न है–

1. सत्याग्रह– सत्याग्रह का शाब्दिक अर्थ है सत्य + आग्रह। सत्य पर डटे रहना। यहां इसका आशय अपनी शुद्ध अन्तरात्मा की आवाज से है। यह सत्याग्रह विरोधी को हिंसा के बल से परास्त करने की अपेक्षा उसका ह्रदय परिवर्तन करने पर जोर देता है। ताकि अपनी मांगों को विरोधी को बिना पीड़ा पहुंचाए पूरी की जा सके।

2. सर्वोदय की अवधारणा– सर्व + उदय अर्थात सभी का कल्याण या उत्थान। यह ऐसी जीवन पद्धति है जिसमें सत्य और अहिंसा पर आधारित समाज बिना किसी भेदभाव के रहेगा। जिसकी परिणति रामराज्य के रूप में होगी।

3. न्यासिता का सिद्धान्त– गांधीजी वैसे तो भारी उद्योगों एवं बड़े बाजार को समाप्त करने के पक्ष में थे क्योंकि ये पूंजीवाद का मार्ग प्रशस्त करते है। जिसमें गरीबों का शोषण होता है। लेकिन व्यावहारिक तात्कालिक रूप से वे बड़े उद्योग धंधों का प्रयोग केवल सार्वजनिक हित में करने का सुझाव देते है। वे पूंजीपतियों के हृदय परिवर्तन की बात भी करते है ताकि पूंजीपति अपनी सम्पत्ति को अपना ना समझकर समाज की धरोहर समझे। वे स्वयं को इस सम्पत्ति का न्यासधारी समझे एवं इसका प्रयोग समूचे समाज के कल्याण के लिए करें।

4. विश्व की प्रमुख विचारधारा– समय काल परिस्थिति के अनुसार विभिन्न मुद्दो पर उनके विचारों को गांधीवाद का नाम दिया गया। आज विश्व के प्रमुख देशों में उनकी विचारधारा पर शोध केन्द्र बने हुए है।

5. समग्रता की विचारधारा– सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, नैतिक, राजनैतिक, शैक्षणिक, राज्य, रामराज्य इत्यादि के बारे में उनके द्वारा दिये गए ये विचार आज भी वर्तमान परिपेक्ष में खरे उतरते है। इनके चिन्तन में समाजवाद, साम्यवाद, पूंजीवाद, अराजकतावाद, उदारवाद, उपयोगितावाद इत्यादि का अभूतपूर्व सामंजस्य दिखाई देता है।

6. आदर्श समाज के निर्माण की कल्पना– इसका आधार मैत्री, प्रेम, सहिष्णुता, साम्प्रदायिक सौहार्द, विश्वबंधुत्व इत्यादि है।

7. दलितोद्धारक– सभी प्रकार के ऊँच नीच, भेदभाव, 'अस्पृश्यता' का घोर विरोध करते हुए दलितों के उद्धार के लिये कार्य किया।

8. मानवता के पक्षधर– सत्य, अहिंसा, धर्म की नई मीमांसा करने के कारण मानवतावादी चिन्तक के रूप में पहचाना जाता है।

9. जननायक के रूप में– देश को स्वतंत्रता दिलाने में आम भारतीयों को साथ लेकर विभिन्न आंदोलनों के माध्यम से लक्ष्य को प्राप्त किया।

10. साधन और साध्य– गांधीजी ने दोनों की पवित्रता पर बल दिया और कहा कि अनुचित साधनों से प्राप्त किया गया लक्ष्य (साध्य) कभी पवित्र नहीं हो सकता। इसलिए गांधीजी ने

अंहिसा एवं सत्याग्रह जैसे पवित्र साधनों से ही स्वतंत्रता के लिए संघर्ष किया।

समग्रता

महात्मा गांधी के सिद्धान्त आज के परिप्रेक्ष्य में न केवल प्रासंगिक है बल्कि वर्तमान समय की आवश्यकता भी है। हमारे प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी की पहल पर सम्पूर्ण भारत में चल रहा स्वच्छता अभियान उन्हीं के विचारों का अनुकरण है। अब आम व्यक्ति में भी इसके प्रति सजगता बढ़ी है इससे न केवल जीवन स्तर में सुधार आया है बल्कि स्वास्थ्य में भी उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है।

आज पूरा विश्व आतंकवाद से ग्रसित है। उसका मूल कारण व्यक्तियों या समूहों का मांग मनवाने के लिये अनैतिक और हिंसा का सहारा लेना है, यदि वे लोग भी मानवतावादी तरीके से अहिंसा का मार्ग अपनाए और गांधीजी के सत्याग्रह का अनुकरण करें तो न केवल उनकी मांगों पर सहानुभूति पूर्वक विचार होगा अपितु पूरे विश्व में शांति और भाईचारा होगा। आज का नौजवान बिना श्रम या मेहनत के उच्च जीवन व्यतीत करना चाहता है यदि गांधीजी के कुटीर उद्योग की नीति के अनुरूप आजीविका के लिए केवल सरकारी या अन्य नौकरियों के पीछे न भागकर अपने ग्राम शहर में तकनीकी ज्ञान का उपयोग कर स्वरोजगार के माध्यम से नए उद्योग धंधे इत्यादि का संचालन करे तो देश में कोई बेरोजगार नहीं रहेगा। वहीं उसके माध्यम से अन्य लोगों को भी रोजगार मिलेगा और वह अपने गांव के विकास का माध्यम भी बनेगा। जिससे उसमें आत्मविश्वास एवं आत्मगौरव का भाव विकसित होगा। गांधी की विचारधारा के लिए सारा विश्व उनका ऋणी है।

5. विनायक दामोदर सावरकर

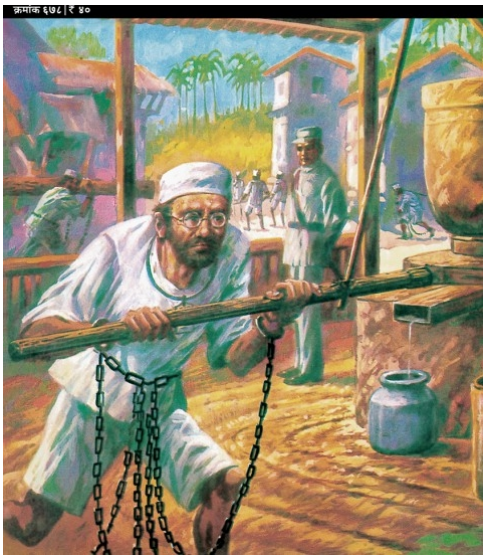

(जन्म : मई 1883 – मृत्यु : 26 फरवरी 1966)

विनायक दामोदर सावरकर ने अपने अग्रज गणेश सावरकर और अनुज नारायण सावरकर के साथ भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के यशस्वी क्रांतिकारियों के रूप में कार्य किया। विद्यार्थी काल में ही सन् 1905 में क्रांतिकारी भावनाओं का प्रसार करने के लिए ''अभिनव भारत'' संगठन बनाया और उस समय पूरे देश में तिलक की प्रेरणा से चल रहे स्वदेशी आंदोलन में कूद पडे। उन्होंने युवाओं से आह्वान किया कि –

''जिस आत्मभाव से आपने ये विदेशी कपड़े पहने हैं उसी भावना से इन्हें जला डालो और अग्नि को साक्षी मानकर स्वेदशी कपड़े पहनने और मातृभूमि की सेवा करने की प्रतिज्ञा लो।'' कॉलेज में इनके द्वारा क्रांतिकारी गतिविधियां चलाने पर इन्हें कॉलेज से निकाल दिया गया लेकिन बम्बई विश्वविद्यालय ने इनको बी.ए. की परीक्षा में बैठने की अनुमति दे दी। इंगलैण्ड के धनी सामर्थ्यवान एवं योग्य विद्यार्थियों को क्रान्ति की मुख्यधारा से जोडने के लिए वे छत्रपति शिवाजी छात्रवृति (वजीफा) मिलने पर वकालात के लिए इंगलैण्ड गए। वहां इंडिया हाउस में डेरा जमाया और यह हाउस लंदन में भारतीय क्रांतिकारियों का गढ़ बन गया। जहां सन् 1907 में अंग्रेजो ने 1857 की भारतीय क्रांति के असफल होने के उपलक्ष्य में अर्द्धशताब्दी समारोह का आयोजन किया। वहीं इन्होंने 8 मई 1908 को इण्डिया हाउस में ''1857 का स्वतंत्रता दिवस'' धूम धाम से मनाया और इस पर ''1857 का स्वतंत्रता संग्राम पुस्तक'' भी लिखी।

इनकी अभिनव भारत संस्था ने लाला हरदयाल, श्यामजी कृष्ण वर्मा, मादाम कामा, मदनलाल ढींगरा आदि के साथ इंगलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी और रूस में भारतीय स्वतंत्रता की मांगों का प्रचार प्रसार किया। वहीं भारत में इनकी संस्था के कई कार्यकर्त्ताओं ने अत्याचारी अंग्रेज अधिकारियों को मौत के घाट उतारना शुरू कर दिया।

सरकार ने इन सब घटनाओं का आरोप वीर सावरकर पर लगाया। ब्रिटिश सरकार ने इन्हें 13 मार्च 1910 को गिरफ्तार कर लिया और पचास वर्ष का कठोर कारावास देकर अण्डमान की जेल (काला पानी की सजा) में भेज दिया। यहां उन्हें कोल्हू के बैल की तरह जोता गया। जेल में कठोर यातनाएं पाकर भी उनका मन देशभक्ति के लिए मचलता था। उन्होंने जेल की दीवारों पर ही कोयले से कई कविताऐं लिख डाली और उन्हें स्मरण कर काव्य संग्रह तैयार कर लिया। उल्लेख है कि इनके भाई गणेश सावरकर भी इसी जेल में बंद थे। 1924 में सावरकर बन्धुओं को अण्डमान से कलकत्ता लाया गया। दोनों भाई 4 दिन तक जेल में एक साथ कैद रहे। बाद में वीर सावरकर को रत्नागिरी और गणेश सावरकर को अलीपुर जेल में भेज दिया गया।

1937 में जब बम्बई में नया मंत्रिमण्डल बना तो मंत्री जमनादास के प्रयत्नों से उन्हें 10 मई 1937 में जेल से छोड़ दिया गया। जेल से छूटने के बाद ये हिन्दू महासभा के प्रधान चुने गये इसके बाद इन्होंने प्रशंसनीय एवं रचनात्मक कार्य किए। इनकी लिखित पुस्तकों में हिंदुत्व (1923), 1857 का स्वतंत्रता संग्राम (मूलरूप मराठी में) इत्यादि प्रमुख है।

राजनैतिक चिन्तन में योगदान
राष्ट्रत्व की कल्पना
(Concept of Nationhood)

उनका राष्ट्रत्व का विचार राजनीति दर्शन का केन्द्र बिन्दु है। इनके अनुसार भौतिक राष्ट्रवाद की भौगोलिक अभिव्यक्ति उसकी हिन्दू राष्ट्रवादी संस्कृति का प्रतिबिम्ब है।

''जो व्यक्ति सिन्धुनदी से समुद्र तट तक की भारत भूमि को अपनी पुण्य भूमि एवं पितृभूमि मानता है, वही हिन्दू हैं।'' यही राष्ट्रत्व का मूल मंत्र है।

यही विचार देश के प्रत्येक नागरिक चाहे वह किसी भी मत का अनुयायी हो उनके मन और अंतरात्मा में बसता है और यही हमारे विश्वास का आधार है। यहां स्पष्ट है कि सावरकर की हिन्दुत्व की अवधारणा किसी जाति, धर्म, संस्कृति, पूजा पद्वति से जुड़ी हुई नहीं है बल्कि वह सिन्धु नदी से भारत के समुद्री तटों तक बसी सभी जातियों, धर्मो, उपसंस्कृतियों व सभ्यताओं को इसमें शामिल करते है। जिन्हें जोड़कर भारतीय संस्कृति बनती है।

हमारे देश के करोड़ों सिख, जैन, लिंगायत और भिन्न–भिन्न समाज के लोगों और इनकी भी दस पीढ़ियों के इतिहास को पलटकर देखे तो पता चलेगा कि सभी सम्प्रदाय और मत–मतान्तर हिन्दू संस्कृति में ही पल्लवित हुए है। अतः हम सब इतने एकाकार हो गए कि यही भूमि हमारी पुण्यभूमि और पितृभूमि हो गई।

वीर सावरकर का कहना था कि सभी वर्ग के लोग हिन्दु बहुसंख्यक वर्ग के साथ मिलजुलकर कार्य करें और अपने आप को इस देश कि सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक जीवन में आत्मसात कर लें। दूध में चीनी की तरह मिलकर इस संस्कृति को और भी श्रेष्ठ बनावें।

देश के स्वतंत्रता संग्राम में सम्पूर्ण राष्ट्र को ही मुख्य भूमिका निभानी है। सावरकर ने कहा कि राजनैतिक सत्ता के भागीदार भावानात्मक रूप से जुड़े वे ही लोग होंगे जो इसे पुण्य भूमि को पितृ–भूमि मानते है। यहां सावरकर भारत भूमि से भावनात्मक लगाव को देशप्रेम की पहली सीढ़ी मानते है।

अल्पसंख्यक वर्ग को सार्वजनिक नियुक्तियों एवं राजनैतिक एवं नागरिक जीवन में आनुपातिक प्रतिनिधित्व और समतामूलक वितरण के आधार पर अवसर दिया जाना चाहिए। उन्हें योग्यता के आधार पर ही सभी क्षेत्रों में भाग लेने की भी अनुमति रहेगी।

उन्होंने जाति प्रथा जैसी विभाजनकारी प्रवृति के अंत पर बल दिया और अर्न्तजातीय विवाह का समर्थन किया। इस व्यवस्था में जैन, सिख, आर्य समाजी एवं ब्रह्म समाजियों इत्यादि को भी उन्होंने हिन्दू ही माना।

समग्र मूल्यांकन

विद्यार्थी एवं युवकों को स्वतंत्रता संग्राम से जोड़ने का महत्वपूर्ण श्रेय वीर सावरकर को जाता है। देश की स्वाधीनता के लिए, जब वे विदेशों में जनमत तैयार कर हे थे और पेरिस में थे तब उन्हें इंगलैण्ड की परिस्थितियां अनुकूल नहीं होने एवं उनका जीवन खतरे में होने का संकेत देकर कुछ दिन वहीं रूकने के लिए कहा लेकिन यह कहकर कि मेरे जो साथी मेरी प्रेरणा से इस मार्ग में आए है उन्हें संकट में डालकर मैं सुरक्षित रहूं तो मुझे धिक्कार है।

उनका त्याग एवं बलिदान आज के युवाओं के लिए मिसाल है। क्रान्तिकारी के रूप में अग्रणी नेता रहे लेकिन उनके हिंदुत्ववादी राजनैतिक विचार सदैव विवादों में घिरे रहे।

6. सरदार वल्लभ भाई पटेल

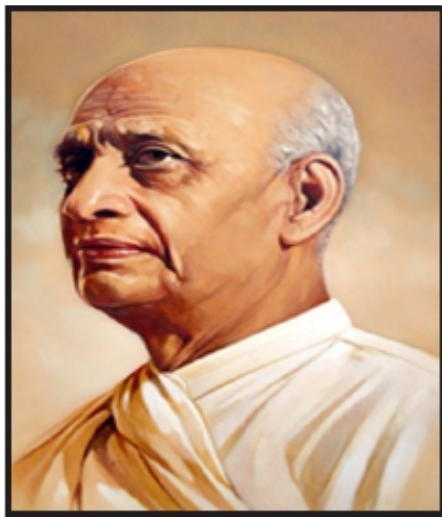

(जन्म : 31 अक्टूबर 1875 – मृत्यु : 15 दिसम्बर 1950)

सरदार वल्लभ भाई पटेल का जन्म गुजरात के करमसद गांव में एक देशभक्त परिवार में हुआ। इनका विद्यार्थी जीवन उज्ज्वल एवं दबंग था। पढाई में कुशाग्र होने के कारण, ये कानून की पढाई करने के लिए इंगलैण्ड गए। वहां से भारत लौटकर आने के कुछ ही समय में प्रसिद्ध वकील के रूप में स्थापित हो गए। उसी समय पूरे देश में स्वतंत्रता आंदोलन चल रहा था। किसानों पर लगाए गए भूमि–कर में एक साथ बहुत ज्यादा वृद्धि कर दी। किसानों ने उसका प्रतिकार किया तथा पूरे देश में आंदोलन चले। गुजरात में बारदोली तहसील (जिला सूरत) में आंदोलन ने गति पकड़ी जिसका नेतृत्व वल्लभ भाई पटेल ने किया। उसकी सफलता से क्षेत्र के लोगों एवं महात्मा गांधी ने इन्हें सरदार के अलंकार से सम्बोधित किया और ये हमेशा के लिए सरदार वल्लभ भाई पटेल हो गए।

1931 में वे कांग्रेस के अध्यक्ष भी रहे। इन्होंने महात्मा गांधी के साथ असहयोग आंदोलन एवं अन्य आंदोलनों में बढ़चढ़ कर अपनी सामर्थ्यता एवं अच्छा योजक होने का परिचय दिया।

भारत में स्वतंत्रता के बाद बने प्रथम मंत्रिमंडल में उप प्रधानमंत्री एवं गृहमंत्री के रूप में नेतृत्व प्रदान किया। इन्होंने अंग्रेजों की भारत बांटो योजना के तहत देशी रियासतों को स्वतंत्र करने की योजना का पूर्वाभास हो जाने से पी .वी. मेमन के साथ मिलकर सभी रियासतों के प्रमुखों से वार्ता कर उन्हें भारत में विलय के लिए तैयार किया और केवल तीन रियासतों जूनागढ, हैदराबाद एवं जम्मूकश्मीर के अलावा सभी ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया।

योजना पूर्वक बल प्रयोग किया तो जूनागढ़ का नवाब पाकिस्तान भाग गया, हैदराबाद के निजाम ने आत्मसमर्पण कर दिया। लेकिन कश्मीर को नेहरू जी के यह कहने पर कि यह अर्न्तराष्ट्रीय मामला है, उन्होंने अपने पास रख लिया। परिणाम स्वरूप यह विवाद आज तक भारत के लिए सिरदर्द बना हुआ है और भारत–पाकिस्तान संबंध में भी एक बडी बाधा बना हुआ है। उन्होंने 562 रियासतों का एकीकरण किया और उनके इस महान कार्य के कारण ही उन्हें लौह पुरूष के रूप में जाना जाता है।

जो कार्य जर्मनी के एकीकरण के लिए बिस्मार्क ने किया, जापान को सुदृढ बनाने के लिए मिकाडो ने किया उससे भी ज्यादा चुनौतीपूर्ण छोटी बड़ी रियासतों में बंटे हुए भारत को एक करने का कार्य सरदार पटेल ने किया। जर्मनी एवं जापान की जनसंख्या तो लगभग 4–5 करोड थी जबकि भारत में इसकी दस गुना जनसंख्या एवं इससे सौ गुणा प्रतिकूलता एवं हजार गुना विविधताऐं थी लेकिन इसके बावजूद उन्होंने अपनी दृढ इच्छा शक्ति के बल पर छोटी–छोटी बातों पर महाभारत कर देने वाली इन देशी रियासतें को भारत का अभिन्न अंग बना दिया।

भारत विभाजन के पश्चात 1947 में जब वे सौराष्ट्र के दौरे पर गए तो उन्होंने मोहम्मद गजनवी द्वारा तोड़े गए सोमनाथ मंदिर को भी देखा। उसकी दुर्दशा से इन्हें हार्दिक कष्ट हुआ। उसी समय उसके पुननिर्माण का संकल्प कर लिया। इनकी एक अपील पर पूरे देश का आर्थिक सहयोग लेकर 11 मई 1951 को इसे भव्य स्वरूप प्रदान किया।

राजनैतिक विचार

सरदार पटेल के कोई संगठित राजनैतिक विचार नहीं है। वह राजनैतिक दार्शनिक नहीं थे। उन्होंने अपनी कोई विशेष विचारधारा एवं सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी नहीं किया। लेकिन उनके द्वारा किए गए असम्भव कार्यो का विश्लेषण करें तो ऐसा लगता है वह गीता के कर्मयोगी विचारों में विश्वास रखते थे। आध्यात्मिक दृष्टिकोण रखते हुए महात्मा गांधी के सच्चे अनुयायी थे एवं उनमें विशेष राजनीतिक दूरदर्शिता एवं समझ थी।

उनके द्वारा देशी रियासतों का भारत में विलय का कार्य उनके राजनैतिक विचारों की झलक दिखाता है। ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत को स्वतंत्र किए जाने की योजना पर बने मानचित्र में विभिन्न रियासतों की रंग बिरंगी सीमा रेखाऐं देखकर इनको समाप्त कर भारत के साथ मिलाने की कार्य योजना बनाई। सभी देशी राज्यों को रक्षा, विदेशी एवं यातायात संबंधी विषय केन्द्रीय सरकार को देने के लिए उनसे सम्पर्क किया।

5 जुलाई 1947 को अंतरिम सरकार के मंत्रिमंडल द्वारा सरदार पटेल के नेतृत्व में रियासती विभाग की स्थापना का निर्णय इनकी दूरगामी सोच थी। हालांकि मुस्लिम लीग के नेता मो. जिन्ना द्वारा इसका घोर विरोध किया गया, परन्तु अपनी दृढ इच्छा शक्ति के कारण, इस दुष्कर कार्य को सफल बना दिया।

सरदार पटेल के कुछ महत्वपूर्ण विचार

(1) राष्ट्र के प्रति भावनात्मकता– सरदार पटेल का राष्ट्र के प्रति पूर्ण श्रद्वा एवं आत्मीयता का भाव था। इनके अनुसार इस मिट्टी में कुछ तो अनूठा है जिसके कारण कई बाधाओं के बावजूद इसमें हमेशा महान आत्माओं का निवास रहा है। यह हर नागरिक की जिम्मेदारी है कि वह अनुभव करें कि उसका देश स्वतंत्र है। उसकी स्वतंत्रता की रक्षा करना उसका कर्तव्य है उसे यह भूल जाना चाहिए कि वह राजपूत है, जाट है, सिक्ख है या किसी अन्य जाति का है। उसे केवल यह याद होना चाहिए कि वह भारतीय है।

(2) स्वदेशी एवं संस्कृति के बारे में विचार– सरदार पटेल भारतीय संस्कृति के महान पोषक एवं स्वदेशी वस्तुओं के पक्षधर थे। वे स्वयं भी सादी वेशभूषा पहनते थे। इनके घर का वातावरण भी सामान्य एवं प्राचीन ढंग का था। उनका आग्रह था कि कोई भी व्यक्ति यदि वह बड़ा नेता हो, अधिकारी हो या सामान्य अथवा असामान्य जन हो, उसे स्वदेशी भाषा का प्रयोग करना चाहिए। भारत एक अच्छा उत्पादक देश हो। इस देश में कोई भूखा ना हो, क्षेत्र के लिए आंसू न बहाए यहां का अनाज निर्यात नहीं किया जाए। यहां के कृषक सम्पन्न हो, दस्तकार समृद्ध हो तथा प्रत्येक व्यक्ति रोजगार से जुडा हो।

(3) अहिंसा के बारे में– सरदार पटेल, गांधीजी के शिष्य होने के नाते उनकी नीतियों के समर्थक थे लेकिन अहिंसा के बारे में उनके अलग विचार थे। उनका कहना था, आपकी अच्छाई, आपके मार्ग में, बाधक नहीं बने। इसके लिए समय पर क्रोध दिखाइए, अन्याय का मजबूती से मुकाबला कीजिए। अपने आपको शक्तिशाली बनाइये। शक्ति के अभाव में विश्वास किसी काम का नहीं है। 'विश्वास एवं शक्ति' दोनों ही किसी बड़े लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है। शक्ति के लिए एकता आवश्यक है।

(4) भारत–पाक विभाजन के बारे में– सरदार पटेल भारत–पाक विभाजन के शुरू से ही विरोध में थे। लेकिन मुस्लिम लीग द्वारा की गई सीधी कार्यवाही से पूरे देश में हिंसा का माहौल बन गया। देश में वर्तमान और भविष्य दोनों में स्थायी शान्ति बनी रहे, ऐसा सोचकर कड़वे मन से उस विभाजन को भी स्वीकार किया।

(5) जीवन शैली के बारे में– ऊपर से कठोर दिखने वाले

सरदार पटेल अंदर से बहुत सहज एवं सरल थे इनके अनुसार बेशक कर्म पूजा है, लेकिन हास्य जीवन है। जो सुख–दुख का समानता से स्वागत करें। वहीं सबसे अच्छा जीवन है और अपने अंदर के बालपन को जगाए रखे। हास्य मनोविनोद भी जीवन में आवश्यक है। हमें मुस्कराते रहना चाहिए। ईश्वर एवं सत्य में विश्वास रखकर प्रसन्न रहना चाहिए।

सरदार पटेल के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के बारे में जवाहरलाल नेहरू ने अपने विचार व्यक्त करे हुए कहा था कि –

''वे इच्छा और उद्देश्य में दृढ है, एक महान संगठनकर्ता है। भारत की स्वाधीनता के उद्देश्य में लगन के साथ लगे रहे है और उन्होंने आवश्यक शक्तिशाली प्रतिरोध की सृष्टि की है। कुछ लोग उन्हें पसंद नहीं कर सकें, क्योंकि वे उनसे सहमत नहीं हो सके। परन्तु अधिकांश देशवासियों ने उन्हें अपनी रूचि का नेता पाया है। उनके साथ अथवा अधिनस्थ काम करके हिन्दुस्तान की स्वतंत्रता की स्थायी नींव डाली है। उनके लिए जिन्हें उनके साथ काम करने का सौभाग्य मिला है, वे शक्ति स्तम्भ की भांति रहे है।''

इस तरह उन्हें आधुनिक भारत का निर्माता तथा एकीकरणकर्ता के रूप में मान्यता दी गई।

समग्र मूल्यांकन

लौह पुरूष सरदार वल्लभ भाई पटेल, पूर्ण ईमानदार कठोर अनुशासन एवं स्पष्टवादी होने के कारण उन्होंने सभी योजनाओं को सफलता दिलाई। हालांकि उनके इन गुणों से कई लोगों में नाराजगी भी आई और वे अंत तक इनका विरोध करते रहे। कुछ मामलों में नेहरूजी से उनके मतभेद रहे, विशेषकर जम्मू कश्मीर के मामलों को लेकर। लेकिन उन्होंने सभी को साथ लेकर, सभी के साथ मिलकर, आधुनिक भारत की सशक्त नींव रखी। पूर्व राष्ट्रपति आर. वैंकटरमन (1980) ने तो यहां तक कहा कि सरदार पटेल में इस्पात की शक्ति तथा सोने की शुद्धता का समन्वय था। आधुनिक भारत के कर्णधारों में सरदार बल्लभ भाई पटेल और नेहरू दोनों का राष्ट्रीय एकता और उसके निर्माता रूप में अग्रणी योगदान रहा है। श्री नेहरू ने सरदार पटेल को राष्ट्रीय एकता के शिल्पी का नाम दिया था। उन्हें 1991 में भारत रत्न से भी सम्मानित किया गया था।

7. डॉ. भीमराव अम्बेड़कर

(जन्म 14 अप्रेल 1891 – मृत्यु 6 दिसम्बर 1956)

डॉ. भीमराव अम्बेड़कर का जन्म मध्यप्रदेश के महु छावनी स्थान पर हुआ। पिता रामजी सकपाल एवं माता भीमा के पुत्र ने जन्म से ही तथाकथित उच्च जाति के वर्ग से तिरस्कार एवं भेदभाव सहन किए।

अपनी जाति में उच्च शिक्षा के नवीन आयाम छूने वाले प्रथम बालक थे। विधार्थी जीवन में अपने साथियों एवं समाज के अन्य वर्गो के द्वारा किए गए घृणा एवं छुआछूत के व्यवहार से, उनका मन आहत हो जाता था। वहीं ब्राह्मण शिक्षक पं. रामचन्द्र भागवत, पेंडसे, तथा कृष्णाजी अर्जुन केलुसूकर इत्यादि ने उनको इनका दृढता से मुकाबला कर आगे बढने के लिए प्रेरित किया। एक शिक्षक पं. रामचन्द्र का तो उनके ऊपर इतना स्नेह था कि उन्होंने भीमराव के कुल नाम के स्थान पर खुद का कुलनाम अम्बेड़कर लगा दिया और यह उनके नाम के साथ जीवन भर रहा। वहीं उनमें, उनके पिता द्वारा कबीर एवं संत तुकाराम जैसे कवियों की कविता एवं गीता के श्लोक गाए जाने के कारण आध्यात्मिक भावनाएं भी विकसित हुई। अमेरिका एवं ब्रिटेन में उच्च शिक्षा प्राप्त करने के दौरान, वहाँ की लोकतांत्रिक परम्पराओं एवं संविधानवाद का प्रभाव पडा, तो साथ ही वहां के राजनैतिक वातावरण के प्रभाव से उदारवाद का भाव आया।

गौतमबुद्ध के उपदेशों एवं सिद्धान्त का, संत कबीर के विवेकपूर्ण एवं पंथनिरपेक्ष विचारों का, ज्योतिबाफुले के जनसाधारण के प्रति शिक्षा सेवा एवं सहयोग का उनके ऊपर गहरा प्रभाव पडा। वहीं उनके सवर्ण जाति के सहपाठी, हिन्दू समाज के तथाकथित उच्च जाति के लोगों के द्वारा किए गए अत्याचारों ने इनके मन में घृणा की भावना पैदा कर दी।

उस समय वर्ण व्यवस्था के अंतर्गत शारीरिक श्रम के द्वारा मानव समाज की सेवा करने वाली जातियों को निम्न श्रेणी में रखा जाता था। उनसे अस्पृश्यता और असमानता का व्यवहार किया जाता था। साथ ही इन अमानवीय प्रथाओं पर रीति रिवाज,

लोक विश्वास एवं धार्मिक मान्यताओं की छाप लगाकर शताब्दियों तक समाज के बड़े हिस्से को शिक्षा एवं व्यावसायिक प्रशिक्षण के अवसरों से दूर रखा गया। इन सबसे व्यथित होकर इन्होंने दलितों का उद्धार करने का बीड़ा उठाया।

इन्होंने सबसे पहले समाज को 'शिक्षित बनो, संगठित रहो, संघर्ष करो' का नारा दिया और कहा कि जो संघर्ष करता है सफलता एवं यश उन्हीं को मिलता है। इन्होने हिन्दू धर्म के भीतर सवर्ण हिन्दुओं और निम्न जातियों के बीच समानता का आंदोलन चलाया। इनकी पुस्तक ''हू वर दी शूद्राज'' में यहां तक लिखा कि शूद्र सूर्यवंश के क्षत्रिय थे। पहले केवल क्षत्रिय, ब्राह्मण एवं वैश्य तीन ही वर्ग अस्तित्व में थे। चौथे शूद्र वर्ग का उदय ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों के संघर्ष के दौरान हुआ। हिन्दू धर्म की वर्ण व्यवस्था ही सारी अमानवीयता का मूल कारण है। अर्न्तजातीय विवाह के माध्यम से खून से मिलने का माध्यम बताते हुए इसके प्रचलन की वकालात की। सवर्ण हिन्दुओं का हृदय परिवर्तन कर अस्पृश्यता को मिटाने के गांधीजी के विचारों से वे असहमत थे। अम्बेड़कर जी के अनुसार मकान की रंगाई पुताई करके दुर्दशा को छिपाया तो जा सकता है, लेकिन सुधारा नहीं जा सकता। ऐसी हालात में उसे गिराकर ही नया मकान बनाया जाना उचित होगा। छुआछूत की कुप्रथा को मिटाना आवश्यक है। इन्होंने समानता आंदोलन के दौरान मिलजुलकर पूजा, पर्व मनाने एवं सामूहिक प्रीतिभोज जैसे कार्यक्रमों का आयोजन भी किया। अपने कार्यक्रमों के द्वारा हिन्दू समाज में निम्न जातियों के उद्धार की संभावनाएं धूमिल होती देख अपने मन के उद्‌गार को व्यक्त करते हुए कहा कि मैं हिन्दू धर्म में पैदा हुआ यह मेरे हाथ ही बात नहीं थी लेकिन मैं हिन्दू धर्मावलम्बी रहकर नहीं मरूंगा और यह कहकर 14 नवंबर 1956 को अनुयायियों के साथ बौद्ध धर्म अपना लिया। उनका संविधान निर्माण में भी महत्वपूर्ण योगदान था। उन्होंने अपने जीवनकाल में कई पुस्तकों की रचना की जिनमें कास्ट इन इंडिया (1917), हू वर दी शूद्राज (1946), गांधी एण्ड गांधीज्म, दि राइज एण्ड फॉल ऑफ हिन्दू वीमैन ऑन पार्लियामैन्ट्री डैमोक्रेसी (1952) इमेनसिपेशन ऑफ दी अनटचेबल्स (1943) इत्यादि प्रमुख है।

अम्बेड़कर के राजनैतिक विचार

डॉ. अम्बेड़कर आजीवन दलित, शोषित एवं अस्पृश्य समाज को सामाजिक न्याय दिलाने में संघर्षरत रहें। सामाजिक न्याय का अर्थ है– 'समाज के सभी वर्गो में कोई भेदभाव ना हो एवं सभी का सम्मान व मर्यादा बनी रहे।' इन्होंने राजनैतिक अवधारणाओं, संस्थाओं एवं समस्याओं का विश्लेषण भी इसी आधार पर किया। उनके राजनैतिक विचार निम्न है :–

1. राज्य एवं लोकतंत्र की महत्ता– डॉ. अम्बेड़कर लोकतंत्र को बिना रक्तपात आम व्यक्ति के सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन का माध्यम मानते है। उन्होंने व्यक्ति की स्वतन्त्रता की महत्ता को स्वीकारा लेकिन स्वेच्छाचारिता का विरोध किया। उनके अनुसार मनुष्य में कुछ मूल पाशविक प्रवृत्तियाँ भी होती है इसलिए राज्य का नियंत्रण भी आवश्यक है।

यह राज्य लोककल्याणकारी एवं उदारवादी होना चाहिए लेकिन राज्य को भी मर्यादित एवं सीमित शक्तियां ही दी जानी चाहिए। राज्य का आधार सभी को सामाजिक न्याय दिलाने एवं आर्थिक सम्पन्न बनाने का होना चाहिए। अर्थात राज्य जन साधारण की सेवा का सशक्त माध्यम है।

2. संसदीय शासन प्रणाली का समर्थन– डॉ. अम्बेड़कर ने ब्रिटेन जैसी संसदीय प्रणाली को भारत के लिए उपयुक्त माना। इसके अन्तर्गत कार्यपालिका सक्षम होने के साथ उत्तरदायी और संवेदनशील हो। जनमत का भी इस पर सीधा प्रभाव पड़े। कार्यपालिका शक्तियों का दुरूपयोग नहीं कर सके इसकी स्थिरता सुनिश्चित हो जिससे कार्यकुशलता बनी रहे।

देश की एकता एवं अखण्डता के लिए एकात्मक शासन प्रणाली ज्यादा उपयुक्त है क्योंकि भारत में गांवों में स्थानीय हित को ही सर्वोपरि महत्व दिया जाता है इसके लिए सत्ता के विकेन्द्रीकरण के बारे में सोचना व्यर्थ है।

कार्यपालिका पर व्यवस्थापिका का नियंत्रण हो ताकि वह निर्देशों एवं निर्णयों की अवहेलना नहीं कर सके। शासन के सभी विभागों में इस प्रकार का संतुलन एवं समन्वय हो जिससे एक दूसरे से स्वतंत्र रहते हुए भी एक दूसरे पर नियंत्रण रख सकें। सभी अल्पसंख्यकों के हितो और अधिकारों पर कोई अतिक्रमण नहीं कर सके।

संसदीय लोकतंत्र के लिए आवश्यक है कि सामाजिक व आर्थिक जीवन में घोर विषमताऐं नहीं हो अन्यथा ये अन्तर सामाजिक दरार को बढाने का कार्य करता है और रक्तपात या क्रांति की संभावनाएँ जन्म लेने लगती है। यदि हमारे सामाजिक जीवन में लोकतंत्र नहीं है तो हमारे राजनैतिक जीवन का लोकतंत्र भी प्रभावी नहीं होगा। भारत में जाति प्रथा लोकतंत्र का सबसे बडा शत्रु है।

संसदीय प्रणाली की सफलता के लिए दूसरी शर्त है बहुदलीय प्रणाली एवं प्रभावी विपक्ष। ''बहुमत को हमेशा अल्पमत का सम्मान करना चाहिए। अल्पमत में सुरक्षा की भावना लोकतंत्र का आधार स्तम्भ है।''

भारत में वीर पूजा की भावना लोकतंत्र के लिए सबसे बडा खतरा है। संसदीय लोकतंत्र में किसी व्यक्ति विशेष को महत्ता ना दी जाकर दलीय लोकतंत्र को ही वरीयता दी जानी चाहिऐं।

3. बालिग या वयस्क मताधिकार– देश में उत्तरदायी सरकार के लिए बिना किसी भेदभाव के प्रत्येक बालिग या वयस्क व्यक्ति को मत देने का अधिकार होना चाहिए। अर्थात एक व्यक्ति–एक वोट–एक मूल्य

4. साम्यवाद एवं इस्लामिक देशों के गठबंधन का विरोध– डॉ. अम्बेड़कर के अनुसार साम्यवाद भारत के प्रजातंत्र के लिए वह अग्नि है जो प्रजातंत्र सहित देश की राजनीति को भस्म

कर सकती है। चीन जैसे साम्यवादी देश आक्रमणकारी होने के कारण कभी भी हम पर हमला कर सकते है। नेहरू जी के पंचशील सिद्धान्तों की राजनीति में कोई सार्थकता नहीं है। विशेषकर साम्यवादी देशों के साथ तो बिल्कुल नहीं है। भारत को केवल प्रजातांत्रिक देशों से अनिवार्यतः सम्पर्क रखना चाहिए। (उनकी यह भविष्यवाणी 1962 में चीन द्वारा भारत पर आक्रमण से सत्य साबित हुई।)

वहीं अम्बेड़कर ने मुस्लिम देशों के गठबंधन से भी सावधान रहने को कहा। यह भी वर्तमान में बढते हुए आतंकवाद की दिशा में उनकी दूरगामी सोच को व्यक्त करता है।

5. राष्ट्रभाषा एवं भाषायी राज्य– डॉ. अम्बेड़कर के अनुसार भारत की एकता और अखण्डता के लिए हिन्दी भाषा का राष्ट्रीय भाषा होना अनिवार्य है। हिन्दी भाषा ही पूरे देश को एकता के सूत्र में पिरोने में सक्षम है।

स्वयं मराठी भाषी होने एवं अंग्रेजी भाषा पर पूर्ण अधिकार होने के बावजूद उन्होंने क्षेत्रीय भाषाओं को सरकारी भाषा के रूप में मानने का विरोध किया है। वहीं भाषा के आधार पर राज्यों का गठन भाषायी राष्ट्रवाद पैदा कर सकता है। यह भी साम्प्रदायिकता का दूसरा रूप है। यदि हम लोग अपनी संस्कृति एवं देश से प्रेम करते है, तो हम सब का कर्तव्य है, हिन्दी को अपने देश की एक राष्ट्रभाषा मानें।

6. देश के विभाजन पर विचार– इनकी पुस्तक थॉट्स इन पाकिस्तान (1940) के अनुसार भारत में हिन्दुओं को शांति से जीने के लिए भारत के दो भाग हिन्दुस्तान और पाकिस्तान कर देने चाहिए। विभाजन से पहले पाकिस्तानी हिस्से के हिन्दू एवं भारतीय हिस्से के मुसलमानो की अदला–बदली भी कर लेनी चाहिए। जिससे दोनों ही देश शांतिपूर्वक रह सके।

7. राष्ट्रमण्डल से सम्बन्ध– भारत में औद्योगिक उन्नति और रक्षात्मक मामलों में हमारी आवश्यकता को देखते हुए राष्ट्रमण्डल से सम्बन्ध बनाए रखना हमारे लिए उपयोगी रहेगा।

8. संविधान के बारे में विचार– संविधान सभा ने इन्हें 29 अगस्त 1947 को संविधान का प्रारूप तैयार करने के लिए इनकी अध्यक्षता में 7 सदस्यों की प्रारूप समिति का गठन किया। इसमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका डॉ. अम्बेड़कर ने निभायी।

इन्होंने इसके निर्माण के समय कहा कि यह संविधान व्यावहारिक एवं लचीला होने के साथ युद्धकाल एवं शांतिकाल दोनों में ही देश की एकता बनाए रखने में सक्षम है। यह पवित्र दस्तावेज है बहुमत के आधार पर जल्दबाजी में इसमें कोई संशोधन नहीं किए जाने चाहिए।

समग्र मूल्यांकन

दलितों के मसीहा डॉ. अम्बेड़कर बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी थे। सुविधाविहीन, एवं दलित परिवार से होने के बावजूद उन्होंने अपनी योग्यता के बल पर कोलम्बिया विश्वविद्यालय न्यूयार्क (अमेरिका) व इंगलैण्ड के लन्दन स्कूल ऑफ इकॉनोमिक्स एण्ड पॉलिटिकल साइंस में उच्च शिक्षा प्राप्त की और दलित समाज को शिक्षा एवं संस्कार के माध्यम से सुदृढ बनाने का कार्य किया। तात्कालिक समय में इन समाजों की प्रचलित कुरीतियों को दूर करने के साथ कहा कि दुर्गुणों से दूर रहिए, बेटियों को पढ़ाइये– लिखाइये उनके मन में महत्वाकांक्षा पैदा होने दीजिए। मदिरपान एवं गोमांस सेवन इत्यादि का त्याग करने का आह्वान किया।

उन्हीं की तरह अस्पृश्यता दूर करने की दिशा में दयानन्द सरस्वती, विवेकानन्द, महात्मा गांधी, डॉ. हेगडेवार इत्यादि ने भी प्रयास किये लेकिन स्वयं इस वर्ग के होने के कारण दलित समाज में इनको ज्यादा प्राथमिकता मिली। शासन की संस्थाओं में दलित वर्गो के उचित एवं पर्याप्त प्रतिनिधित्व के लिए उनके प्रयास सफल भी रहे। हमारे संविधान में आरक्षण संबंधी उपबंधों के पीछे डा. अम्बेड़कर के योगदान को नहीं भुलाया जा सकता है।

आजीवन तिरस्कार एवं अपमान की पीड़ा सहन कर उन्होंने अपने अंदर की अग्नि को मशाल बनाकर रूढ़िवादी समाज एवं धर्म के ठेकेदारों से संघर्ष किया। वहीं दूसरी और उसके प्रकाश से सदियों से उपेक्षित अस्पृश्य एवं दलित समाज को सामाजिक न्याय की राह प्रशस्त की।

संघर्ष और न्याय की यह मशाल आने वाली पीढ़ी के लिए एक मिसाल बन गई है। जो युगो–युगो तक अविस्मरणीय रहेगी।

8. जवाहरलाल नेहरू

(जन्म : 14 नवंबर 1889 – मृत्यु : 27 मई 1964)

जवाहरलाल नेहरू का जन्म इलाहाबाद के प्रसिद्ध एडवोकेट पं. मोतीलाल नेहरू के घर हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा अंग्रेज शिक्षकों द्वारा घर पर ही हुई। 1905 में स्कूली शिक्षा इंगलैण्ड के हैरो के प्रसिद्ध पब्लिक स्कूल में हुई और उसके बाद की शिक्षा कैम्ब्रिज और वकालात की शिक्षा लन्दन के इनर टैम्पल से 1912 में पूरी की। विद्यार्थी काल में उनका विभिन्न समाजवादी विचारकों

एवं लेखकों से सम्पर्क हुआ और अपने पिता के साथ यूरोप के कई देशों की यात्राएें भी की।

1916 में कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में महात्मा गांधी के सम्पर्क में आने के बाद उसके साथ संबंध निरन्तर प्रगाढ़ होते गए। वे पूरे स्वतंत्रता आंदोलन में कॉंग्रेस की योजना से कार्य करते रहे 1929 में लाहौर अधिवेशन में अध्यक्ष के रूप में पूर्ण स्वतंत्रता का शंखनाद किया। 1946 में अंतरिम सरकार में मुखिया के रूप में व आजाद भारत के प्रथम प्रधानमंत्री के रूप में देश को नेतृत्व प्रदान किया। संविधान निर्माण में भी उनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही।

उनके जीवन पर उनके प्रारम्भिक गुरू टी.एफ0 ब्रुक्स के प्रभाव से अध्ययन के प्रति गहरी रूचि जागृत हुई। विभिन्न देशों की यात्राओं से उनके लोकतांत्रिक समाजवादी विचार सुदृढ हुए। जो इनके असंख्य लेखो, रचनाओं, पत्रों एवं भाषणों में बिखरे पड़े हैं।

उनकी प्रमुख रचनाएं– डिस्कवरी ऑफ इण्डिया (1946), एन ऑटो बायोग्राफी (1936) एवं विश्व इतिहास की झलक (1939)

राजनैतिक चिन्तन में योगदान

जवाहर लाल नेहरू राजनीतिज्ञ एवं विचारक थे न कि संत अथवा दार्शनिक। वे विचारों से संशयवादी थे। उन्हीं के शब्दों में ''प्राय मैं इस विश्व की ओर देखता हूं जो मुझे अज्ञात गहराईयों और रहस्यों का आभास देता हैं पर वह रहस्यमय चीज क्या है। यह मैं नहीं जानता। मैं उसे ईश्वर नहीं कहता क्योंकि ईश्वर का बहुत कुछ अर्थ ऐसा है जिसमें मेरा विश्वास नहीं है, बौद्धिक दृष्टि से मैं अद्वैतवादी विचारधारा का समर्थन करता हूं और वेदान्त के अद्वैतवाद की ओर भी मेरा आकर्षण है।''

नेहरू का राष्ट्रवाद

जवाहर लाल उदारवादी राष्ट्रवाद के समर्थक थे। उन्होंने देश को संतुलित संयमशील और आदर्शवादी राष्ट्र मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी। उनके अनुसार मातृभूमि के प्रति भावनात्मक संबंध ही राष्ट्रीयता है। राष्ट्रवाद विविधता में एकता और अतीत की परम्पराओं, उपाविधियों और अनुभवों की सामूहिक स्मृति है। नेहरू के राष्ट्रवाद को निम्नानुसार समझा जा सकता है :–

(1) राष्ट्र के उदार एवं संतुलित स्वरूप का समर्थन– राष्ट्रवाद देश के इतिहास को जीवन शक्ति व विकास का मार्ग प्रदान करती है लेकिन जब व्यक्ति अपने देश को विश्व के अन्य देशों से अलग समझता है तो उग्रता पनपने लगती है। यह अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से अनुचित है।

(2) राष्ट्रवाद के भावनात्मक पक्ष का समर्थन– नेहरू के अनुसार राष्ट्रवाद अतीत की उपलब्धियों, परम्पराओं और अनुभवो की सामूहिक स्मृति है। राष्ट्रवाद जितना शक्तिशाली आज है, उतना पहले कभी नहीं रहा। जब भी कोई संकट आया राष्ट्रवादी भावनाएं उतनी ही प्रबल हुई। लोगों ने अपनी परम्पराओं से शक्ति एवं संकल्प प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। अतीत और राष्ट्र का पुनरान्वेषण वर्तमान युग की आश्चर्यजनक प्रगति है।

(3) संकीर्ण राष्ट्रीयता एवं साम्राज्यवाद का विरोध– संकीर्णता, राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्रीयता, दोनों के लिए बुराई है। साम्राज्यवादी राष्ट्र राजनैतिक या आर्थिक स्वार्थ के लिए किसी दूसरे राष्ट्र को हानि पहुंचाए तो यह जघन्य अपराध है।

(4) राष्ट्रीय स्वतंत्रता के सिद्धान्त का समर्थन– राष्ट्रीय स्वतंत्रता राष्ट्रवाद की अनिवार्य शर्त है। प्रत्येक देश की अपनी आन्तरिक एवं बाहरी नीतियों पर स्वयं का नियंत्रण होना चाहिए।

(5) भूत, वर्तमान एवं भविष्य के प्रति समन्वय– हम अतीत की बुराईयों को त्यागें, अच्छाईयों पर गर्व कर, सुनहरे भविष्य के निर्माण के लिए वर्तमान में, इसे प्रेरक शक्ति के रूप में ग्रहण करें और समर्थ ज्ञान बनकर भविष्य की, संभावनाओं के साथ समन्वय करें।

(6) धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद– नेहरू जी, दयानन्द, महर्षि अरविन्द, बाल गंगाधर तिलक इत्यादि की धार्मिक राष्ट्रवाद की धारणा से न केवल असहमत थे बल्कि इसका पुरजोर विरोध भी करते थे। वे पक्के धर्म निरपेक्षवादी थे और उन्हें किसी भी प्रकार की साम्प्रदायिकता स्वीकार्य नहीं थी अतः उनका राष्ट्रवाद सही अर्थो में रचनात्मक राष्ट्रवाद था।

(7) लोकशक्ति पर आधारित राष्ट्रवाद– नेहरू जी के मतानुसार यहां की धरती, पहाड़, जंगल, नदी हम लोगों के लिए प्रिय हो सकती है, लेकिन जिस तत्त्व की पहचान होनी चाहिए, वे है यहां के करोड़ों लोग। भारत माता की जय का तात्पर्य है लोगो की जय। तुम ही भारत माता का अंश हो एक तरह से ''तुम सब का संगठित स्वरूप'' ही भारत माता है।

नेहरू का अन्तर्राष्ट्रवाद एवं विश्व शांति

नेहरू के अंतर्राष्ट्रवाद का आधार भारत की गौरवशाली परम्परा ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' है। नेहरू के अनुसार –

- राष्ट्रवाद एवं अन्तर्राष्ट्रवाद एक दूसरे के पूरक एवं सहायक है।
- विश्व के सभी देश स्वतंत्र हो और उन्हें समान समझा जाए तथा एक दूसरे का शोषण नहीं करें। उपनिवेशवाद का अंत होना चाहिए।
- विश्व का अंतर्राष्ट्रीयकरण हो चुका है, उत्पादन अन्तर्राष्ट्रीय है। बाजार अन्तर्राष्ट्रीय है। कोई राष्ट्र आत्मनिर्भर नहीं है। सब एक दूसरे पर निर्भर है।
- नेहरू ने विश्व शांति एवं निशस्त्रीकरण के क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्र संघ का पूर्ण समर्थन किया।
- वे एशिया एवं अफ्रीकी देशों की स्वतंत्रता के लिए प्रयास करते रहे।

  द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात, समूचा विश्व दो ध्रुवों (संयुक्त राज्य अमेरिका एवं सोवियत संघ रूस) में बंट गया। तब नेहरू जी ने युगोस्लाविया के मार्शल टीटों एवं मिस्र के कर्नल नासिर के साथ मिलकर गुट निरपेक्ष मार्ग का नेतृत्व किया

और नव स्वाधीनता प्राप्त देशों को अपनी आजादी को सुनिश्चित करने की दिशा दिखाई। यह विश्व में स्वतंत्रता, न्याय, सत्य का समर्थन तथा साम्राज्यवाद, आक्रमण और शोषण के विरोध की नीति है।

पंचशील के सिद्धान्तों का निरूपण, उनके अर्न्तराष्ट्रवाद का प्रमुख घटक है।

मूल्यांकन / समग्रता

यद्यपि पंडित नेहरू का लालन–पालन वैभवपूर्ण वातावरण में हुआ लेकिन बड़े होने के साथ उन्होंने देश की सेवा का कंटकाकीर्ण मार्ग अपनाया। गांधीजी को अपना मित्र, गुरू एवं आदर्श मानकर शुरू किया गया, उनका यह संघर्ष न केवल स्वतंत्रता आंदोलन के लिए प्रमुख आधार बना, बल्कि उनकी विद्वता एवं नीतियों ने भारत को बहुआयामी बनाने में एक दिशा प्रदान की । उन पर तुष्टीकरण एवं छदम धर्मनिरपेक्षता के आरोप भी लगे। लेकिन समग्र रूप से देखा जाए तो संविधान के निर्माण से लेकर भारत की तात्कालिक आवश्यकताओं के अनुरूप पंचवर्षीय योजनाओं का प्रारूप उन्ही की उपज थी।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उनकी गुट निरपेक्ष नीति के कारण भारत ने पूरे विश्व का नेतृत्व किया। आज जहां सम्प्रदायवाद, जातिवाद, क्षेत्रवाद, भाषावाद की संकीर्ण मानसिकता से भारत ही नहीं बल्कि पूरा विश्व संकट में है। उनकी नीतियों से इसका समाधान संभव है। विशेषकर विश्व आतंकवाद का जो स्वरूप आज दिख रहा है इसके मूल में भी कुछ देशों द्वारा दूसरे देशों में की गई दखलंदाजी है। ये आतंकवादी अब भस्मासुर की तरह उन्हीं देशों में हिंसा फैला रहे है, जिन्होंने कभी इन्हें प्राश्रय दिया था। मानव कल्याण का मार्ग आज भी उनके द्वारा सुझाए गए मार्ग में समाहित है। यद्यपि इस नीति की कई देशों एवं विश्लेषको द्वारा आलोचना की गई, परन्तु समय के साथ इसकी महत्ता बढती गई।

9. पं. दीनदयाल उपाध्याय

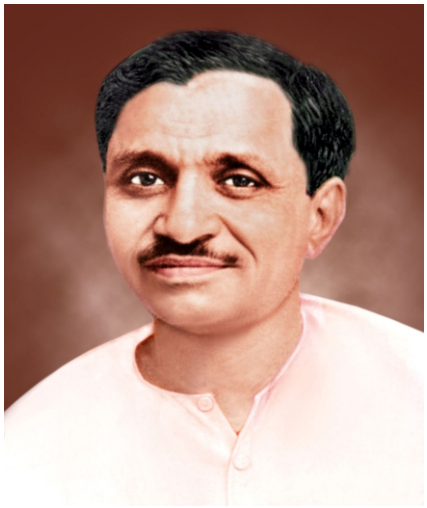

(जन्म : 25 सितंबर 1916 – मृत्यु : 11 फरवरी 1968)

पं. दीनदयाल उपाध्याय का जन्म मथुरा जिले के चन्द्रभान ग्राम में हुआ। इनके जन्म के ढाई वर्ष पश्चात पिता श्री भगवत प्रसाद एवं छः वर्ष पश्चात माता श्रीमती रामप्यारी देवी का निधन हो गया। ऐसी स्थिति में इनका पालन पोषण ननिहाल (राजस्थान) में हुआ। विद्यार्थी जीवन में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सम्पर्क में आये इन्होंने प्रशासनिक परीक्षा भी पास कर ली थी। लेकिन सब सुविधाओं को त्यागकर देश सेवा का विचार कर, घर त्याग दिया और संघ के प्रचारक बन गये। इन्होंने राष्ट्र धर्म, पांचजन्य एवं स्वदेश पत्रिका में भी कार्य किया। बाद में 1952 में अखिल भारतीय जनसंघ पार्टी के महामंत्री एवं 1968 में अध्यक्ष बनकर पार्टी को नेतृत्व प्रदान किया।

इनका भारत की सनातन संस्कृति में गहरा विश्वास था। इनके द्वारा प्रतिपादित एकात्म मानववाद का दर्शन वर्तमान परिप्रेक्ष्य में आध्यात्म, कर्म एवं राजनीति का अनूठा समन्वय है।

पं. दीनदयाल उपाध्याय का एकात्म–मानववाद

आज के भौतिकवादी युग में उनकी विचारधारा सम्पूर्ण विश्व के लिए प्रासंगिक है।

भारतीय परम्परा मानव को एकात्म मानती है। अर्थात न बांटी जा सकने वाली ईकाई मानव, व्यक्ति के रूप में समाज का अभिन्न अंग होता है। व्यक्ति परिवार की, परिवार ग्राम या शहर का ग्राम या शहर देश का व देश दुनिया की ईकाई है। व्यक्ति इस सामूहिकता का हिस्सा है। वह स्वतंत्र नहीं है। व्यक्तिवादी विचारधारा समाज को बंधनकारी मानकर व्यक्ति की स्वतंत्रता को मानव सुख का आधार बताती है, वहीं समाजवादी विचारधारा व्यक्ति को लालची मानकर उस पर समाज का नियंत्रण चाहती है। सुख के लिए समानता आवश्यक मानती है। वहीं पं. दीनदयाल के एकात्मवाद के अनुसार मानव के लिए स्वतंत्रता एवं समता दोनों ही आवश्यक है। इन्हें परस्पर विरोधी न मानकर, इन्हें पूरक बनाना चाहिए। जहां दोनों विचारधारा ने प्रकृति पर विजय की कामना कर उसके अनियंत्रित उपभोग कर, मानव सभ्यता पर संकट खड़े कर दिए है। वहीं इनके विचार सम्पूर्ण मानव जगत के लिए कल्याणकारी सिद्ध होंगे।

एकात्म मानववाद के अनुसार– ''यत पिण्डे तद्ब्रहाण्डे'' के न्यायानुसार समष्टि का केन्द्र मानव होना चाहिए। भौतिक उपकरण मानव के सुख के साधन है साध्य नहीं। इस व्यवस्था में शरीर मन बुद्धि एवं आत्मायुक्त पुरूषार्थ चतुष्टयशील ही मानव का आधार है। भारतीय संस्कृति की सनातनता को उसकी गतिहीनता समझने वाले लोग ही बीते युग की रुढ़ियों अथवा यथास्थितियों का समर्थन करते है। समाज में व्याप्त कुरीतियां यथा छुआछूत, जाति–भेद, दहेज, मृत्युभोज, नारी अवमानना आदि भारतीय संस्कृति एवं समाज की बुराइयों है। जिन महापुरूषों की संस्कृति के प्रति निष्ठाऐं थी, उन्होने इनसे संघर्ष भी किया। एकात्म मानव

विचार के अनुसार मानव बल संवर्धन करें एवं अभ्युदय के लिए प्रयत्नशील हो जिससे पूर्ण स्वस्थ्य रहकर विश्व कल्याण के लिए साधक बन सकें।

सभी व्यक्ति समाज को सुखी, वैभव सम्पन्न एवं प्रगतिशील बनाने का उद्देश्य लेकर संगठन का कार्य कर रहे है। यह भी सब जानते है कि शक्ति के बिना सम्मानपूर्ण स्थिति संभव नहीं है। यह शक्ति संगठन के बिना नहीं आ सकती।

जड़ या चेतन, सभी में बिना संगठन के शक्ति संभव नहीं है। मिट्टी के बिखरे कण, ईंट पत्थर नहीं कहलाते, लेकिन जब ये कण जुडकर अभिन्नता को प्राप्त करते है, तो ईंट बन सकते है। कणों को कुचलकर या फूंक मारकर उड़ा सकते है लेकिन जब संगठित रूप सामने आता है, तो उसके अस्तित्त्व को नकारा नहीं जा सकता। बल्कि महत्वपूर्ण उपयोग किया जाता है।

सब में सब एक है, इसका भान जब तक नहीं हो सकता तब तक जोड़ने वाली वस्तु कौन है इसका ज्ञान नहीं हो। अभी तक एकता का विचार भावात्मक नहीं नकारात्मक है। जब कोई हम पर आक्रमण करता है तो राष्ट्रवाद की भावना पनपती है। पाकिस्तान, चीन द्वारा आक्रमण होता है तो राष्ट्रवाद की भावना और भी प्रखर हो जाती है लेकिन सामान्य परिस्थिति में हमारी स्थिति क्या होती है ?हम हमेशा सकारात्मक एकता की निरंतरता का विचार क्यों नहीं करते।

पूरी दुनिया में आज प्रत्येक व्यक्ति, पूंजीवादी, साम्यवादी या समाजवादी विचारों में विश्वास करता है, जबकि हमारी संस्कृति इन दोनों का ही विरोध करती है। पूंजीवाद में व्यक्तिगत उत्थान के लिए संघर्ष है अर्थात शक्तिशाली ही जीवित रहेगा, वहीं साम्यवाद में साम्य नहीं वर्ग भेद एवं संघर्ष है। साम्यवाद मजदूरों की सत्ता का अस्तित्त्व तो स्वीकार करता है लेकिन समाज की नहीं। यह भी तानाशाही का ही एक रूप है। वहीं आज का समाजवाद भी ईर्ष्या का भाव उत्पन्न करता है। पाश्चात्य संस्कृति में जहां टुकडों–टुकड़ों में विचार होता है वहीं भारतीय संस्कृति में पूर्णता का विचार है।

दुनिया में सबल ही नहीं दुर्बल भी जीवित रहता है। चिकित्सा शास्त्र की आवश्यकता दुर्बल के लिए ज्यादा है सबल तो अपने आप भी जीवित रह सकता है। मत्स्य न्याय अर्थात बड़ी मछली छोटी मछली का भक्षण करती है ऐसा नहीं हो इसलिए राज्य की स्थापना की समर्थ या सबल दुर्बल को समाप्त नहीं करें इसलिए नियम व समाज बनाते है।

संघर्ष नहीं, सहयोग जीवन या समाज का आधार है। प्रकृति का भी एक चक्र है। वनस्पति एवं प्राणीमात्र एक दूसरे के लिए बने है। हमें ऑक्सीजन की आवश्यकता है तो वृक्षों को कार्बनडाई ऑक्साइड की। इस कारण दोनों एक दूसरे के पूरक है। लंगड़े एवं अंधे दोनों की प्रकृति भिन्न है। दोनों चल नहीं सकते। लेकिन दोनों सहयोग के द्वारा चल सकते है। प्रकृति का यही अर्थ है। दोनों को जोड़ो और पूरकता पैदा करो यही दैवीय भाव है।

पश्चिमी द्वैत और भारतीय अद्वैत

सृष्टि में संघर्ष उचित नहीं है, जहाँ संघर्ष हो, वहां भी एकता का निर्माण हमारी गौरवशाली परम्परा रही है। विवाह से पूर्व पति व पत्नि दोनों अलग अलग है, लेकिन विवाह के पश्चात् दोनों एक हो जाते है। पाश्चात्य संस्कृति में इसे समझौता मानते है, वहीं हम जन्म जन्मातंर तक इसे निभाने का संकल्प लेते है। हमने एकात्मकता को अपनाया है। संत रामानन्द के अनुसार – जाति पांति पूछे नहीं कोई, हरि को भजे सो हरि का होई।।

स्वार्थ एवं परमार्थ

हम पूंजीवाद व समाजवाद को नहीं बल्कि एकात्मवाद को मानते है। एकता, संघता को मानते है। हम सभी में एक आत्मा है, इस दैवीय भाव को, प्रमुख आधार मानकर प्रगति करते हैं। पश्चिम ने स्वार्थ को प्रमुख माना, वहीं हमने परमार्थ को प्रधानता दी क्योंकि यह भाव प्रमुख है। दैवीय कल्पना है। पश्चिम में परमार्थ में भी स्वार्थ है। राज्यशास्त्र, समाजशास्त्र अर्थशास्त्र सबका आधार स्वार्थ है क्योंकि वे अकेले के असहाय रहने के कारण अपना हित या स्वार्थ देखते हुए संगठित होते है। हमारा परमार्थ सेवाभाव एवं परोपकार पर आधारित है।

पाश्चात्य किसान अधिक अन्न की पैदावार, अधिक कमाकर सुखी रहने की कल्पना से करता है। यहां अन्न पैदा करने से पहले ईश्वर से प्रार्थना करता है, कि हे ईश्वर मुझे बहिन, बुआ के भाग्य का देना, पक्षियों की आवश्यकता पूरी हो, राहगीरों की सेवा हो, कोई साधु भूखा ना जाए, ब्राह्मण एवं संतो का सम्मान कर सकूं, आवारा पशु भी खा सके, खेती न करने वाले सभी का भरण हो सके, शासन अच्छा चले इसके लिए उसका राजस्व (लगान) भर सकूं और इसके बाद आपके भंडार में यदि बचे तो मेरे बच्चों के लिए देना।

हम जीवन में एकात्मक और पूर्णतावादी दृष्टिकोण लेकर चले। कर्तव्य ही जीवन रचना का आधार है। कुछ व्यक्ति शरीर को ही/पेट को ही सब कुछ मानते है कि पेट भर गया तो सब भर गया। रोटी ही सर्वस्व है और भौतिक इच्छाओं की पूर्ति हो गई तो सब कुछ मिल गया। लेकिन क्या इतना पर्याप्त है ? मन नहीं भरा तो सब व्यर्थ है। यदि मन सुखी नही तो शरीर भी सुखी नहीं। मन के साथ बुद्धि का सुख भी आवश्यक है उसी प्रकार आत्मा का सुख भी आवश्यक है।

शरीर, मन, बुद्धि एवं आत्मा का समुच्चय ही व्यक्ति है तो यह सुख शरीर, मन, बुद्धि आत्मा का सुख है। इन चारों की उन्नति, हित, उत्कर्ष हो यह आवश्यक है केवल एक का विचार अपूर्ण है।

समग्र मूल्यांकन

परतंत्रता के लम्बे अंतराल के कारण हमारा राजनैतिक

एवं बौद्धिक जगत पूरी तरह पाश्चात्य विचारों से पूर्ण आच्छादित था। स्वतंत्रता के पश्चात् न केवल, आम व्यक्ति बल्कि राजनेता भी भारतीय परम्परा के व्यक्तित्त्व महात्मा गाँधी, लोकमान्य तिलक, महर्षि अरविन्द, स्वामी विवेकानन्द इत्यादि के विचारों को छोड़ते जा रहे थे। ऐसे अराजकतावादी कोहरे में पं. दीनदयाल उपाध्याय ने सूर्य की तरह निकलकर भारतीय प्रज्ञा को झकझोरा तथा स्वतंत्र भारत की विचारधारा का श्रोत भारतीयों के द्वारा ही प्रतिपादित मूल्यों में खोजने का आह्वान किया।

स्वतंत्रता के पश्चात् इस बात पर भी बहस हुई कि पूंजीवाद अपनाया जाए या समाजवाद जबकि दोनों ही विचारधारा के जनक विदेशी यूरोपियन थे। उनके देश की परिस्थितियों के अनुसार ही ये विचार विकसित हुए थे। तब पं. दीनदयाल ने कहा कि हमें अपने देश की संस्कृति व इतिहास से सीख लेकर अपने देश व दुनिया की जरूरत के हिसाब से ही विचारों का विकास करना चाहिए। किसी की नकल नहीं। दीनदयाल ने व्यक्तिवाद (पूंजीवाद) एवं समाजवाद के विचारों को चुनौती देते हुए एकात्मक मानववाद का प्रणयन किया।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

1. स्वामी दयानन्द सरस्वती का जन्म गुजरात के काठियावाड़ की मौरवी रियासत के टंकारा ग्राम में हुआ था।
2. स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 10 अप्रेल 1875 को बम्बई में आर्य समाज की स्थापना की थी।
3. स्वामी दयानन्द स्वदेशी, स्वधर्म, स्वभाषा, स्वराज्य के प्रबल समर्थक थे।
4. स्वामी रामकृष्ण परमहंस के शिष्य स्वामी विवेकानन्द का जन्म 12 जनवरी 1863 को हुआ था। भारत में इसे युवा दिवस के रूप में मनाया जाता है।
5. स्वामी विवेकानन्द ने 1893 में शिकागो में विश्व धर्म सम्मेलन में भाग लेकर हिन्दू धर्म का परचम पहराया।
6. स्वामी विवेकानन्द मानवतावादी एवं हिन्दू संस्कृति के पक्षधर थे।
7. महर्षि अरविन्द घोष का जन्म कलकत्ता में 15 अगस्त 1872 को हुआ था। इन्होंने राष्ट्रवाद की व्याख्या हिन्दूत्व के आधार पर की।
8. विनायक दामोदर सावरकर का जन्म 28 मई 1883 में हुआ अपने अग्रज एवं अनुज के साथ इन्होंने उग्रराष्ट्रीयता का मार्ग अपनाया।
9. विनायक दामोदर सावरकर ने विद्यार्थी काल में अभिनव भारत संगठन की स्थापना की जो क्रांतिकारियों को प्रशिक्षण देती थी।
10. सरदार पटेल ने देशी रियासतो के भारत में विलय का महत्वपूर्ण कार्य किया। वे स्वतंत्र भारत के प्रथम उपप्रधानमंत्री एवं गृहमंत्री थे।
11. सरदार पटेल ने किसानों के लिए बारदोली आंदोलन चलाया।
12. जवाहरलाल नेहरू ने डिस्कवरी ऑफ इण्डिया पुस्तक लिखी।
13. जवाहर लाल नेहरू ने अंर्तराष्ट्रीयवाद एवं विश्व शांति के लिए महत्वपूर्ण कार्य किया। वे भारत के प्रथम प्रधानमंत्री बने।
14. दीनदयाल उपाध्याय ने भारतीय जनसंघ के संस्थापक सदस्य थे।
15. दीनदयाल उपाध्याय ने एकात्म मानववाद सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।
16. डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने दलितोद्धार के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य करते हुए संविधान निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।
17. महात्मा गांधी ने भारत की ग्राम स्वराज्य की भावना पर बल देते हुए ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त की व्याख्या की।
18. महात्मा गांधी ने मनसा वाचा कर्मणा अहिंसा के सूत्र का प्रतिपादन किया।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. मिलान कीजिए–

लेखक	पुस्तक
(1) महात्मा गांधी	(अ) एन ऑटोबायोग्राफी
(2) जवाहरलाल नेहरू	(ब) सत्यार्थ प्रकाश
(3) स्वामी दयानन्द सरस्वती	(स) हिन्दुत्व
(4) वीर सावरकर	(द) कर्मयोग
(5) स्वामी विवेकानन्द	(य) सत्य के साथ मेरे प्रयोग

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. नेहरू जी का राष्ट्रवाद का सिद्धान्त समझाइये ?
2. स्वामी विवेकानन्द की युवाओं से क्या अपेक्षा है ?
3. सरदार पटेल के कार्यो का उल्लेख करो ?
4. महर्षि अरविन्द के आध्यात्मिक राष्ट्रवाद की व्याख्या करो।
5. नेहरू जी ने विश्वशांति हेतु क्या प्रयास किए ?
6. स्वामी दयानन्द सरस्वती के विचारों का मूल्यांकन कीजिए।
7. स्वामी विवेकानन्द का राजनैतिक चिन्तन के क्षेत्र में क्या योगदान है ?

निबंधात्मक प्रश्न

1. पं. दीनदयाल उपाध्याय के विचारों को विस्तार से लिखो।
2. वीर सावरकर के राष्ट्रवाद की समीक्षा कीजिए।
3. गांधीजी की रामराज्य की अवधारणा को समझाइये।
4. डॉ. भीमराव अम्बेडकर के विचारों की वर्तमान समय में प्रासंगिकता की व्याख्या करो।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. वेदों की ओर लौटो का नारा दिया–
   (अ) दयानन्द सरस्वती (ब) महात्मा गांधी
   (स) विवेकानन्द (द) वीर सावरकर ( )
2. शिकागो विश्वधर्म सम्मेलन में भारत का प्रतिनिधित्व किया–
   (अ) दयानन्द सरस्वती (ब) स्वामी विवेकानन्द
   (स) स्वामी रामतीर्थ (द) अरविन्द घोष ( )
3. पांडीचेरी में आश्रम बनाया–
   (अ) महर्षि अरविन्द (ब) विवेकानन्द
   (स) महात्मा गांधी (द) स्वामी विरजानन्द ( )
4. बारदौली आंदोलन के नेता थे–
   (अ) सरदार पटेल (ब) नेहरू जी
   (स) गांधीजी (द) विवेकानन्द ( )
5. एकात्म मानववाद का सिद्धान्त दिया–
   (अ) दयानन्द सरस्वती (ब) सरदार पटेल
   (स) पं. दीनदयाल उपाध्याय (द) विवेकानन्द ( )
6. भारत छोड़ो आंदोलन चलाया–
   (अ) महात्मा गांधी (ब) स्वामी विवेकानन्द
   (स) अरविन्द घोष (द) वीर सावरकर ( )
7. संविधान की प्रारूप समिति के अध्यक्ष थे–
   (अ) सरदार पटेल (ब) नेहरू जी
   (स) डॉ. अम्बेडकर (द) गांधी जी ( )

उत्तरमाला वस्तुनिष्ठ प्रश्न–

1. (अ) 2. (ब) 3. (अ) 4. (अ) 5. (स) 6. (अ) 7. (स)